संकेत

मगर किसके लिए
संकेत है यह ?
राह किसकी है?
हमारी—जो इसे केवल
प्रगति का
एक माध्यम मानते हैं—

(सी० पी० राव—'हमारी राह')

प्रधान सम्पादक
उपेन्द्रनाथ अश्क
सम्पादक
कमलेश्वर • मार्कण्डेय

● कलाकार :

रामकुमार

शमशेर बहादुर सिंह

सुप्रभात नन्दन

रामावतार चेतन

जगदीश गुप्त

जगदीश श्रीवास्तव

कमलेश्वर

एसोशियेटेड आर्टिस्टस (नयी दिल्ली)

● मूल्य १५)

● प्रकाशक :

नीलाभ प्रकाशन, ५ खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद—१

● मुद्रक :

देश सेवा प्रेस, ५४ हीवेट रोड, इलाहाबाद—३

अपनी बात

संकेत की योजना इसी विचार को लेकर बनायी गयी थी कि इस विशाल हिन्दी क्षेत्र की जागरूक और गतिशील धाराओं को मिला कर ऐसा प्रतिनिधि संकलन प्रस्तुत किया जाय, जो न केवल हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों के सामने समसामयिक कृती साहित्यिकों के कृतित्व को रखे बल्कि विशाल अ-हिन्दी क्षेत्र के जिज्ञासु पाठकों के औत्सुक्य को भी शांत करे।

संकेत को पाँच-छः सौ पृष्ठों का निकालने की योजना थी, किन्तु साहित्यिक बन्धुओं के व्यापक और मुक्त सहयोग के कारण हमने पृष्ठ भी और बढ़ाये तथा सम्पादकीय स्थगित करके उन पृष्ठों का उपयोग कृतियों को अधिक से अधिक स्थान देने के लिए किया, क्योंकि कवर का ब्लाक आदि बन जाने के कारण और ज्यादा पृष्ठ बढ़ाना असम्भव हो गया। इसी कारण बहुत सी उत्कृष्ट और स्वीकृत कृतियाँ चाहते हुए भी न जा सकीं। भाई अमृतराय और सुश्री कृष्णा सोबती ने हमारे विशेष अनुरोध पर जम कर, पर लम्बी कहानियाँ लिखीं। श्री भैरव प्रसाद गुप्त के नवीनतम उपन्यास का अंश भी रह गया। श्री भीष्म साहनी, छैलबिहारी गुप्त, रामस्वरूप, विद्यासागर नौटियाल और श्रीमती कल्पना की कहानियाँ स्वीकृत होने पर भी न जा सकीं। भाई श्रीपतराय जी ने समसामयिक उपन्यासों पर हमारे लिए लेख लिखा, इसी के साथ समसामयिक कहानी, कविता तथा नाटक पर लेखों को देने की योजना थी, वह भी कार्यान्वित न हो पायी। इसका खेद है।

पूरी सावधानी के बावजूद श्रीकृष्णदास जी की कविता

'शांति कपोत' में राजा शिवि के बदले शिव चला गया, भाई गंगा प्रसाद श्रीवास्तव की कविता 'हम जीते हैं' में 'ज़िन्दगी को चंगुलों में जकड़े' की जगह 'ज़िन्दगी की चंगुलों में जकड़े' छप गया, जिससे पंक्ति का अर्थ ही बदल गया। और भी अशुद्धियाँ होंगी, उनके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

हिन्दी प्रदेश के विस्तार को देखते हुए यदि संकेत एक हज़ार पृष्ठों का भी निकलता तो भी सब साहित्यकारों की कृतियों को समो पाना असम्भव होता। इस सीमा को तोड़ पाना सम्भव न हुआ।

सहयोगी साहित्यिकों ने जिस अपनापे से इस में योग दिया, सचमुच वही इस की एकमात्र निधि है। पाठक इस में न केवल अपने परिचित और प्रतिष्ठित लेखक पायेंगे वरन् उन्हें सशक्त और नये युवा स्वर भी मिलेंगे। व्यक्ति के स्वर के साथ ही हमने तत्व को प्रमुख माना है और वही इस संकलन की वाणी है।

प्रकाशक के नाते कौशल्या जी को इस योजना में ख़ासी परेशानी उठानी पड़ी पर जिस प्रकार उन्होंने सहयोग दिया, उसके लिए हम आभारी हैं।

—सम्पादक

अनुक्रम

लघु उपन्यास

नाटक

एकांकी

रंगमंच

विचार धारा

संस्मरण

प्रेरणा के स्रोत

कविता

स्केच

रिपोर्ताज

डायरी

लघु कथाएँ

कहानियाँ

निबन्ध

न वात्स्यायन

न कृशनचन्दर

न नेमिचन्द्र

न डाक्टर दास

न १४ हेस्टिंग्स रोड का बैरा-खानसामा-माली...

—कल्चर यह जीवन नहीं है :

कल्चर एक भावना है

आगे की

—भविष्य की संस्कृति,

जो उन चनों में है, जैनेन्द्रकुमार जी,

जो कि महादेवी जी बाढ़ पीड़ितों को बाँट रही हैं

बाँट रही हैं, क्योंकि उनके गीत

उन चनों का हज़म किया हुआ आटा फ़ौरन नहीं बन सकते

अभी जब कि बाढ़ आयी हुई है

......बाढ़

'संस्कृति' की भी आयी हुई है

जैनेन्द्र कुमार जी कलकत्ते और

बिहार और दिल्ली से

समाचार लाये हैं

कि परेशान हैं लोग संस्कृति से

समाजवादी अलग और कलावादी अलग

और जैनेन्द्र जी भी अलग, उनके मारे

"ख़तरे से बचो। दो धाराओं के पाट में

'साधो, बीच धार गहि जाय!'

'कहे कबीरा, क्या गुनिया क्या धुनिया..."

महादेवी जी (गम्भीर ओठ करुणा से दबाये,

आँखों में चिन्ता—) साहित्य के पृष्ठों से निकाल कर

पार्थिव कार्य-सृजन से, आत्मा के लिए

यह प्रकाश की स्पष्ट पुस्तक लिखेंगी,

जिसमें वेदों के अर्थ स्पष्ट पढ़े जा सकेंगे,

अनूदित हो सकेंगे।

उनसे मिल कर श्रीमती
कौशल्या 'अश्क' को अपनापा और घरेलूपन-सा
महसूस होता है। 'रिक्शावाला चिल्लाता रहता है,
उठने की तबीअत ही नहीं होती उनके पास से।...
वक्त का पता ही नहीं चलता...'

विवेक, हाँ, तुम टाइम पर
रिसर्च करते रहे हो? फिलासफ़ी में
एम० ए० करने के बाद।
?
यह सौम्य
सुथरा
सुन्दर
बाह्य और अन्तर, ऊँचे ढंग से कनफ्यूज़्ड
सार्थक कल्चर
इन्टलैक्चुअल जीवन, आधुनिक

डा० दास,
टैगोर के अतुल
ढेउ...
नादीर बॉन्नें
पर
बादल-भरे
गीत
कालिदास को अपने गले में गुंजा कर
लिखे-गाये-गवाये और
देश के हृदय और रोमावलियों में भरे
कैसे?
अपना भारी शरीर ले कर, डा० दास,
अपना हाइब्लड प्रैशर और दिल की कमज़ोरी में
'रैस्ट' करते हुए,

डा० दास, बताओ तो फिर भी ज़रा,
डा० दास,
इलाहाबाद, संगम—
क्या सागर-संगम
　　शान्ति-निकेतन का भावुक पावन संगम नहीं ?
सन् ४८ में । क्या कुछ भी उसका एक पार्ट नहीं ?
ऐसी बाढ़ में भी ?

　　मैरूंड है मेरा भाई
　　एक गाँव में, मुरादाबाद ज़िले में...
　　उसको चना नहीं चाहिए,
　　उसको मेरा सफ़र चाहिए ट्रेन में वहाँ तक...
　　उसकी कच्ची छत के नीचे मैं भी क्यों न हुआ ?
　　जहाँ उसके बच्चे सोते थे, या जागते रहे होंगे, जब बाढ़ आयी...
　　सरोज और इन्दो और कमला और वह उसकी पत्नी
　　उसकी गाड़ी के एक पहिये के साथ का दूसरा पहिया : और
　　इसके आगे ही मैं कहना चाहता हूँ कि घूमते ही रहे हैं उनके
　　मन और शरीर इस बाढ़ में
　　मुरादाबाद से ले कर इलाहाबाद के ज़िले तक,
　　इधर से उधर, उधर से इधर
　　लगातार...
　　डाकख़ाना बन्द है
　　सब रास्ते बन्द हैं...
　　...　　...　　...
　　मुझको चना नहीं चाहिए, महादेवी जी,
　　हालाँकि उसी पर मेरा गुज़ारा भी है,
　　बल्कि वह एक पल, जिस में कि मैं भाई से मिल सकूँ
　　और हवाई जहाज़ में उड़ने वालों से मैं पूछता हूँ
　　कि मुझे साइकिल का किराया ही वहाँ तक का मिल जाय
　　क्योंकि इस तरह तो मुझे जेलख़ाना है यह ज़िन्दगी
　　(यानी अब तो महसूस ही होने लगी है......)

मैं सरकार की दुहाई नहीं देता,
जनता का अपने हृदय में ध्यान धरता हूँ
जनार्दन की तरह,
कि वही इन्क़लाब का वरदान देने वाली है।
—वही चने की बोरियों पर बैठेगी...
संस्कृति और कल्चर के गेहूँ के एक-एक दाने पे...
—पका कर...आटा कर के—
और जो हमारी ज़िन्दगी में हज़्म भी होगा
ईमानदारी की कमाई की तरह—'शाश्वत कला'
गहरे भाव की तरह, देवताओं के सुषुप्त मन में।

(भाष्य :—) 'वह शाश्वत कला जो
गाँव की बहू-बेटी की हथेली की मेंहदी है,
वह गहरा भाव—
जो पुरखों के बनाये कुएँ का कभी न चुकने वाला
मीठा पानी है, जिसे उस बहू-बेटी के हाथ
सुबह-शाम घर के लिए रोज़ ताज़ा खींच कर निकालते हैं
वे देवता
जो उस बहू और बेटी के भाई-बन्द और घर वाले हैं
वह सुषुप्ति
जो उनका भविष्य, उनके हाथों-पाँवों की शक्ति से
निरन्तर बनता, मिले-जुले प्रयत्नों के सहारे,
अधिकाधिक जीवन के सुख में
प्राप्त होता जाता है
वह मन
जो उनके देश का जनतंत्र-जीवन है।

वह जीवन मैं हूँ, शमशेर, मैं
आज निरीह
कल
फ़तहयाब,
निश्चित!

कुछ टुकड़े ● केदार

मैदान

शेषनाग का लम्बा !
फैले फन पर उसके
राकड़ मिट्टी लेटी
मेज़पोश-सी मैली !
मेज़पोश के ऊपर,
जगह-जगह पर अनगिन
चार-चार खुर अंकित;
नीला तम्बू ताने
फ़ाक हवा की हिलती;
केश-काँस, कुश, काँटे,
एक संग हैं रहते !

शाम

एक श्वेत भालू हो,
पंजों पर मानव-सा
बर्फ़ पर ही खड़ा हो,
ताड़ से भी बड़ा हो.
इतने में जल्दी से
कोई शीश काट दे
लोहू तब उछला हो,
ऊपर से नीचे तक
भालू सो लाल हो,
धरती भी लाल हो।
अम्बर भी लाल हो।

रेलगाड़ी

दानव की बड़ी आँत
पहियों पर चढ़ी-चढ़ी
हाथ की लकीरों पर
घहर-घहर दौड़ रही !
शोणित के सफ़ेद कण,
शोणित के रक्तिम कण,
एक बड़ी संख्या में
भीतर से झाँक रहे !

सूरज

रोज़ सुबह
पूरब से आता है,
मेरे लिए चाय गर्म
केटली में लाता है;
मुझको पिलाता
और सब को पिलाता है;
रोज़ शाम पच्छिम को जाता है;
यह तो एक बैरा है !

डूबा और सोया

रात में सोया
जब धुले हुए बिस्तर पर,
मैंने तुम्हें खोया;
सागर में डूब गया गोया,
नींद में भिगोया !

तुम और रात

तुम ही तो आती हो
बाल खोल जूड़े के, कंधों पर रात का
मेरे पास जाती हो;
जैसे तुम मेरी हो,
वैसे वह मेरी है !

वायलेन

आधे गज़ का,
'प्लाईउड' का,
हल्का मेढ़क !
उसके ऊपर
समाचार ले जाने वाले
तार पेट पर,
लगातार सिर से नीचे तक !
उन तारों पर
हिरन दौड़ते !
कान खूँटियाँ
कपड़े टँगते !
हाथों में आ चिल्लाता है !

निराला
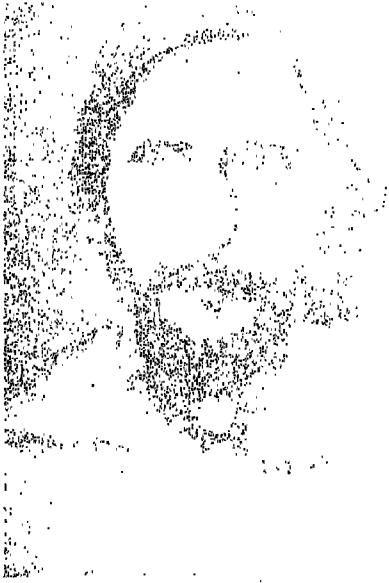
महादेवी वर्मा

पंत मामा वरेरकर बच्चन
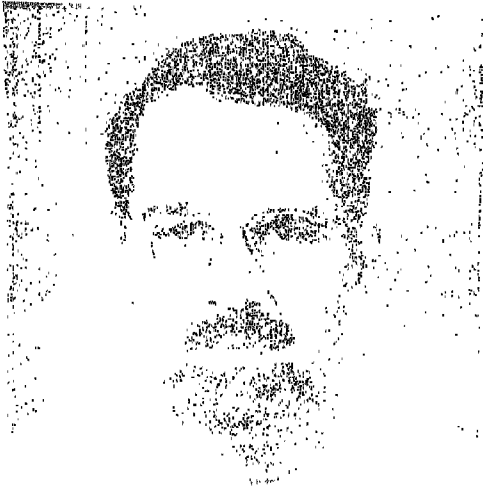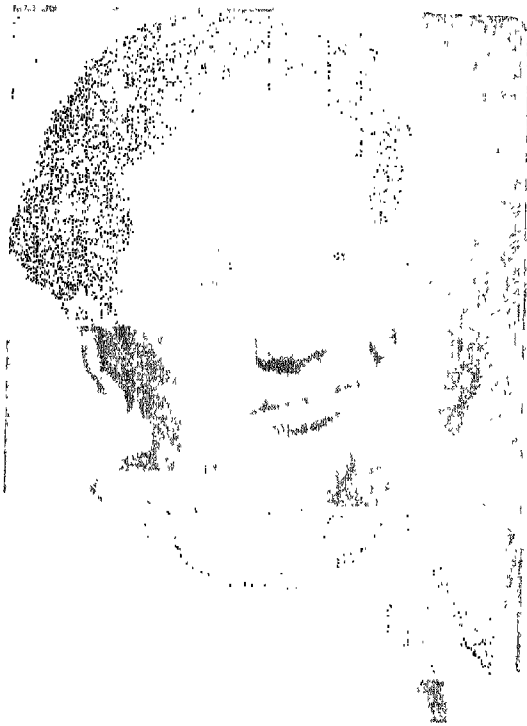
नरेश महता

भारतभूषण अग्रवाल

सत्येन्द्र शरत

श्रीकान्त वर्मा

फणीश्वरनाथ रेणु

राजेन्द्र यादव
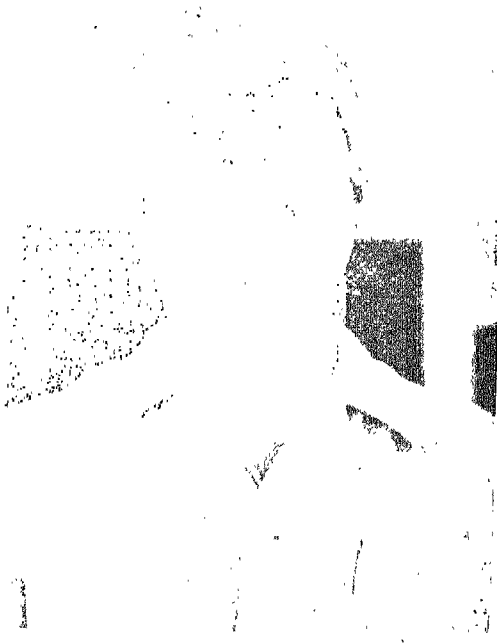
सी० वी० राव

प्रभाकर माचवे
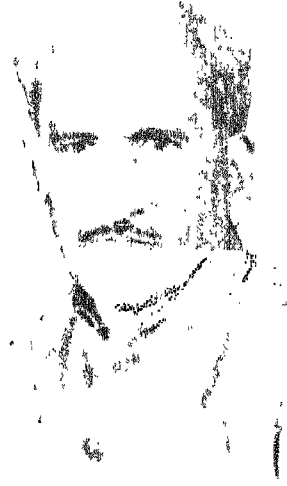
वृन्दावन लाल वर्मा

अमरकान्त

यशपाल

शमशेर बहादुर सिंह
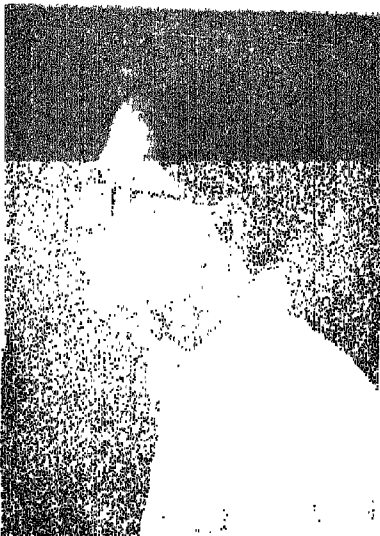
हजारी प्रसाद द्विवेदी

हरिशंकर परसाई

दिनकर

रमानाथ अवस्थी

रामवृक्ष बेनीपुरी
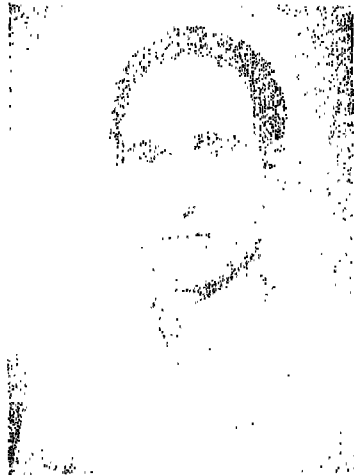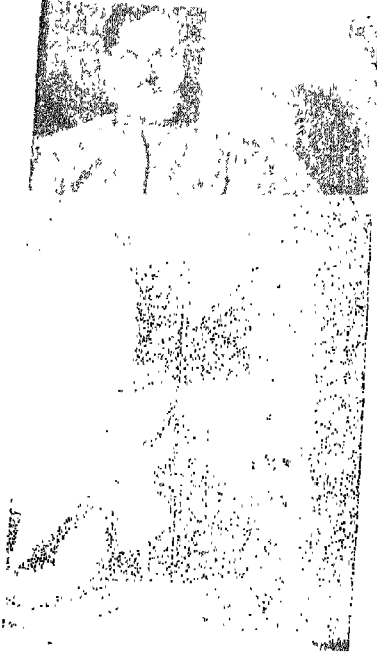
ओंकार शरद
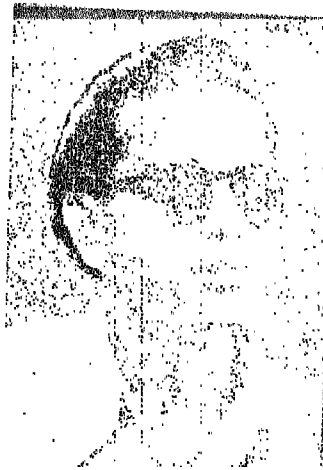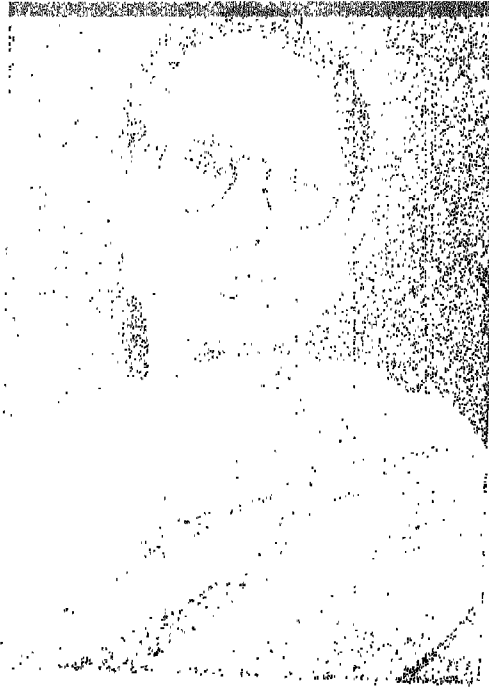
कौशल्या अश्क

सुमित्रा कुमारी सिन्हा
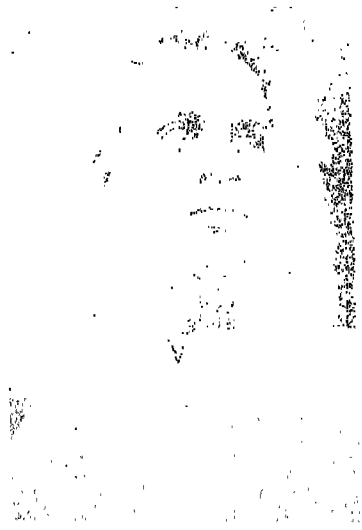
श्री कृष्णदास

गोविन्द वल्लभ पंत

कमलेश्वर अश्क मार्कण्डेय

नागार्जुन

संकेत

निराला

गीत

बाँह न छोड़ी,
तेरे पथ से हमने आस न तोड़ी ।

शाख़-शाख़ पर सुमन खिले,
हवा-हवा से हिले-मिले,
उर-उर फिर से भरे खिले,
लेकिन उसने सुषमे, आँख न मोड़ी ।

कहीं भाव, कहीं है कुभाव,
कहीं बढ़े पकाने का चाव,
ताप-ताप लेने का दाव,
कहीं बढ़े बढ़े हाथ आम निचोड़ी ।

रेखा-चित्र

आचार्य शिवपूजन सहाय

●●●

महेस पाँड़े

मझोला क़द। गठीला बदन। रोबीली आँखें। शिला जैसी छाती। घनी भौंहें और मूँछें। मुग्दर की तरह पीन प्रबल भुजदण्ड। वृकोदर भीम का पेट और सुदामा की गरीबी। तब भी उन्नीसवीं और बीसवीं सदी का प्रथम चरण देखा था। लगभग सवा सौ साल की लम्बी जिन्दगी केवल पौरुष और पराक्रम के चमत्कार देखने-दिखाने में ही बीती।

गाँव के जेठ रैयत धनी जमींदार सुरेस पाँड़े नम्बरी शौकीन। बैठक का बुलन्द चौतरा, टीकासन-बराबर ऊँचा। उस पर एक हज़ार रुपये से कम का घोड़ा कभी न बँधा। कभी-कभी खुद घोड़ा फेरने निकलते। मस्ताने घोड़े का रोम-रोम फड़कता रहता। खुलते ही मोर-सा नाचने लगता। कोड़ा तो कभी बरदाश्त ही न करता।

महेस पाँड़े को जो कुछ जुरता उसी से पेट पालते। जब कोई अच्छी चीज खाने की तबीयत होती, सुरेस पाँड़े के पास पहुँच जाते। उन्हें देखते ही, मालिक का इशारा समझ, इधर साईस झट जीन कसकर घोड़ा तैयार करता, उधर घर में घी का कड़ाह और दूध का हण्डा चढ़ जाता।

महेस पाँड़े का प्रिय भोजन था मालपुआ, तस्मई, मखाने की खीर, बेसन का लड्डू। पेट और जीभ में कभी पटरी न बैठती। पेटू और चटोर का बलवान होना दुर्लभ है। महेस पाँड़े को विधाता ने अपवाद बनाया।

सुरेस पाँड़े एक ही छलाँग में घोड़े की पीठ पर रान जमा देते। महेस पाँड़े घोड़े की लगाम थामे साथ-साथ बतियाते चलते—

......"चाचा जी, नदी-तीर के अखाड़े में नरेस और गोपाल भिड़े, मगर गोपाल करकस पड़ा, दो ही पकड़ में नरेस को आसमान दिखा दिया।"

...."इस गाँव में बस भैरो काका ही असली किसान हैं। उनके ही कुदाल लेकर ऊख का खेत गोड़ने निहुरते हैं तो दो घड़ी दिन चढ़े तक कपड़ा भीगा नहीं करते।"

... "जोधा लुहार का लुहसार में हाथ पर बड़ी निहाई उछालने की बाजी राम धन ने जीती है। वह गाँव से अच्छा पट्ठा तैयार हो रहा है।"

... "भुआल भाई ने तो कभी तन में अखाड़े की धूल नहीं रमायी, मगर गाँव भर के लँगोट बन्द जवानों को चुनौती देकर पाँचों अँगुलियों के सहारे दुनाली बन्दूक और लोहबन्द लाठी उठा लेते हैं। यही नहीं चाचा जी, एक ही मुक्के में बेल और कैंत फोड़ना, दाँतों से सुपारी तोड़ना, साँड भैंसे के सींग पकड़ कर मथवाना तो उनके बायें हाथ का खेल है।"

महेस पाँड़े की ऐसी ही बातें सुनते और 'हूँ-हाँ' करते घुड़सवार सुरेस पाँड़े बस्ती से बाहर निकल आते और अचानक कह उठते, "अच्छा महेस, अपनी कथनी बन्द करो, मैं तो अब चला।"

छूटते ही महेस पाँड़े भी बोल उठते, "तो चाचा जी, मैं भी आपके साथ ही हूँ।"

इधर सुरेस पाँड़े घोड़े को ऐड़ लगाते, उधर महेस पाँड़े घोड़े के साथ दौड़ पड़ते। घोड़ा हवा से बातें करता, तब भी महेस पाँड़े उसकी गरदन के सामने ही बने रहते। डेढ़ कोस की सरपट दौड़ में महेस पाँड़े कभी घोड़े से एक पग भी पीछे न रहते।

गाँव से डेढ़ कोस दूर नदी के तीर पहुँच घोड़ा पुचकारते ही ठिठक जाता। सुरेस पाँड़े 'साबास बेटा' कहकर उसकी गरदन थपथपाते और महेस पाँड़े उसके अयाल पकड़कर फिर उसी तरह गाँव-भर की बातें कहते चलते—

"चाचा जी, छकौड़ी के पेट में भसम-छई समा गयी है। उस दिन मुलोटन के बथान में जाँघ-भर लम्बे कटहल के सब कोये खाकर पचा गया और मुलोटन के नये मकान की दीवार पर, एक तरफ अकेले ही कन्धा लगाकर धरन चढ़ा दी, दूसरी तरफ गाँव-भर के मूँछ-उठान जवान लगे हुए थे, सब के दाँत खट्टे हो गये।"

"मुलोटन भी बड़े जीवट का आदमी है चाचा जी, उस दिन अकलू के घर के अँधेरे कोने में बड़ा भारी गहुमन साँप निकला। फेटा मारे, छत्र काढ़े

फुफकारने लगा तो इकट्ठे हुए लोगों का कलेजा दहल गया। मगर भुलोटन के पहुँचते ही भीड़ छँट गयी। वह झट मुट्ठी में गप-से उसका फन पकड़ कर बाहर खींच लाया और उसके मुँह को जमीन पर रगड़-रगड़ कर मार डाला। साँप ने उसकी बाँह में लिपट कर इतने जोर से कस दिया कि मरने के बाद भी टुकड़े-टुकड़े कट जाने पर ही बाँह की मुश्क छोड़ी।"

"चाचा जी, आप तो दिन-रात मिरदंग-सितार बजाने में ही मस्त रहते हैं, गाँव की खोज-खबर कहाँ लेते हैं? हीरा का हाल सुना है? एक दिन उसके बड़े भाई ने एक पसेरी चना देकर खेत पर भेजा। वहाँ बीज बोने के लिए हलवाहा पहर-भर दिन चढ़े तक नहीं पहुँचा। हीरा नहर में मुँह धोकर सब चना फाँक गया। इसी पर बड़े भाई ने उसे अलग कर दिया है। खाली ऊसर खेत और महुए के दो पेड़ उसके बाँटे पड़े हैं।"

इसी तरह की बातें करते हुए दोनों गाँव में पहुँच जाते। सुरेस पाँड़े अपने साथ ही महेस को नहलाते और खिलाते-पिलाते।

महेस पाँड़े की छक कर खाने की वासना सुरेस पाँड़े के घर में ही तृप्त होती। कहीं और ठौर शायद ही उनकी गोटी भी जमती। पहले भरा कठौता देख लेते तभी आसन जमाते। उन्हें हिया-भर कोई चकाचक खिला दे, फिर जड़ से बाँस उखड़वा ले, कुएँ से मोट खिंचवा ले, कीचड़ में धँसी बोझिल गाड़ी निकलवा ले, भुजाओं पर भेड़ें की टक्कर लगवा ले, ऐसे-ऐसे और भी जो पुरुषार्थ देखना चाहे—देख ले।

खाने-खिलानेवाले कभी के चले गये।

रामवृक्ष बेनीपुरी

बूढ़ा कुत्ता

बार-बार दुत्कारे जाने, भड़ुआये जाने पर भी जब यह कुत्ता बरामदे के बाहर, अगले पैर खड़ा कर और अपने पिछले भाग को जमीन से सटाकर बैठ जाता और धीरे-धीरे पूँछ हिलाता हुआ करुण-सजल आँखों से मेरी ओर देखने लगता है, तो समझ में नहीं आता, क्या किया जाय ?

बूढ़ा हो गया है यह, समूची देह में खौरा लग गया है, जिसे अपने ही पंजों से खरोंद-खरोंद कर इसने सारे बदन में घाव कर लिये हैं। इसका पेट भी ख़राब हो गया है, आसपास को गंदा करता रहता है। शरीर से बदबू निकलती रहती है ऐसी कि उबकाई आ जाय। फिर भला इसे कौन बरामदे में चढ़ने दे, घर में आने दे ?

ज्यों ही वह इस ओर बढ़ा कि हर मुँह से दुत्कार-फटकार बरसने लगती है। तो भी यह नहीं मानता, फिर तो इस पर झाड़ू से, छड़ी से, खड़ाऊँ से, जूतों से भी, मार पड़ने लगती है। मार खाने पर भी यह तब तक मुड़ने का नाम नहीं लेता, जब तक कि चोट असह्य नहीं हो जाती। तब 'कूँ-कूँ' करता यह बरामदे के नीचे तो उतर जाता है, किन्तु वहाँ से भागने का नाम नहीं लेता। यह बैठ जाता है और लगता है, टुकुर-टुकुर मेरा मुँह देखने !

एक मित्र ने कहा, 'कोंचिला खिला दीजिए, मर जायगा !' एक बंदूकधारी मित्र बोले, 'आठ आने पैसे ही न बरबाद होंगे, गोली से उड़ा देता हूँ !' सोचता हूँ, इसकी इस बुरी गत से मौत अच्छी होगी। किन्तु चाह कर भी कभी मुँह से 'हाँ' नहीं निकल पाती।

बहुत पुराना कुत्ता है यह। इसका जन्म कहाँ हुआ, पता नहीं ! इसका बचपन भी कहाँ बीता, इसकी भी ख़बर नहीं ! एक दिन गर्मी की दुपहरिया में

एक मोटा-ताज़ा पिल्ला मेरी राममढ़ैया में न जाने कब घुस आया और खाट के नीचे लेट गया। वह थका था, गर्मी से परेशान था, खाट के नीचे की ठंडी ज़मीन उसे सुखद लगी। वह चुपचाप लेटा हुआ ज़ोरों से हाँफ रहा था। मैं खाट पर चैत की दुपहरिया की झपकी ले रहा था। एक-समान ताल से निकलने वाली हँफनी की आवाज़ से मेरी आँखें खुलीं। इधर-उधर देखा, कुछ नहीं। खाट के नीचे देखा तो सबसे पहली नज़र इसकी चमकती आँखों पर पड़ी। उस दिन भी इसकी आँखों में ऐसी ही सजलता और करुणा पायी थी।

इसका शरीर धूल धूसरित था। इसके बदन पर दाँत के कई दाग़ थे, जिनसे ताज़ा खून टपक रहा था। चैत का महीना, मुझे यह समझते देर नहीं लगी कि यह कुत्ता किशोर किसी प्रेयसी के पीछे घर-बार छोड़ कर चल दिया होगा, रास्ते में इसकी बिरादरी के कुछ मुस्टंडे मिल गये होंगे, उन्होंने इसकी प्रेयसी पर तो अपना प्रेम अधिकार जमाया ही होगा, पुरस्कार स्वरूप इसके बदन पर ये प्रेम-चिन्ह दे दिये हैं।

'अतू—अतू' कह कर बुलाया, इसकी करुण आँखें आनन्द से चमक उठीं, किन्तु बेचारे की हिम्मत नहीं हुई कि बाहर आये। मैं जाकर थोड़ा दही-भात ले आया और खाट के नीचे ही रख दिया। उसे खाकर फिर यह लेट गया। मैं भी खाट पर सो गया।

जब शाम को नींद टूटी और मैं गाँव की ओर निकला, देखा, यह मेरे पीछे-पीछे लगा है। अपनी अधिकार-सीमा के अन्दर एक अपरिचित को देख, गाँव के कुत्ते भूँकने लगे, एक-दो इसकी ओर टूटे भी। जब वे टूटते, यह मेरे पाँवों के बीच आ जाता। मैं उन्हें दुलकार देता। किन्तु धीरे-धीरे इसने किस प्रकार उनसे दोस्ती गाँठ ली, यह उनमें से एक हो गया, इसका वर्णन करके समय क्यों बर्बाद करूँ।

अच्छा भोजन, नर-नार का प्यार और सुरक्षा पा कर थोड़े ही दिनों में एक अच्छा-खासा कुत्ता बन गया। रोंए चिकना गये, बदन के दाग़ मिट गये। जिसे कभी सुरक्षा चाहिए थी, वही मेरे घर-आँगन का प्रहरी बन गया। जो कुत्ते उस दिन इस पर भूँके थे, उन्होंने भी इसे सरदार मान लिया। मूँड़-मुड़ाते ही जिस पर ओले पड़े थे, हर कातिक और चैत में उसका अबाध प्रेम-व्यापार चलने लगा। वह संकोचशील पिलपिला किशोर अब एक प्रगल्भ सबल युवक था।

बैसाख-जेठ में, जब सरेह खाली पड़ जाता, माँदों से सियार निकलते। गाँव भर के लड़के और कुत्ते उन पर टूट पड़ते। अजीब हुरदंग मच जाता। 'हा-हू' मचाते लड़के दौड़े जा रहे हैं, उनके आगे-आगे गाँव के कुत्ते हैं और सबसे आगे यह मेरा शेर है। इन्हें निकट आया जान सियार मुड़ता है, अपने थुथने चढ़ा कर लम्बे-उजले दाँत दिखाता है, उन्हें डराना चाहता है! लड़के रुक जाते हैं, कुत्ते रुक रहते हैं, किन्तु मेरा यह शेर तब तक कतरिया कर सियार के आगे चला जाता है और उसके पीछे से ऐसा हबक्काब लगाता है कि बेचारा हक्का-बक्का हो रहता है। किन्तु फिर सियार सम्हलता है और वह विकराल रूप धरता है, जो सिद्ध कर दे कि सचमुच वह भेड़िये का छोटा भाई है। फिर भागदौड़, उठा-पटक का बाज़ार गर्म होता है। अन्त में सियार की मौत होती है—उसका रहा-सहा दम लड़कों के डंडे निकाल देते हैं। मेरा शेर विजयी की तरह लौटता है—हाँ, इसके शरीर पर प्रायः सियार के दाँतों के दागों के तमगे होते हैं।

गाँव से दूर हट कर, खेत में घर बनवा लिया। उतने पैसे कहाँ कि रात भर पहरा देने के लिए कोई संतरी रख सकूँ और स्वयं कहाँ तक जगा जाय? भरोसा तो इसी कुत्ते का। ज्यों ही हमारी नींद लगी, इसने घर के आसपास चक्कर लगाना शुरू किया और ज्यों ही दूर पर किसी को देखा या ज़रा-सी आहट पायी कि लगा भूँकने। जब तुरत नींद लगी हो, इसका भूँकना कितना बुरा लगता। प्रायः बाहर आकर इसे डाँटता, डाँट पर चुप हो जाता, नज़दीक आकर बदन सूँघ जाता जैसे इत्मीनान दिलाता, जाइए, आप निश्चिंत सोइए। किन्तु, फिर भी ज़रा-सी खट-खुट हुई कि फिर वही भूँक। आप सोइए न सोइए, यह कुत्ता ऐसा नहीं होने देगा कि आपके घर में कोई चोरी हो जाय।

और इसके बावजूद जो एक बार चोरी हो गयी तो क्या उसमें इस कुत्ते का कोई कसूर है? हमारे घर में एक बिदागिरी होने वाली थी। दिन भर धूमधाम रहा, रात में बड़ी देर तक गाँव की स्त्रियाँ आती-जाती रहीं। जब घर के लोग सोने गये तो ऐसे सोये कि जैसे घोड़े बेच कर सोये हों। और यह कुत्ता भूँकता रहा, भूँकता रहा। घर के पीछे जाकर खाँव-खाँव करता, घर के सामने आकर गला फाड़-फाड़ कर भूँकता। अचानक रानी की नींद टूटी और वह अपने कमरे से बाहर हुई तो कुत्ता घर के पीछे की ओर भूँकता हुआ दौड़ा। उन्हें कुछ संदेह हुआ। लोगों को जगाने लगीं, शोर करने लगीं। जब रोशनी की गयी, देखा गया, घर में सेंध है—कुछ चीज़ें चली गयी हैं। किन्तु, इस कुत्ते ने ही बचा लिया, नहीं तो उस दिन सर्वनाश ही हो गया होता।

दिन में देखा, चोरों ने कई बार कुत्ते पर आक्रमण किया था। एक बार्छी तो ऐसा लगा था कि कहीं यह कतरिया न गया होता, तो उस दिन इसका वारा-न्यारा ही हो गया होता।

हमलोग परदेसी, प्रायः घर छोड़ कर बाहर जाते। जब सरो-सामान के साथ हम बाहर निकलते, यह पीछे लग जाता। जब नालों में पानी होता, हम नाव पर जाते। हम नाले से नाव पर जा रहे हैं, यह उसका किनारा पकड़े दौड़ा आ रहा है। नाले में जहाँ-जहाँ मेड़ होती, यह बेधड़क पानी में कूद जाता और पानी की तेज़ धार को काटते हुए उधर से इधर निकल आता। हम इसे नाव पर ले लेना चाहते, किन्तु नाव का सँकरा स्थान इसे पसन्द नहीं या नाव से इसे घृणा होती, जो उसके मालिक को उससे बिछुड़ाये लिये जा रही है। समूचा शरीर कीचड़ से लथपथ हो जाता, हाँफते-हाँफते इसकी जीभ लटक जाती। किन्तु क्या यह कहीं, कभी रुकता? नाव का पीछा किये जा रहा है, किये जा रहा है!

जब हम सड़क पर पहुँचते और सारे सामान सरिया कर मोटर-बस की प्रतीक्षा करते, यह बारी-बारी से हममें से एक-एक के निकट पहुँचता, पूँछ डुलाता हुआ कूँ-कूँ करता, फिर रानी के निकट जाकर लेट रहता। वह उसके भीगे सिर पर हाथ फेरती, यह स्नेह-आकुल हो पूँछ हिलाता। इतने में बस पहुँचती। हम उस पर सवार होते। यह छटपट करता बस के चारों ओर दौड़ रहा है। बस चली, यह उसके पीछे दौड़ा। रानी सिर निकाल कर इसे देख रही है, कह रही है, लौट जाओ। ज्यों-ज्यों वह बोलती है, त्यों-त्यों वह और तेज दौड़ रहा है। किन्तु बस की रफ़्तार पर इसका क्या बस? हार कर खड़ा हो जाता। फिर लगता करुण स्वर में भूँकने—जैसे रो रहा हो। हाँ, लोगों ने प्रायः हमसे कहा है कि बड़ी देर तक यह रोता रहता, मोटर की पथ-रेखा को सूँघते थोड़ी दूर और बढ़ता, फिर हार कर लौट जाता।

और कौन उसे बता देता, हम आने वाले हैं? हर बार गाँव के बाहर ही यह हमारा स्वागत करता। इस सम्बन्ध में जित्तिन का अनुभव विचित्र है। वह देहरादून से लौट रहे थे। सैनिक पोशाक में थे। जब बेदौल से बाहर हुए, अपने घर की ओर, वहीं से देखते, वह तेजी से चले आ रहे थे। मेरे घर से एक मील पर होगा यह बेदौल। बीच में खुला मैदान है। वह थोड़ी ही दूर बढ़े थे कि देखा, एक कुत्ता दौड़ा चला आ रहा है। सोचा, कोई पागल कुत्ता है

क्या, जो मेरी इस फौजी पोशाक से अपरिचितता के कारण, मुझे काटने को दौड़ा आ रहा है। वह बढ़ते तो गये, किन्तु यह सोचते हुए कि यदि वह मुझ पर वार करे, तो क्या करूँगा, कि यह कुत्ता दौड़ता और हाँफता हुआ उनके निकट पहुँचा और वह 'हा-हा' करते ही थे कि यह उनकी दोनों टाँगों के बीच घुस कर उनके पैरों को सूँघने और 'कूँ-कूँ' करने लगा। थोड़ी देर तक इसने इतना प्यार जताया कि जिन्तिन भी झुक कर उसे दुलराने-पुचकारने लगे। फिर बड़ी शान से उनके आगे-आगे बढ़ता, उछलता, शाही सम्मान के साथ उन्हें घर लिवा लाया।

यह कुत्ता थोड़े ही दिनों में जान गया था कि यद्यपि घर का मालिक मैं हूँ, किन्तु यहाँ तो राज्य जहाँगीर का नहीं, नूरजहाँ का है। अतः रानी के प्रति सदा ही इसकी अधिक प्रीति और भक्ति रही। जब रानी पालकी पर अपने मैके गयीं, यह उनकी पालकी के साथ-साथ उनके मैके तक गया और जब तक वहाँ रहीं, सदा उनके पलंग के नीचे ही सोता रहा। मैके से उन्हें मैं मोटर पर ले आया। हमने चाहा कि इसे मोटर पर बिठा लें, किन्तु ज्योंही मोटर खुली, यह घबरा कर नीचे कूद पड़ा। अब क्या करें, न साथ ले सकते थे, न छोड़ना चाहते थे। हार कर मोटर पर हम चले आये, यह ताकीद करके कि सामान के साथ जो बैलगाड़ी आ रही है, इसके साथ ही इसे भेज दिया जाय। दूसरे दिन घर पर हम इसकी प्रतीक्षा में थे कि यह झट से सामने आ खड़ा हुआ। अरे, यह क्या? सारा शरीर धुल-धूसरित है, शरीर में कितने जख्म हैं। लगता है, ज्योंही हमारी मोटर आँखों से ओझल हुई, यह बैलगाड़ी की प्रतीक्षा किये बगैर वहाँ से निकला और रास्ते भर अपनी बिरादरी के लोगों से लड़ता-झगड़ता, उनके अनेकों व्यूहों को वीर अभिमन्यु-सा चीरता, रात में कहीं थोड़ा विश्राम कर, भोर-भोर यह हमारे यहाँ पहुँच गया। रानी ने इसे नहलवाया, इसके जख्मों पर मलहम लगवाया, और फिर यह अपनी ड्यूटी पर डट गया।

आप ही बताइए, ऐसे स्वामी भक्त, कर्त्तव्य-परायण, वीर, साहसी जीव के साथ क्या यही व्यवहार करना उचित है, जो हमारे मित्र बताते हैं?

किन्तु जब-जब इसे इस रूप में देखता हूँ, चित्त उद्विग्न हो जाता है। इसकी हालत देख कर नहीं, संसार की हालत पर और कुछ अपना भविष्य सोच कर भी।

यह कम्बख्त बुढ़ापा क्या चीज है? यह क्यों शरीर से शक्ति छीन लेता है, जर्जर, क्षीण बना डालता है? जीवों का अंत इतना बुरा क्यों होता है? बचपन

का दुलार, जवानी का प्यार—और उसके बाद बुढ़ापे की यह दुत्कार-फटकार ! सारी शक्ति खोकर, सारा सम्मान खोकर, तिल-तिल गल-गल कर मरना... विधाता, यह तुम्हारा विधान कैसा है ?

जीवों का अंत हो, आदमी मरे, यह तो ठीक है। इतनी जगह पृथ्वी पर कहाँ कि वह अमर प्राणियों के रहने योग्य स्थान भी दे पाये। अतः मृत्यु होनी ही चाहिए। किन्तु बुढ़ापे की यह मौत ? बुरी मौत को कुत्ते की मौत कहा जाता है। किन्तु क्या बुढ़ापे की हर मौत कुत्ते की मौत नहीं है ?

अभी मेरे दरवाजे पर वह बिहारी आया था। कैसा दबंग युवक था वह ! अभी मुझे उन दिनों की याद है, जब उसके होठों पर मसें भींग रही थीं। काले चेहरे पर भी कैसी चमक थी। मोटा, मुस्तंडा। जो बोझ किसी से न उठे, यह उठाये। जो काम कोई न करे, यह बिहारी करे। मस्ती से कमाता, मौज से खाता। वही बिहारी क्या बन गया है ? जर्जर काय, झुकी कमर, एक लाठी के सहारे, वह आया और मेरे दरवाज़े पर बैठ गया—क्योंकि आज होली है, पूआ-खीर खाने की उसकी इच्छा है। उसे देखते ही सबके चेहरे सिकुड़ गये—"बिहारी, नीचे ही बैठो, नीचे !"

"ऐसा क्यों कह रहे हो ?" मैंने धीरे से कहा।

"समूचा शरीर बसाता है इसका", गणेश बोला "न नहाता है न धोता है, पानी भी ठीक से नहीं छूता।"

हाँ, दुर्गन्ध तो मैंने भी महसूस की थी। जल्द-जल्द कुछ दिलवा कर विदा किया। अपने बूढ़े कुत्ते को भी तो मैं प्रति दिन कौरा डाल दिया करता हूँ !

प्रकाशचन्द्र गुप्त

●●●

पुराना नगर

अत्यन्त प्राचीन हमारा यह नगर है। युग-युगान्तर से गंगा और यमुना की धाराएँ इसके चरण धोती आयी हैं। सम्पूर्ण उत्तर भारत के तरंगाकुल जीवन का यह बौद्धिक केन्द्र रहा है। राजसत्ता के, व्यापारियों के, लुटेरों के, यात्रियों के कारवाँ निरन्तर यहाँ विश्राम के लिए रुके हैं और आगे बढ़ गये हैं। नगर के बीच से अशोक का बनाया पुरुषपुर से बंगाल तक फैला राजमार्ग आज भी हुंकार भरता हुआ निकलता है, नदी के विशाल पाट पर अब भी पूर्वकाल की भाँति ही अतुल धन-राशि और वाणिज्य का विनिमय चलता रहता है। सम्राट और यात्री आज भी गंगा और यमुना के मिलन-स्थल पर मोक्ष की कामना से सिर झुकाते हैं।

प्राचीन नगरों में 'उदासी, तपोव्रतधारी' यह नगर है। अनेक महान सम्राटों की राजधानी इस पुण्य-भूमि पर रही है। कुछ मील दूर पर ही उदयन की राजधानी—कौशाम्बी, यमुना के तट पर बसी थी। यहीं तथागत् के आगमन के उपलक्ष्य में कौशाम्बी के श्रेष्ठिपुत्र ने सुप्रसिद्ध घोषितराम-संघ बनवाया था। अशोक का एक सुप्रसिद्ध स्तंभ प्रयाग में है और एक कौशाम्बी में। गंगा के पार प्राचीन काल का विख्यात नगर—प्रतिष्ठान—बसा था, जिसके ऊँचे-ऊँचे ढूह ही अब गंगा के कगारों पर स्मारक-रूप में खड़े हैं। दूसरी दिशा में अनेक खण्डहरों के बीच कड़ा के अवशेष हैं, जो खिल्जी वंश के विचित्र व्यापारों की याद दिलाया करते हैं। पुराने बुर्ज पर काल के प्रहरी की भाँति खड़े होकर हम गंगा के अविरल प्रवाह को देखते हैं, जहाँ बीच धार में अलाउद्दीन खिल्जी ने अपने चचा, सम्राट जलालुद्दीन, का आलिंगन करते हुए उन्हें मार कर नदी में बहा दिया था। यहीं संत मलूकदास की समाधि है, जिनकी वाणी आज भी जनता की स्मृति में गूँजती है।

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम॥

प्रति वर्ष मलूकदास के वंशज उनकी पांडुलिपियों के पत्र, भक्ति-भाव से गंगा को भेंट चढ़ाते हैं और इस प्रकार स्वर्ग में अपने लिए स्थान सुरक्षित करते है।

गंगा और यमुना का संधि-स्थल भी कितनी ऐतिहासिक स्मृतियों का कोष है। अकबर के बनवाये लाल क़िले के नीचे से यमुना निकलती हैं, और भी लाल क़िले यमुना ने अपने अविरल प्रवाह में देखे हैं, दिल्ली का श्री-सम्पन्न लाल क़िला, जहाँ दीवाने आम है, दीवाने ख़ास और कभी तख्ते-ताऊस था, आगरे का लाल क़िला, जहाँ से बंदी शाहजहाँ ताजमहल को दूर आकाश पर देख कर उसासें लिया करते थे! और फिर इलाहाबाद का लाल क़िला, जहाँ मुग़लों के वैभव और श्री की कोई भी यादगार नहीं, जहाँ अशोक-स्तंभ है और अक्षय-वट है और कुछ ही वर्ष पूर्व विदेशी सेनाओं का पड़ाव था। केवल अकबर की याद यह लाल क़िला हरी करता है। न यहाँ मोती मस्जिद है, न दीवाने ख़ास, जिसकी दीवारों पर कवि-कल्पना के यह शब्द अंकित हैं--'यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है, तो यहीं है, यहीं है!!'

क़िले के नीचे से यमुना निकलती है और कुछ ही दूर आगे गंगा की गोद में अखण्ड विश्राम पाती है। दूसरी ओर से गंगा अनेक देश, वन, राज्य, शताब्दियाँ पार करती हुई आती है और यमुना से मिल कर मानो क्षण भर के लिए संगम-स्थल पर इसकी गति विश्रान्ति प्राप्त करती है। संगम पर महाराज हर्ष बार बार अपने राजकोष का धन, अपना राजदण्ड और मुकुट तक भिक्षार्थियों को भेंट कर देते थे। बड़े-बड़े आचार्य और पंडित यहाँ जुड़ते थे और जीवन और मृत्यु के कठिन विषयों पर वार्तालाप करते थे। विदेशों के ज्ञानी भी इन वार्ताओं में शामिल होते थे। अब भी यहाँ बड़े-बड़े योगी और सन्यासी आते हैं, किन्तु ऐसे साधुओं के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था :

'निराचार सो स्रुति-पथ त्यागी, कलियुग सोई ज्ञानी, बैरागी।
जाके नख अरु जटा बिसाला, सोई तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥'

हाल में ही संगम ने जो दो प्रसिद्ध दृश्य देखे, उनमें एक था महात्मा गांधी का अस्थि-प्रवाह और दूसरा सन् ५४ का महाकुंभ। इस महाकुंभ में मोक्ष के अनेक महत्वाकांक्षी अनायास ही अपना इच्छित वरदान पा गये थे। काल के महाप्रवाह में असंख्य बह चुके हैं, उनकी क्या गिनती की जाय? किन्तु राष्ट्रपिता की

अन्तिम यात्रा का अवसाद इतिहास आसानी से भुला सकेगा ? उस शोक के महासागर में हमने देखा, अगणित बूड़ते और उतराते थे। महान ज्योति को कुटिल मनुष्य ने अपनी फूँक से बुझाना चाहा था, किन्तु ज्योति अधिक प्रज्वलित होकर जलती रही और कुटिल मनुष्य स्वयं बुझ गया।

प्राचीन नगर इस दृश्य को कभी न भूलेगा। एक असीम मानव महानद चारों दिशाओं से उमड़ कर संगम-स्थल पर पहुँच रहा था। उस दिन कोई ऐसा न था, जिसका कण्ठ आर्द्र न हो, जिसके नेत्र सूखे हों। राष्ट्र-पिता के शोक में डूबे सम्पूर्ण राष्ट्र का ही मानों यह महाप्रयाण था। इस पीढ़ी ने गांधी की अन्तिम यात्रा देखी है। यह मानों बुद्ध और ईसा की अन्तिम यात्रा की याद हरी करती है।

इतिहास की स्मृतियों से भरे इस नगर की तुलना हम किन प्राचीन नगरों से करें ? रोम, एथेन्स, दिल्ली से अथवा बाबुल, पौम्पेआई, मोहेंजो-दड़ो या कोणार्क से ? बाबुल, पौम्पेआई और मोहेंजो-दड़ो के केवल चिन्ह-मात्र ही अब बचे हैं। रोम और दिल्ली के समान साम्राज्यों के खण्डहर यहाँ नहीं हैं, परन्तु गंगा के जल के समान निर्मल और स्वच्छ, प्राचीन ज्ञान और संस्कृति की परम्परा यहाँ चिरकाल से बहती हुई चली आ रही है। इसी पुण्य-सलिला में मज्जन-पान के लिए लालायित, ज्ञान और मुक्ति के आकांक्षी यात्री यहाँ सदा से जुड़ते आ रहे हैं। गंगा की धारा के समान ही वेग-वाहिनी और निर्मल संस्कृति की अखण्ड, अविरल धारा यहाँ बहती रही है।

पृथ्वी से ही बादल आकाश में उठते हैं और जल की बूँद बन कर फिर पृथ्वी को ही लौटते हैं, उसे उर्वरा बनाते हैं और धन-धान्य से परिपूर्ण करते हैं। वर्षा के जल के समान ही स्निग्ध और पवित्र ज्ञान और संस्कृति की धारा मनुष्य-जीवन को धन्य और समस्त वैभव से परिपूर्ण बनाती है। यह धारा भी पृथ्वी से ही फूट कर फिर उसे समृद्ध बनाती है। भारतीय संस्कृति की अनेकरूपी धाराओं का संगम इस नगर में हुआ है और यही इस नगर की महिमा है।

इस नगर में अनेक उपनगर हैं और उनके अपने अलग इतिहास हैं। पूर्व में गंगा के ऊँचे कगारों पर बसा दारागंज है, जहाँ के पण्डे और यात्री हमें हरिद्वार और काशी की याद दिलाया करते हैं। यहाँ नाई यात्रियों के बाल मूँड़ा करते हैं, पुण्यार्थी गंगा में नाक बन्द करके डुबकी लगाया करते हैं। चूड़ियों, टीका-बिन्दी और यज्ञोपवीत की बिक्री धड़ल्ले से दूकानों पर होती है।

यहाँ से अकबर का बनवाया बाँध दोनों दिशाओं में फैलता है। एक बाहु से लाल क़िला और दूसरी से बघाड़ा को अपनी गोद में समेट कर गंगा के प्रबल प्रहारों से वह नगर की रक्षा करता है। वर्षा में जब बाढ़ के जल से अधीर गंगा हुंकार करके बाँध पर टूटती हैं, तब मानव-विश्वकर्मा का प्रतीक यह बाँध अयास ही उस उमड़ती धारा को अपने चरणों से पीछे ठेल देता है।

दक्षिण में नख्खासकोने से बहादुरगंज तक फैला पुराना मध्य-युगीन बादशाही नगर है। इसी नगर के बीच से भारतीय इतिहास का वह विख्यात राजमार्ग निकलता है, जिसे अशोक ने बनवाया था और शेरशाह ने जिसका कायाकल्प किया। इस भाग में तंग गलियाँ हैं, अंधकार है, सीलन, बदबू और ग़रीबी है, अन्ध विश्वास है, अशिक्षा का अभिशाप है। विरासत के रूप में इतिहास ने यह सब विपन्नता भी इस नगर को दी है। यहाँ दारा-शाह अजमल है। इमाम-बाड़ा स्याह सुर्ग़ है। पुराने कारीगर हैं। पंक में सड़ती हुई मानवता है, जो कमल के फूल के समान खिल उठने की आतुरता में आलोक की प्रथम रश्मियों की प्रतीक्षा कर रही है।

उत्तर में नये उपनगर हैं, कटरा-कर्नलगंज और फाफामऊ की दिशा में फैलती हुई बस्तियाँ। वहाँ से पश्चिम की ओर बढ़ती हुई गंगा की भुजा नगर का कंठहार बनी है। द्रौपदी घाट, रसूलाबाद, फाफामऊ, बघाड़ा, नाग वासुकि और दारागंज—धनुष के समान गोल हो कर यह 'हीरक-सी' नव उज्जवल जल धार हमारे नगर के गले में लिपटी है। और फिर एक और भी उपनगर लूकरगंज से डग बढ़ाता हुआ बमरौली की ओर बढ़ रहा है।

इन सभी उपनगरों का पुंज हमारा यह नगर है। प्राचीन और नवीन का यहाँ अद्भुत मिलन है। जैसे गंगा का जल चिर-पुरातन होते हुए भी चिर-नवीन है, उसी प्रकार हमारे नगर का जीवन भी अति प्राचीन होते हुए अति आधुनिक भी है।

बहुत प्रशांत यहाँ का जीवन है। कलकत्ता, बम्बई अथवा कानपुर के समान नये नगरों का कोलाहल और हाहाकार हम यहाँ नहीं पाते। सदियों से बहती आयी हमारी प्राचीन संस्कृति ने आत्म-अभिमान से जीवन बिताने की कला हमें सिखा दी है। इस कला को दो जातियों ने इतिहास से अच्छी तरह सीखा है, हमने और हमारी पड़ोसी चीनी जाति ने। अब अन्य जातियाँ भी इस शिक्षा को ग्रहण कर रही हैं।

दूर-दूर तक फैला, मुक्त वायु और आकाश का आलिंगन करता हुआ, बागों और हरे खेतों का परिधान पहने, हमारा यह सुन्दर नगर अनेक सदियों से फलता-फूलता रहा है। इतिहास ने जब हमारे देश में आँखें खोली थीं, लगभग तभी इसका जन्म हुआ था। भारद्वाज ऋषि ने इसे अपने ज्ञान-संचय का केन्द्र बनाया। अशोक, उदयन और हर्ष के चरण-चिन्ह यहाँ की भूमि में अंकित हैं, युआन-च्वाँग के समान ज्ञान के खोजी यहाँ चिरकाल से आते रहे हैं। अकबर और राजकुमार खुसरू के प्रसिद्ध स्मारक यहाँ हैं। प्रत्येक दिन, प्रति क्षण और प्रति पल इतिहास की स्मृतियों के सन्मुख नत-मस्तक यात्री यहाँ आया करते हैं।

मध्य-युगीन निद्रा से जाग कर इस प्राचीन नगर ने भी आधुनिक युग के आलोक में करवट ली है। विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्षों में इसने प्रमुख भाग लिया। अनेक महान पंडित और आचार्य, कवि और लेखक आज भी इस भूमि में जन्म लेते हैं और मानों सूर्य के रथ के पहियों तक उनके यश की छाया फैलती है।

हमारी प्राचीन संस्कृति की यह अखण्ड, अविरल धारा ज्ञान के विशाल-असीम सागर से मिलने के लिए आतुर, निश्चित डगों से आगे बढ़ती है। उस भविष्य की ओर हमारे नेत्र उठ रहे हैं। हम भी इस धारा के अंश बन कर, बूँद के कणों के समान समवेत् में लीन हो कर आगे बढ़ते हैं।

नयी कविता
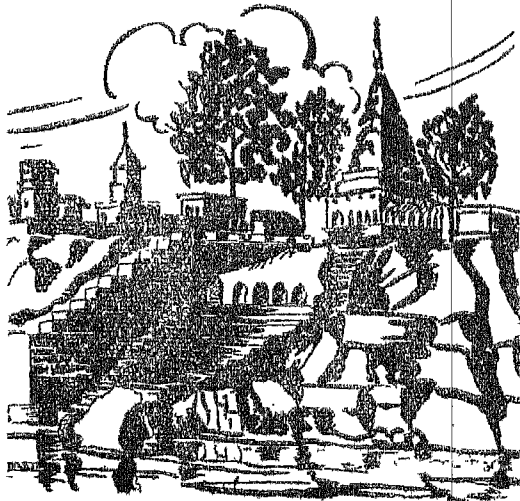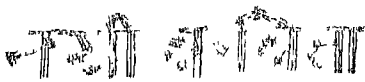
आने वालों से एक सवाल • भारतभूषण अग्रवाल

तुम जो आज से ठीक सौ वर्ष बाद
मेरी कविताएँ पढ़ोगे
तुम, मेरी धरती की नयी पौध के फूल
तुम, जिनके लिए मेरा तन-मन खाद बनेगा,
तुम जब मेरी इन रचनाओं को पढ़ोगे तो तुम्हें कैसा लगेगा :
इसका मेरे मन में बड़ा कौतूहल है !

बचपन से तुम्हें
हिटलर और गाँधी की कहानियाँ सुनायी जायेंगी :
उस एक व्यक्ति की ---
जिसने अपने देशवासियों को मोह की नींद सुला कर
सारे संसार में आग लगा दी
और जब लपटें उसके पास पहुँचीं
तो जिसने डर कर आत्महत्या कर ली
ताकि उसके देशवासियों का मोह न टूटे !
और फिर उस व्यक्ति की—
जिसने अपने देशवासियों को सोते से जगा कर
सारे संसार को सत्य का रास्ता बताया
और जब संसार उसके चरणों पर झुक रहा था,
तब जिसके एक देशवासी ने ही उसके प्राण ले लिये
कि कहीं सत्य की प्रतिष्ठा न हो जाय !

तुम्हें स्कूलों में पढ़ाया जायगा कि सौ वर्ष पहले
इंसानी ताकतों के दो बड़े राज्य थे,
जो शान्ति चाहते थे
और इसीलिए दिन-रात युद्ध की तैयारी में लगे रहते थे;
जो दोनों संसार को सुखी देखना चाहते थे
इसीलिए सारे संसार पर कब्ज़ा करने की सोचते थे ;

और यह भी पढ़ाया जायगा कि एक राज्य और था
जो संसार भर में शान्ति का मंत्र फूँकता रहा,
पर जिसे अपने ही घर में
भाई-भाई के बीच दीवार खड़ी करनी पड़ी;
जो हर पराधीन देश की मुक्ति में लगा रहा,
पर जिसके अपने ही अंग पराये बन्धन में जकड़े रहे !
तुम्हें विश्वविद्यालयों में बताया जायगा—
कि इंसान का डर दूर करने के लिए
सौ साल पहले वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे आविष्कार किये
जिनसे इंसान का डर और भी बढ़ गया,
और यह भी :
कि उसने चाँद-तारों में पहुँचने के सपने देखे
जब कि उसके सारे सपने चकनाचूर हो चुके थे !

और तभी किसी दिन, किसी प्राचीन काव्य-संग्रह में
तुम मेरी कविताएँ पढ़ोगे !
और उन्हें पढ़ कर तुम्हें कैसा लगेगा :
यह जानने का मेरे मन में बड़ा कौतूहल है !

तुम, जो आज से सौ साल बाद मेरी कविताएँ पढ़ोगे,
तुम क्या यह न जान सकोगे :
कि सौ साल पहले
जिन्होंने तन्मयता से विभोर हो कर
आत्मा के मुक्त-आरोहण के
या समवेत-जीवन की जय के गीत गाये,
वे आँखें बन्द किये सपनों में डूबे थे
और मैं—
जिसका स्वर सदा दर्द से गीला रहा,
जिसके भर्राये कण्ठ से सिर्फ़ कुछ चीखें ही निकल सकीं—
मैं सारा बल लगा कर आँखें खोले
यथार्थ को देख रहा था !

बाढ़ १९४८

सांस्कृत मूल्यों के बाँध पर एक रूपक-रिपोर्ताज़

● शमशेर बहादुर सिंह

पृष्ठभूमि और संदर्भ—

सन १९४८ में श्रीमती महादेवी वर्मा के उद्योग से इलाहाबाद में बाढ़-पीड़ितों के सहायतार्थ बहुत काम हुआ, विशेष रूप से रसूलाबाद ग्राम के लिए, जहाँ साहित्यकार संसद स्थित है।

उन दिनों 'अश्क'-दम्पति, श्री अज्ञेय और बंगला कवि डा० आशामुकुलदास न० १४, हेस्टिंग रोड पर रहते थे। श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' क्षय रोग से ग्रस्त थे। इलाहाबाद में बसने के लिए ही बम्बई से आये-आये थे। सामने था स्वास्थ्य, साहित्य और उद्योग के लिए, संघर्ष! साथ में सब से छोटा बच्चा—'गुड्डा' साढ़े तीन साल का। इसी स्थान से श्री अज्ञेय 'प्रतीक' जैसे विशिष्ट स्तर के द्वैमासिक का सम्पादन भी कर रहे थे।

यहीं उस साल पं० सुमित्रानन्दन जी पन्त के 'लोकायन'—'एक सांस्कृतिक कला-केन्द्र' का उद्घाटन भी हुआ। सभापति थे श्री जैनेन्द्र कुमार जैन, जो कलकत्ता, पटना आदि होते हुए दिल्ली के रास्ते में इलाहाबाद उतर गये थे। कलकत्ते में उन्होंने 'नैतिक पुनश्शस्त्रीकरण संघ' की कान्फ्रेंस में भाग लिया था, एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था (प्रेरणा केन्द्र इंग्लैंड-अमरीका) जिसका शान्ति-आन्दोलन-विरोध उन दिनों अधिक सक्रिय था।

कवि डाक्टर आशामुकुलदास का विद्यार्थी जीवन रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आशिषच्छाया में शांतिनिकेतन में बीता था। शिलङ् (आसाम) के सामाजिक जीवन के प्राण और सुप्रसिद्ध चिकित्सक थे। जब बढ़े हुए रक्त-चाप ने जलवायु-परिवर्तन के लिए विवश किया तो प्रयाग आये। अब यहीं प्रेक्टिस करते हैं।

श्री विवेक-कला और दर्शन प्रेमी मित्र—विशेष रूप से प्रयोगवादी कला के। सन् ४८ में एक मिल के मैनेजर होकर इलाहाबाद आये। किसी जमाने में वे और लेखक दिल्ली के 'उकील स्कूल आव् आर्ट' के विद्यार्थी थे।

इलाहाबाद में इसी साल भारतीय जन-नाट्य-संघ (इप्टा) की अभूतपूर्व अखिल भारतीय कान्फ्रेंस हुई, जिससे लेखक अत्यधिक प्रभावित हुआ।

सुपरिचित कवि और आलोचक श्री नेमिचन्द्र जैन तब प्रान्तीय संयोजक के रूप में 'इप्टा' की उत्तर प्रदेशीय शाखा से सम्बन्धित थे और श्रीमती रेखा जैन के साथ मिल कर उन्होंने इस नगर के रंगमंच को एक विशिष्ट स्तर प्रदान कर दिया था।

—कवि

['शायरी' एक ऐसी चीज़, जिसे आप एक्सपैक्ट करते हैं मुझसे लिखने के लिए,
मगर जिसे कोंटैनेंस करने के लिए आप तैयार नहीं—मैं लिख रहा हूँ—
लिख रहा हूँ—
क्योंकि वह चीज़ खुद मैं भी, मैं खुद भी लिखना चाहता हूँ : और बिलाशुबह
वह तो मेरा कोंटैनेंस है हाँ—मेरा चेहरा, मेरी रूह, हाँ, मेरी रूह।]

मिसेज़ 'अश्क' जो दरिया के सफ़ेद-मक्खनी उफान में
एक औरत का दिल ले कर, आसमान की आँखों में बैठ
जाना चाहतीं......और वहाँ से हिंडोला डाल कर, मिस्टर
'अश्क' को उसमें झुलाना—आहिस्ता-आहिस्ता—आराम के
हिलकोरे देना, चाहती हैं : मोतियों की आब अपनी हँसी
और लहरों की साफ़ समझ अपनी पलकों के गिर्द ख़ूबसूरती
के साथ लिये हुए

...और वह गुड्डा, वह बेबी जो हरेक अंकल,
हर अनजान आँटी को यूँ ही लिपट जाता है दौड़ कर—
जो वात्स्यायन को
बग़ल से झाँक कर सम्बोधन कर उठता है—'मेरी जा ऽ न !'
वह चार साल का (या साढ़े-चार का) शोख़ गुड्डा,
बेबी, एक गम्भीर, देव-से स्थिर शरीर वाले अपने अंकल
(दोस्त) को, अपने बाप के हँसोड़ बेतकल्लुफ़ाना 'दिलफेंक' लहजे में
मुस्करा कर, पुकार उठता है, वह गुड्डा—'मेरी जा ऽ न !'
और उसके ओंठ सिकुड़ने लगते हैं, बिसूरते हुए
आहत बच्चे के आत्माभिमान की सजल-सी तस्वीर खींचते हुए—
अब उसकी माँ अपनी अतिशिष्ट बुर्जुआ पर्सनेलिटी के सौम्य झरोखे में
उसको बिठा कर डपट उठती है '......!' जाने दो......
—मेरी रूह जो उस बच्चे-सी फिर मुस्कराने लगती है,
एक 'अच्छा लड़का' बन कर
निरीह,
फ़तहयाब !

'मैं उर्दू और हिन्दी का दोआब हूँ।
मैं वह आईना हूँ, जिसमें आप हैं।

मैं एक नज़्म हूँ,
—एक दोहा हूँ, न जाने किसका...'

क्या नाम है इनका ?
देवेन्द्र, नहीं......:
—विवेक :

विवेक,
जमना में ज़बरदस्त बाढ़ आयी है।
और गंगा में भी......!
(—कितनी मुद्दत से, ऐसी बाढ़, लोगों को याद है—कि नहीं आयी,
नहीं आयी
उनके होश में, नहीं आयी।)

बड़ी ज़बरदस्त बाढ़ आयी है,
न जाने कितने मन बोरे गेहूँ के बह गये...
कि[illegible] कच्ची दीवारों में लीपा हुआ धन बचाया न जा सका,
[illegible] बह गया।
पानी-सी [illegible] ज़िन्दगियाँ, आँख खोलते न खोलते, बुलबुलों की तरह बह गयीं
और उन ज़िन्दगियों के अफ़साने, यानी उन ज़िन्दगियों को
बिताने वाले गंगा और जमना के किनारों पर ख़्वाब की तरह
हाथ मलते हुए बैठे रह गये—इस दौर की तरह,
धर्म और परम्परा के : जो अपने खोल और साये की तरह
अपनी रूह का मातम कर रहा है (—वह रूह हिन्दू हो या मुसलमान :
यहूदी हो या जर्मन : साउथ-अफ्रीकी-ह्वाइट हो या बर्मी-चीनी-मार्लें
और रूसी हो या 'कम्युनिस्ट' नीग्रो-अमरीकी-नेशनलिस्ट चीनी......)
वह मेरे पोलिटिकल कवि की तरह अपनी साँसों का हिसाब लगा रहा है
कि वे कितने गेहूँ के दानों के बराबर हैं......

नेमि—
रेखा
'तृप्ता'
नाटक...
जीवन-लेखा

आज का उपहास्य
भूख का आलोच्य
आर्ट
तुम कल्पना के पुतले
नहीं हो
तुम कम्युनिस्ट पार्टी की 'मशीन'
नहीं हो
(लोग ग़लत कहते हैं)
तुम कला का मौन
शान्त
विवाह
संघर्ष के साथ—हो;
तुम कम्युनिस्ट हो,
यानी कलाकार—
का कर्म मन को
यानी भविष्य का !
मर्मभाव
आज के नाटक के अन्त में !
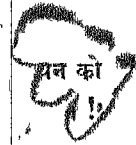
उस नाटक का अन्त मैं हूँ
मैं शमशेर
एक निरीह
फ़तह.........!

कल क्या है,
जिसके घूमते चक्के की धुरी में
'कल्चर'—'संस्कृति' की कीली
तुम्हें नज़र आती है,
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ?
कल्चर
न तुम हो
न मैं

तीन कहानियाँ

जहाँ लक्ष्मी क़ैद है

राजेन्द्र यादव

●●

ज़रा ठहरिए, यह कहानी विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के बारे में नहीं, लक्ष्मी नाम की एक ऐसी लड़की के बारे में है जो अपनी क़ैद से छूटना चाहती है। इन दो नामों में ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है जैसा कि कुछ क्षण के लिए गोविन्द को हो गया था।

एकदम घबराकर जब गोविन्द की आँखें खुलीं तो वह पसीने से तर था और उसका दिल इतने ज़ोर से धड़क रहा था कि उसे लगा कहीं अचानक उसका धड़कना बन्द न हो जाय। अँधेरे में उसने पाँच-छः बार पलकें झपकीं, पहली बार तो एकदम उसकी समझ में ही न आया कि वह कहाँ है, कैसा है—एकदम दिशा और स्थान का ज्ञान उसे भूल गया। जब पास के हॉल की घड़ी ने एक का घंटा बजाया तो उसकी समझ में ही न आया कि वह घड़ी कहाँ है, वह स्वयं कहाँ है और घंटा कहाँ बज रहा है? फिर धीरे-धीरे उसे ध्यान आया, उसने ज़ोर से अपने गले का पसीना पोंछा और सोचने लगा, उसके दिमाग़ में फिर वही खट्-खट् गूँज उठी है, जो अभी गूँज रही थी......

पता नहीं, सपने में या सचमुच ही, अचानक गोविन्द को ऐसा लगा था जैसे किसी ने किवाड़ पर तीन-चार बार खट्-खट् की हो, और बड़े गिड़-गिड़ाकर कहा हो—"मुझे निकालो, मुझे निकालो।" और यह आवाज़ कुछ ऐसे रहस्यमय ढंग से आकर उसकी चेतना को कोंचने लगी कि वह बौखला कर जाग उठा—सचमुच ही यह किसी की आवाज़ थी या महज़ उसका भ्रम?

फिर उसे धीरे-धीरे याद आया कि यह भ्रम ही था और वह लक्ष्मी के बारे में सोचता हुआ ऐसा अभिभूत सोया था कि वह स्वप्न में भी छायी रही। लेकिन, वास्तव में यह आवाज कैसी विचित्र थी, कैसी साफ़ थी?—उसने कई बार सुना था कि अमुक स्त्री या पुरुष से स्वप्न में आकर कोई कहता था कि 'मुझे निकालो,

मुझे निकालो !' फिर वह धीरे-धीरे स्थान की बात भी बताने लगता था, और वहाँ खुदवाने पर कड़ाहे या हाँडी में भरे सोने-चाँदी के सिक्के या माया उसे मिली और वह देखते-देखते माला-माल हो गया। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि किसी अनधिकारी आदमी ने उस द्रव्य को निकलवाना चाहा तो उसमें कौड़ियाँ और कोयले निकले या फिर उसके कोढ़ फूट आया या घर में कोई मृत्यु हो गयी। कहीं इसी तरह, धरती के नीचे से उसे कोई लक्ष्मी तो नहीं पुकार रही है? और वह बड़ी देर तक सोचता रहा, उसके दिमाग़ में फिर लक्ष्मी का किस्सा साकार होने लगा। वह मोहाछन्न-सा पड़ा रहा......

दूर कहीं दूसरे घड़ियाल ने फिर वही एक घंटा बजाया।

गोविन्द से अब नहीं रहा गया। रज़ाई को चारों तरफ़ से बन्द रखे हुए ही बड़े सम्हाल कर उसने कुहनी तक हाथ निकाला, लेटे-ही-लेटे अलमारी के खाने से किताब-कापियों की बग़ल से उसने अधजली मोमबत्ती निकाली, वहीं कहीं से खोज कर दियासलाई निकाली और आधा उठ कर, ताकि जाड़े में दूसरा हाथ पूरा न निकालना पड़े, उसने दो-तीन बार घिस कर दियासलाई जलायी, मोमबत्ती रोशन की और पिघले मोम की बूँद टपका कर उसे दवात के ढक्कन के ऊपर जमा दिया। धीरे-धीरे हिलती रोशनी में उसने देख लिया कि पूरे किवाड़ बन्द हैं, और दरवाज़े के सामनेवाली दीवार में बने, जाली लगे रोशनदान के ऊपर, दूसरी मंजिल से हल्की-हल्की जो रोशनी आती है वह भी बुझ चुकी है। सब कुछ कितना शान्त हो चुका है। बिजली का स्विच यद्यपि उसके तख़्त के ऊपर ही लगा था, लेकिन एक तो जाड़े में रज़ाई समेत या रज़ाई छोड़ कर खड़े होने का आलस्य, दूसरे लाला रूपाराम का डर, सुबह ही कहेगा—"गोविन्द बाबू, बड़ी देर तक पढ़ाई हो रही है आजकल !" जिसका सीधा अर्थ होगा कि बड़ी बिजली ख़र्च करते हो !

फिर उसने चुपके से, जैसे कोई उसे देख रहा हो, तकिये के नीचे से रज़ाई के भीतर-ही-भीतर हाथ बढ़ा कर वह पत्रिका निकाल ली और गर्दन के पास से हाथ निकाल कर उसके सैंतालीसवें पन्ने को बीसवीं बार खोल कर बड़ी देर घूरता रहा। एक बजे की पठानकोट ऐक्सप्रेस जब दहाड़ती हुई गुजर गयी तो सहसा उसे होश आया। ४७ और ४८—जो पन्ने उसके सामने खुले थे, उनमें जगह-जगह नीली स्याही से कुछ पंक्तियों के नीचे लाइनें खींची गयी थीं—यही नहीं, उस पन्ने का कोना मोड़ कर उन्हीं लाइनों की तरफ़ विशेष रूप से ध्यान खींचा गया था। अब तक गोविन्द उन या उनके आस-पास की लाइनों को बीस बार

से अधिक घूर चुका था, उसने शंकित निगाहों से इधर-उधर देखा और फिर एक बार उन पंक्तियों को पढ़ा।

जितनी बार वह उन्हें पढ़ता, उसका दिल एक अनजान आनन्द के बोझ से धड़क कर डूबने लगता और दिमाग़ उसी तरह भन्ना उठता, जैसा उस समय भन्नाया था जब यह पत्रिका उसे मिली थी। यद्यपि इस बीच उसकी मानसिक दशा कई विराट स्थितियों से गुज़र चुकी थी, फिर भी वह बड़ी देर तक काली स्याही से छपे कहानी के अक्षरों का स्थिर निगाहों से घूरता रहा—धीरे-धीरे उसे ऐसा लगा, यह अक्षरों की पंक्तियाँ एक ऐसी खिड़की की जाली हैं, जिसके पीछे बिखरे बालों वाली एक निरीह लड़की का चेहरा झाँक रहा है! और फिर उसके दिमाग़ में बचपन में सुनी कहानी साकार होने लगी—शिकार खेलने में साथियों का साथ छूट जाने पर भटकता हुआ एक राजकुमार अपने थके-माँदे घोड़े पर बिलकुल वीराने में समुद्र के किनारे बने एक विशाल सुनसान क़िले के नीचे जा पहुँचा। वहाँ ऊपर खिड़की में उसे एक अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी बैठी दिखायी दी, जिसे एक राक्षस ने लाकर वहाँ क़ैद कर दिया था...छोटे-से-छोटे विवरण के साथ खिड़की में बैठी राजकुमारी की तस्वीर गोविन्द की आँखों के आगे स्पष्ट और मूर्त होती गयी। और उसे लगा, जैसे वही राजकुमारी उन रेखांकित, छपी लाइनों के पीछे से झाँक रही है—उसके गालों पर आँसुओं की लकीरें सूख गयी हैं, उसके ओंठ पपड़ा गये हैं...चेहरा मुर्झा गया है और रेशमी बाल मकड़ी के जाले जैसे लगते हैं—जैसे उसके पूरे शरीर से एक आवाज़ निकलती हो—"मुझे छुड़ाओ, मुझे छुड़ाओ!"

गोविन्द के मन में उस अनजान राजकुमारी को छुड़ाने के लिए जैसे रह-रह कर कोई कुरेदने लगा। एक-आध बार तो उसकी बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि अपने भीतर रह-रह कर कुछ करने की उत्तेजना को वह अपने तख़्त और कोठरी की दीवार के बीच में बची दो फुट चौड़ी गली में घूम-घूम कर दूर कर दे।

तो क्या सचमुच, लक्ष्मी ने यह सब उसी के लिए लिखा है? लेकिन उसने तो लक्ष्मी को देखा तक नहीं। अगर अपनी कल्पना में किसी जवान लड़की का चेहरा लाये भी तो वह आख़िर कैसी हो?...कुछ और भी बातें थीं कि वह लक्ष्मी के रूप में एक सुन्दर लड़की के चेहरे की कल्पना करते डरता था—उसकी ठीक शक्ल-सूरत और उम्र भी तो नहीं मालूम उसे......

गोविन्द यह अच्छी तरह जानता था कि यह सब उसी के लिए लिखा गया है। ये लाइनें खींच कर उसी का ध्यान आकृष्ट किया गया है, लेकिन

तब भी वह इस अप्रत्याशित बात पर विश्वास नहीं कर पाता था। वह अपने को इस लायक भी नहीं समझता था कि कोई लड़की इस तरह उसे संकेत करेगी। यों शहरों के बारे में उसने बहुत काफ़ी सुन रखा था, लेकिन यह सोचा भी नहीं था कि गाँव से इण्टर पास कर के शहर आने के एक हफ़्ते में ही उसके सामने एक ऐसी ही सौभाग्य-पूर्ण बात आजायेगी......

वह जब-जब इन पंक्तियों को पढ़ता तब-तब उसका सिर इस तरह चकराने लगता जैसे किसी दस मंजिले मकान से नीचे झाँक रहा हो। जब उसने पहले-पहल यह पंक्तियाँ देखी थीं तो इस तरह उछल पड़ा था जैसे हाथ में अंगारा आ गया हो।

बात यह हुई कि वह चक्की वाले हॉल में ईंटों के तख़्त जैसे बने चबूतरे पर बड़ी पुरानी काठ की सन्दूकची के ऊपर लम्बा-पतला रजिस्टर खोले दिन भर का हिसाब मिला रहा था, तभी लाला रूपाराम का सबसे छोटा—नौ-दस साल का—लड़का रामस्वरूप उसके पास आ खड़ा हुआ। यह लड़का एक फटे-पुराने-से चैस्टर—जो साफ़ ही किसी बड़े भाई के चैस्टर को कटवा कर बनवाया गया होगा—की जेबों में दोनों हाथों को ठूँसे पास खड़ा होकर उसे देखने लगा।

गोविन्द जब पहले ही दिन आया था और हिसाब कर रहा था, तभी यह लड़का भी आ खड़ा हुआ था। उस दिन लाला रूपाराम भी थे, इसलिए सिर्फ़ यह दिखाने को कि वह उनके सुपुत्र में भी काफ़ी रुचि रखता है, उसने उससे नियमानुसार नाम, उम्र और स्कूल-क्लास इत्यादि पूछे थे। नाम रामस्वरूप, उम्र नौ साल, चुँगी प्राइमरी स्कूल में चौथे क्लास में पढ़ता था। फिर तो सुबह-शाम गोविन्द उसे चैस्टर की छाया से ही जानने लगा। शक्ल देखने की ज़रूरत ही नहीं होती थी। चैस्टर के नीचे नेकर पहने होने के कारण उसकी पतली टाँगें खुली रहतीं और वह पाँवों में बड़े पुराने किरमिच के जूते पहने रहता, जिनकी फटी निकली जीभों को देख कर उसे हमेशा दुम कटे कुत्ते की पूँछ का ध्यान हो आता था।

थोड़ी देर उसका लिखना ताकते रह कर लड़के ने चैस्टर के बटनों के कसाव और छाती के बीच में रखी पत्रिका निकाल कर उसके सामने रख दी और बोला—"मुंशी जी, लक्ष्मी जीजी ने कहा है, हमें कुछ और पढ़ने को दीजिए।"

"अच्छा, कल देंगे..." मन-ही-मन भन्ना कर उसने कहा।

यहाँ आकर उसे जो 'मुंशी जी' का नया ख़िताब मिला है, उसे सुन कर उसकी आत्मा ख़ाक हो जाती है। मुंशी नाम के साथ जो एक कान पर क़लम

लगाये, गोल मैली टोपी, पुराना कोट पहने, मुड़े-तुड़े आदमी की तस्वीर सामने आती है—उसे बीस-बाईस साल का युवक गोविन्द सम्हाल नहीं पाता।

लाला रूपाराम उसी के गाँव के पास के हैं—शायद उसके पिता के साथ दो-तीन जमात पढ़े भी थे। शहर आते ही आत्म-निर्भर होकर पढ़ाई चला सकने के लिए किसी ट्यूशन इत्यादि या छोटे-मोटे पार्ट-टाइम काम के लिए लाला रूपाराम से भी वह मिला तो उन्होंने अत्यन्त उत्साह से उसके मृत बाप को याद करके कहा—'भैया, तुम तो अपने ही बच्चे हो, ज़रा हमारी चक्की का हिसाब-किताब घंटे-आध घंटे देख दिया करो और मज़े में चक्की के पास जो कोठरी है उसमें पड़े रहो, अपने पढ़ो। आटे की यहाँ तो कमी है ही नहीं।' और अत्यन्त कृतज्ञता से गद्‌गद् जब वह उनकी कोठरी में आगया तो पहली रात हिसाब लिखने का ढंग समझाते हुए लाला रूपाराम, मोतियाबिन्द वाले चश्मे के मोटे-मोटे काँचों के पीछे से मोर पंखी के चँदोवे-सी दीखती आँखों और मोटे ओठों से मुस्कुराते, उसका सम्मान बढ़ाने को 'मुंशी जी' कह बैठे तो वह चौंक गया। लेकिन उसने निश्चय कर लिया कि यहाँ जम जाने के बाद विनम्रता से इस शब्द का विरोध करेगा। रामस्वरूप से मुंशी जी नाम सुन कर उसकी भौंहें तन गयीं इसीलिए उसने उपेक्षा से वह उत्तर दिया था।

"कल ज़रूर दीजिएगा।" रामस्वरूप ने फिर अनुरोध किया।

"हाँ, भाई ज़रूर देंगे।" उसने दाँत पीस कर कहा, लेकिन चुप ही रहा। वह अक्सर लक्ष्मी का नाम सुनता था। हालाँकि उसकी कोठरी बिलकुल सड़क की तरफ़ अलग ही पड़ती थी, लेकिन उसमें पीछे की तरफ़ जो एक जालीदार छोटा-सा रोशनदान था, वह घर के भीतर नीचे की मंज़िल के चौक में खुलता था। लाला रूपाराम का परिवार ऊपर की मंज़िल पर रहता था और नीचे सामने की तरफ़ पनचक्की थी, पीछे कई तरह की चीज़ों का स्टोर-रूम था। इस लक्ष्मी नाम के प्रति उसे उत्सुकता और रुचि इसलिए बहुत थी कि चाहे कोठरी में हो या बाहर, पनचक्की के हॉल में हर पाँचवें मिनट पर उसका नाम विभिन्न रूपों में सुनायी देता था—लक्ष्मी बीबी ने यह कहा है, रुपये लक्ष्मी बीबी के पास हैं, चाबी लक्ष्मी बीबी को दे देना। और उसके जवाब में जो एक पतली तीखी-सी अधिकारपूर्ण आवाज़ सुनायी देती थी, उसे गोविन्द पहचानने लगा था। अनुमान से उसने समझ लिया कि यही लक्ष्मी की आवाज़ है। लेकिन स्वयं वह कैसी है, उसकी एक झलक भर देख पाने को उसका दिल कभी-कभी बुरी तरह तड़प-सा उठता। लेकिन पहले कुछ दिनों उसे अपना प्रभाव

जमाना था, इसलिए वह आँख उठा कर भी भीतर देखने की कोशिश न करता। मन-ही-मन उसने समझ लिया कि यह लक्ष्मी है, काफ़ी महत्वपूर्ण भी...दिक्कत यह थी कि भीतर कुछ दिखायी भी तो नहीं देता था। सड़क के किनारे तीन-चार दरवाज़े वाले इस चक्की के हॉल के बाद एक आठ-दस फ़ुट लम्बी गली थी, तब फिर भीतर चौक था। पहली मंज़िल काफ़ी ऊँची और गज़ाबूत थी, और चौक के ऊपर लोहे का जाल पड़ा था, उस पर से ऊपर वाले लोग जब गुज़रते थे तो लोहे की झनझनाहट से पहले तो उसका ध्यान हर बार उधर चला जाता था। कभी-कभी बच्चे तो और भी उछल-उछल कर उस पर कूदने लगते थे। यहाँ से तो जब तक किसी बहाने पूरी गली न पार की जाय, कुछ भी दीखना असम्भव था। चूँकि ग़ुसलखाना और नल इत्यादि उसी चौक में थे, जिनकी वजह से नीचे प्रायः सीलन और गीलापन रहता था, इसलिए सुबह चौक में जाते हुए अत्यन्त सीधे लड़के की तरह निगाहें नीची किये हुए भी वह ऊपर की स्थिति को भाँपने का प्रयत्न करता था। ऊपर सिर उठा कर आँख भर देख पाने की उसमें हिम्मत नहीं थी। अपनी कोठरी का एकमात्र दरवाज़ा बन्द करके, तख़्त पर चढ़ कर मकड़ी के जाले और धूल से भरे जालीदार रोशनदान से झाँक कर उसने वहाँ की स्थिति को भी जानने की कोशिश की थी, लेकिन वह कम्बख़्त जाली कुछ इस ढंग से बनी थी कि उसके 'फ़ोकस' में पूरा सामने वाला छज्जा और एकाध फ़ुट लोहे का जाल भर आता था। वहाँ कई बार उसे लगा जैसे दो छोटे-छोटे तलुए गुज़रे...बहुत कोशिश करने पर टखने दीखे—हाँ, हैं तो किसी लड़की के ही पैर, क्योंकि साथ में धोती का किनारा भी झलका था...उसने एक गहरी साँस ली और तख़्त से उतरते हुए बड़े ऐक्टराना अंदाज़ में छाती पर हाथ मारा और बुदबुदाया—"अरे लक्ष्मी ज़ालिम, एक झलक तो दिखा देती......"

"मुंशी जी, तुम तो देख रहे हो, लिखते क्यों नहीं?" रामस्वरूप ने जब देखा कि गोविन्द धीरे-धीरे होल्डर का पिछला हिस्सा दाँतों में ठोंकता हुआ हिसाब की कापी में अपलक कुछ घूर रहा है तो पता नहीं कैसे यह बात उसकी समझ में आगयी कि वह जो कुछ सोच रहा है, उसका सम्बन्ध सामने रखे हिसाब से नहीं है......

उसने चौंक कर लड़के की तरफ़ देखा...और चोरी पकड़ी जाने पर झेंप कर मुस्कराया; तभी अचानक एक बात उसके दिमाग़ में कौंधी—यह लक्ष्मी रामस्वरूप की बहन ही तो है। ज़रूर उसका चेहरा इससे काफ़ी मिलता-जुलता

होगा। इस बार उसने ध्यान से रामस्वरूप का चेहरा देखा कि वह सुन्दर है या नहीं। फिर अपनी बेवकूफ़ी पर मुस्करा कर एक अँगड़ाई ली और चारों तरफ़ ढीले हुए कम्बल को फिर से चारों ओर कस लिया और अप्रत्याशित प्यार से बोला—"अच्छा मुन्ना, कल सुबह दे देंगे।"...उसकी इच्छा हुई कि वह उससे लक्ष्मी के बारे में कुछ बात करे, लेकिन सामने ही चौकीदार और मिस्त्री सलीम काम कर रहे थे......

असल में आज वह थक भी गया था, इसीलिए अचानक व्यस्त होकर बोला था और जल्दी-जल्दी हिसाब करने लगा। दुनिया भर की सिफ़ारिशों के बाद उसका नाम कालेज के नोटिस बोर्ड पर आ गया था कि वह ले लिये गये लड़कों में से है। आते समय कुछ किताबें और कापियाँ भी वह खरीद लाया था, सो आज वह चाहता था कि जल्दी-से-जल्दी अपनी कोठरी में लेटे और कुछ आगे-पीछे की बातें...दुनिया भर की बातें सोचता हुआ सो जाय...आखिर लक्ष्मी कौन है... कैसी है...वह उसके बारे में किससे पूछे?...कोई उसका हम-उम्र और विश्वास का आदमी भी तो नहीं है! किसी से पूछे और रूपाराम को पता चल जाय तो! लेकिन अभी तीसरा ही तो दिन है...मन-ही-मन अपने पास रखी पत्रिकाओं और कहानी की पुस्तकों की गिनती करते हुए वह सोचने लगा कि इस बार उसे कौन सी देनी है...आगे जाकर जब काफ़ी दिन हो जायेंगे तो वह चुपचाप उसमें एक ऐसा छोटा-सा पत्र रख देगा जो किसी दोस्त के नाम लिखा गया होगा या उसकी भाषा ऐसी होगी कि पकड़ में न आ सके...भूल से चला गया, पकड़े जाने पर वह आसानी से कह सकेगा उसे तो ध्यान भी नहीं था कि वह पर्चा इसमें रखा है। बीस जनाब हैं। अपनी चालाक बेवकूफ़ी की कल्पना पर वह मुस्कराने लगा।

जिसके विषय में वह इतना सब सोचता रहता है, यह उसी लक्ष्मी के पास से आयी हुई पत्रिका है—उसने इसे अपने कोमल हाथों से छुआ होगा, तकिये के नीचे, सिरहाने भी यह रही होगी...लेट कर पढ़ते हुए, हो सकता है सोचते-सोचते छाती पर भी रख कर सो गयी हो...और उसका तन-मन गुदगुदा उठा। क्या लक्ष्मी उसके विषय में बिलकुल ही न सोचती होगी? हिसाब लिखने की व्यस्तता में भी उसने गर्दन मोड़ कर एक हाथ से पत्रिका के पन्ने पलटने शुरू कर दिये और एक कोने मुड़े पन्ने पर अचानक उसका हाथ ठिठक गया—यह किसने मोड़ा है? एक मिनट में हज़ारों बातें उसके दिमाग़ में चक्कर लगा गयीं। उसने पत्रिका उठा कर हिसाब की कापी पर रख ली। मुड़ा पन्ना पूरा खुला

था। छपे पन्ने पर जगह-जगह नीली स्याही से निशान देख कर वह चौंक पड़ा। वह किसने लगाये हैं ? उसे खूब अच्छी तरह ध्यान है यह पहले नहीं थे......

'मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ' उसने एक नीली लाइन के ऊपर पढ़ा......

"अयं ऽऽ! यह क्या चक्कर है...!" वह एकदम जैसे बौखला उठा, उसने फौरन ही सामने बैठे मिस्त्री सलीम और दिलावर सिंह को देखा, वे अपने में ही व्यस्त थे। उसकी निगाह अपने आप दूसरी लाइन पर फिसल गयी।

'मुझे यहाँ से भगा ले चलो......'

"अरे......!"

तीसरी लाइन—'मैं फाँसी लगा कर मर जाऊँगी......'

और गोविन्द इतना घबरा गया कि उसने फट से पत्रिका बन्द कर दी। शंका से इधर-उधर देखा, किसी ने ताड़ तो नहीं लिया ? उसके माथे पर पसीना उभर आया और दिल चक्की के मोटर की तरह चलने लगा। पत्रिका के उन पन्नों के बीच में ही उँगली रखे हुए उसने उसे घुटने के नीचे छिपा लिया। कहीं दूर से ही रंग-बिरंगी कवर की तस्वीर को देख कर यह कमबख्त चौकीदार ही न माँग बैठे। उन पंक्तियों को एक बार फिर देखने की दुर्निवार इच्छा उसके मन में हो रही थी, लेकिन जैसे हिम्मत न पड़ती थी। क्या सचमुच यह निशान लछमी ने ही लगाये हैं ? कहीं किसी ने मज़ाक तो नहीं किया ? लेकिन मज़ाक उससे कौन करेगा, क्यों करेगा ? ऐसा उसका कोई परिचित भी तो नहीं है यहाँ कि तीन दिन में ही ऐसी हिम्मत कर डाले !

उसने फिर पत्रिका निकाल कर पूरी उलट-पलट डाली। नहीं, निशान वहीं हैं, बस। वह उन तीनों लाइनों को फिर एक साथ पढ़ गया और उसे ऐसा लगा जैसे उसके दिमाग़ में हवाई जहाज़ भन्ना उठा हो ! गोविन्द का दिमाग़ चकरा रहा था...दिल धड़क रहा था और जो हिसाब वह लिख रहा था, वह तो जैसे एकदम भूल गया। उसने क़लम के पिछले हिस्से से कान के ऊपर खुजलाया, खूब आँखें गड़ा कर जमा और ख़र्च के खानों को देखने की कोशिश की, लेकिन बस नस-नस में सन्-सन् करती कोई चीज़ दौड़ जा रही थी। उसे लगा उसका दिल फट जायेगा और आतशबाज़ी के अनार की तरह दिमाग़ फूट पड़ेगा...अब वह किससे पूछे...यह सब निशान किसने लगाये हैं ? क्या सचमुच लछमी ने ?

इस मधुर सत्य पर विश्वास नहीं होता। मैं चाहे उसे न देख पाया होऊँ, उसने तो जरूर ही मुझे देख लिया होगा। अरे ये लड़कियाँ बड़ी तेज होती हैं। गोविन्द की इच्छा हुई, अगर उसे इसी क्षण शीशा मिल जाय तो वह लक्ष्मी की आँखों से अपने को एकबार देखे, कैसा लगता है......

लेकिन यह लक्ष्मी कौन है? विधवा, कुमारी, विवाहिता, परित्यक्ता, क्या? कितनी बड़ी है? कैसी है? उसकी नस-नस में एक ऐसी प्रबल मरोड़-सी उठने लगी कि वह अभी उठे और दौड़ कर भीतर के आँगन की सीढ़ियों से धड़ाधड़ चढ़ता हुआ ऊपर जा पहुँचे—लक्ष्मी जहाँ भी, जिस कमरे में बैठी हो, उसके दोनों कन्धे झकझोर कर पूछे, "लक्ष्मी, लक्ष्मी, यह सब तुमने लिखा है? तुम नहीं जानतीं लक्ष्मी, मैं कितना अभागा हूँ। मैं क़तई इस सौभाग्य के लायक़ नहीं हूँ।" और सचमुच इस अप्रत्याशित सौभाग्य से गोविन्द का हृदय इस तरह पसीज उठा कि उसकी आँखों में आँसू आ गये। डोरी से लटकते हुए बल्ब को अपलक देखता हुआ वह अपने अतीत और भविष्य की गहराइयों में उतरता चला गया, फिर उसने धीरे से अपनी कोरों में भर आये आँसुओं को उँगली पर लेकर इस तरह झटक दिया जैसे देवता पर चन्दन चढ़ा रहा हो। उसका ढीला पड़ा हाथ अब भी पत्रिका के पन्ने को पकड़े था।

एकबार उसने फिर उन पंक्तियों को देखा—मान लो लक्ष्मी उसके साथ भाग जाय! कहाँ जायेंगे वे लोग? कैसे रहेंगे? उसकी पढ़ाई का क्या होगा? बाद में पकड़ लिये गये तो?

लेकिन आखिर यह लक्ष्मी है कौन?

लक्ष्मी के बारे में प्रश्नों का एक ऐसा झुण्ड उसके दिमाग़ पर टूट पड़ा जैसे शिकारी कुत्तों का झुण्ड छोड़ दिया गया हो या एक के बाद एक सिर पर कोई हथौड़े की चोटें कर रहा हो, बड़ी निर्ममता और क्रूरता से, जैसे छत पर से अचानक गिर पड़ने वाले आदमी के सामने सारी दुनिया एक झटके के साथ एक क्षण में चक्कर लगा जाती है, उसी तरह उसके सामने सैकड़ों-हज़ारों चीजें एक साथ चमक कर ग़ायब हो गयीं।

ईंटों के ऊँचे चौकोर तख़्त-नुमा चबूतरे पर पुरानी छोटी-सी सन्दूकची के आगे बैठा गोविन्द हिसाब लिख रहा था और अभी हिसाब न मिलने के कारण कच्चे पुरज़े इधर-उधर बिखरे थे, वे सब यों ही बिखरे रहे और उसने खुले लेजर-रजिस्टर पर दोनों कुहनियाँ टिका दीं और दोनों हथेलियों से आँखें बन्द करलीं...

कनपटी के पास की नसें चटख रही थीं। ऐसा तो कभी देखा सुना नहीं—सिनेमा, उपन्यासों में भी नहीं देखा-पढ़ा ! सचमुच इन निशानों का क्या मतलब है ? क्या लक्ष्मी ने ही यह लाइनें खींची हैं ? हो सकता है किसी बच्चे ने ही खींच दी हों...इस सम्भावना से थोड़ा चौंक कर गोविन्द ने फिर पन्ना खोला—नहीं, बच्चा क्या सिर्फ़ उन्हीं छपी लाइनों के नीचे निशान लगाता ? और लकीरें इतनी सधी और सीधी हैं कि किसी बच्चे की हो ही नहीं सकतीं। किसी ने उसे व्यर्थ परेशान करने को तो निशान नहीं लगा दिये ? हो सकता है यह लक्ष्मी बहुत चुहलबाज़ हो और ज़रा छकाने को उसी ने सब किया हो......

यद्यपि गोविन्द इस तरह आँखें बन्द किये सोच तो रहा था, लेकिन उसे मन-ही मन डर था कि मिस्त्री और दरबान देख कर कुछ समझ न जायें ! सबसे बड़ा डर उसे लाला रूपाराम का था। अभी रुई भरी, सलवटोंवाली सिलाई की, मैली-सी, पूरी बाँहों की मिरज़ई पहने और उस पर मैली-चीकट, अपनी पुरानी अण्डी लपेटे, धीरे-धीरे हाँफते हुए, बेंत टेकते, बड़े कष्ट से सीढ़ियाँ उतर कर वे आयेंगे......

अचानक बेंत की खट्-खट् से चौंक कर उसने जो आँखों के आगे से हाथ हटाये तो देखा, सच ही लाला रूपाराम चले आ रहे हैं। अरे कमबख़्त, याद करते ही आ पहुँचा—बैठे हुए देख तो नहीं लिया ? उसने झट पत्रिका को घुटने के नीचे और भी सरका लिया और सामने फैले पुर्ज़ों पर आँखें टिका कर व्यस्त हो उठा। मिस्त्री और चौकीदार की खुसुर-पुसुर बन्द हो गयी। गली-सी पार करके लाला रूपाराम ने प्रवेश किया।

मोटे-मोटे शीशों के पीछे से उनकी आँखें बड़ी होकर भयंकर दीखती थीं। आँखों का रंग और पलकों का रंग मिल कर ऐसा दिखायी देता था जैसे पीछे मोरपंख के चँदोवे लगे हों। सिर पर रुई भरा ही कनटोप था, और उसके कानों को ढँकने वाले मोटर के 'मडगार्ड' जैसे कोने अब ऊपर मुड़े थे और पौराणिक राक्षसों के सींगों का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। चेहरा उनका झुर्रियों से भरा था और चश्मे का फ्रेम नाक के ऊपर से टूट गया था, उसे उन्होंने डोरा लपेट कर मज़बूत कर लिया था। दाँत उनके नक़ली थे और शायद ढीले भी थे क्योंकि उन्हें वे हमेशा इस तरह मुँह चला-चला कर पीछे सरकाये रखते थे जैसे 'च्युइंगम' चबा रहे हों। गोविन्द को उनके इस मुँह चलाने और मुँह से निकलती तरह-तरह की आवाज़ों से बड़ी उबकाई-सी आती थी और जब वे उससे बात करते तो वह प्रयत्न करके अपना ध्यान उस ओर से हटाये रखता। लाला रूपाराम की गर्दन

हमेशा इस तरह हिलती रहती जैसे खिलौने वाले बुड्ढे की गर्दन का स्प्रिंग ढीला हो गया हो। घुटनों तक की मैली-कुचैली धोती और मिलिटरी के कबाड़िया बाज़ार से ख़रीद कर लाये गये मोज़ों पर बाँधने की पट्टियाँ, जो शायद उन्हें गठिया के दर्द से भी बचाती थीं। बिना फीते के खीसे निपोरते फटे-पुराने बूट—उन्हें देख कर हमेशा गोविन्द को लगता कि इस आदमी का अन्त-समय निकट आ गया है......

जब लाला रूपाराम पास आ गये तो उसने उनके सम्मान में चेहरे पर चिकनाई वाली मुस्कान ला कर उनकी ओर देखते हुए स्वागत किया। ईंटों के चबूतरे पर लगभग दो सौ स्याही के दाग़ और छेद वाली दरी पर, रामस्वरूप के उससे सट कर खड़े होने से, एक मोटी-सी सिकुड़न पड़ गयी थी, उसे हाथ से ठीक कर के उसने कहा, "लालाजी यहाँ बैठिए......।"

लालाजी ने हाँफते हुए बिना बोले ही इशारा कर दिया कि नहीं ये ठीक हैं, और वे टीन की कुर्सी पर ही उसकी ओर मुँह कर के बैठ गये और हाँफते रहे। असल में उन्हें साँस की बीमारी थी और वे हमेशा प्यासे कुत्ते की तरह हाँफते रहते थे।

उनके वहाँ आ बैठने से एक बार तो गोविन्द काँप उठा, कहीं कम्बख़्त को पता तो नहीं चल गया, कुछ पूछने-ताछने न आया हो! हालाँकि लाला रूपाराम इस समय खा-पी कर एकबार चक्कर ज़रूर लगाते थे, लेकिन उसे विश्वास हो गया कि हो-न-हो बुड्ढा ताड़ गया है। उसका दिल धड़क चला! रूपाराम अभी हाँफ रहा था। गोविन्द सिर झुकाये ही हिसाब-किताब जोड़ता रहा। आख़िर स्थिति सम्हालने की दृष्टि से उसने कहा—"लालाजी, आज मेरा नाम आगया कालेज में।"

"अच्छा!" लालाजी ने खाँसी के बीच में ही कहा, वह एक हाथ से डण्डे को धरती पर टेके था, दूसरे हाथ में कलाई तक गोमुखी बँधी थी, जिसके भीतर अँगुलियाँ चला-चला कर वह माला घुमा रहा था और उसका वह हाथ टोंटा-सा लग रहा था।

वातावरण का बोझ बढ़ता ही चला जा रहा था कि एक घटना हो गयी।

उन्होंने साँस इकट्ठी करके कुछ बोलने को मुँह खोला ही था कि भीतर आँगन का टट्टर (लोहे का जाल) भयंकर रूप से झनझना उठा, जैसे कोई बहुत ही भारी चीज़ ऊपर से फेंक दी गयी हो। और फिर ज़ोर से बजती हुई, खनखनाती कलछी जैसी चीज़ नीचे आ गिरी। उसके पीछे चिमटा, सँड़ासी...और फिर तो

उसे ऐसा लगा जैसे कोई बाल्टी, कढ़ाई, तवा इत्यादि निकाल-निकाल कर टट्टर पर फेंक रहा है और पानी और छोटी-मोटी चीज़ें नीचे गिर रही हैं। उसके साथ ही कुछ ऐसा कोलाहल और कुहराम भीतर सुनायी दिया जैसे आग लग गयी हो!

गोविन्द झटक कर सीधा हो गया—कहीं सचमुच आग-वाग तो नहीं लग गयी? उसने प्रश्न सूचक दृष्टि से चौंक कर लाला की तरफ़ देखा और वह आश्चर्य से अवाक् रह गया, लाला परेशान ज़रूर दिखायी देता था, लेकिन कोई भयंकर घटना हो गयी है और उसे दौड़ कर जाना चाहिए—ऐसी कोई बात उसके चेहरे पर नहीं थी। मिस्त्री और चौकीदार, दोनों दबे दबे व्यंग्य से एक दूसरे की ओर देखते मुस्कराते, लाला की ओर निगाहें फेंक रहे थे। किसी को भी कोई ख़ास चिन्ता नहीं थी। भीतर कोलाहल बढ़ रहा था, चीज़ें फिंक रही थीं और टट्टर की खड़खड़ाहट-घनघनाहट गूँजती जा रही थी। आख़िर यह क्या हो रहा है? उत्तेजना से उसकी पसलियाँ तड़कने को हो आयीं। वह लाला से यह पूछने ही वाला था कि यह क्या है, तभी बड़े कष्ट से हाथ की लकड़ी पर सारा ज़ोर दे कर वह उठ खड़ा हुआ......और खिसियाना-सा जहाँ से आया था उसी गली में चला गया। जाते हुए उलट कर धीरे से उसने किवाड़ बन्द कर दिये। मिस्त्री और चौकीदार ने मुक्त होकर बदन ढीला किया, एक-दूसरे की ओर मुस्करा कर देखा, खँखारा और फिर एक बार खुल कर मुस्कराये। लाला का पीछा करती गोविन्द की निगाह अब उन लोगों की ओर मुड़ गयी। और जब उससे नहीं रहा गया तो वह खड़ा हो गया, मुर्गे के पंखों की तरह कम्बल को बाँहों पर फड़फड़ा कर उसने लपेटा और उस पत्रिका को देखता हुआ चबूतरे से नीचे उतर आया। थोड़ी देर यों ही असमंजस में खड़ा रहा, फिर उस गलियारे के दरवाज़े तक गया कि कुछ दिखायी-सुनायी दे। कोलाहल में चार-पाँच आवाज़ें एक साथ किवाड़ की दरार से छुटी-छुटी सुनायी दीं और उसमें सबसे तेज़ आवाज़ वह थी जिसे उसने लक्ष्मी की आवाज़ समझ रखा था। हे भगवान्, क्या हो गया? कोई कहीं से गिर पड़ा, आग लग गयी, साँप-बिच्छू ने काट लिया? लेकिन जिस तरह यह लोग बैठे देख रहे थे, उससे तो ऐसा लगता था जैसे यह कोई ख़ास बात नहीं है! यह कम्बख़्त किवाड़ क्यों बन्द कर गया? इस वक़्त टट्टर इस तरह धमाधम बज रहा था, जैसे उस पर कोई ताण्डव कर रहा हो। उस कैंची-चीख़ती महीन आवाज़ में वह नारी कण्ठ, जिसे वह लक्ष्मी की आवाज़ समझता था, इतनी तेज़ और ज़ोर से बोल रहा था कि लाख कोशिश करने पर भी वह नहीं समझ सका।

"परेशान क्यों हो रहे हो बाबू?" चौकीदार की आवाज सुन कर वह एकदम सीधा खड़ा हो गया। मुस्कुराता हुआ वह कह रहा था, "आज चण्डी चेत रही है।" उसकी इस बात पर मिस्त्री हँसा।

गोविन्द बुरी तरह झुँझला उठा। कोई इतनी बड़ी बात, घटना हो रही है और ये बदमाश इस तरह मज़ा लूट रहे हैं। फिर भी वह अत्यन्त चिन्तित और उत्सुक-सा उधर मुड़ा।

इस बड़े कमरे या छोटे हॉल में हर चीज़ पर आटे का महीन पाउडर छाया हुआ था। एक ओर आटे में नहायी चक्की, काले पत्थर के बने हाथी की तरह चुपचाप खड़ी थी और उसका सिर आटे को सम्हालने वाला गिलाफ़-सा सूँड़ की तरह लटका था। उसी की सीध में दूसरी दीवार के नीचे मोटर लगी थी, जहाँ से एक चौड़ा पट्टा चक्की को चलाता था। इतने हिस्से में सुरक्षा के लिए एक रेलिंग लगा दिया था, सामने ही दीवार में चिपके बड़े लम्बे-चौड़े लाल चौकोर तख्ते पर एक खोपड़ी और दो हड्डियों के क्रॉस के नीचे 'खतरा' और 'डेंजर' लिखे थे। उसके चबूतरे की बग़ल में ही छत से जाती जंज़ीर में एक बड़ी लोहे की तराज़ू, कथाकली की मुद्रा में एक बाँह ऊँची किये लटकी थी, क्योंकि दूसरे पलड़े में मन से ले कर छटाँक तक के बाँटों का ढेर लगा था। यद्यपि लाला रूपाराम अक्सर चौकीदार को डाँटते थे कि रात में इसे उतार कर रख दिया कर, लेकिन किसी-किसी दिन आधी रात तक चक्की चलती और दुकान-दफ़्तर वाले तो सुबह पाँच बजे से ही आने लगते हैं—उस समय बर्फ़ जैसी ठण्डी तराज़ू को छूना और टाँगना दिलावर सिंह को अधिक पसंद नहीं है और वह उसे यह कह कर टालता है कि लड़ाई में सुबह-ही-सुबह काफ़ी ठण्डी बन्दूकें लेकर मार्च और परेड कर लिया, अब क्या ज़िन्दगी भर ठण्डा लोहा ही छूना उसकी किस्मत में बदा है? इसीलिए वह उसे टँगी ही रहने देता है, हालाँकि ठीक बीच में होने के कारण वह जब भी दरवाज़ा खोलने उठता है तो खुद ही उससे टकराते-उलझते और रात के एकान्त में फ़ौजी गालियों का स्वगत भाषण करता है। पुराना कलैण्डर, एक ओर पिसाई के लिए भरे अन्न या पिसे आटे के बोरे, कनस्टर, पोटलियाँ और ऊपर चढ़ कर अन्न डालने को मज़बूत-सा स्टूल। इस समय दोनों टाँगें, जिनमें कीलदार फ़ुलबूट डटे हुए थे, धरती पर फैलाये वह मज़े में खाट की पाटी पर झुका बैठा था और अपना पुराना—पहली लड़ाई के सिपाहीपने की याद—ओवरकोट चारों ओर लपेटे शान से बीड़ी धौंक रहा था और धीरे-धीरे सामने बैठे मिस्त्री सलीम से बातें भी करता जा रहा था।

उसके और मिस्त्री के बीच में एक बरोसी जल रही थी, जब कभी ध्यान आ जाता तो पास रखे कोयले-लकड़ी कुछ डाल देता और कभी-कभी अत्यन्त निस्पृहता से हाथ या पाँव उस दिशा में बढ़ा कर गर्मी सोखता। सलीम सिर झुकाये गर्म पानी की बाल्टी में ट्यूब डुबा-डुबा कर उनके पंक्चर देखने में व्यस्त था। उसके आस-पास दस-बारह काले-लाल ट्यूब, रबड़ की कतरनें, कैंची, पेंच, पलास, सोल्यूशन, चमड़े की पेटी और एक ओर टायर लटके दस-बारह साइकिल के पहियों का ढेर था। अपने इस सामान से उसने आधे से ज़्यादा कमरा घेर लिया था।

जब गोविन्द उसके पास आया तो वह सिर झुकाये ही हँसता हुआ ट्यूब के पंक्चर को पकड़ कर कान में लगी कापीइंग पेंसिल को थूक से गीला करते हुए, (हालाँकि ट्यूब पानी से भीगा था और सामने बाल्टी भरा पानी भी रखा था) निशान लगाता हुआ जवाब दे रहा था, "यह कहा जमादार साहब ने?" फिर एक भौंह को ज़रा तिरछी करके बोला, "लाला कुछ नामा ढीला करे तो...उसकी लड़की पर 'जिन' का साया है, उसका इलाज तो हम अपने मौलवी बदरुद्दीन साहब से मिनटों में करादें।"

गोविन्द का माथा ठनका, लाला की किसी लड़की पर क्या कोई देवी आती है? उसे अपने गाँव की एक ब्राह्मणी विधवा तारो का एकदम ध्यान हो आया। उसे भी जब देवी आती थी तो घर के बर्तन उठा-उठा कर फेंकती थी, उसका सारा बदन ऐंठने लगता था, मुँह से झाग आने लगते थे, गर्दन मरोड़ खाने लगती थी, आँखें और जीभ बाहर निकलने लगती थीं। कौन लड़की है लाला की? लक्ष्मी तो नहीं? भगवान करे लक्ष्मी न हो, उसका दिल आशंका से डूबने-सा लगा। उसने सुना, कोलाहल अब लगभग शान्त हो गया था और कहीं दूर से रह-रह कर एक हल्की रोने की आवाज़ भर सुनायी देती थी। शायद किसी को दौरा-वौरा ही आगया है, तभी तो ये लोग निश्चिंत हैं।

गोविन्द को सुना कर चौकीदार बोला, "नामा? तुम भी यार मिस्त्री, किसी दिन बेचारे बुड्ढे का हार्टफेल कराओगे। और बेटूटा, उस 'जिन' का इलाज तुम्हारे मौलवी के पास नहीं है, समझे! वह तो हवा ही दूसरी है! आओ बाबू जी, बैठो।"

चौकीदार ने बैठे-ही-बैठे स्टूल की तरफ़ इशारा कर दिया। असल में वह गोविन्द को बाबूजी ज़रूर कहता था, लेकिन उसका विशेष आदर नहीं करता था। एक तो गोविन्द क़स्बे से आया था, और उसे शहर में चौकीदारी करते

हो चुके थे नक़द बीस साल, दूसरे वह फ़ौज में रहा था और कैरो तक घूम आया था—उम्र, अनुभव, तहज़ीब सभी में वह अपने को गोविन्द से ज़्यादा ही समझता था। लेकिन गोविन्द को इस समय इस सब का ध्यान नहीं था। उसने स्टूल से टिक कर ज़रा सहारा लेते हुए चिन्तित स्वर में पूछा, "क्यों भई, यह शोर-गुल क्या था, क्या हो रहा था?"

मिस्त्री ने सिर उठा कर उसे देखा और चौकीदार की मुस्कराती नज़रों से उसकी आँखें मिलीं। उसने अपनी खिचड़ी मूँछों पर हथेली फेरते हुए कहा, "कुछ नहीं बाबूजी, ऊपर कोई चीज़ किसी बच्चे ने गिरा दी होगी .....।"

मिस्त्री ने कहा, "जमादार साहब, झूठ क्यों बोलते हो? साफ़-साफ़ क्यों नहीं बता देते, अब इनसे क्या छिपा रहेगा?"

"तू खुद क्यों नहीं बता देता," चौकीदार ने कहा और जेब से बीड़ी का बण्डल निकाल कर और कागज नोंच कर आटे की लोई बनाने की तरह उसे ढीला किया, फिर एक बीड़ी निकाल कर मिस्त्री की ओर फेंकी और दूसरी को दोनों तरफ से फूंका और जलाने के लिए किसी दहकते कोयले की तलाश में बरोसी में निगाहें घुमाते हुए ज़रा व्यस्तता से बात जारी रखी—"तुझे क्या मालूम नहीं है?"

इन दोनों की चुहल से गोविन्द की झुँझलाहट बढ़ रही थी, उसे लगा ज़रूर ही दाल में कुछ काला है, जिसे ये लोग टाल रहे हैं। मिस्त्री जीभ निकाले पञ्चर के स्थान को रेगमाल से घिस रहा था। वह जब भी कोई काम एकाग्र चित्त से करता था तो अपनी जीभ को निकाल कर ऊपर के ओंठ की तरफ मोड़ लेता था। उसकी चान्द के बीच में उभरते गंज को देख कर गोविन्द ने सोचा कि गंजापन तो रईसी की निशानी है, लेकिन यह कम्बख़्त तो आधी रात में यहाँ पञ्चर जोड़ रहा है। उसने उसी तरह सिर झुकाये ही कहा, "अब मैं बाबूजी को क़िस्सा बताऊँ या इन ट्यूबों से सिर फोड़ूँ! साले सड़ कर हलुवा तो हो गये हैं, पर बदलेगा नहीं। मन तो होता है, सब को उठा कर इस अँगीठी में रख दूँ, होगा सुबह सो देखा जायेगा......"

"ये इतने ट्यूब हैं काहे के?" ज़रा आत्मीयता जताने को गोविन्द ने पूछा—"हालत तो सचमुच इनकी बड़ी ख़राब हो रही है!"

"आपको नहीं मालूम?" इस बार काम छोड़ कर मिस्त्री ने ग़ौर से गोविन्द को देखा—"यह आपके लाला के जो दर्जन-भर रिक्शा चलते हैं, उनका कूड़ा है। यह तो होता नहीं कि इतने रिक्शे हैं, रोज़ टूट-फूट मरम्मत होती ही रहती है,

हमेशा के लिए लगाले एक मिस्त्री, दिन भर की छुट्टी हुई। सो तो होयेगा नहीं, ट्यूब-टायर मेरे सिर है और बाकी टूट-फूट मिस्त्री अली अहमद ठीक करते हैं।" फिर उसने यूँही पूछा, "आप बाबूजी, नये आये हैं?"

"हाँ, दो-तीन दिन तो हुए ही हैं, मैं यहाँ पढ़ने आया हूँ।" गोविन्द ने कहा, उसके पेट में खलबलाहट मच रही थी, लेकिन नये सिरे से पूछने को सूत्र खोज रहा था।

"तभी तो!" मिस्त्री बोला, "तभी तो आप यह सब पूछ रहे हैं। रात को इसका हिसाब रखते हैं न, हाँ ऽऽ! थोड़े दिनों में अपने फ़रजन्द को भी आपसे पढ़वायेगा।" 'अपने फ़रज़न्द' शब्द में जो व्यंग्य उसने दिया था उससे खुद ही प्रसन्न होकर मुस्कराते हुए उसने चौकीदार की दी हुई बीड़ी सुलगायी।

"अबे, उन्हें यह सब क्या बताता है, वे तो उसके गाँव से ही आये हैं। उन्हें सब मालूम है।" चौकीदार बोला।

"नहीं, सच मुझे कुछ नहीं मालूम।" गोविन्द ने ज़रा आश्वासन के स्वर में कहा, "इन लाला के तो पिता ही यहाँ चले आये थे न, सो हम लोगों को कुछ भी नहीं मालूम, बताइए न, क्या बात है?" गोविन्द ने आदरपूर्वक ज़रा ख़ुशामद के लहजे में पूछा।

शायद उसकी जिज्ञासु व्याकुलता से प्रभावित होकर ही मिस्त्री बोला, "अजी कुछ नहीं, लाला की बड़ी लड़की जो है न, उसे मिर्गी का दौरा आता है। कोई कहता है उसे हिस्टैरिया है, पर हमारा तो क़यास यह है कि बाबूजी, दौरा-वौरा कुछ नहीं, उस पर किसी आसेब का साया है...उस बेचारी को कुछ होश तो रहता ही नहीं......"

"विधवा है?" जल्दी से बात काट कर गोविन्द धक्-धक् करते दिल से पूछ बैठा—हाय, लक्ष्मी ही न हो।

इस बार पुनः दोनों की निगाहों का आपस में टकरा कर मुस्कराना उससे छिपा न रहा। बीड़ी के लम्बे कश के धुँए को लील कर इस बार चौकीदार ज़बर्दस्ती गम्भीर बन कर बोला—"अजी इसने उसकी शादी ही कहाँ की है।"

"नाम क्या है?" गोविन्द से नहीं रहा गया।

"लक्ष्मी!"

"लक्ष्मी...!" उसके मुँह से निकल गया, और जैसे एकदम उसकी सारी शक्ति किसी ने सोख ली हो, उसका जिज्ञासा और उत्तेजना से तना शरीर ढीला पड़ गया।

चौकीदार इस बार अत्यन्त ही रहस्यमय ढंग से हँसा, जैसे कह रहा हो—अच्छा तुम भी जानते हो ?

गोविन्द के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठा—उसकी उम्र क्या है ?

लेकिन चौकीदार ने पूछा, "तो सचमुच बाबूजी आप इनके घर के बारे में कुछ भी नहीं जानते ?"

"नही तो भाई, मैंने बताया तो, मैं इनके बारे में कुछ भी, कतई नहीं जानता।" एक तरह आत्मसमर्पण के भाव से गोविन्द बोला।

"लेकिन लक्ष्मी का किस्सा तो सारे शहर में मशहूर है," चौकीदार बोला, "आप शायद नये आये हैं, यही वजह है।" फिर मिस्त्री की ओर देख कर बोला, "क्यों मिस्त्री साहब, तो बाबूजी को किस्सा बता ही दूँ......।"

"अरे लो, यह भी कोई पूछने की बात है ? इसमें छिपाना क्या ? यहाँ रहेंगे तो कभी-न-कभी जान ही जायँगे।"

"अच्छा तो फिर सुन ही लो यार, तुम भी क्या कहोगे......" चौकीदार ने आनन्द में आकर कहना शुरू किया—"आप शायद जानते हों, यह हमारा लाला शहर का मशहूर कंजूस और मशहूर रईस है......"

"लामुहाला जो कंजूस होगा वो रईस तो होगा ही।" मिस्त्री बोला।

"नहीं मिस्त्री साहब, पूरा किस्सा सुनना हो तो बीच में मत टोको।" चौकीदार इस हस्तक्षेप पर नाराज़ हो गया।

"अच्छा-अच्छा सुनाओ।" मिस्त्री बुड्ढों की तरह मुस्कराया।

"इसकी यह चक्की है न, सहालगों में इस पर हज़ारों मन पिसता है, वैसे भी दो-ढाई सौ मन तो कम-से-कम पिसता ही है रोज़। अफ़सरों और क्लर्कों को कुछ खिला-पिला कर लड़ाई के ज़माने में इसे मिलिटरी के कुछ ठेके मिल ही जाते थे। आप जानो, मिलिटरी का ठेका तो जिसके पास आया सो बना। आप उन दिनों देखते 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' के हल्ले ! बोरे यों चुने रखे रहते थे जैसे मोर्चे के लिए बालू भर-भर कर रख दिये हों। उसमें इसने ख़ूब रुपया पीटा, मिलिटरी के गेहूँ बेच दिये औने-पौने भाव, और रद्दी सस्ते वाले ख़रीद कर कोटा पूरा कर दिया, उसमें खड़िया मिला दिया, पिसाई के उलटे-सीधे पैसे तो इसने मारे ही, ब्लैक, चार-सौ-बीसी, चोरी—क्या-क्या इसने नहीं किया। इसके अलावा, एक बहुत बड़ी साबुन की फ़ैक्ट्री और एक काफ़ी बड़ा जूतों का कारख़ाना भी इसका है। उसे इसके बेटे सम्हालते हैं। पच्चीस-तीस रिक्शे और पाँच मोटर ट्रक चलते हैं। दस-बारह से ज़्यादा इसके मकान हैं, जिनका किराया

आता है। रुपये सूद पर देता है। शायद गाँव में भी काफ़ी ज़मीन इसने ले रखी है। एक काम है साले का ? इतना तो हमें पता है, बाकी इसकी असली आमदनी तो कोई भी नहीं जानता, कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। भगवान जाने, रात-दिन किसी-न-किसी तिकड़म में लगा ही रहता है। करोड़ों का आसामी है। और सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि यह सब सिर्फ़ इसी पच्चीस-छब्बीस साल में जमा की हुई रक़म है।" चौकीदार दिलावर सिंह मिलिटरी में रह आने के कारण ख़ूब बातूनी था और मोर्चे के किस्सों को, अपने अफ़सरों के क़िस्सों को, अपनी बहादुरी के कारनामों को ख़ूब नमक-मिर्च लगा कर इतनी बार सुना चुका था कि उसे कहानी सुनाने का मुहावरा हो गया था। हर बात के उतार-चढ़ाव के साथ उसकी आँखें और चेहरे की भंगिमाएँ बदलती रहती थीं।

उसकी बातें ग़ौर और रुचि से सुनते हुए, गोविन्द के मन में एक बात टकरायी, लक्ष्मी को दौरे आते हैं, कहीं ऐसा तो नहीं कि उसने जो यह निशान लगा कर भेजे हैं, यह भी दौरों की दशा में ही लगाये हों और उनका कोई विशेष गहरा अर्थ न हो। इस बात से सचमुच उसे बड़ी निराशा हुई, फिर भी उसने ऊपर से आश्चर्य प्रगट करके पूछा—"सिर्फ़ पच्चीस-छब्बीस साल ?"

नयी बीड़ी जलाते हुए चौकीदार ने ज़रा ज़ोर से सिर हिलाया। गोविन्द ने सोचा, 'और लक्ष्मी की उम्र क्या होगी ?'

"और कंजूसी की तो हद आपने देख ही ली होगी, बुड्ढा हो गया है, साँस का रोग हो रहा है, सारा बदन काँपता है, लेकिन एक पैसे का भी फ़ायदा देखेगा तो दस मील धूप में हाँफता हुआ पैदल जायगा, क्या मजाल जो सवारी करले। गर्मी आयी तो पूरा शरीर नंगा, कमर में धोती—आधी पहने, आधी बदन में लपेटे। और जाड़ा हुआ तो यही ड्रैस, बस इसी में पिछले दस साल से तो मैं देख रहा हूँ। कभी किसी मकान की मरम्मत न कराना, सफ़ेदी-सफ़ाई न कराना और हमेशा यही ध्यान रखना कि कौन कितनी बिजली ख़र्च कर रहा है, कहाँ बेकार नल या पंखा चल रहा है। लड़का है, सो उसे मुफ़्त के चुंगी के स्कूल में डाल दिया है, लड़की घर पर बैठा रखी है। एक-एक पैसे के लिए घंटों रिक्शावालों-ट्रकवालों से लड़ना, बहसें करना और चक्की वालों की नाक में दम रखना, उन्हें दिन-रात यह सिखाना कि किस चालाकी से आटा बचाया जा सकता है। बीसियों रुपये का आटा जो रोज़ होटल वालों को बिकता है सो अलग। जिस दिन से चक्की खुली है, घर के लिए तो आटा बाज़ार से आया ही नहीं। आप विश्वास मानिए, कम-से-कम बारह-पन्द्रह हज़ार की आमदनी होगी इसकी; लेकिन

सूरत देखिए, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं। किसी आने-जाने वाले के लिए एक कुर्सी तक नहीं— पान सुपारी की तो बातही दूर है! कौन कह देगा कि यह इतना पैसेवाला है? यह उम्र होने आयी, सुबह से शाम तक बस पैसे के पीछे हाय-हाय! दुनिया के किसी और काम से इसे मतलब ही नहीं है। सभा हो, सोसाइटी हो, हड़ताल हो, छुट्टी हो, कुछ भी हो—लेकिन लाला रूपाराम अपनी ही धुन में मस्त! नौकरों को कम-से-कम देना पड़े, इसलिए ख़ुद ही उनके काम को देखता है। मुझ से तो कुछ इसलिए नहीं कहता कि मुझ पर तो थोड़ा विश्वास है, दूसरे मेरी ज़रूरत सबसे बड़ी है। लेकिन बाकी हर नौकर रोता है इसके नाम को। और मज़ा यह कि सब जानते हैं कि झक्की है। कोई इसकी बात को ध्यान से सुनता नहीं। बाद में सब इसका नुक़सान करते हैं, आस-पास के सभी हँसते और गालियाँ देते हैं......"

"बच्चे कितने...हैं?" चौकीदार को इन बेकार की बातों में बहकता देख कर गोविन्द ने सवाल किया।

"उसी बात पर आता हूँ," चौकीदार इतमीनान से बोला, "सच बाबूजी, मैं यह देख-देख कर हैरान हूँ कि इस उम्र तक तो इसने यह दौलत जुटायी है, अब इसका यह कम्बख़्त करेगा क्या? लोग जमा करते हैं कि बैठ कर भोगें, लेकिन यह राक्षस तो जमा करने में ही लगा रहता है। इसे जमा करने की ऐसी हाय-हाय रही है कि दौलत किसलिए जमा की जाती है, इस बात को यह बेचारा बिलकुल भूल गया है।" फिर बड़े चिन्तित और दार्शनिक मूड में दिलावर सिंह ने आगवाली राख को देखते हुए कहा, "इस उम्र तक तो इसे जोड़ने की ऐसी हवस है, अब इसका यह भोग कब करेगा? सचमुच बाबूजी, जब मैं कभी सोचता हूँ तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। देखो, आज की तारीख़ तक यह बेचारा भाग-दौड़ कर, लू-धूप की चिन्ता छोड़ कर, जमा कर रहा है। एक पाई उसमें से खा नहीं सकता, जैसे किसी दूसरे का हो—अब मान लीजिए, कल यह मर जाता है तो यह सब किसके लिए जमा किया गया? बेचारे के साथ कैसी लाचारी है, मर कर-जी कर, नौकर की तरह जमा किये जा रहा है, न ख़ुद खा सकता है, न देख सकता है कि कोई दूसरा छू भी ले—जैसे धन के ऊपर बैठा साँप, आप उसे खा नहीं सकता, खाने तो और देगा ही क्या? उसकी रखवाली करना और जोड़ना...," और लाला रूपाराम के प्रति दया से अभिभूत होकर चौकीदार ने एक गहरी साँस ली, फिर दूसरे ही क्षण दाँत किटकिटाता हुआ बोला, "और कभी-कभी मन होता है छुरा लेकर साले को

छाती पर जा चढ़ूँ और मुरब्बे के आम की तरह गोदूँ। अपने पेट में जो इसने इतना धन भर रखा है उसकी एक-एक पाई उगलवा लूँ—चाहे खुद न खाये, जिसे अपने बच्चों को भी खिला-पिला नहीं सकता, उस धन का होगा क्या ?"

"इसके बच्चे कितने हैं......?" इस बार फिर गोविन्द अधीर हो आया। असल में वह चाहता था कि इन दार्शनिक उद्‌गारों को छोड़ कर वह जल्दी-से-जल्दी मूल विषय पर आ जाय। लक्ष्मी के विषय में बताये।

वर्णन में बह जाने की अपनी कमज़ोरी पर चौकीदार मुस्कराया और बोला—"इसके बच्चे हैं चार, बीवी मर गयी; बाकी किसी नातेदार, किसी रिश्तेदार को झाँकने नहीं देता, ऊपर कोई नौकर भी नहीं है। बस एक मरी-मराई-सी बुढ़िया पाल ली है, लोग बड़े भाई की बीवी बताते हैं। बस, वही सारी देखभाल करती है। और तो किसी को मैंने साथ देखा नहीं। बस खुद, तीन लड़के और एक लड़की......।"

"बड़े दो लड़के तो साथ नहीं रहते न...," इस बार मिस्त्री बोला।

"हाँ, वो लोग अलग ही रहते हैं, दिन में एकाध चक्कर लगा जाते हैं। एक जूतों का कारखाना देखता है, दूसरा साबुन की फ़ैक्ट्री सम्हालता है। इस साले को उन पर भी विश्वास नहीं है। पूरे काग़ज़-पत्तर, हिसाब-किताब अपने पास ही रखता है, नियम से शाम को वहाँ जाता है वसूली करने। लेकिन लड़के भी बड़े तेज़ हैं, ज़रा शौकीन तबियत पायी है। इसके मरते ही देख लेना मिस्त्री, वो इसकी सारी कंजूसी निकाल डालेंगे।" फिर याद करके बोला, "और क्या कहा तुमने ? साथ रहने की बात, सो भैया, जब तक अकेले थे, तब तक तो कोई बात ही नहीं थी, लेकिन अब तो उनकी बीवियाँ आ गयी हैं न, एकाध बच्चा भी आगया है घर में, सो उसे दिन भर गोदी में लटकाये फिरता है। इसके घर में एक चण्डी जो है न, उसके साथ सबका निभाव नहीं हो सकता न।"

एकदम गोविन्द के मन में आया लक्ष्मी ! और वह ऊपर से नीचे तक सिहर उठा। "कौन ? लक्ष्मी !" उसके मुँह से निकल गया।

"जी हाँ, उसी की बदौलत तो यह सारा खेल है, वही तो इस भण्डारे की चाबी है। वह न होती तो यह सब ताम-झाम आता कहाँ से ? उसने तो इसके दिन पलट ही दिये, नहीं तो था क्या इसके पास ?" इस बार यह बात चौकीदार ने ऐसे लहजे से कही, जैसे सचमुच किसी रहस्य की चाबी दे दी हो।

"कैसे भई, कैसे !" गोविन्द पूछ बैठा। उसका दिमाग़ चकरा गया। यह

क्या विरोधाभास है। एक पल को उसके दिमाग़ में आया—कहीं यह रुपया कमाने के लिए तो लक्ष्मी का उपयोग नहीं करता! राक्षस! चाण्डाल!

उसकी व्याकुलता पर चौकीदार फिर मुस्कराया, बोला—"बाप तो इसका ऐसा रईस था भी नहीं, फिर वह कच्ची ग़ृहस्थी छोड़ कर मर गया था। ज़्यादा-से-ज़्यादा हज़ार-हज़ार रुपया दोनों भाइयों के पल्ले पड़ा होगा। शादियाँ दोनों की हो ही चुकी थीं, कुछ कारबार खोलने के विचार से यह सट्टे में अपने रुपये दूने-चौगुने करने जो पहुँचा तो सारे गँवा आया। बड़े भइया रोचूराम ने एक पनचक्की खोल डाली। पहले तो उसकी भी हालत डावाँडोल रही थी, लेकिन सुनते हैं कि जबसे उसकी लड़की गौरी पैदा हुई उसकी हालत सम्हलती ही चली गयी। यह उसी के यहाँ काम करता था, मियाँ-बीवी वहीं पड़े रहते। ऐसा कुछ उस लड़की का पाँव आया कि लाला रोचूराम सचमुच के लाला हो गये। इन लोगों के बड़े-बूढ़ों का कहना था कि लड़की उनके ख़ानदान में भागवान होती है। अब तो यह अपना लाला कभी इस ओझा के पास जा, कभी उस पीर के पास जा, कभी इसकी 'मानती' कभी उसका 'संकलप'—दिन-रात बस यही कि 'हे भगवान मेरे लड़की हो।' और पता नहीं कैसे भगवान ने सुनली और लड़की ही आयी और आप विश्वास नहीं करेंगे, फिर तो सचमुच ही रूपाराम के नक्शे बदलने लगे। पता नहीं, गड़ा हुआ मिला या छप्पर फाड़ कर मिला—लाला रूपाराम के सितारे फिर गये...। इसे विश्वास होने लगा कि यह सब इसी की कृपा है और वास्तव में यह कोई देवी है। इसने उसका नाम लक्ष्मी रखा और साहब कहना पड़ेगा कि वह लक्ष्मी सचमुच लक्ष्मी ही बन कर आयी। थोड़े दिनों में ही 'लक्ष्मी फ़्लोर मिल' अलग बन गयी। अब तो इसका यह हाल कि यह मिट्टी भी छू दे तो सोना बन जाय और कंकड़ को उठाले तो हीरा दीखे। फिर आगयी लड़ाई और इसके पंजे-छक्के हो गये। इसे ठेके मिलने लगे, समझिए एक के बाद एक मकान ख़रीदे जाने लगे—सामान लाने ले जाने वाले ट्रक आये। उधर रोचूराम भी फल रहा था, और दोनों भाई गर्व से कहते थे—हमारे यहाँ लड़कियाँ लक्ष्मी बन कर ही आती हैं। लेकिन फिर एक ऐसा वाक़या हो गया कि तक़दीर की बात ही बदल गयी..."

चौकीदार दिलावर सिंह जानता था कि यह उसकी कहानी का क्लाइमैक्स है इसलिए श्रोताओं की उत्सुकता को उकसा देने के लिए उसने उँगलियों में दबी व्यर्थ जलती बीड़ी को दो-तीन कश लगा कर ख़त्म किया और बोला—

"गौरी शायद सयानी हो गयी थी। शायद किसी पड़ोसी लड़के को लेकर कुछ ऐसी-वैसी बातें भी लाला रोचूराम ने सुनीं और लोगों ने भी उँगलियाँ

उठाना शुरू कर दिया तो उन्होंने गौरी की शादी कर दी। बस उसकी शादी होना था कि जैसे एकदम सारा खेल उखड़ गया। उसके जाते ही लाला एक बहुत बड़ा मुक़दमा हार गया और भगवान की लीला देखिए, उन्हीं दिनों उसकी पनचक्की में आग लग गयी। कुछ लोगों का कहना तो यह है कि किसी दुश्मन का काम था, जो भी हो, बड़े हाथी की तरह जो इकबारगी गिरे तो उठना दुश्वार हो गया। लोग रुपये दाब गये और उनका दिवाला निकल गया। दिवाला क्या जी, एक तरह से बिलकुल मटियामेट हो गये। सब कुछ चौपट हो गया और छल्ला-छल्ला तक बिक गया। एक दिन लालाजी की लाश तालाब में फूली हुई मिली। अब तो हमारे लाला रूपाराम को साँप सूँघ गया, उनके कान खड़े हुए और लक्ष्मी पर पहरा बैठा दिया गया। उसे स्कूल से उठा लिया गया और वह दिन सो आज का दिन, बेचारी नीचे नहीं उतरी। घर के भीतर न किसी को आने देता है न जाने देता है। मास्टर रख कर पढ़ाने की बात पहले उठी थी, लेकिन जब सुना कि मास्टर लोग लड़कियों को बहका कर भगा ले जाते हैं तो वह विचार एकदम छोड़ दिया गया। लक्ष्मी ख़ूब रोयी-पीटी, लेकिन इस राक्षस ने उसे भेजा ही नहीं। सुनते हैं लड़की देखने-दिखाने लायक़......"

बात काट कर मिस्त्री बोला, "अरे, देखने-दिखाने लायक़ क्या, हमने ख़ुद देखा है, जिधर से निकल जाती उधर बिजली-सी कौंध जाती। सौ में एक......!"

उसकी बात का विरोध न करके अर्थात् स्वीकार करके चौकीदार बोला, "स्कूल में भी सुनते हैं बड़ी तारीफ़ थी। लेकिन सब का साले ने सत्यानास कर दिया। उसे यह विश्वास हो गया कि यह लड़की सचमुच लक्ष्मी है और जब यह दूसरे की हो जायगी तो एकदम इसका भी सत्यानास हो जायगा। इसी डर से न तो किसी को आने-जाने देता है और न उसकी शादी करता है। उसकी हर बात पर पुलिस के सिपाही की तरह नज़र रखता है। उसकी हर बात मानता है। बुरी तरह उसकी इज़्ज़त करता है, उसकी हर ज़िद पूरी करता है, लेकिन निकलने नहीं देता। लक्ष्मी सोलह की हुई, सत्रह की हुई, अठारह-उन्नीस...साल पर साल बीत गये। पहले तो वह सबसे लड़ती थी। बड़ी चिड़चिड़ी और ज़िद्दी हो गयी थी। कभी-कभी सबको गाली देती और मार भी बैठती थी, फिर तो मालूम नहीं क्या हुआ कि घंटों रात-रात भर पड़ी ज़ोर-ज़ोर से रोती रहती, फिर धीरे-धीरे उसे दौरा पड़ने लगा......"

"अब क्या उम्र है?" गोविन्द ने बीच में पूछा।

"उसकी ठीक उम्र तो किसी को भी पता नहीं, लेकिन अन्दाज़ से पच्चीस-

छब्बीस से कम क्या होगी ?" घृणा से ओठ टेढ़े करके चौकीदार ने अपनी बात जारी रखी, "दौरा न पड़े तो बेचारी जवान लड़की क्या करे ? उधर पिछले पाँच-छः साल से तो यह हाल है कि दौरे में घंटे-दो-घंटे वह बिलकुल पागल हो जाती है। उछलती-कूदती है, बुरी-बुरी गालियाँ देती है, बेमतलब रोती-हँसती है, चीज़ें उठा-उठा कर इधर-उधर फेंकती है। जो चीज़ सामने होती है उसे तोड़-फोड़ देती है। जो हाथ में आता है उससे मार-पीट शुरू कर देती है और सारे कपड़े उतार कर फेंक देती है, बिलकुल नंगी हो जाती है और जाँघें और छाती पीट-पीट कर बाप से कहती है—'ले, तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग...!' यह पिटता है, गालियाँ खाता है और सब कुछ करता है, लेकिन पहरे में ज़रा ढील नहीं होने देता। क्या ज़िन्दगी है बेचारी की ? बाप है सो उसे भोग नहीं सकता और छोड़ तो सकता ही नहीं। मेरी तो उम्र नहीं रही, वर्ना कभी-कभी मन होता है ले जाऊँ भगा कर, होगा सो देखा जायगा...!" और एक तीखी व्यथा से मुस्कराता हुआ चौकीदार देर तक आग को देखता रहा, फिर धीरे से ओठ चबा कर बोला, "इसकी तो बोटी-बोटी गर्म लोहे से दागी जाय और फिर टिक्टी बाँध कर गोली से उड़ा दिया जाय...!"

गोविन्द का भी दिल भारी हो आया था। उसने देखा, बुड्ढे चौकीदार की गीली आँखों में सामने की बरोसी की धुँधली आग की परछाईं झलमला रही है।

आधी रात को अपनी कोठरी में लेटे, लक्ष्मी के बारे में सोचते हुए, मोमबत्ती की रोशनी में उसकी सारी बातों का एक-एक चित्र उसकी आँखों के आगे साकार हो आया और फिर उसने अंधकार की प्राचीरों से घिरी, गर्म-गर्म आँसू बहाती मोमबत्ती की धुँधली रोशनी में रेखांकित पंक्तियाँ पढ़ीं—

"मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ !"

"मुझे यहाँ से भगा ले चलो......!"

"मैं फाँसी लगा कर मर जाऊँगी......!"

गोविन्द के मन में अपने आप एक सवाल उठा, क्या मैं ही पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुन कर ऐसा व्याकुल हो उठा हूँ या औरों ने भी इस आवाज़ को सुना है ? और सुन कर अनसुना कर दिया है—और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज़ को सुन कर अनसुना किया जा सकता है ?

ज़िन्दगी और जोंक

अमरकान्त

जिस दिन मुहल्ले में उसका आगमन हुआ, मैंने सवेरे तरकारी लाने के लिए बाज़ार जाते समय उसको देखा था। शिवनाथ बाबू के घर के सामने, सड़क की दूसरी ओर स्थित मकान के खण्डहर में, नीम के पेड़ के नीचे, एक दुबला-पतला काला आदमी, गन्दी लुंगी में लिपटा चित्त पड़ा था, जैसे रात में आसमान से टपक कर बेहोश हो गया हो अथवा दक्षिण भारत का कोई भूला-भटका साधु निश्चिन्त स्थान पाकर चुपचाप नाक से हवा खींच-खींच कर प्राणायाम कर रहा हो।

फिर मैंने शायद एक-दो बार और भी उसको कठपुतले की भाँति डोल-डोल कर सड़क को पार करते या मुहल्ले के एक-दो मकानों के सामने चक्कर लगाते या बैठ कर हाँफते हुए देखा। इसके अलावा मैं उसके बारे में उस समय तक कुछ नहीं जानता था। मैंने जानने की कोशिश भी नहीं की और यदि उस दिन वह घटना न हुई होती तो पता नहीं उसको मुहल्ले भर में प्रसिद्ध होने में कितनी देरी लगती।

एक सप्ताह बाद। लगभग रात के ग्यारह बजे थे और मैं खाने के बाद बाहर आकर लेटा ही था। चारों ओर घुप अँधियारा छाया था। चैत का महीना, हवा तेज़ चल रही थी। कभी-कभी सड़क की धूल हवा के साथ उड़ कर शरीर को ढक लेती। मैं प्रारम्भिक झपकियाँ ले ही रहा था कि 'मारो मारो' का हल्ला सुन कर चौंक पड़ा।

मैंने लेटे-ही-लेटे आँखें खोल कर देखा, पर अँधेरे तथा धूल के कारण कुछ दिखायी न पड़ा। आँखें मूँद कर मैं फिर सोने की कोशिश करने लगा। लेकिन शायद भाग्य में उस समय सोना न लिखा था, क्योंकि 'मारो-पीटो' की आवाज़ें तेज़ होती गयीं और शोरगुल बढ़ता गया। मैं तत्काल उठ बैठा। शायद आवाज़

शिवनाथ बाबू के मकान की ओर से आ रही थी। जल्दी से पाँव चप्पल में डाल उधर को चल पड़ा।

मेरा अनुमान ठीक था, क्योंकि शिवनाथ बाबू के मकान के सामने ही भीड़ लगी थी। मुहल्ले के दूसरे लोग भी शोरगुल सुन कर अपनी चारपाइयों से उठ-उठ कर आँखें मलते हुए भागे चले आ रहे थे। मैंने भीतर घुस कर देखा और कुछ चकित रह गया। खण्डहर का वही भिखमंगा था। शिवनाथ बाबू का लड़का रघुवीर उस भिखमंगे की दोनों बाहों को पीछे से पकड़े हुए था और दो-तीन व्यक्ति आँख मूँद तथा उछल-कूद कर उसे बेतहाशा पीट रहे थे। शिवनाथ बाबू तथा अन्य लोग उसे भय-जन्य क्रोध से आँखें फाड़-फाड़ कर घूर रहे थे।

भिखमंगा नाटा था। गाल पिचके हुए, आँखें धँसी हुई, छाती की हड्डियाँ साफ़ बाँस की खपच्चियों की तरह दिखायी दे रही थीं और पेट नाँद की तरह फूला हुआ था। मार उस पर तेज़ी से पड़ रही थी और वह बेतहाशा चिल्ला रहा था—"मैं बरई हूँ, बरई हूँ, बरई हूँ .....।"

मुझे देख कर शिवनाथ बाबू मेरे पास सरक आये और क्रोध में चिल्ला-चिल्ला कर स्थिति पर प्रकाश डालने लगे—"साला छँटा हुआ चोर है साहब! पर यह हमारा-आपका दोष है कि हम आदमी नहीं पहचानते। ग़रीबों को देख कर हमारा-आपका दिल पसीज जाता है और मौक़ा-बेमौक़ा खुद्दी-चुनी, साग-सत्तू दे ही दिया जाता है। आपने तो इसको देखा ही होगा, मालूम होता था महीनों से खाना नहीं मिला है, पर कौन जानता था कि साला ऐसा निकलेगा। हरामी का पिल्ला......।"

फिर उन्होंने भिखमंगे की ओर मुड़ कर गरजते हुए कहा—"बता साले साड़ी कहाँ रखी है? नहीं वह मार पड़ेगी कि नानी याद आ जायेगी।"

उनका गला ज़ोर से चिल्लाने के कारण किंचित बैठ गया था, इसलिए सम्भवतः थक कर वे चुप हो गये। पीटने वालों ने भी इस समय पीटना बन्द कर दिया था, लेकिन शिवनाथ बाबू के वक्तव्य से रामजी मिश्र का शोहदा पहलवान लड़का शम्भू अत्यधिक प्रभावित मालूम पड़ा। वह अभी-अभी आया था और शिवनाथ बाबू का बयान समाप्त होते ही उसने आव देखा न ताव, भीड़ में से आगे लपक, जूता हाथ में ले गन्दी गालियाँ देते हुए भिखमंगे को पीटना शुरू कर दिया।

शिवनाथ बाबू ने जैसे निश्चिन्त होकर अपना वक्तव्य पुनः आरम्भ किया—"एक-डेढ़ हफ़्ते से मुहल्ले में आया हुआ है। लावारिस कुत्तों की तरह

इधर-उधर घूमा करता था सो हमारे घर में दया आ गयी। एक रोज़ इसे बुला कर उन्होंने कटोरे में दाल-भात-तरकारी खाने को दे दी। बस क्या था, परक गया। रोज़ आने लगा। ख़ैर कोई बात नहीं थी, आपकी दया से ऐसे दो-तीन मरे-भिखमंगे रोज़ ही खाकर दुआ दे जाते हैं। यह घर में आने लगा तो मौका पड़ने पर एक-आध काम भी कर देता था, पर दोनों जून डट कर खाना भी पा जाता था, अब यह किसको पता था कि आज यह घर से नयी साड़ी चुरा लेगा।"

इतना कह कर उन्होंने पहले भिखमंगे, फिर एकत्र जनता और अन्त में मेरी ओर मुँह टेढ़ा करके आँखें फाड़ कर इस तरह देखा जैसे यदि कोई रुकावट न होती तो उस भिखमंगे ने ऐसा काम किया था कि वे उसे कच्चा ही चबा जाते।

"आपको ठीक से पता है कि साड़ी इसी ने चुरायी है?" मैंने मुस्करा कर धीरे से पूछा।

स्पष्ट था कि वे मेरी बात से बिगड़ गये। बोले—"आप भी ख़ूब बात करते हैं। यही पता लग गया तो चोर चोर कैसा? मैं तो ख़ूब जानता हूँ कि ये सब चोरी का माल होशियारी से छिपा देते हैं और जब तक इनकी कड़ी पिटाई न की जाय, कुछ नहीं बताते। अब यही समझिए कि करीब दस बजे साड़ी गायब हुई। जमुना का कहना है कि करीब उसी समय उसने इसको किसी सामान के साथ घर से निकलते हुए देखा। फिर मैं यह पूछता हूँ कि आज दस वर्ष से मेरे घर का दरवाज़ा इसी तरह खुला रहता है, लेकिन कभी चोरी नहीं हुई। आज कौन-सी नयी बात हो गयी कि यह आया नहीं और मुहल्ले में चोरी-चकारी शुरू हो गयी। अरे मैं इन सालों को ख़ूब जानता हूँ।"

वह भिखमंगा अब भी तेज़ मार पड़ने पर चिल्ला उठता—"मैं बरई हूँ, बरई हूँ, बरई हूँ...।" स्पष्ट था कि वह इतने लोगों को देख कर काफ़ी भयभीत हो गया था और अपने समर्थन में कुछ न पाकर बेतहाशा अपनी जाति का नाम ले रहा था जैसे हर जाति के लोग चोर हो सकते हैं, लेकिन बरई कतई नहीं हो सकते।

नये लोग अब भी आ रहे थे और वे क्रोध एवं उत्तेजना में आकर उसे पीटते और फिर भीड़ में मिल जाते। समय बीतता चला जा रहा था और जब लगातार मार पड़ने पर भी उसने कुछ नहीं बताया तो लोग ख़ामख़ाह थक गये। कुछ लोग वहाँ से सरकने भी लगे। रामबली ने उसको अपना अन्तिम तमाचा रसीद करते हुए राय दी, 'साला गहरा बदमाश मालूम पड़ता है' और फिर

बगल में थूकते हुए भीड़ में गायब हो गया। किसी ने पेड़ से बाँधने की और किसी ने पुलिस के सुपुर्द करने की सलाह दी। मैं भी कुछ ऐसी ही सलाह देकर खिसकने वाला था कि शिवनाथ बाबू का मँझला लड़का योगेन्द्र दौड़ता हुआ आया और उसने अपने पिता जी को अलग ले जाते हुए फुस-फुस कुछ बातें कीं।

थोड़ी देर के बाद शिवनाथ बाबू जब वापस आये तो उनके चेहरे पर हवाइयाँ-सी उड़ रही थीं। उन्होंने एक-दो क्षण इधर-उधर तथा मेरी ओर बेचारे की तरह देखने के बाद अपनी आवाज़ से लड़ते हुए कहा—"अच्छा इस बार छोड़े देते हैं। साला काफ़ी पा चुका है, आइन्दा ऐसा करते चेतेगा।"

अब लोग शिवनाथ बाबू को बुरा-भला कह कर रास्ता नापने लगे। मैंने शिवनाथ बाबू की ओर मुस्करा कर देखा तो मेरे पास आकर झेंपते हुए बोले—"इस बार तो साड़ी घर ही में मिल गयी है, पर कोई बात नहीं। चमार-सियार डाँट-डपट पाते ही रहते हैं। अरे इस पर क्या पड़ी है, चोर-चाई तो रात-रात भर मार खाते हैं और कुछ भी नहीं बताते। आइन्दा याद रखेगा।"

और जब मैं उनकी बात पर कुछ ज़ोर से हँस पड़ा तो उन्होंने अपनी बायीं आँख को ख़ूबी के साथ दबाते और दाँत चिपका कर हँसते हुए कहा—"चलिए साहब चलें, नीच और नींबू को दबाने से ही रस निकलता है।"

मुझे कभी-कभी अत्यधिक आश्चर्य होता है कि उस दिन की पिटाई के बाद भी खण्डहर का वह भिखमंगा मेरे मुहल्ले में टिके रहने की हिम्मत कैसे कर सका? मैंने प्रायः इस बात पर सोचा है, लेकिन इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर मुझे नहीं मिला। हो सकता है, उसने सोचा हो कि निर्दोष छूट जाने के पश्चात् मेरे मुहल्ले के बाबू लोगों का विश्वास एवं सहानुभूति उसको प्राप्त हो जायेगी और दूसरे स्थान पर जाने से फिर उसी अनिश्चितता का सामना करना पड़ेगा।

चाहे जो हो, उस दिन की घटना के बाद भी भिखमंगा मुहल्ले में बना रहा। उसके प्रति मेरी दिलचस्पी अब और भी बढ़ गयी थी। मैं उसको खण्डहर में बैठ कर कुछ खाते या चुपचाप सोते या मुहल्ले में डग-डग सरकते हुए देखता। लोग अब उसको कुछ-न-कुछ दे देते। बचा हुआ बासी या जूठा खाना पहले कुत्तों या गाय-भैसों को दे दिया जाता, लेकिन अब औरतें बच्चों को दौड़ा देतीं कि जाकर भिखमंगे को दे आयें। कुछ लोगों ने तो उसको कोई पहुँचा हुआ साधु-महात्मा तक कह डाला, लेकिन धीरे-धीरे ऐसे व्यक्ति भारी अल्पमत में हो गये, क्योंकि वह भिखमंगा खाने के लिए सुअरों की भाँति

भटकता फिरता था, और साधु-महात्मा चाहे जितने स्वादू हों, पर खाद्य सामग्रियों के प्रति वे उपेक्षा ही प्रदर्शित करते हैं।

धीरे-धीरे उसने खण्डहर का परित्याग कर दिया और आम सहानुभूति एवं विश्वास का आश्चर्यजनक लाभ उठाते हुए, जब वह किसी-न-किसी के ओसारे या दालान में ज़मीन पर सोने-बैठने लगा तो लोग उससे हल्के-फुल्के काम भी लेने लगे। दया-माया के मामले में शिवनाथ बाबू से पार पाना टेढ़ी खीर है, किन्तु भिखमंगा उनके दरवाज़े पर जाता ही न था।

लेकिन उन्होंने एक दिन किसी शुभ मुहूर्त में उसे सड़क से गुज़रते समय संकेत से अपने पास बुलाया और तिरछी नज़र से देखते हुए, किन्तु मुस्करा कर बोले—"देख बे, तूने चाहे जो भी किया, हमसे तो यह सब नहीं देखा जाता। दर-दर भटकता रहता है। कुत्ते-सुअर का जीवन जीता है। आज से इधर-उधर भटकना छोड़, आराम से यहीं रह और दोनों जून भर-पेट खा!"

और फिर उसे अपने प्रेम-पाश में पूर्णरूप से जकड़ने के लिए उन्होंने उसी से घर में से झाड़ू मँगवायी और बाहर के बरामदे और कोठरी को झाड़ने का आदेश दे दिया।

शिवनाथ बाबू के स्नेह से यह सम्भव हुआ या डर से, यह पता नहीं, पर भिखमंगा उनके यहाँ स्थायी रूप से रहने लगा। उन्हीं के यहाँ उसका नामकरण भी हुआ। यद्यपि उसने अपना नाम गोपाल बताया था, लेकिन शिवनाथ बाबू के दादा का भी नाम गोपाल सिंह था, इसलिए घर की औरतों की ज़बान से वह नाम उतरता ही न था। उन्होंने उसको 'रजुआ' कहना आरम्भ किया और धीरे-धीरे यही नाम सारे मुहल्ले में प्रसिद्ध हो गया।

किन्तु रजुआ के भाग्य में बहुत दिनों तक शिवनाथ बाबू के यहाँ टिकना न लिखा था। बात यह है कि मुहल्ले के लोगों को यह कतई पसन्द न था कि केवल दोनों जून भोजन पर रजुआ शिवनाथ बाबू की सेवा करे। जब भगवान ने उनके बीच एक नौकर भेज ही दिया था तो उस पर उनका भी उतना ही अधिकार था और उन्होंने मौका देख कर उस को अपनी सेवा करने का अवसर देना आरम्भ कर दिया। वह शिवनाथ बाबू के किसी काम से जाता तो रास्ते में कोई-न-कोई उसको पैसे देकर किसी काम की फ़रमाइश कर देता और यदि वह आनाकानी करता तो सम्बन्धित व्यक्ति बिगड़ कर कहता—"साला, तू शिवनाथ का ग़ुलाम है? वह क्या कर सकते हैं? मेरे यहाँ बैठ कर खाया कर, वे क्या खिलायेंगे, बासी भात ही तो देते होंगे।"

रजुआ शिवनाथ बाबू से अब भी डरता था, इसीलिए उनसे छिपा कर ही वह अन्य लोगों का काम करता। किन्तु उसको पीटने का और व्यक्तियों को भी उतना ही अधिकार था। एक बार जमुना लाल के लड़के जंगी ने रजुआ से तीन-चार आने की लकड़ी लाने के लिए कहा और रजुआ फ़ौरन आने का वायदा करके चला गया। पर वह शीघ्र न आ सका, क्योंकि शिवनाथ बाबू के घर की औरतों ने उसे इस या उस काम से बाँधे रखा। बाद में जब वह जमुना लाल के यहाँ पहुँचा तो जंगी ने सबसे पहला काम यह किया कि ज़न्नाटे के दो थप्पड़ उसके गाल पर जड़ दिये कि सुअर, धोखा देता है। कह देता, नहीं आऊँगा। अब आज मैं तुमसे दिन भर काम कराऊँगा, देखें कौन साला रोकता है। आख़िर हम भी मुहल्ले में रहते हैं कि नहीं।"

और सचमुच जंगी ने उससे दिन भर काम लिया। शिवनाथ बाबू को सब पता लग गया, लेकिन उनकी उदार व्यावहारिक बुद्धि की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता, क्योंकि उन्होंने चूँ तक नहीं की।

ऐसी ही कई घटनाएँ हुईं, पर रजुआ पर किसी का स्थायी अधिकार निश्चित न हो सका। उसकी सेवाओं की उपयोग सम्बन्धी खींचातानी से उसका सामाजीकरण हो गया। मुहल्ले का कोई भी व्यक्ति उसे दो-चार रुपये देकर स्थायी रूप से नौकर रखने को तैयार न हुआ, क्योंकि वह इतना शक्तिशाली क़तई न था कि चौबीस घंटे के नौकर की महान ज़िम्मेदारियाँ सम्हाल सके। वह तेज़ी के साथ पचीस-पचास गगरे पानी न भर सकता था, बाज़ार से दौड़ कर भारी सामान-सौदा न ला सकता था। अतएव लोग उससे छोटा-मोटा काम ले लेते और इच्छानुसार उसे कुछ-न-कुछ दे देते। अब न वह शिवनाथ बाबू के यहाँ टिकता और न जमुना लाल के यहाँ, क्योंकि उसको कोई टिकने ही न देता। इसको रजुआ ने भी समझ लिया और मुहल्ले के लोगों ने भी। वह अब किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, बल्कि सारे मुहल्ले का नौकर हो गया।

रजुआ के लिए छोटे-मोटे कामों की कमी न थी। किसी के यहाँ खा-पीकर वह बाहर की चौकी या ज़मीन पर सो रहता और सबेरे उठता तो मुहल्ले के लोग उसका मुँह जोहते। नौकर-चाकर किसी के यहाँ बहुत दिनों तक टिकते नहीं थे और वे भाग-भाग कर रिक्शे चलाने लगते या किसी मिल-कारख़ाने में काम करने लगते। दो-चार व्यक्तियों के यहाँ ही नौकर थे, अन्य घरों में कहार पानी भर देता, लेकिन वह गगरों के हिसाब से पानी देता और यदि एक गगरा

भी अधिक देता तो उसका मेहनताना पाई-पाई वसूल कर लेता। इस स्थिति में रजुआ का आगमन जैसे भगवान का वरदान था।

लोग उससे कम-से-कम एक-आध घंटे और अधिक से अधिक पाँच-छः घंटे काम लेकर इच्छानुसार उसकी मजदूरी चुका देते। यदि उसने कोई छोटा काम किया हो तो उसे बासी रोटी या भात या भुना हुआ चना या सत्तू दे दिया जाता और वह एक कोने में बैठ कर चापुड़-चापुड़ खा-फाँक लेता। अगर कोई बड़ा काम कर देता तो एक जून का खाना मिल जाता, पर उसमें अनिवार्य रूप से एक-आध चीज़ बासी रहती और कभी-कभी तो तरकारी या दाल नदारद होती। कभी भात-नमक मिल जाता, जिसे वह पानी के साथ खा जाता। कभी-कभी रोटी-अचार और कभी-कभी तो सिर्फ़ तरकारी ही खाने या दाल पीने को मिलती। कभी खाना न होने पर दो-चार पैसे मिल जाते या मोटा-पुराना कच्चा चावल या दाल या चार-छः आलू। कभी उधार भी चलता। वह काम कर देता और उसके एवज़ फिर किसी दिन कुछ-न-कुछ पा जाता।

इसी बीच वह मेरे घर भी आने लगा था, क्योंकि मेरी श्रीमती जी बुद्धि के मामले में किसी से पीछे न थीं। रजुआ आता और काम करके चला जाता। एक-दो बार मुझसे भी मुठभेड़ हुई, पर मैं कुछ बोला नहीं।

कोई छुट्टी ही का दिन था। मैं बाहर बैठा एक किताब पढ़ रहा था कि इतने में रजुआ भीतर से आया और कोने में बैठ कर कुछ खाने लगा। मैंने घूम कर एक निगाह उस पर डाली। उसके हाथ में एक रोटी और थोड़ा-सा अचार था और वह सूअर की भाँति चापुड़-चापुड़ खा रहा था। बीच-बीच में वह मुस्करा पड़ता, जैसे कोई बड़ी मंज़िल सर करके बैठा हो।

मैं उसकी ओर देखता रहा और मुझे वह दिन याद आ गया, जब चोरी के अभियोग में उसकी पिटाई हुई थी। जब वह खा कर उठा तो मैंने पूछा—"क्यों रे रजुआ, तेरा घर कहाँ है?"

वह सकपका कर खड़ा हो गया, फिर मुँह टेढ़ा करके बोला—"सरकार रामपुर का रहने वाला हूँ।" और उसने दाँत निपोर दिये।

"गाँव छोड़ कर यहाँ क्यों चला आया?" मैंने पुनः प्रश्न किया।

क्षण भर वह असमंजस में मुझे खड़ा तकता रहा, फिर बोला—"पहले रसड़ा में था मालिक।"

जैसे रामपुर से सीधे बलिया आना कोई अपराध हो। उसके लिए सम्भवतः 'क्यों' का कोई महत्व नहीं था, जैसे उसके गाँव छोड़ने का जो भी कारण हो,

वह अत्यन्त ही सामान्य एवं स्वाभाविक था और वह न उसके बताने की चीज़ थी और न किसी के समझने की।

"रामपुर में कोई है तेरा?" मैंने एक-दो क्षण उसको ग़ौर से देखने के बाद दूसरा सवाल किया।

"नहीं मालिक, बाप और दो बहनें थीं, ताऊन में मर गयीं।" वह फिर दाँत निपोर कर हँस पड़ा।

उसके बाद मैंने कोई प्रश्न नहीं किया। हिम्मत नहीं हुई। वह फ़ौरन वहाँ से सरक गया और मेरा हृदय कुछ अजीब-सी घृणा से भर उठा। उसकी खोपड़ी किसी हलवाई की दुकान पर दिन में लटकते काले गैस लैम्प की भाँति हिल-डुल रही थी। हाथ-पैर पतले, पेट अब भी हँड़िया की तरह फूला हुआ और सारा शरीर निहायत गन्दा एवं घृणित था। मेरी इच्छा हुई, जाकर घर में बीवी से कह दूँ कि इससे कोई काम न लिया करो, यह रोगी है। फिर टाल गया, क्योंकि इसमें मेरा ही घाटा था। मैं जानता था कि नौकरों की कितनी किल्लत थी और रजुआ के रहने से इतना आराम हो गया था कि मैं हर पहली या दूसरी तारीख़ को राशन, मसाला आदि ख़रीद कर महीने भर के लिए निश्चिन्त हो जाता।

"इनकिलाफ़ जिन्दाबाद, महात्मा गांधी की जै।"

कुछ महीने के बाद एक दिन जब मैं अपने कमरे में बैठा था कि मुझे रजुआ के नारे लगाने और फिर 'ही-ही' हँसने की आवाज़ सुनायी दी। मैं चौंका और मैंने सुना, आँगन में पहुँच कर वह ज़ोर से कह रहा है—"मालिक थोड़ा नमक होगा, रामबली मिसिर के यहाँ से रोटियाँ मिल गयी हैं, दाल बनाऊँगा।"

मेरी पत्नी चूल्हे-चौके में लगी हुई थी। उसने कुछ देर बाद उसको नमक देते हुए पूछा—"रजुआ, सच बताना, तुझे नहाये हुए कितने दिन हो गये?"

"खिचड़ी की खिचड़ी नहाता हूँ न मलिकाइन जी," वह नमक लेकर बोला और हँसते हुए भाग गया।

मैं कमरे में ही बैठा यह सब सुन रहा था। सम्भवतः उसको मेरी उपस्थित का ज्ञान न था, अन्यथा वह ऐसी बातें न करता। लेकिन यह बात साफ़ थी कि अब वह मुहल्ले में जम गया है। उसको खाने-पीने की चिन्ता नहीं है। इतना ही नहीं, अब वह मुहल्ले भर से शह पा रहा है। लोग अब उससे हँसी-मजाक भी करने लगे हैं और उसे मारे-पीटे जाने का किंचित मात्र भी भय नहीं। अवश्य यही बात थी और वह स्थिति में परिवर्तन से लाभ उठाते

हुए ढीठ हो गया था। इसीलिए उसने अपने आगमन की सूचना देने के लिए राजनीतिक नारे लगाये थे, जैसे वह कहना चाहता हो कि मैं हँसी-मज़ाक का विषय हूं, लोग मुझसे मज़ाक करें, जिससे मेरे हृदय में हिम्मत और ढाढ़स बँधे।

सच कहता हूं, मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। लेकिन कुछ ही दिन बाद मैंने उसकी एक और हरकत देखी, जिससे मेरे अनुमान की पुष्टि होती थी।

मैं सायंकाल दफ़्तर से आ रहा था कि जीउतराम के गोले के पास मैंने रजुआ की आवाज़ सुनी। पतिया की स्त्री बर्तन माँज रही थी और उसके पास खड़ा रजुआ टेढ़ा मुँह करके बोल रहा था—"सलाम हो भौजी, समाचार है न ?" इतना कह कर वह बेमतलब 'ही-ही' हँसने लगा।

पतिया की बहू ने थोड़ा मुरकी काटते हुए सुनाया—"दूर हो पापी, समाचार पूछने का तेरा ही मुँह है ? चला जा, नहीं तो जूठ की काली हाँड़ी चला कर वह मारूँगी कि सारी लफंगई...।" यहाँ उसने एक गन्दे मुहावरे का इस्तेमाल किया।

लेकिन मालूम पड़ता है कि रजुआ इतने ही से खुश हो गया, क्यों कि वह मुँह फैला कर हँस पड़ा और फिर तुरन्त उसने दो-तीन बार सर को ऊपर झटका देते हुए ऐसी किलकारियाँ लगायीं जैसे घास चरता हुआ गदहा अचानक सर उठा कर ढींचूँ-ढींचूँ कर उठता है।

फिर तो यह उसकी आदत हो गयी। सारे मुहल्ले की छोटी जातियों की औरतों से उसने भौजाई का सम्बन्ध जोड़ लिया था। उनको देख कर वह कुछ हलकी फुलकी छेड़खानी कर देता, जिसके उत्तर में उसे आशानुकूल गालियाँ-झिड़कियाँ सुनने को अवश्य मिल जातीं, और तब वह गदहे की भाँति ढींचूँ-ढींचूँ कर उठता।

कुएँ पर पहुँच कर वह किसी औरत को कनखी से निहारता और अन्त में पूछ बैठता, "यह कौन है ? अच्छा, बड़की भौजी हैं। सलाम भौजी। सीताराम, सीताराम, राम-नाम जपना, पराया माल अपना।" इतना कह कर वह मुँह चियार कर धृष्टतापूर्वक हँस पड़ता।

वह किसी काम से जा रहा होता, पर रास्ते में किसी औरत को बर्तन माँजते या अपने दरवाज़े पर बैठे हुए या कोई काम करते हुए देख लेता तो एक-दो मिनट के लिए वहाँ पहुँच जाता, बेहया की तरह हँस कर कुशल-क्षेम पूछता और अन्त में झिड़की-गाली सुन कर किलकारियाँ मारता हुआ वापस चला जाता। धीरे-धीरे वह इतना सहक गया कि वह नीची जाति की किसी भी जवान स्त्री को देख कर चाहे वह जान-पहचान की हो या न हो, दूर से ही मुँह से हिचकी दे-देकर किलकने लगता।

मेरी तरह मुहल्ले के अन्य लोगों ने भी उसके इस परिवर्तन पर ग़ौर किया था, और सम्भवतः इसी कारण लोग उसे रजुआ से 'रजुआ साला' कहने लगे। अब कोई बात कहनी होती, कितने भी गम्भीर काम के लिए पुकारना होता, लोग उसे 'रजुआ साला' कह के बुलाते और अपने काम की फ़रमाइश करके हँस पड़ते। उनकी देखा-देखी लड़के भी ऐसा ही करने लगे, जैसे 'साला' कहे बिना रजुआ का कोई अस्तित्व ही न हो। और इससे रजुआ भी बड़ा प्रसन्न था, जैसे इस से उसके जीवन की अनिश्चितता कम हो रही हो और उस पर अचानक कोई संकट आने की सम्भावना संकुचित होती जा रही हो।

और अब लोग उसे चिढ़ाने भी लगे।

"क्यों बे रजुआ साला, शादी करेगा?" लोग उसे छेड़ते। रजुआ उनकी बातों पर 'खी-खी' हँस पड़ता और फिर अपनी आदत के अनुसार सर को ऊपर की ओर दो-तीन बार झटके देता हुआ तथा मुँह से ऐसी हिचकी की आवाज़ निकालता हुआ, जो अधिक कड़वी चीज़ खाने पर निकलती है, चलता बनता। वह समझ गया था कि लोग उसको देख कर खुश होते हैं और अब वह सड़क पर चलते, गली से गुज़रते, घर में घुसते, काम की फ़रमाइश लेकर घर से निकलते और कुएँ पर पानी भरते समय जोरों से चिल्ला कर उस समय के प्रचलित राजनीतिक नारे लगाता या कबीर की कोई ग़लत-सलत बानी बोलता या किसी सुनी हुई कविता या दोहे की एक-दो पंक्तियाँ गुनगुनाता। ऐसा करते समय वह किसी की ओर देखता नहीं, बल्कि टेढ़ा मुँह करके ज़मीन की ओर देखता हुआ मुँह फैला कर हँसे जाता, जैसे वह दिमाग़ की आँखों से देख रहा हो कि उसकी हरकतों को बहुत से लोग देख-सुन कर प्रसन्न हो रहे हैं।

सायंकाल दफ़्तर से आने और नाश्ता-पानी करने के बाद मैं प्रायः हवाख़ोरी करने निकल जाता हूँ। रेलवे लाइन पकड़ कर बाँसडीह की ओर जाना मुझे सबसे अच्छा लगता है। सरयू पार करके गंगाजी के किनारे घूमना-टहलना कम आनन्ददायी नहीं है, लेकिन उसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि बरसात में दोनों नदियाँ बढ़ कर समुद्र का रूप धर लेती हैं और जाड़े में इतने दलदल मिलते हैं कि जाने की हिम्मत और तबियत नहीं होती। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मुझे देर हो जाती है या अधिक चलने-फिरने की इच्छा नहीं होती और मैं स्टेशन के प्लेटफ़ार्म का ही चक्कर लगा कर वापस लौट आता हूँ।

पन्द्रह-बीस दिन बाद एक दिन सायंकाल स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर

टहलने गया। स्टेशन के फाटक से प्लेटफ़ार्म पर आने के बाद मैं बायीं तरफ़ जी० आर० पी० की चौकी की ओर बढ़ चला। किन्तु कुछ क़दम ही चला था कि मेरा ध्यान रजुआ की ओर गया, जो मुझसे कुछ दूर आगे था। वह भी उधर ही जा रहा था। मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि शहर के काफ़ी लोग दिशा-मैदान के लिए कटहरनाला जाते थे, जो स्टेशन के पास ही बहता है। मैं धीरे-धीरे चलने लगा।

पर रजुआ कटहरनाला नहीं गया, बल्कि जी० आर० पी० की चौकी के पास कुछ ठिटक कर खड़ा हो गया। अब मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। क्या वह किसी मामले में पुलिसवालों के चक्कर में आ गया है? मेरी समझ में कुछ न आया और उत्सुकतावश मैं तेज़ चलने लगा। आगे बढ़ने पर स्थिति कुछ-कुछ समझ में आने लगी।

चौकी के सामने एक बेंच पर बैठे पुलिस के दो-तीन सिपाही कोई हँसी-मज़ाक कर रहे थे और उनसे थोड़ी ही दूरी पर नीचे एक नंगी औरत बैठी हुई थी। वह औरत और कोई नहीं, एक पगली थी, जो कई दिनों से शहर का चक्कर काट रही थी। उसको मैंने कई बार चौक में तथा एक बार सरयू के किनारे देखा था। उसकी उम्र लगभग तीस वर्ष की होगी और वह बदसूरत, काली तथा निहायत गन्दी थी। वह जहाँ जाती, कुछ लफ़ंगे लड़के 'हा-हा' करते उसके पीछे हो जाते। वे उसको चिढ़ाते, उस पर ईंट-पत्थर फेंकते और जब वह तंग आकर चीख़ती-चिल्लाती भागती तो लड़के भी उसके पीछे दौड़ते।

रजुआ उस पगली के पास ही खड़ा था। वह कभी शंकित आँखों से पुलिस वालों को देखता, फिर मुँह फैला कर हँस पड़ता और मुटर-मुटर पगली को ताकने लगता। परन्तु पुलिस वाले सम्भवतः उसकी ओर ध्यान न दे रहे थे।

मुझे बड़ी शर्म मालूम हुई, किन्तु मैं इतना समीप पहुँच गया था कि अचानक घूम कर लौटना सम्भव न हो सका। इसके अलावा असली बात जानने की उत्सुकता भी थी। मैं शून्य की ओर देखता हुआ आगे बढ़ा, लेकिन लाख कोशिश करने पर भी दृष्टि उधर चली जाती।

रजुआ शायद पुलिस वालों की लापरवाही का फ़ायदा उठाते हुए कुछ आगे बढ़ गया था और सर नीचे झुका कर अत्यन्त ही प्रसन्न होकर हँसते हुए पुचकारती आवाज़ में पूछ रहा था, "क्या है पगली देवी, भात खाओगी?"

इतने में पुलिस वालों में से एक ने कड़क कर प्रश्न किया, "कौन है बे साला, चलता बन, नहीं तो मारते-मारते भूसा बना दूँगा।"

रजुआ वहाँ से थोड़ा हट गया और हँसते हुए बोला, "मालिक, मैं रजुआ हूँ !"

"भाग जा साले, गिद्ध की तरह न मालूम कहाँ से आ पहुँचा।" सम्भवतः दूसरे सिपाही ने कहा और फिर वे सभी ठहाका मार कर हँस पड़े।

मैं अब काफी आगे निकल गया था और इससे अधिक मुझे कुछ सुनायी न पड़ा। मैं जल्दी-जल्दी प्लेटफार्म से बाहर निकल गया।

किन्तु मामला यहीं समाप्त नहीं हो गया। घर आकर मैंने आँगन में चारपाई डाल, बड़ी मुश्किल से आध घंटा आराम किया होगा कि मेरी पत्नी भागती हुई आयी और कुछ मुस्कराती हुई तेज़ी से बोली, "अरे ज़रा जल्दी से बाहर आइए तो, एक तमाशा दिखाती हूँ। हमारी कसम ज़रा जल्दी उठिए।"

मैं अनिच्छापूर्वक उठा और बाहर आकर जो दृश्य देखा उससे मेरे हृदय में एक ही साथ आश्चर्य, घृणा एवं करुणा के ऐसे भाव उठे जिन्हें मैं व्यक्त नहीं कर सकता। रजुआ स्टेशन की नंगी पगली के आगे-आगे आ रहा था। पगली कभी इधर-उधर देखने लगती या खड़ी हो जाती तो रजुआ पीछे होकर पगली की अँगुली पकड़ कर थोड़ा आगे ले जाता और फिर उसे छोड़ कर थोड़ा आगे चलने लगता तथा पीछे घूम-घूम कर पगली से कुछ कहता जाता। इसी तरह वह पगली को सड़क की दूसरी ओर स्थित क्वार्टरों की छत पर ले गया। ये क्वार्टर मेरे मकान के सामने दूसरी पटरी पर बने थे और वे एक-दूसरे से सटे थे। उनकी छतें खुली थीं और उन पर मुहल्ले के लोग जाड़े में धूप लिया करते और गर्मी में रात को लावारिस-लफंगे सोया करते थे।

तभी रजुआ नीचे उतरा किन्तु पगली उसके साथ न थी। हम लोगों की उत्सुकता बढ़ गयी थी कि देखें यह आगे क्या करता है? हम लोग वहीं खड़े रहे और रजुआ तेज़ी से स्टेशन की ओर गया तथा कुछ ही देर में वापस भी आ गया। इस बार उसके हाथ में एक दोना था। दोना लेकर वह ऊपर चढ़ गया और हम समझ गये कि वह पगली को खिलाने के लिए बाजार से कुछ लाया है।

इसके बाद दो-तीन दिन तक रजुआ को मैंने मुहल्ले में नहीं देखा। उस दिन की घटना से हृदय में एक उत्सुकता बनी हुई थी, इसलिए एक दिन मैंने अपनी पत्नी से पूछा, "क्या बात है, रजुआ आजकल दिखायी नहीं देता। अब यहाँ नहीं आता क्या?"

पत्नी ने थोड़ा चौंक कर उत्तर दिया, "अरे आपको नहीं मालूम, उसको किसी ने बुरी तरह पीट दिया है और वह दरम की बहू के यहाँ पड़ा हुआ है।"

"क्यों क्या बात है ?" मैंने अपनी उत्सुकता प्रकट किये बिना धीमे स्वर में पूछा।

पत्नी ने मुस्करा कर बताया, "अरे वही बात है, रजुआ उस पगली को छत पर छोड़ कर नरसिंह बाबू के यहाँ काम करने लगा। नरसिंह बाबू की स्त्री बताती है कि वह उस दिन बड़ा गम्भीर था और काम करते-करते चहक कर जैसे किलकारी मारता है, वैसे नहीं करता था। उसकी तबियत काम में नहीं लगती थी। वह एक काम करता और मौका देख कर कोई बहाना बना कर क्वार्टर की छत पर जाकर पगली का समाचार ले आता। नरसिंह बाबू की स्त्री ने जब उसे खाना दिया तो उसने वहाँ भोजन नहीं किया, बल्कि खाने को एक कागज में लपेट कर अपने साथ लेता गया। उसने वह खाना खुद थोड़े खाया, बल्कि उसको वह ऊपर छत पर ले गया। रात के करीब ग्यारह बजे की बात है। रजुआ जब ऊपर पहुँचा तो देखा कि पगली के पास कोई दूसरा सोया है। रजुआ ने आपत्ति की तो उसको उस लफंगे ने खूब पीटा और पगली को लेकर कहीं दूसरी जगह चला गया।"

"तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ ?" मेरा हृदय एक अनजान क्रोध से भरा आ रहा था।

"बरन की बहू बता रही थी।" पत्नी ने उत्तर दिया और अकारन ही हँस पड़ी।

बहुत दिन बीत गये थे। गर्मी का मौसम था और भयंकर लू चलना शुरू हो गयी थी। छत पर मार खाने के चार-पाँच दिन बाद रजुआ फिर मुहल्ले में आकर काम करने लगा था। लेकिन उसमें एक जबरदस्त परिवर्तन यह हुआ कि उसका स्त्रियों के साथ छेड़खानी करके गदहे की भाँति हिचकना-किलकना बन्द हो गया।

"रजुआ ने आजकल दाढ़ी क्यों रख छोड़ी है ?" मैंने पत्नी से पूछा।

रजुआ की बात छिड़ने पर मेरी बीवी अवश्य हँस देती। मुस्करा कर उसने उत्तर दिया, "आजकल वह भगत बन गया है। बरन की बहू को उसके कृत्य की सज़ा देने को उसने दाढ़ी बढ़ा ली है और रोज़ाना शनीचरी देवी पर जल चढ़ाता है।"

"क्या मतलब ?" मेरी समझ में कुछ न आया। पत्नी ने बताना शुरू किया, "बात यह है कि रजुआ पिछले कुछ महीनों से रात को बरन की बहू के

यहाँ ही सोता था और उससे बुआ का रिश्ता भी उसने जोड़ लिया था। रजुआ दो-चार आने जो कुछ कमाता, वह अपनी बुआ के यहाँ जमा करता जाता। वह बताता है कि इस तरह करते-करते दस रुपये इकट्ठे हो गये थे। एक बार उसने बरन की बहू से अपने रुपये माँगे तो वह इनकार कर गयी कि उसके पास रजुआ की एक पाई भी नहीं। रजुआ के दिल को इतनी चोट लगी कि उसने दाढ़ी रख ली। वह कहता है कि जब तक बरन की बहू को कोढ़ न फूटेगा, वह दाढ़ी न मुँड़ायेगा। इसी काम के लिए वह शनीचरी देवी पर रोज़ जल भी चढ़ाता है।"

शनीचरी देवी का जहाँ तक सम्बन्ध है, मुझे अब ख़याल आया—शनीचरी अपने ज़माने की एक प्रचंड डोमिन थी। ताड़का की तरह लम्बी-तगड़ी और लड़ने-झगड़ने में उस्ताद। वह किसी से भी नहीं डरती थी और नित्य ही किसी-न-किसी से मोर्चा लेती थी। एक बार किसी लड़ाई में एक डोम ने शनीचरी की खोपड़ी पर एक लट्ठ जमा दिया, जिससे उसका प्राणान्त हो गया। लेकिन एक-डेढ़ हफ़्ते बाद ही उस डोम के चेचक निकल आयी और वह मर गया और लोगों ने उसकी मृत्यु का कारण शनीचरी देवी का प्रकोप समझा। डोमों ने श्रद्धा से उसका एक चबूतरा बना दिया और तब से वह छोटी जातियों में शनीचरी माता या शनीचरी देवी के नाम से प्रसिद्ध हो गयी थी।

मैं कुछ नहीं बोला, लेकिन पत्नी ने सम्भवतः कुछ उदास स्वर में कहा—"उसको आजकल थोड़ा बुखार रहता है। उसका विश्वास है कि बरन की बहू ने उस पर जादू-टोना कर दिया है। वह कहता है कि शनीचरी बहुत चलती देवी हैं। अरे, एक महीने में ही बरन की बहू फूट-फूट कर मरेगी।"

पता नहीं उसका ज्वर टूटा कि नहीं। मैंने जानने की कोशिश भी नहीं की। बीमार तो वह सदा ही का था। सोचा, शायद उतर गया हो, क्योंकि काम तो वह उसी तरह कर रहा था। हाँ, बीच में उसके चेहरे पर जो चुस्ती और ख़ुशी चमक-चमक उठती थी, वह तिरोहित हो गयी थी। न वह उतना चहकता था, न उतना बोलता था। अपेक्षाकृत वह अधिक गम्भीर और सुस्त हो गया था।

उसकी रुचि धर्म की ओर मुड़ गयी और शनीश्चरी देवी की मनौती मानते-मानते वह अच्छा भला भगत बन बैठा।

मेरे घर के सामने सड़क की दूसरी ओर क्वार्टर में एक पंडित जी रहते हैं जो तो वे लकड़ियाँ बेचते हैं, लेकिन साथ साथ सत्तू, नमक, तेल वग़ैरह भी रखते हैं। फलस्वरूप उनके यहाँ इक्के ताँगे वालों और गाड़ीवानों की भीड़

लगी रहती है, जो पंडित जी के यहाँ से सत्तू लेकर अपनी भूख मिटाते हैं और उनकी दुकान के छायेदार नीम के नीचे पाँच-दस मिनट विश्राम करते हुए ठट्ठा-मज़ाक भी करते हैं। रात को वहीं उनकी मजलिस लगती है।

उस रात गर्मी इतनी थी कि आँगन में दम घुटा जा रहा था। मैं खाने के पश्चात चारपाई को घसीटते हुए लगभग सड़क के किनारे ले गया, उमस तो वहाँ भी थी, पर अपेक्षाकृत शान्ति मिली।

मुझे लेटे हुए अभी दो-चार मिनट ही बीते होंगे कि पंडितजी की दुकान से आती हुई एक आवाज़ सुनायी पड़ी, "तो का हो रज्जू भगत, गोसाईं जी का कह गये हैं? महावीर जी समुन्दर में कूदते हैं तो ताड़का महरानी का कहती है?"

"सुनो सुनो," प्रश्नकर्त्ता की बात के उत्तर में रजुआ (शायद वह भगत कहलाने लगा था) तत्काल जोश से ऐसे बोला कि जैसे उसे आशंका हो कि यदि वह देर कर देगा तो कोई दूसरा ही बता देगा—"बजरंगबली बड़े जबर थे। समुन्दर में कुछ दूर तक वह तैर लेते हैं तो उनको ताड़का महरानी मिलती हैं। ताड़का महरानी अपना रूप दिखाती हैं तो बजरंगबली किससे कम हैं? ए मियाँ एड़े तो हम तुमसे ड्योढ़े, बजरंगबली भी उतने ही बड़े हो जाते हैं। इसके बाद ताड़का महरानी और बड़ी हो जाती हैं तो बजरंगबली मच्छर बन कर ताड़का महरानी के कान से बाहर निकल आते हैं।"

"तो का हो रज्जू भगत, गान्ही महात्मा भी तो जेहल से निकल आते हैं।" किसी दूसरे ने पूछा।

रजुआ ने और भी जोश से बताया—"सुनो सुनो, गान्ही महात्मा को सरकार जब जेहल में डाल देती है तो एक दिन क्या होता है कि सभी सिपाही-प्यादा के होते हुए भी गान्ही महात्मा जेहल से निकल आते हैं और सबकी आँख पर पट्टी बँधी रह जाती है। गान्ही महात्मा सात समुन्दर पार करके जब देहली पहुँचते हैं तो सरकार उन पर गोली चलाती है। गोली गान्ही महात्मा की छाती पर लग कर सौ टुकड़े हो जाती है और गान्ही महात्मा आसमान में उड़ कर गायब हो जाते हैं।"

इसके पूर्व महात्मा गांधी की मृत्यु का ऐसा दिलचस्प किस्सा मैंने कभी नहीं सुना था, यद्यपि गांधीजी की हत्या हुए चार वर्ष गुज़र गये थे।

उसकी चर्चा जैसे-जैसे बढ़ती गयी रजुआ के भक्ति-योग का समाचार भी फैलता गया। निचले तबके के लोगों में अब वह 'रज्जू भगत' के नाम से पुकारा

जाने लगा। बड़े लोगों में भी कोई-कोई कभी-कभी हँसी-मज़ाक में उसको इसी नाम से सम्बोधित करता, लेकिन उनके रहने पर वह शरमा कर हँसते हुए चला जाता। पर छोटी जातियों के समाज में वह कुछ-न-कुछ ऐसी कह गुज़रता जो सबसे अलग होती। अक्सर उनकी मजलिसें रात को पंडित की दुकान के आगे जमतीं और रजुआ उनसे राम जी सीता जी की चर्चा करता, भूत-प्रेत, बरन-डीह के महत्व पर प्रकाश डालता और झाड़-फूँक, मन्त्र-जप की महत्ता समझाता। वे नाना प्रकार की शंकाएँ प्रकट करते और रजुआ उनका समाधान करता।

लेकिन इतनी धार्मिक चर्चाएँ करने, शनीचरी देवी पर जल चढ़ाने तथा दाढ़ी रखने के बावजूद उसकी मनोकामना पूरी न हुई। उल्टा वह स्वयं बीमार पड़ गया।

शाम को मैं दफ़्तर से लौटा ही था कि बीवी ने चिन्तातुर स्वर में सूचना दी, "अरे जानते नहीं, रजुआ को हैज़ा हो गया है।"

उन दिनों गर्मी अपनी चरम-सीमा पर थी और गड्ढे तथा बमपुलिस की गली में, जो शहर के अत्यधिक गन्दे स्थान थे, हैज़े की कई घटनाएँ हो गयी थीं। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि रजुआ को हैज़ा न होता तो और किसको होता?

"ज़िन्दा है या मर गया?" मैंने उदासीन स्वर में पूछा।

मेरी पत्नी ने अफ़सोस प्रकट करते हुए कहा—"क्या बतायें, मेरा दिल छटपटा कर रह गया। वहीं खण्डहर में पड़ा हुआ है। कै दस्त से पस्त हो गया है। लोग बताते हैं कि आध-एक घंटे में मर जायगा।"

"कोई दवा-दारू नहीं हुई?"

"कौन उसका सगा बैठा है जो दवा दारू करता? शिवनाथ बाबू के यहाँ काम कर रहा था, पर जहाँ उसको एक कै हुई कि उन लोगों ने उसको अपने यहाँ से खदेड़ दिया। फिर वह रामजी मिसर के ओसारे में जाकर बैठ गया, लेकिन जब उन लोगों को पता लगा तो उन्होंने भी उसको भगा दिया। उसके बाद वह किसी के यहाँ नहीं गया, बल्कि आकर खण्डहर में पेड़ के नीचे पड़ गया।"

मैंने व्यंग्य किया, "तुमने अपने यहाँ क्यों न बुला लिया?"

पत्नी को यह आशा नहीं थी कि मैं ऐसा प्रश्न करूँगा, इसलिए स्तम्भित होकर मुझे देखने लगी। अन्त में बिगड़ कर बोली, "मैं उसे यहाँ बुलाती?

कैसी बात करते हैं आप ? मेरे भी बाल-बच्चे हैं, भगवान न करें, उनको कुछ हो गया तो !"

मैं हँस पड़ा, फिर उठ कर खड़ा हुआ, "ज़रा देख आऊँ।" दरवाज़े की ओर बढ़ता हुआ मैं बोला।

"आपके पैरों पड़ती हूँ, उसको छुइएगा नहीं और झटपट चले आइएगा।" पत्नी गिड़गिड़ाने लगी।

जब मैं खण्डहर में पहुँचा तो दो-तीन व्यक्ति सड़क के किनारे खड़े होकर रजुआ को निहार रहे थे। वे मुहल्ले के नहीं, बल्कि रास्ते चलते मुसाफ़िर थे, जो रजुआ की दशा देख कर अकर्मण्य दया एवं उत्सुकता से वहाँ खड़े हो गये थे।

"रजुआ ?" मैंने निकट पहुँच कर पूछा।

लेकिन उसको किसी बात की सुध-बुध न थी। वह पेड़ के नीचे एक गन्दे अंगोछे पर पड़ा हुआ था और उसका शरीर कै-दस्त से लथपथ था। उसकी छाती की हड्डियाँ और उभर आयी थीं, पेट तथा आँखें पिचक कर धँस गयी थीं और गालों में गड्हे बन गये थे। उसकी आँखों के नीचे गहरे काले गड्हे दिखायी दे रहे थे और उसका मुँह कुछ खुला हुआ था। पहले देखने से ऐसा मालूम होता था कि वह मर गया है, लेकिन उसकी साँस धीमे-धीमे चल रही थी।

मैं कुछ निश्चय न कर पा रहा था, क्या किया जाय कि न मालूम कहाँ से शिवनाथ बाबू मेरी बगल में आकर खड़े हो गये और धीरे-से उन्होंने अपनी सम्मति भी प्रगट की, "ही काण्ट सरवाइव—ये बच नहीं सकता।"

मैंने तेज़ दृष्टि से उनको देखा, शिवनाथ बाबू पर तो मुझे ग़ुस्सा आ ही रहा था, लेकिन अपने ऊपर भी कम झुँझलाहट न थी। कभी जी होता था कि जाकर घर बैठ रहूँ, जब और लोगों को मतलब नहीं तो मुझे ही क्या पड़ी है ! लेकिन उसे यों अपनी आँखों के सामने मरते हुए भी नहीं देखा जाता था। लेकिन मैं उसका इलाज भी क्या करवा सकता था ? मैं सौ रुपये वेतन पाता था, इसके अलावा महीने का अंतिम सप्ताह था, मेरे पास एक भी पाई नहीं थी। पर उसे अस्पताल भी तो भिजवाया जा सकता है ? अचानक मन में विचार कौंधा, मेरी झुँझलाहट जैसे अचानक दूर हो गयी और मैं घूम कर तेज़ी से अस्पताल रवाना हो गया।

अस्पताल पहुँच कर मैंने सम्बन्धित अधिकारियों को सूचित किया। वहाँ से अस्पताल की मोटर गाड़ी पर बैठ कर मैं स्वयं साथ आया। रजुआ की साँस अब

भी चल रही थी। अस्पताल के दो मेहतरों ने, जो साथ आये थे, उसको खींच कर गाड़ी पर लाद दिया। जब गाड़ी चली गयी तो मैंने सन्तोष की साँस ली जैसे मेरे सर से कोई बड़ा बोझ हट गया हो।

यद्यपि सबकी यही राय थी कि रजुआ बच नहीं सकता, परन्तु वह मरा नहीं। यदि अस्पताल पहुँचने में थोड़ा भी विलम्ब हो गया होता तो बेशक काल के गाल से उसकी रक्षा न हो पाती। अस्पताल में वह चार-पाँच दिन रहा, फिर वहाँ से बरख़ास्त कर दिया गया।

किन्तु उसकी हालत बेहद ख़राब थी। वह एक-दम दुबला हो गया था। मुश्किल से चल पाता और जब बोलता तो हाँफने लगता। न मालूम क्यों, वह अस्पताल से सीधे मेरे घर ही आया। यद्यपि मेरी पत्नी को उसका आना बहुत बुरा लगा, लेकिन मैंने उससे कह दिया कि दो-चार दिन उसे पड़ा रहने दे, फिर वह अपने आप ही इधर-उधर आने-जाने तथा काम करने लगेगा।

वह चार-पाँच दिन रहा, खाने को कुछ-न-कुछ पा ही जाता। वह कोई-न-कोई काम करने की भी कोशिश करता, पर उससे होता नहीं। किसी को घर में बैठ कर मुफ़्त खिलाना मेरी श्रीमती जी को बहुत बुरा लगता था, परन्तु सबसे बड़ा भय उसको यह था कि उसके रहने से घर में किसी को हैज़ा-वैज़ा न हो जाय।

और एक दिन घर आने पर रजुआ नहीं दिखायी पड़ा। पूछने पर बीवी ने बताया कि वह अपनी तबियत से पता नहीं कब कहीं चला गया।

वह कहीं गया न था, बल्कि मुहल्ले ही में था। लेकिन अब वह बहुत कम दिखायी पड़ता। मैंने उसको एक-दो बार सड़क पर पैर घिसट-घिसट कर जाते हुए देखा। सम्भवतः वह अपना पेट भरने के लिए कुछ-न-कुछ करने का प्रयत्न कर रहा था।

और फिर एक दिन मैंने उसे खंडहर में पुनः पड़ा पाया।

शिवनाथ बाबू अपने दरवाज़े पर बैठे अपने शरीर में तेल की मालिश कर रहे थे। मैंने उनसे जाकर नमस्कार करते हुए प्रश्न किया, "रजुआ खण्डहर में क्यों पड़ा हुआ है, उसे फिर हैज़ा हुआ है क्या?"

शिवनाथ बाबू बिगड़ गये, "गोली मारिए साहब, आख़िर कोई कहाँ तक करे? अब साले को खुजली हुई है। जहाँ जाता है, खुजलाने लगता है। कौन उससे काम कराये। फिर काम भी तो वह नहीं कर सकता, साहब! अभी दो-तीन रोज़ की बात है, मैंने कहा एक गगरा पानी ला दो। गया ज़रूर, लेकिन कुएँ से

उतरते समय गिर गये बच्चू। पानी तो खराब हुआ ही, गगरा भी टूट-पिचक गया। मैंने तो साफ़-साफ़ कह दिया कि मेरे घर के अन्दर पैर न रखना, नहीं तो पैर तोड़ दूँगा। ग़रीबों को देख कर मुझे भी दया-माया सताती है, पर अपना भी तो देखना है।"

बगल के कालिकाराम सोनार के लड़के चन्द्रदीप अपने दरवाज़े पर खड़े थे। रघुआ की बात हो रही है, यह सुन कर पास सरक आये और उन्होंने अपनी अमूल्य सम्मत्ति प्रकट की, "ऐसे लोगों को तो गोली मार देनी चाहिए! उनको मरना तो है ही, लेकिन क्यों उन्हें इस तरह तकलीफ़ सह कर मरने दिया जाय। क्यों न उनकी मौत को आसान बना दिया जाय। गान्धी जी ने भी एक बन्दर को ज़हर दिलवा दिया था कि नहीं?"

मैंने मूर्ख की भाँति मुस्करा कर उनको देखा।

शिवनाथ बाबू और जोश से बोले, "साहब, आप ने बात मेरे मुँह से छीन ली। इन सब ग़रीबों का प्रबन्ध सरकार को करना चाहिए। सरकार को तो कुछ करना है नहीं। धनी, सेठ-साहूकारों के लिए तो वह न मालूम क्या-से-क्या नहीं करती, लेकिन जब लाखों ग़रीब लोग भूख से मरने-बिलाने लगते हैं तो उसके कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। फिर हम-आप क्या कर सकते हैं, हम सरकार तो हैं नहीं।"

मैं कुछ नहीं बोला और चुपचाप घर लौट आया। इस बार मेरी हिम्मत नहीं हुई कि जाकर उसे देखूँ या उससे हाल-चाल पूछूँ।

घर आकर मैंने पत्नी से पूछा, "तुमने रघुआ से कुछ कहा-सुना तो नहीं था?" मुझे शक था कि बीवी जी ने ही उसको भगा दिया होगा और इसीलिए वह मेरे घर नहीं आता। मेरी बात सुन कर श्रीमती जी अचकचा कर मुझे देखने लगीं फिर तिनक कर बोलीं, "क्या करती, रोग को पालती? कोई मेरा भाई-बंधु तो नहीं?"

मैं चुप ही रहा। क्या कहता?

रघुआ को भयंकर खुजली हो गयी थी, लेकिन उसने मुहल्ला नहीं छोड़ा। वह अक्सर खण्डहर में बैठ कर अपने शरीर को खुजलाता रहता। खाने की आशा से वह इधर-उधर चक्कर भी लगाता। कभी-कभी वह मेरे घर के सामने लकड़ी वाले पंडित के यहाँ आता और पंडित जी थोड़ा सत्तू दे देते। मैंने भी एक-दो बार अपने लड़के के हाथ खाना भिजवा दिया। इस तरह उसके पेट का पालन होता रहा। उसका चेहरा भयंकर हो गया था। एकदम पीला और हाथ-पैर जली

हुई रस्सी की तरह ऐंठे हुए! वह बाहर कम ही निकलता और जब निकलता तो उसको देख कर एक अजीब दहशत सी लगती, जैसे कोई नर-कंकाल चल रहा हो।

असाढ़ चढ़ गया था और बरसात का पहला पानी पड़ चुका था। शनिवार का दिन था, सबेरे लगभग आठ बजे मैं दफ़्तर का काम ले कर बैठ गया। लेकिन तबियत लगी नहीं। बाहर नाली में वर्षा का पानी पूरे वेग से दौड़ रहा था और शरीर पर पुरवाई के झोंके आ-आ लगते, जिस से मैं एक मधुर सुस्ती का अनुभव कर रहा था। मैंने कलम मेज़ पर रख दी और कुर्सी पर सिर टेक कर ऊँघने लगा।

यदि एक आहट ने चौंका न दिया होता तो मैं सो भी जाता। मैंने आँखे खोल कर बाहर झाँका। बाहर ओसारे में खड़ा एक तेरह-चौदह वर्ष का लड़का कमरे में झाँक रहा था। लड़के के शरीर पर एक गन्दी धोती थी और चेहरा मैला था।

मुझे सन्देह हुआ कि वह कोई चोर-चाई है, इसलिए मैंने डपट कर पूछा "कौन है रे, क्या चाहता है?"

लड़का दुबक कर कमरे में घुस आया और निधड़क बोला, "सरकार, रजुआ मर गया। उसी के लिए आया हूँ।" अन्त में हँस पड़ा।

"मर गया? कब मरा, कहाँ मरा?" मैंने साश्चर्य मुँह बा कर एक ही साथ उससे कई प्रश्न किये।

लड़के ने फिर हँसते हुए कहा, "हाँ सरकार, मर गया। मालिक, इस कारड पर उसके गाँव एक चिट्ठी लिख दीजिए।"

मैंने इसके आगे रजुआ के सम्बन्ध में कुछ न पूछा। मैं अचानक डर गया कि यदि मैंने मामले में अधिक दिलचस्पी दिखायी तो हो सकता है कि मुझे उसकी लाश फूँकने का भी प्रबन्ध करना पड़े।

लड़के के हाथ में एक पोस्टकार्ड था, जिसको लेते हुए मैंने सवाल किया—"इस पर क्या लिखना होगा? उसके गाँव का क्या पता है?"

"मालिक, रामपुर में भजनराम बरई के यहाँ लिखना होगा। लिख दीजिए कि गोपाल मर गया।" लड़के की आवाज़ कुछ और ढीठ हो गयी थी।

"गोपाल!"

"जी, वहाँ तो उस का यही नाम है।"

मैंने पोस्टकार्ड पर तेज़ी से मज़मून तथा पता लिखा और पत्र को लड़के के हवाले कर दिया।

मैं लड़के से पूछना चाहता था कि तू कौन है? रजुआ कहाँ मरा? उसकी लाश कहाँ है? परन्तु मैं कुछ नहीं पूछ सका जैसे मुझे काठ मार गया हो।

मैं सच कहता हूँ, रजुआ की मृत्यु का समाचार सुन कर मेरे हृदय को अपूर्व शान्ति मिली, जैसे दिमाग़ पर पड़ा हुआ बहुत बड़ा बोझ हट गया हो। उसको देख कर मुझे सदा घृणा होती थी और कभी-कभी यह सोच कर कष्ट होता था कि इस व्यक्ति ने सदा ऐसे प्रयास किये, जिससे इसको भीख न माँगनी पड़े। और उसको भीख माँगनी भी पड़ी है तो इसमें उसका दोष कतई नहीं रहा है। मैंने उसकी दशा देख कर कई बार क्रोध-वश सोचा है कि यह कम्बख्त एक ही मुहल्ले से क्यों चिपका हुआ है? घूम-घूम कर शहर में भीख क्यों नहीं माँगता? मुझे कभी-कभी लगता है कि वह किसी का मुहताज न होना चाहता था और इसके लिए उसने कोशिश भी की, जिसमें वह असफल रहा। चूँकि वह मरना न चाहता था, इसलिए जोंक की तरह ज़िन्दगी से चिमटा रहा। लेकिन लगता है, ज़िन्दगी स्वयं जोंक सरीखी उससे चिमटी थी और धीरे-धीरे उसके रक्त की अंतिम बून्द तक पी गयी।

रजुआ को मरे तीन-चार दिन हो गये थे। सारे मुहल्ले में यह समाचार उसी दिन फैल गया था, जिसको सुन कर शिवनाथ बाबू तथा चन्द्रदीप मेरे यहाँ दौड़ते हुए आये। उन्होंने अफ़सोस प्रकट किया और शिवनाथ बाबू ने तो यहाँ तक कह डाला कि चाहे जो हो, आदमी वह ईमानदार था।

मैं क्या कहता। चुप बना रहा।

रात के साढ़े आठ बजे थे और मैं अपने बाहरी ओसारे में बैठा था। आसमान में बादल छाये थे और सारा वातावरण इतना शान्त था जैसे किसी षड्यन्त्र में लीन हो। बगल की चौकी पर रखी धुँधली लालटेन कभी-कभी चकमक कर उठती और उसके चारों ओर उड़ते पतंगे कभी कमीज़ के अन्दर घुस जाते, जिससे तबियत एक असह्य खीझ से भर उठती।

मैं भीतर जाने के उद्देश्य से उठा कि सामने छाया देख कर एकदम डर गया। रजुआ की शक्ल का एक नर-कंकाल भीतर चला आ रहा था। सच कहता हूँ यदि मैं भूत-प्रेत में विश्वास करता तो चिल्ला उठता—"भूत-भूत!"

मैं आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहा था। नर-कंकाल धीरे-धीरे घिसटता बढ़ा आ रहा था। यह तो रजुआ ही था—ठठरी मात्र! क्या वह ज़िन्दा है?

वह मेरे निकट आ गया और सम्भवतः मेरी परेशानी भाँप कर बोला—"सरकार मैं मरा नहीं हूँ, ज़िन्दा हूँ।" अन्त में वह सूखे होठों में हँसने लगा।

"तब वह लड़का क्यों आया था?" मैंने गम्भीरतापूर्वक प्रश्न किया।

उसने पहले दाँत निपोर दिये फिर बोला, "सरकार वह गुदड़ी बाज़ार के बचनराम का लड़का है। मैंने ही उसको भेजा था। बात यह हुई सरकार कि मेरे सर पर एक कौआ बैठ गया था। हजूर कौए का सर पर बैठना बहुत अनसुभ माना जाता है। उससे मौअत आ जाती है।"

"फिर गाँव पर चिट्ठी लिखने का क्या मतलब?" मेरी समझ में अब भी कुछ न आया था।

उसने समझाया, "सरकार यह मौअत वाली बात किसी सगे-सम्बन्धी के यहाँ लिख देने से मौअत टल जाती है। भजनराम बरई मेरे चाचा होते हैं। मालिक एक और कारड है, इस पर लिख दें सरकार कि गोपाल ज़िन्दा है, मरा नहीं।"

मैंने पूछना चाहा कि तू क्यों नहीं आया, लड़के को क्यों भेज दिया। लेकिन यह सब व्यर्थ था। सम्भवतः उसने सोचा हो कि उसका मतलब कोई न समझे और लोग बात को मज़ाक समझ कर कहीं दुरदुरा न दें।

मैंने पोस्टकार्ड लेकर उस पर उसकी इच्छानुसार लिख दिया।

पोस्टकार्ड लौटाते समय मैंने उसके चेहरे को ग़ौर से देखा। उसके मुख पर मौत की भीषण छाया नाच रही थी और वह ज़िन्दगी से जोंक की तरह चिमटा था— लेकिन जोंक वह था या ज़िन्दगी? वह ज़िन्दगी का ख़ून चूस रहा था या ज़िन्दगी उसका?— मैं तय न कर पाया।

जानवर और जानवर

मोहन राकेश

नयी मैट्रन का नाम अनिता मुकर्जी था और उसकी आँखें बहुत अच्छी थीं। लेकिन वह आंट सैली की जगह पर आयी थी, इसलिए पहले दिन 'बैचलर्ज़-डाइनिंग-रूम', में किसी ने भी उससे खुल कर बात नहीं की।

उसने जॉन से बात करने की चेष्टा की तो वह 'हूँ-हाँ' में उत्तर दे कर टालता रहा। मणि नानावती को वह अपनी चायदानी में से चाय देने लगी तो उसने हल्का-सा धन्यवाद दे कर मना कर दिया। पीटर ने अपना चेहरा ऐसे गम्भीर बनाये रखा जैसे उसे बात करने की आदत ही न हो। किसी तरफ़ से लिफ़्ट न मिलने पर वह भी चुप हो गयी और जल्दी से खाना समाप्त कर के उठ गयी।

"अब मेरी समझ में आ रहा है कि पादरी ने सैली को क्यों निकाल दिया," वह चली गयी तो जान ने अपनी भूरी आँखें पीटर के चेहरे पर स्थिर कर के कहा।

पीटर की आँखें नानावती से मिलीं। नानावती दूसरी ओर देखने लगी।

वैसे उन लोगों में से कोई नहीं जानता था कि आंट सैली को फ़ादर फ़िशार ने क्यों निकाल दिया। उस के जाने के दिन से ही जॉन मुँह-ही-मुँह बड़बड़ा कर अपना असंतोष प्रकट करता रहता था। पीटर भी उसके साथ ऊँचे-ऊँचे कुछ कहता था। उनमें से कोई नहीं जानता था कि कल किस के निकाले जाने की बारी होगी।

"चल कर एक दिन सब लोग पादरी से बात क्यों नहीं करते?" एक बार हकीम ने सुझाव दिया।

जॉन ने पीटर को आँख मारी और वे दोनों चुप रहे। दूसरे दिन सुबह पादरी के सिर दर्द की ख़बर पा कर हकीम उसकी मिज़ाजपुर्सी के लिए गया तो

जॉन ने पीटर से कहा, "ए देखा ! पहुँच गया न उसके तलुवे चाटने ! सन आव् ए गन ! हमें उल्लू बनाता था।"

आंट सैली के चले जाने से बैचलर्ज़ डाइनिंग-रूम का वातावरण बहुत रूखा हो गया था। आंट सैली के रहते वहाँ के वातावरण में बहुत घरेलूपन-सा रहता था—सर्दी में तो खास तौर पर आंटी के बीच में आ बैठने से वह कमरा एक परिवार का भरा-पूरा घर लगने लगता था। वह अपनी झुकी हुई कमर पर हाथ रखे हुए बाहर से ही बोलती हुई आती—"पीटर के लिए आज मग़ज़ का शोरबा बना है या वह मेरा ही मग़ज़ खायेगा !"

"...हो हो हो ! मुझे नहीं पता था कि आज मगि इस तरह ग़ज़ब ढा रही है, नहीं तो मैं भी ज़रा सज-सँवर कर आती।"

ऐसे मौके पर पाल उसके सफ़ेद बालों पर बँधे लाल या नीले रंग के फ़ीते की ओर संकेत कर के कहता, "आंटी, यह फ़ीता बाँध कर तुम बिलकुल दुलहिन जैसी लगती हो।"

"अच्छा, दुलहिन जैसी लगती हूँ ! तो कौन करेगा मुझसे शादी ? तुम करोगे ?" और उसकी आँखें मिच जातीं, ओठ फैल जाते और उसके गले से छलछलाती हुई हँसी का स्वर सुनायी देता।

एक बार पीटर ने कहा, "आंटी, पाल कह रहा था कि वह आज-कल में तुमसे ब्याह के लिए प्रस्ताव करने वाला है।"

आंटी ने चेहरा ज़रा तिरछा करके आँखें पीटर के चेहरे पर स्थिर किये हुए उत्तर दिया, "तो मुझे और क्या चाहिए ? मुझे एक साथ पति भी मिल जायगा और बेटा भी।" और फिर वही हँसी, जैसे पानी के वेग में छोटे-छोटे पत्थर फिसलते चले जायँ।

आंट सैली के चले जाने से अकेले लोगों का वह परिवार बिलकुल उखड़ गया था। कुछ दिन पहले इसी तरह मीरासी चला गया था। उसके बाद फिर पाल की छुट्टी कर दी गयी थी। मीरासी तो ख़ैर बिगड़ैल आदमी था मगर पाल को बैचलर्ज़ डाइनिंग-रूम के बैचलर्ज़—जिनमें दो स्त्रियाँ भी शामिल थीं—बहुत चाहते थे। हालाँकि जॉन को पाल का अंग्रेज़ी फ़िल्मों के बटलर की तरह अकड़ कर चलना पसन्द नहीं था, और उन दोनों की प्रायः आपस में झड़प हो भी जाती थी; फिर भी उसकी पीठ के पीछे वह उसकी प्रशंसा ही करता था। जिस दिन पाल चला गया, उस दिन जॉन खिड़की के पास बैठा सिर हिला कर पीटर से कहता रहा, "अच्छा हुआ जो यह लड़का यहाँ से चला गया। अभी तो यह बाहर जाकर

कुछ बन जायगा, वर्ना यहाँ रह कर वह क्या बनता ? तुम भी जवान आदमी हो, तुम यहाँ किस लिए पड़े हुए हो ?"

और पीटर घड़ी को चाबी देता हुआ चुपचाप दीवार को देखता रहा ।

पाल और मीराशी के निकाले जाने की वजह का तो ख़ैर सब को पता था । मीराशी का बिलकुल सीधा अपराध था कि उस ने फ़ादर फ़िशर के माली को पीट दिया था । पाल का अपराध दूसरी तरह का था । उस ने आवारा नस्ल का एक हिन्दुस्तानी कुत्ता पाल लिया था, जिसे वह हर समय अपने साथ लिये फिरता था । हालाँकि कुत्ते में कोई ऐसी ख़ासियत नहीं थी, बहुत सादा सी सूरत, फीका बादामी रंग और लम्बूतरा सा उस का क़द था, फिर भी क्योंकि पाल ने उसे पाला था इसलिए वह उसे बहुत लाड़ से रखता था । उसने उस का नाम 'बेबी' रख छोड़ा था और कई बार उसे बग़ल में उठाये हुए खाना खाने जाता था । जल्दी ही बेबी बैचलर्ज़ डाइनिंग-रूम में खाना खाने वाले सब लोगों का बेबी बन गया, एक मिस नानवती को छोड़ कर, जो उस की सूरत देखते ही घबरा जाती थी । घबराहट में उस के चेहरे का रंग सुर्ख़ हो जाता था और उस का नाटा छरहरा शरीर अपने काबू में नहीं रहता था । एक बार बेबी उस के हाथ में हड्डी देख कर उस के घुटने पर चढ़ने की कोशिश करने लगा तो वह घबरा कर कुर्सी पर खड़ी हो गयी और दोनों हाथ हवा में हिलाती हुई चिल्लाने लगी, ओई ओई, हिश् ! गो अवे, गो अवे ! प्लीज़ पाल, टेक हिम अवे ! प्लीज़......

पाल पुलाव का चम्मच मुँह के पास रोक कर धूर्तता के साथ मुस्कराया और बेबी को डाँट कर बोला, "चल इधर बेबी ! क्यों ख़ानदान को बदनाम करता है ?"

मगर बेबी को हड्डी का कुछ ऐसा शौक था कि वह डाँट सुन कर भी नहीं हटा । वह नानावती की कुर्सी पर चढ़ कर, उस के जिस्म के सहारे खड़ा होने की चेष्टा करने लगा । इस जद्दोजहद में नानावती कुर्सी से गिरने ही जा रही थी कि पाल ने जल्दी से उठ उसे बग़ल से दबोच कर नीचे उतार दिया । फिर उस ने बेबी को दो चपत लगायीं और उसे कान से खींचता हुआ अपनी कुर्सी के पास ले आया । बेबी पाल की टाँगों के आसपास मँडराने लगा ।

"मेरा सारा ब्लाउज़ ख़राब कर दिया !" नानावती हाँफती हुई रूमाल से अपना ब्लाउज़ साफ़ करने लगी । उस के उभार पर एकाध जगह बेबी का मुँह छू गया था ।

बेबी पाल के घुटने से अपनी नाक रगड़ने लगा। पाल ने उस की पीठ सहलाते हुए कहा, "नॉटी चाइल्ड! ऐसा भी क्या मजाक कि इंसान एटिकेट तक भूल जाय......!"

पीटर की तरफ देख कर जॉन मुस्कराया। नानावती भड़क कर बोली, "देखो पाल, मुझे इस तरह का मज़ाक क़तई पसन्द नहीं।" क्रोध से उस का चेहरा तमतमा आया। यदि वह और शब्द बोलती तो शायद साथ ही रो देती।

परन्तु उसे गम्भीर देख कर भी पाल गम्भीर नहीं हुआ। बोला, "मुझे खुद ऐसा मज़ाक पसन्द नहीं मादाम! मैं इस की हरकत के लिए बहुत शर्मिन्दा हूं।" और उस के निचले ओंठ पर हल्की-सी मुस्कराहट आ गयी।।

नानावती क्षण भर रुँधे हुए आवेश के साथ पाल को देखती रही। फिर अपना नेपकिन मेज़ पर फेंक कर वह तेज़ी से उठी और कमरे से चली गयी। उस के जाते ही जॉन ने अपनी भूरी आँखें फैला कर सिर हिलाया और कहा, "आज तुम्हारे साथ कुछ-न-कुछ हो कर रहेगा। वह अब सीधी शुतुरमुर्ग़ के पास शिकायत करने गयी है......कुतिया!"

परन्तु नानावती ने कोई शिकायत नहीं की, बल्कि दूसरे दिन सुबह उसने पाल से अपने व्यवहार के लिए माफ़ी माँग ली। जॉन को अपनी भविष्यवाणी के ग़लत निकलने का खेद तो हुआ, पर इससे नानावती के प्रति उस का व्यवहार पहले से बदल गया। उसने उसकी अनुपस्थिति में उसके लिए वेश्यावाचक विशेषणों का प्रयोग करना बंद कर दिया। यहाँ तक कि एक दिन वह हिचकॉक के साथ इस सम्बन्ध में विचार करता रहा कि इतनी अच्छी और मेहनती लड़की को उसके पति ने घर से क्यों निकाल रखा है।

नानावती ने भी उसके बाद बेबी को देखते ही 'ओई-ओई, हिश्' करना बंद कर दिया। गाहे-ब-गाहे वह उसे देख कर मुस्करा भी देती। एक बार तो उसने बेबी की पीठ पर हाथ भी फेर दिया, यद्यपि हाथ फेरते-फेरते वह सिर से पैर तक सिहर गयी।

बैचलर्ज़ डाईनिंग-रूम में पाल के ज़ोर-ज़ोर के क़हक़हे रात को दूर तक सुनायी देते थे। बेबी को लेकर नानावती से तरह-तरह के मज़ाक किये जाते। मज़ाक सुन कर जॉन की भूरी आँखों में चमक आ जाती और वह सिर हिलाता हुआ मुस्कराता रहता।

मगर एक दिन सुबह चैप्लर्ज़ डाइनिंग-रूम में सुना गया कि रात को फ़ादर फ़िशर ने बेबी को गोली से मार दिया है।

जॉन अपनी चुँधियायी हुई आँखों को मेज़ पर स्थिर किये चुपचाप ऑमलेट काट कर खाता रहा। नानावती का छुरी वाला हाथ ज़रा-ज़रा काँपने लगा। एक बार सहमी हुई नज़र से पाल और पीटर को देख कर वह अपनी नज़रें प्लेट पर गड़ाये रही। पीटर स्लाइस का टुकड़ा काटने में इस तरह व्यस्त हो रहा जैसे बड़ा महत्वपूर्ण काम कर रहा हो।

"पाल अभी नहीं आया, ए?" जॉन ने किरपू से पूछा।

किरपू ने नमकदानी पीटर के पास से हटा कर जॉन के सामने रख दी और बोला—"नहीं।"

"वह आज आएगा? हिः!" जॉन ने आमलेट का बड़ा-सा टुकड़ा काट कर मुँह में भर लिया।

"बेज़बान जानवर को इस तरह मारने से...मैं कहता हूँ...मैं कहता हूँ..." आमलेट जॉन के गले में अटक गया।

किरपू चटनी की बोतल रखने के बहाने जॉन के कान के पास फुसफुसाया, "पादरी आ रहा है!"

सब की नज़रें प्लेटों पर जम गयीं। पादरी लबादा पहने, बाइबल लिये गिरजे की तरफ़ जा रहा था। वह खिड़की के पास से गुज़रा तो तीनों अपनी-अपनी कुर्सी से आधा-आधा उठ गये।

"गुड मॉर्निङ्ग होली फ़ादर!"

"गुड मॉर्निङ्ग माई सन्ज़!"

"आज अच्छा सुहाना दिन है!"

"परमात्मा का शुक्र करना चाहिए।"

पादरी खट्टी की बाड़ से आगे निकल गया तो जॉन बोला, "यह अपने आप को पादरी कहता है! संसार भर का चरित्र सुधारने के लिए सवेरे परमात्मा से प्रार्थना करेगा और रात को......हरामज़ादा!"

नानावती सिहर गयी।

"ऐसी गाली नहीं देनी चाहिए," वह दबे हुए और शंकित स्वर में बोली।

"तुम इसे गाली कहती हो?" जॉन आवेश के साथ बोला, "मैं कहता हूँ इस में ज़रा गाली नहीं है। तुम्हें इस की करतूतों का पता नहीं? यह पादरी है?"

नानावती का चेहरा फीका पड़ गया। उस ने शंकित दृष्टि से इधर-उधर देखा परन्तु चुप रही। जॉन के चौड़े माथे पर कई लकीरें खिंच गयी थीं। वह बोतल से चटनी उँडेलने लगा जैसे उसी पर सारा ग़ुस्सा निकाल लेना चाहता हो।

पीटर सारा समय खिड़की से बाहर की ओर देखता रहा।

डिंग डॉग! डिंग डाँग! गिरजे की घंटियाँ बजने लगीं। नानावती जल्दी से नेपकिन से मुँह पोंछ कर उठ खड़ी हुई और क्षण भर दुविधा में खड़ी रह कर सहसा बाहर चली गयी।

"चुहिया! कितना डरती है, ए?" जॉन बोला।

मिसेज मर्फी एटकिंसन के साथ बात करती हुई खिड़की के पास से निकल कर चली गयी। गिरजे की घंटियाँ लगातार बज रही थीं—डिंग डाँग! डिंग डाँग! डिंग डाँग!

जॉन जल्दी-जल्दी चाय के घूँट भरने लगा। जल्दी में चाय की कुछ बूँदें उस के गाउन पर गिर गयीं।

'गॉश!" वह प्याली रख कर रूमाल से गाउन साफ़ करने लगा।

"गिरजे नहीं चल रहे?" पीटर ने उठते हुए कहा।

जॉन ने जल्दी-जल्दी दो तीन घूँट भरे और शेष चाय छोड़ कर उठ खड़ा हुआ। दरवाज़े से उन के निकलते ही किरपू और ईसर सिंह में बचे हुए मक्खन के लिए छीना-झपटी होने लगी, जिस में वह प्याली गिर कर टूट गयी। हकीम और बैरो को आते देख कर ईसर सिंह जल्दी से भाग कर पैंट्री में चला गया और किरपू कपड़े से मेज़ साफ़ करने लगा।

हकीम कन्धे झुका कर चलता हुआ बैरो को रात की घटना सुना रहा था। डाइनिंग-रूम के पास आ कर उस का स्वर और भी धीमा हो गया, "यू सी, बेबी को डॉली के साथ देखते ही पादरी को एकदम ग़ुस्सा आ गया और वह अन्दर जा कर अपनी राइफ़ल निकाल लाया। एक ही फ़ायर में उस ने उसे चित कर दिया। डॉली कुछ देर बिटर-बिटर पादरी को देखती रही। फिर बाड़ के पीछे की तरफ़ भाग गयी।.... बाद में, सुना है पादरी ने उसे गर्म पानी से नहलवाया और डाक्टर बुला कर उस के इन्जेक्शन भी लगवाये......"

"कहाँ पादरी की बिस्कुट और सैंडविच खा कर पली हुई कुतिया और कहाँ बेचारा बेबी!" बैरो मुस्कराया।

"मगर उस बेचारे को क्या पता था !"

वे दोनों हँस दिये।

"बेबी को मालूम होता कि यह कुतिया कैनेडा से आयी है और इस की कीमत तीन सौ रुपया है तो शायद वह..."

और वे दोनों फिर हँस दिये।

"यह तो कल पादरी ने देख लिया, मगर इस से पहले अगर..."

बैरो ने हकीम को आँख मारी, वह सहसा चुप हो गया। बाड़ के मोड़ के पास जॉन और पीटर खड़े थे। पीटर अपने जूते का फ़ीता ठीक कर रहा था।

"गुड मार्निङ्ग पीटर !"

"गुड मार्निङ्ग बैरो !"

"आज बहुत चुस्त लग रहे हो। बाल आज ही कटाये हैं ?"

"नहीं, दो-तीन दिन हो गये।"

"बहुत अच्छे कटे हैं।"

"शुक्रिया।"

डिंग डाँग की आवाज़ रुक गयी। वे तेज़ी से बढ़ कर गिरजे के अन्दर चले गये।

पन्द्रहवाँ साम गाने के बाद प्रार्थना आरम्भ हुई। सब लोग घुटनों के बल हो कर और आँखों पर हाथ रख कर पादरी के साथ-साथ बोलने लगे :

—अवर फ़ादर, हू आर्ट इन हैवन, हैलोड बी दाई नेम, दाई किंगडम कम, दाई विल बी डन, इन दिस वर्ल्ड एज़ इन हैवन...

बैरो ने प्रार्थना करते हुए बीच में अपनी बीवी के कान के पास फुसफुसा कर कहा, "मेरी, तुम्हारा पेटीकोट दिखायी दे रहा है !"

मेरी एक हाथ आँखों पर रखे हुए दूसरे से अपना स्कर्ट नीचे सरकाने लगी।

—नाउ एंड फ़ार एवर मोर, आमेन !

गिरजे में उस दिन और उस से अगले दिन पाल की सीट ख़ाली रही। इस बात को लक्षित हर एक ने किया, मगर इस बारे में किसी ने भी दूसरे से बात नहीं की। पाल ईसाई नहीं था, मगर फ़ादर फ़िशर के आदेशानुसार स्टाफ़ के हर सदस्य का गिरजे में उपस्थित होना अनिवार्य था। जो ईसाई नहीं थे, उन का रोज़ आना और भी ज़रूरी था। पादरी गिरजे से निकलता हुआ उन लोगों की सीटों पर एक नज़र अवश्य डाल लेता था। तीसरे दिन भी पाल

अपनी सीट पर दिखायी नहीं दिया तो पादरी गिरजे से निकल कर सीधा स्टाफ़-रूम में पहुँच गया। वहाँ पाल एक कोने में मेज़ के पास खड़ा कोई मैगज़ीन देख रहा था। पादरी उसके पास पहुँच गया तो भी उस की तनी हुई गरदन में ख़म नहीं आया।

"गुड मार्निङ्ग पादरी!" वह क्षण भर के लिए आँख उठा कर फिर मैगज़ीन देखने लगा।

"तुम तीन दिन से गिरजे में नहीं आये!" उत्तेजना में पादरी का हाथ पीठ के पीछे चला गया, वह बहुत कठिनाई से अपने स्वर को संयत रख पाया था।

"जी हाँ, मैं तीन दिन से नहीं आया।" मैगज़ीन नीचे करके उसने गम्भीर दृष्टि से पादरी को देखा।

"मैं कारण जान सकता हूँ?"

"कारण कुछ भी नहीं।"

पादरी ने उत्तेजना के मारे बाइबल को दोनों हाथों में भींच लिया और माथे पर बल डाल कर कहा, "तुम जानते हो कि जो अच्छा-भला हो कर भी सुबह गिरजे में प्रार्थना करने नहीं आता, उसे यहाँ रहने का अधिकार नहीं है?"

क्रोध के मारे पाल के जबड़ों के पास माँस में खिंचाव आ गया था। उसने मैगज़ीन मेज़ पर रख कर हाथ जेबों में डाल लिये और बिलकुल सीधा खड़ा हो गया। बड़ी खिड़की के पास जॉन नज़र झुकाये बैठा था और आठ-दस लोग नोटिस बोर्ड और चिट्ठियों वाले रैक के आस-पास खड़े अपने को किसी-न-किसी तरह व्यस्त ज़ाहिर करने की चेष्टा कर रहे थे। उन में से किसी ने पाल के साथ आँख नहीं मिलायी। पाल का गला ऐसे काँपा जैसे वह कोई बहुत सख़्त बात कहने जा रहा हो।

"पादरी, हम गिरजे में जो प्रार्थना करते हैं, उसका कोई मतलब भी होता है?"

एक लकीर दूर तक खिंचती चली गयी। पादरी का चेहरा क्रोध से काला हो आया।

"तुम्हारे कहने का मतलब है..." उसके दाँत भिंच गये और वाक्य पूरा नहीं हुआ। नोटिस बोर्ड के पास खड़े लोगों के चेहरे फ़क हो गये।

"मेरा मतलब है पादरी कि रात को हम ग़रीब जानवरों को गोली से मारते हैं और सुबह गिरजे में जा कर उनकी रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, इससे कुछ मतलब निकलता है?"

पादरी पल भर ख़ून भरी आँखों से पाल को देखता रहा। उसकी साँस तेज़ हो आयी।

"मतलब निकलता है और वह यह कि हर जानवर एक-सा नहीं होता। जानवर और जानवर में फ़र्क होता है।" वह दाँत भींचे हुए पास के दरवाज़े से बाहर चला गया, हालाँकि उसके घर का रास्ता दूसरी ओर के दरवाज़े से था।

पंद्रह मिनिट बाद स्कूल का क्लर्क आ कर पाल को चिट्ठी दे गया कि उस दिन से उसे नौकरी से बरख़ास्त कर दिया गया है—वह चौबीस घंटे के अन्दर-अन्दर अपना क्वार्टर ख़ाली कर के चला जाय।

"यह पादरी नहीं, राक्षस है।" जान मुँह-ही-मुँह बड़बड़ाया।

पीटर को उस दिन शहर में काम हो गया, इसलिए वह रात को बहुत देर से लौट कर आया। हकीम और बैरो खेल के मैदानों की जाँच में व्यस्त रहे। नानावती को हल्का-सा ज्वर हो आया। पाल को चलते समय केवल जॉन ही अपने कमरे में मिला। वह अपनी खिड़की में रखे हुए गमलों को ठीक कर रहा था।

"जा रहे हो?" उसने पाल से पूछा।

"हाँ, तुमसे गुड बाई कहने आया हूँ।"

जान गमलों को छोड़ कर अपनी चारपाई पर आ बैठा।

"मैं जवान होता तो मैं भी तुम्हारे साथ चलता," उस ने कहा, "मगर मुझे यहाँ से निकल कर पता नहीं क़ब्र की राह भी मिलेगी या नहीं। मेरी हड्डियों में ज़ोर होता तो तुम देखते......"

पाल ने मुस्करा कर उसका हाथ दबाया और चल दिया।

"विश यू बेस्ट आफ़ लक!"

"थैंक यू!"

पाल के चले जाने पर दो-तीन दिन तक आंट सैली खाना अपने क्वार्टर में ही मँगाती रही। जॉन और पीटर भी अलग-अलग समय पर आते, जिससे उनमें मुलाक़ात बहुत कम हो पाती। नानावती पहले से भी अधिक सहमी हुई आती और जल्दी-जल्दी खाना खा कर चली जाती। फ़ादर फ़िशर ने उसे पाल वाला क्वार्टर दे दिया था, इसलिए शायद वह अपने को कुछ अपराधिनी भी महसूस करती थी। जॉन ने उसके बारे में अपनी राय फिर बदल ली थी।

मगर धीरे-धीरे स्थिति फिर पुराने स्तर पर आने लगी, बैचलर्ज़ डाइनिंग-रूम

में फिर क़हक़हे और बहस मुबाहिसे सुनायी देने लगे। मगर तीन महीने बाद, एक रात सुना गया कि आंट सैली को भी नोटिस मिल गया है कि वह चौबीस घंटे के अन्दर-अन्दर क्वार्टर ख़ाली करके चली जाय।

"सैली को?" जॉन के ओठ खुले-के-खुले रह गये, "किस बात पर?"

"बात का पता नहीं।" पीटर सूप में चम्मच हिलाता रहा।

जॉन का चेहरा गम्भीर हो गया। वह मक्खन की टिकिया खोलता हुआ बोला, "मुझे लगता है कि इस के बाद अब मेरी बारी आयेगी। मुझे पता है कि उसकी आँखों में कौन-कौन खटकता है। सैली का अपराध यह था कि वह रोज़ उसकी हाज़री नहीं देती थी और न ही वह..." और नानावती की ओर देख कर वह चुप होकर नैपकिन से ओठ पोंछने लगा।

हकीम के आने पर कई क्षण चुप्पी रही। किरपू हकीम के आगे प्लेट और छुरी काँटे रख गया।

"तुम्हारे क्वार्टर में नये पर्दे बहुत अच्छे लगते हैं।" जॉन ने हकीम को लक्षित करके कहा।

"तुम्हें पसन्द हैं?"

"बहुत।"

"शुक्रिया।"

"मेरा ख़याल है चाप्स में नमक ज़्यादा है।"

"अच्छा?"

"मगर पुडिंग अच्छा है।"

खाना खाकर जॉन और पीटर लान में टहलने लगे। आँट सैली के क्वार्टर को जाने वाले मोड़ के पास रुक कर जॉन ने पूछा, "सैली से मिलने चलते हो?"

"च—लो।"

"उस हरामी ने देख लिया तो...?"

"तो कल सुबह चलें?"

"हाँ, इस वक़्त काफ़ी देर भी हो गयी है।"

"बेचारी सैली!"

"इस पादरी जैसा ज़ालिम आदमी मैंने कहीं नहीं देखा। फ़ौज में बड़े-बड़े सख़्त अफ़सर देखे हैं, मगर ऐसा आदमी नहीं देखा।"

पीटर जँगले के पास घास पर बैठ गया।

"मुझे फिर फ़ौज की ज़िन्दगी मिल जाय तो मैं एक दिन भी यहाँ न रहूँ !"

और घास पर बैठ कर जॉन अपनी फ़ौज की ज़िन्दगी के वही किस्से पीटर को सुनाने लगा जो वह अनेक बार सुना चुका था।

"पूरी-पूरी बोतल ए ! रोज़ रात को रम की एक पूरी बोतल मैं पी जाता था। और मेरा एक साथी था जो पास के गाँव से दो लड़कियों को ले आया करता था।...कभी-कभी हम रात को निकल कर उनके गाँव चले जाते थे। अफ़सर लोग देखते थे, मगर कुछ कह नहीं सकते थे। वे ख़ुद भी तो यही-कुछ करते थे, ए। वह ज़िन्दगी ज़िन्दगी थी। यह भी कोई ज़िन्दगी है, ए ?"

मगर पीटर उसकी बात न सुन कर बिना आवाज़ पैदा किये, मुँह-ही-मुँह एक गीत गुनगुना रहा था।

"वैसे दिन फिर से मिल जायँ तो मुझे और क्या चाहिए, ए ?"

ऊपर देवदार की छतरियाँ हिल रही थीं। जंगल से हवा की सायँ-सायँ सुनायी दे रही थी। होटल की ओर से आने वाली पगडंडी पर पैरों की आवाज़ सुन कर जॉन सहसा चौंक गया।

"कोई आ रहा है, ए ?"

पीटर सिर उठा कर जंगले से नीचे देखने लगा।

पैरों की आहट के साथ सीटी की आवाज़ ऊपर आती गयी।

"बैरो है !"

"यह भी एक हरामज़ादा है।"

"अभी क्वार्टर में नहीं गये टैफ़ी ?" बैरो ने अँधेरे से निकल कर आते हुए पूछा।

"नहीं, ज़रा हवा ले रहे हैं।"

"आज हवा काफ़ी ठंडी है। पंद्रह-बीस दिन में बर्फ़ पड़ने लगेगी।"

जॉन जँगले का सहारा ले कर उठ खड़ा हुआ।

"अच्छा गुड नाइट पीटर, गुड नाइट बैरो।"

"गुड नाइट।"

कुछ दूर पीटर और बैरो साथ चलते रहे। बैरो चलते-चलते बोला, "जॉन अब काफ़ी सठिया गया है, क्यों ? इसे अब रिटायर हो जाना चाहिए।"

"हाँ – आँ !" पीटर के शरीर में एक सिहरन भर गयी।

"मगर यह तो यहीं अपनी क़ब्र बनायेगा, क्यों ?"

पीटर ने मुँह तक आयी हुई गाली ओठों में चबा ली।

बैरो का क्वार्टर आ गया।

"अच्छा गुड नाइट !"

"गुड नाइट।"

सुबह नाश्ते के समय जॉन ने पीटर से पूछा, "सैली चली गयी, ए?"

"पता नहीं," पीटर बोला, "मेरा ख़याल है अभी नहीं गयी।"

"वह आ रही है," नानावती नेपिकन से मुँह पोंछ कर उसे बायें हाथ में मसलने लगी। जॉन और पीटर की आँखें झुक गयीं।

आंट सैली का रिक्शा डाइनिंग रूम के दरवाज़े के पास आ कर खड़ा हो गया। वह कंधे पर एक झोला लटकाये हुए उसमें से उतर कर डाइनिंग-रूम में आ गयी।

"गुड बाई एवरी बडी !" उसने दहलीज़ लाँघते ही हाथ हिलाया।

"गुड बाई सैली !" जॉन ने भूरी आँखें उसके चेहरे पर स्थिर कर के भारी आवाज़ में कहा। जो वह मुँह से नहीं कह सका वह उसने अपनी गहरी दृष्टि से कह देने की चेष्टा की।

"बस आज ही जा रही हो?" नानावती ने डरे, सहमे हुए स्वर में पूछा और एक बार दायें-बायें देख लिया। आंट सैली ने आँखें झपकते हुए मुस्करा कर सिर हिलाया।

"मैं सुबह मिलने आ रहा था," पीटर बोला, "मगर तैयार होते-होते देर हो गयी। मेरा ख़याल था कि तुम शाम को जा रही हो..."

"आंट सैली ने धीरे से उसका कंधा थपथपा दिया और उसी तरह मुस्कराते हुए कहा, "मैं जानती हूँ मेरे बच्चे। मैं चाहती हूँ कि तुम ख़ुश रहो।"

"आंटी कभी-कभार ख़त लिख दिया करना।" पीटर ने उसका मुरझाया हुआ कोमल हाथ अपने मज़बूत हाथ में लेकर हिलाया। आंट सैली की आँखें डबडबा आयीं और उसने उन पर रुमाल रख लिया।

"अच्छा गुड बाई !" कह कर वह जल्दी से दहलीज़ पार कर के रिक्शा की ओर चली गयी।

"गुड बाई सैली !" जॉन ने उस के जाते-जाते पीछे से कहा।

"गुड बाई !"

"गुड बाई आंटी !"

"गुड बाई डार्लिंग !"

आंट सैली ने रिक्शा में बैठ कर उनकी ओर हाथ हिलाया। मज़दूर रिक्शा खींचने लगे।

कुछ देर की चुप्पी के बाद नानावती ने कहा "किरपू, एक बटर स्लाइस।"

जॉन पीछे की ओर देख कर बोला, "मुझे चाय का थोड़ा गर्म पानी और दे दो।"

और पीटर डिब्बे में से जैम निकालने लगा।

जिस दिन अनिता मुकर्जी आयी, उसी शाम से आकाश में स्लेटी बादल घिरने लगे। रात को हल्की-हल्की बर्फ़ भी पड़ गयी। अगले दिन शाम तक बादल और गहरे हो गये। पीटर खेतानी गाँव तक घूम कर वापस आ रहा था, जब अनिता उसे ऊपर की पगडंडी पर टहलती दिखायी दी। वह उस ठंड में भी साड़ी के ऊपर सिर्फ़ एक शाल लिये थी। पीटर को देख कर वह मुस्करायी। पीटर ने उस की मुस्कराहट का उत्तर अभिवादन से दिया।

"घूमने जा रही हो?" उस ने पूछा।

"नहीं, यूँ ही ज़रा टहलने के लिए निकल आयी थी।"

"तुम्हें ठंड नहीं लग रही?"

"ठंड तो है ही मगर क्वार्टर में बन्द हो कर बैठने को मन नहीं हुआ।" उस ने शाल से अपनी बाहें भी ढाँप लीं।

"तुम तो ऐसे घूम रही हो जैसे मई का महीना हो।"

"मेरे लिए मई और नवम्बर दोनों बराबर हैं। मेरे पास ऊनी कपड़े हैं ही नहीं।" वह फिसलन पर से सम्हलती हुई पगडंडी से उतर कर उस के बराबर आ गयी।

"ऊनी कपड़े तो तुम ने पादरी के डिनर की रात के लिए सम्हाल कर रख छोड़े होंगे। तब तक सर्दी में बीमार न पड़ जाना।" उसने मज़ाक के अन्दाज़ में अपना निचला ओठ सिकोड़ लिया।

"सच मेरे पास इस शाल के सिवा और कोई ऊनी कपड़ा है ही नहीं," अनिता उस के बराबर चलती हुई बोली, "सच पूछो तो यह भी प्रेज़ेंट का है। हमें उधर गर्म कपड़ों की ज़रूरत पड़ती ही नहीं।"

"तो परसों तक एक बढ़िया-सा कोट सिला लो। परसों फ़ादर का डिनर है।"

"परसों तक!......ओह!" और वह मीठीसी हँसी हँस दी।

"क्यों? यहाँ एक दिन में अच्छे से अच्छा कोट सिल जायगा।"

"मेरे पास इतने पैसे होते तो मैं यहाँ नौकरी करने क्यों आती? तुम्हें पता है मैं नौ सौ मील से यहाँ आयी हूँ...अ..."

"पीटर...या सिर्फ़ पिट...!"

"मैं अपने घर में अकेली ही कमाने वाली हूँ मिस्टर पीटर। मेरी माँ पहले बटुवे सीया करती थी, पर अब उस की आँखें बहुत कमज़ोर हो गयी हैं। मेरा छोटा भाई अभी पढ़ता है। उस के बी० ए० करने तक मुझे नौकरी करनी है।"

पीटर ने रुक कर एक सिगरेट सुलगा लिया। बर्फ़ के हल्के-हल्के गाले पड़ने लगे थे। उस ने आकाश की ओर देखा। बादल बहुत गहरे थे।

"आज काफ़ी बर्फ़ पड़ेगी," उस ने कोट के कालर ऊँचे करते हुए कहा, "चलो तुम्हें क्वार्टर तक छोड़ आऊँ...तुम सी कॉटेज में हो न?"

"हाँ...चलो मैं तुम्हें चाय की प्याली बना कर पिलाऊँगी।"

"इस मौसम में चाय मिल जाय तो और क्या चाहिए?"

वे सी-कॉटेज को जाने वाली पगडंडी पर उतरने लगे। कुहरा घना हो जाने से रास्ता दस क़दम आगे तक ही दिखायी दे रहा था। अनिता एक जगह पत्थर से ठोकर खा गयी।

"चोट लगी?"

"नहीं!"

"मेरे कंधे का सहारा ले लो।"

अनिता ने बराबर आ कर उस के कंधे का सहारा ले लिया। जब वे सी-कॉटेज के बरामदे में पहुँचे तो बर्फ़ के बड़े-बड़े गाले गिरने लगे थे। घाटी में जहाँ तक आँख जाती थी, बादल ही बादल भरे थे। एक बिल्ली दरवाज़े से सट कर काँप रही थी। अनिता ने दरवाज़ा खोला तो वह म्याऊँ कर के दरवाज़े के अन्दर घुस गयी।

दरवाज़ा खुलने पर पीटर ने उस के सामान पर एक सरसरी नज़र डाली।

स्कूल के फ़र्नीचर के अतिरिक्त उसे एक टीन का ट्रंक और दो-चार कपड़े ही दिखायी दिये। मेज़ पर एक सस्ता टेबल लम्प पड़ा था और उस के पास एक युवक का फ़ोटोग्राफ़ रखा था। पीटर चारपाई पर बैठ गया। अनिता स्टोव जलाने लगी।

चारपाई पर एक पुस्तक और एक आधा लिखा हुआ पत्र पड़ा था। पीटर ने पत्र ज़रा हटा कर रख दिया और पुस्तक उठा ली। पुस्तक पत्र लिखने की कला के सम्बन्ध में थी और उस में हर तरह के पत्र दिये हुए थे। पीटर उस के पन्ने पलटने लगा।

अनिता ने स्टोव जला कर केतली चढ़ा दी। फिर उस ने बाहर देख कर कहा, "बर्फ़ पहले से तेज़ पड़ने लगी है।"

पीटर ने देखा कि बरामदे के बाहर सारी ज़मीन पर सफ़ेदी की हल्की तह बिछ गयी है। उस ने सिगरेट का टुकड़ा बाहर फेंक दिया जो धुंध में जाते ही बुझ गया।

"आज रात भर बर्फ़ पड़ती रहेगी," उस ने कहा।

अनिता स्टोव पर हाथ सेंकने लगी।

बाहर बरामदे में पैरों की आहट सुन कर पीटर बाहर निकल आया। जॉन भारी-भारी क़दमों से चलता आ रहा था।

"ए पीटर !"

"हलो टैफ़ी !...इस वक्त बर्फ़ में कैसे निकल पड़े ?"

"तुम्हारे क्वार्टर में गया था। तुम वहाँ नहीं मिले। सोचा शायद यहाँ मिल जाओ।" और वह मुस्करा दिया।

"वैसे घूमने के लिए मौसम भी अच्छा है !" पीटर ने कहा। वे दोनों कमरे में आ गये। अनिता प्यालियाँ धो रही थी। एक प्याली उस के हाथ से गिर कर टूट गयी।

"ओह !"

"प्याली टूट गयी ?"

"हाँ, दो थीं, उन में से भी एक टूट गयी।"

"कोई बात नहीं। सॉसर तो हैं। उन से प्यालियों का काम चल जायगा।"

पीटर फिर चारपाई पर बैठ गया। जान मेज़ पर रखे फ़ोटोग्राफ़ के पास चला गया।

"फिआंसे—ए ?"

अनिता ने मुस्कुरा कर सिर हिलाया।

"यह चिट्ठी भी उसी को लिखी जा रही थी ?"

जॉन ने चारपाई पर रखे पत्र की ओर संकेत किया। पीटर पुस्तक का वह पृष्ठ पढ़ने लगा जिस पर से वह चिट्ठी नकल की जा रही थी। अनिता मुस्कराती रही।

जॉन स्टोव के पास जा खड़ा हुआ और अनिता के शाल की प्रशंसा करने लगा।

चाय हो गयी तो अनिता ने प्याली बना कर जॉन को दे दी। अपने और पीटर के लिए सॉसर में चाय डालती हुई बोली, "हमारे घर में कुल दो ही प्यालियाँ थीं, वही मैं उठा लायी थी। आज आते ही एक टूट गयी।"

जॉन और पीटर ने एक दूसरे की ओर देख कर आँखें हटा लीं।

"यह सी-कॉटेज है तो अच्छी, मगर ज़रा दूर पड़ जाती है," पीटर दोनों हाथों में सॉसर सम्हालता हुआ बोला, "तुम पादरी से कहो कि तुम्हें डी या ई कॉटेज में जगह दे दे। वे दोनों ख़ाली पड़ी हैं। उन में दो-दो बड़े कमरे हैं।"

"अच्छा !" अनिता बोली, "वैसे मेरे लिए तो यही कमरा बहुत बड़ा है। घर में हमारे पास इस से भी छोटा एक कमरा है जिस में हम तीन जने रहते हैं।...उस में से भी आधा कमरा मेरे भाई ने ले रखा है और आधे कमरे में हम माँ-बेटी गुज़ारा करती हैं। अब मैं आ गयी हूँ तो माँ को जगह की कुछ सहूलियत हो गयी होगी।...मैं अपनी माँ को बहुत प्यार करती हूँ। पहली तनख़ाह मिलने पर मैं उस के लिए कुछ अच्छे-अच्छे कपड़े भेजना चाहती हूँ। उस के पास अच्छे कपड़े नहीं हैं।"

पीटर और जॉन की आँखें फिर पल भर मिली रहीं। जॉन का निचला ओठ थोड़ा सिकुड़ गया।

"चाय बहुत अच्छी है !"

"ख़ूब गर्म है और फ्लेवर भी बहुत अच्छा है।"

"रोज़ बर्फ़ पड़े तो मैं रोज़ यहाँ आ कर चाय पिया करूँगा।"

पीटर के सॉसर से चाय छलक गयी।

"सॉरी!"

बर्फ़ और कुहरे के कारण बाहर बिलकुल अँधेरा हो गया था। बर्फ़ के गाले दूधफेन की तरह निःशब्द गिरते जा रहे थे। जॉन और पीटर अनिता के क्वार्टर से निकल कर ऊपर की ओर चले तो पगडंडी पर दो-दो इंच बर्फ़ इकट्ठी हो चुकी थी। अँधेरे में ठीक से रास्ता दिखायी न दे रहा था इसलिए जॉन ने पीटर की बाँह पकड़ ली।

"अच्छी लड़की है, ए!"

"बहुत सीधी-सादी है।"

"मुझे डर है कि यह भी नानावती की तरह..."

"रहने दो, इस का उस के साथ मुक़ाबला करते हो?"

"जब वह आयी थी तो वह भी ऐसी ही थी..."

"मैं इसे इन लोगों के बारे में सब कुछ बता दूँगा।"

जॉन को थोड़ी खाँसी आ गयी। वे कुछ देर ख़ामोश चलते रहे। उन के पैरों के नीचे कच्ची बर्फ़ का कच्चर-कच्चर शब्द ही सुनायी देता रहा।

कुछ फ़ासले से टार्च की रोशनी आ कर उनकी आँखों से टकरायी। पल भर के लिए उन की आँखें चुँधियायी रहीं। फिर उन्होंने ऊपर से उतरती हुई आकृति को देखा।

"गुड ईवनिंग बैरो!"

"गुड ईवनिंग टैफ़ी! किधर से घूम कर आ रहे हो?"

"यूँ ही बर्फ़ पड़ती देख कर थोड़ी दूर निकल गये थे।"

"बर्फ़ में घूमना सेहत के लिए अच्छा है!"

पीटर ने जॉन की उँगली दबा दी।

"तुम भी सेहत बनाने के लिए निकले हो?"

इस बार जॉन ने पीटर की उँगली दबायी।

"हाँ, मौसम अच्छा है मैं भी ज़रा घूम लूँ।"

"अच्छा गुड नाइट!"

"गुड नाइट!"

टार्च की रोशनी काफ़ी नीचे पहुच गयी तो जॉन पैर से रास्ता टटोल कर चलता हुआ बोला, "यह पादरी का खुफिया है खुफ़िया! मैं इस हरामी की रग-रग पहचानता हूँ।"

पीटर ख़ामोश चलता रहा।

सुबह जिस समय पीटर की आँख खुली, उस ने देखा कि वह जॉन के क्वार्टर में एक आराम कुर्सी पर पड़ा है—वहीं उस पर दो कम्बल डाल दिये गये हैं और सामने रम की ख़ाली बोतल रखी है। वह उठा तो उसकी गरदन दर्द कर रही थी। उस ने खिड़की के पास जा कर देखा कि जॉन चाय का फ़्लास्क लिये डाइनिंग-रूम की से तरफ़ से आ रहा है। वह ठंडी सलाखों को पकड़े हुए दूर तक फैली हुई बर्फ़ को देखता रहा।

जॉन कमरे में आ गया और भारी क़दमों से तख़्ते पर शब्द करता हुआ पीटर के निकट आ खड़ा हुआ।

"कुछ सुना...ए?"

पीटर ने उस की ओर देखा।

"रात को पादरी ने उसे अपने घर पर बुलाया था......"

"किसे, अनिता को?"

जॉन ने सिर हिलाया। उसकी आँखें क्षण भर पीटर के चेहरे पर रुकी रहीं। पीटर गम्भीर हो कर दीवार को देखता रहा।

"टैफ़ी, मैं उस से कहने जा रहा हूँ कि वह नौकरी छोड़ कर चली जाय......उसे नहीं पता कि यहाँ वह किन जानवरों के बीच आ गयी है .....उस दिन बेबी को गोली से मार कर कहता था जानवर और जानवर में फ़र्क होता है! हूँ!......कुत्ता!

जॉन फ़्लास्क से प्यालियों में चाय उँडेलने लगा।

"उस में ख़ुद्दारी हो तो उसे ख़ुद ही चले जाना चाहिए......" वह बोला, "किसी के कहने से क्या होगा? कुछ नहीं।"

"हो या न हो, मगर मैं उससे कहूँगा जरूर......"

"तुम पागल हुए हो ? तुम्हें दूसरों से मतलब ? वह अनजान बच्ची तो है नहीं।"

पीटर कुछ न कह कर दीवार को देखता हुआ चाय के घूँट भरने लगा।

"अब जल्दी से तैयार हो आओ, गिरजे का वक़्त हो रहा है !"

पीटर ने दो घूँट में चाय की प्याली ख़ाली करके रख दी।

"मैं गिरजे नहीं जाऊँगा।"

जॉन कुर्सी की बाँह पर बैठ गया।

"आज तुम्हारी सलाह क्या है ?"

"कुछ नहीं, मैं गिरजे नहीं जाऊँगा।"

जान मुँह-ही-मुँह बड़बड़ा कर ठंडी चाय की चुस्कियाँ लेता रहा।

दो दिन की बर्फ़बारी के बाद फ़ादर फ़िशर के डिनर की रात को मौसम खुल गया। डिनर से पहले घंटा भर सब लोग म्यूज़िकल चेयर्ज़ का खेल खेलते रहे। उस खेल में मणि नानावती को प्रथम पुरस्कार मिला। पुरस्कार मिलने पर उस से जो मज़ाक किये गये, उनसे उसका चेहरा इतना लाल हो गया कि वह थोड़ी देर के लिए कमरे से बाहर भाग गयी। मिसेज़ मर्फ़ी उस दिन बहुत सुन्दर हैट और रिबन लगा कर आयी थी। उसकी बहुत प्रशंसा की गयी। डिनर के बाद लोग काफ़ी देर तक आग के पास खड़े बातें करते रहे। पादरी ने सभी से नयी मैट्रन का परिचय कराया। अनिता अपने शाल में सिकुड़ी हुई सबके अभिवादन का उत्तर मुस्करा कर देती रही।

एटकिन्सन मिसेज़ मर्फ़ी को आँख से इशारा करके मुस्कराया।

उसकी मुस्कराहट व्यक्त न हो जाय, इसलिए हिचकॉक सिगार के लम्बे-लम्बे कश खींचने लगा। जॉन उधर से नज़र हटा कर हिचकॉक से बात करने लगा।

"तुम्हें तली हुई मछली अच्छी लगी ?...मुझे तो ज़रा अच्छी नहीं लगती।"

"मुझे मछली हर तरह की अच्छी लगती है, कच्ची हो या तली हुई...हाँ मछली हो।"

जॉन ने मुँह बिचकाया।

"रम की बोतल साथ हो तो भी तुम्हें अच्छी नहीं लगती ?"

जॉन दाँत खोल कर मुस्कराया और सिर हिलाने लगा।

मजलिस बरख़ास्त होने पर जब सब लोग कमरे से बाहर निकले तो हिचकॉक ने धीमे स्वर में जॉन से पूछा, "क्या बात है, आज पीटर दिखायी नहीं दिया...?"

जॉन उसका हाथ दबा कर उसे ज़रा दूर ले गया और दबे हुए स्वर में बोला, "उसे पादरी ने जबाब दे दिया है।"

"पीटर को भी ?"

जॉन ने सिर हिलाया।

"वह कल सुबह तक यहाँ से चला जायगा।"

"क्या कोई ख़ास बात हुई थी ?"

जॉन ने फिर उसका हाथ दबा दिया। पादरी और बैरो के साथ-साथ अनिता सिर झुकाये हुए शाल में छिपी-सिमटी बरामदे से निकल कर चली गयी। जॉन की भूरी आँखें कई गज़ तक उनका पीछा करती रहीं।

"यह अपने को भी इंजेक्शन लगवाता है या नहीं ए...?"

"क्यों ?" हिचकॉक ने आँखें ज़रा सिकोड़ लीं।

"इस ने डॉली के इंजेक्शन लगवाये थे न...!"

हिचकॉक हो-हो कर के हँस दिया। बरामदे में से गुज़रते हुए हकीम ने आवाज़ दी, "ख़ूब क़हक़हे लग रहे हैं ?"

"मैं तली हुई मछली हज़म कर रहा हूं।" हिचकॉक ने उत्तर दिया और ऊँचे स्वर में जॉन को बतलाने लगा कि बग़ैर काँटे की मासेर मछली कितनी ताकतवर होती है!

सुबह जॉन, अनिता, नानावती और हकीम 'बैचलर्ज़ डाइनिंग-रूम' में नाश्ता कर रहे थे जब पीटर का रिक्शा दरवाज़े के पास से निकल कर चला गया। पीटर रिक्शे में सीधा बैठा रहा, न उसे किसी ने अभिवादन किया और न ही वह किसी को अभिवादन करने के लिए मुड़ा। अनिता की झुकी हुई आँखें और झुक गयीं—जॉन वैसे ही गरदन किये रहा, जैसे उस तरफ़ उसका ध्यान ही न हो। 'बैचलर्ज़ डाइनिंग-रूम' में कई क्षण ख़ामोशी रही।

६

सहसा पादरी को खिड़की के पास से गुज़रते देख कर सब लोग अपनी-सीट से आधा-आधा उठ गये।

"गुड मार्निङ्ग होली फ़ादर !"

"गुड मार्निङ्ग माइ सन्ज़।"

"कल रात का डिनर बहुत ही अच्छा रहा।"

"सब तुम्हीं लोगों की वजह से है।"

"मैं तो कहता हूँ कि ऐसे डिनर रोज़-रोज़ हुआ करें..."

पादरी आगे निकल गया तो भी कुछ देर हकीम के चेहरे पर अनुनयात्मक मुस्कराहट बनी रही।

"मेरे लिए उबला हुआ अंडा अभी तक क्यों नहीं आया ?" जॉन क्रोध के साथ बड़बड़ाया। अनिता स्लाइस पर मक्खन लगाती हुई सिहर गयी। किरपू ने एक प्लेट में उबला हुआ अंडा ला कर जॉन के पास रख दिया।

"छील कर लाओ !" जॉन ने उसी तरह कहा और प्लेट को हाथ मार दिया। प्लेट अंडे समेत नीचे जा गिरी और टूट गयी।

उधर गिरजे की घंटियाँ बजने लगीं—डिंग डाँग ! डिंग डाँग ! डिंग डाँग !"
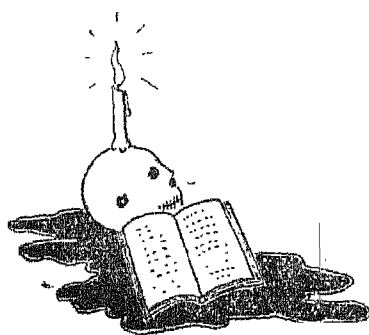
कमल सरोवर, कुंड, हज़ारे, कुंजों माधव मालती,
दमयंती बैठी हंसों में नल की पाती बाँचती।
अग्निमित्र, यशवर्मन, विक्रम मिहिरगुलों से जूझते,
उड़ते दिखें चमकते घोड़े चाँद सुरज के पूत से।

कालिदास वैताल खड़े अनभर केसर के फूल से,
सिंहासन की पुतली गाती उठ गैलों की धूल से।
ढूह, टौरियाँ, टगर, खेत बन गयीं पुरी रजधानियाँ,
गाँव गोट के गीत बनीं खंडों में टूट कहानियाँ।

"पुर, पाटन, गाँव
नगर के राजा,
नल, दमयंती रानी,
हमसे कहते, तुमसे सुनते
सुनो महालक्ष्मी रानी
सोलह बोल की एक कहानी !

सोलह बोल की कथा पुरानी, सुधियाँ लौ बन डोलती,
दियाधरी की लाखों बाती खड़ी पाँत में बोलतीं !
सोलह बोल की कथा, हज़ारों बोल भटक टकरा रहे,
परिवर्तन की अंध-गुफा में प्रेत नाद मँडरा रहे !

गढ़ी, हवेली, महल, अटारी, फूटी निसइ, छतरी,
जिन्न, चुड़ैल, परेत बन गये इतिहासों के संतरी !
ध्वंसों की आत्मा हर रात हवा-सी साँस पुकारती,
कभी खिलखिलाती बच्चे-सी, रोती धाड़ें मारती !

सूने टगर के पीपल-इमली, नीचे जले मशाल-सी,
कभी कथा बनती बुढ़िया या कन्या सोलह साल की !
वैभव और विभूति मिटीं अनलिखे रहे इतिहास भी,
सत्य धुंध बन गया, रहे कल्पना भरम विश्वास ही।

हर टीले का एक देव, हर दबी पुरी पर चौंतरा,
हर पाताल-बावड़ी रमते राजा, रानी, अप्सरा !
चरवाहों का हर पत्थर सिंहासन विक्रम भान का,
रातों होता न्याय, और पहरा पड़ता सुनसान का !

इतर गंध की लपट : आज डाँगर ढोरों की धूल है,
मन भरने को याद रही, जीवन पर उगा बबूल है।
सुख-संस्कृति की बातों से असलियत बहुत ही दूर है,
चमत्कार का मोती भी घूरों पर आकर चूर है।

कथा गीत हैं सिर धुनते,
टूटे टपरों के सामने !
चिथड़ों में अनगिन विक्रम
फिरते बैलों को थामने !

जिन हाथों ने माटी से उपजायी संस्कृति चाँदनी,
वही भूमि है, हाथ वही, माटी वह ही मनभावनी !
दियाधरी भी उपजाती रातों परियाँ भर चाँदनी,
निगल न ले इतिहास शेष जीवन की कोदों-काउनी !

जो विभूति रमती जनपद में बैसंदर की राख-सी,
कहती है कि अँधेरे पर आता है उजला पाख ही !
जलती उस विभूति की आत्मा दियाधरी के दीप में,
मोती जैसा युग लाने को फिर समाज की सीप में !

मामूली लोग ● भवानीप्रसाद मिश्र

हम मामूली लोग
इस दुनिया के रोग,
या दुनिया हम को रोग ?

हम डरे हुए,
हम मरे हुए,
हम पानी से हीन कुँए !

अंधे-अँधियारे हम,
मकड़ी के जाले हम,
लोगों ने हम में फेंक दिये
कंकड़, पत्थर
खूब झोली भर-भर !

बस इसीलिए
हम मरे हुए,
हम डरे हुए,
छल-छल-पानी से हीन,
महज़ मामूली, दीन।

हम किससे क्या कहें ?
सिर्फ़ चुप रहें,
लोग पत्थर मारें, हम सहें !
न बोलें-बकरें हम,
निरर्थक अखरें हम,
आते-जाते लोग,
भुगायें हमको भोग !

किसी दिन पहले
लगा हमको, हम नहले !
उठे पत्थर वाले,
हँसे पत्थर वाले,
कहा, दिल बहला लो
बचो, नहले पर दहला लो !

पड़े पत्थर पर पत्थर,
खूब झोली भर-भर,
तभी से हम चुप,
अँधेरा घुप
तभी से आँखों में,
तभी से कानों में,
तभी से ओठों पर,
तभी से प्राणों में !

मगर भाई !
नहीं,
भाई तो कोई नहीं कहीं !
एक भी हाथ,
न अपने साथ।
कहें किसको अपना ?
ग़लत निकला सपना !
स्वप्न तो ग़लत सदा,
भाग्य में स्वप्न बदा !
और हम समझें सच,
अरे सपने से बच !

स्वप्न का देश,
स्वप्न का धरम,
स्वप्न थी कला,
स्वप्न था करम,
'गया' धोखा था साफ़,
'नया' है भरम !

देश की कहें—
देश खेती
कड़ी खेती
बड़ी मेहनत
रात-दिन हमने की,
न फ़ुरसत ली,
हरे कर दिये जले मैदान,
बनाये पग-पग पर खलिहान,
ढेर गल्ले का लगा दिया,
अकाल ही जैसे जगा दिया,
नदी काटी, जंगल काटे,
खाइयों के जबड़े पाटे,
हवाओं के रुख पलट दिये,
घुसे दुश्मन, फ़ौरन चट किये,
मगर किसलिए ?

मगर किसलिए गिनायें हम,
गिनाने में क्या दम ?
कौन वह हाथ
हमारा दिया
न जिसने लिया,
सभी को ख़बर
कि अपना अब्र
देश-भर बरसा है दिन-दिन,
हमारे श्रम के पारस ने
देश का परसा है कन-कन !
गिनाने से क्या लाभ ?
शब्द तो मुँह की भाफ़,
इधर निकले, उधर ग़ायब,
न आने पाया जब
हमारा काम हमारे काम,
शिकायत से क्या होगा नाम !
गिनाना ग़लत,
किये जो काम
सुनाना ग़लत !

तो क्या है सही ?
सही तो यही
कि मरते जाओ,
काम सौंपे जग, करते जाओ !
खेत में, खलिहानों में काम,
पहाड़ों, मैदानों में काम,
मकानों में, खानों में काम,
हवा पर काम,
बवा पर काम,
काम लिखने का, गाने का,
किसी के लिए कमाने का,
आग का काम,
दाग़ का काम,
काम, बस काम !
माघ में काम,
पूस में काम,
चीन में काम,
रूस में काम,
काम धरती पर,

पानी में !
शर्त है एक
कि हानी में !!

हायरे भाग,
जगत को बने
हुए दिन घने
बहुत बदलीं रातें
मगर अपनी बातें
घनी की घनी
अभी तक बनीं !
पचासों बार लगा
कि अबके भाग जगा,
नहीं बदला था तब के,
बदल जायगा अब के !

मगर यह
अब और तब का फ़र्क,
हमारे लिए नहीं,
जहाँ थे पहले हम,
आज भी वहीं !
बल्कि पहले से बदतर हाल
क्योंकि कानून,
फ़ौज-पलटनें
सड़क पक्की,
जीपें और गन,
बड़ी साइन्स,
चढ़े बाज़ार,
किताबें,
प्रेस और अख़बार,
हरेक हुक्काम,

हरेक बनिया
ग़रज़ एक
दुनिया की दुनिया
भरे हैं झोली में पत्थर,
उन्हें हम किसका डर !

मनायें सब की .ख़ैर,
छोड़ कर बैर,
किरन सूरज की फूटे नहीं,
अँधेरे की तह टूटे नहीं,
उठें हम और नवायें शीस
कि हे दुनिया के ईश,
तेरा आशीष—
हमारे सिर पर
बिस्वा-बीस।
कि साँसें खींच रहे हैं हम,
जगत-भर की इच्छाओं को
.ख़ून से सींच रहे हैं हम !

.ज़ुल्म की इच्छाएँ,
माँगती हमसे भिक्षाएँ,
और हम देते रहते हैं।
हमारे ही बल पर तो खेत
.ज़ुल्म के चेते रहते हैं।

तो हम यह दंभ करें,
उदासी मन की हरें,
जोश में आ जायें
ज़ोर से दल के दल गायें
कि हम मज़दूर-किसान
बड़े बलवान।

हमारा राज,
जगत-भर आज,
आज हर-छंद
हमारे बोल
बुलंद ।

अगर
सच तो है यही,
कि हम हैं वही,
महज़ मामूली लोग ।
दुनिया हमको रोग !

सीमा रेखा

●●

विष्णु प्रभाकर

[दूसरे भाई, उपमंत्री शरतचन्द्र का ड्राइंग-रूम। आयु ५२ वर्ष। आधुनिक, पर सादगी की छाप। दीवार पर गांधी जी का तैल-चित्र है। दो-चार चित्र तिपाइयों पर भी हैं। पुस्तकें काफ़ी हैं। बीचोंबीच एक सोफ़ा सेट है। उत्तर की ओर सामने दो द्वार हैं जो बाहर बरामदे में खुलते हैं। उसके पार सड़क है। पूर्व और पश्चिम के द्वार घर के अन्दर जाते हैं। सोफ़े व मेज़ों के आसपास कुर्सियाँ हैं। पर्दा उठने पर मंच खाली है। दो क्षण बाद शरतचन्द्र तेज़ी से आते हैं। बेहद परेशान हैं। कई क्षण बेचैनी से घूमते हैं फिर टेलीफ़ोन उठा लेते हैं। नम्बर मिलाते हैं।]

शरत—हलो, मैं शरत बोल रहा हूँ। विजय का कुछ पता लगा...क्या ? क्या अभी तक नहीं लौटे। झगड़ा बढ़ गया है। क्या ? गोली...गोली चलानी पड़ी। भीड़ बैंक के पास बेकाबू हो गयी थी। बैंक को लूटा ? नहीं...कहीं और लूटमार हुई ? नहीं...कोई घायल ? अभी कुछ पता नहीं। ओह, देखो अभी पता करके बताओ। विजय आये तो मुझे टेलीफ़ोन करने को कहो... तुरन्त....समझे....मैं घर पर ही हूँ।

[दूसरा नम्बर मिलाना चाहते हैं कि उनकी पत्नी अन्नपूर्णा घबरायी हुई बाहर से आती है।]

अन्नपूर्णा—आपने कुछ सुना है ?

शरत—हाँ, सुना है गोली चल गयी !

अन्नपूर्णा—अपने राज में भी गोली चलती है ?

शरत—अपना राज समझता कौन है ? जब तक अपना राज नहीं समझेंगे तब तक गोली चलेगी ही। लेकिन खैर, तुम कहाँ गयी थीं ?

अन्नपूर्णा—जीजी के पास ! रास्ते में सुना रामगंज में गोली चल गयी। बाज़ार बन्द हो रहे हैं। भय छाया हुआ है। लोग सरकार को गालियाँ दे रहे हैं।

शरत—(चोंगा रख कर आगे आ जाते हैं।) सरकार को गाली ही दी जाती है। गोली चली तो गाली देते हैं। बैंक लुट जाता तब भी गाली ही देते।

अन्नपूर्णा—(एकदम) बैंक ! कौन-सा बैंक लुट रहा था ? बैंक से तो कुछ झगड़ा नहीं था। कल आपके पीछे कुछ विद्यार्थी बस वालों से झगड़ पड़े थे और आप जानते हैं कि विद्यार्थी......

शरत—(एकदम) कि विद्यार्थी कानून की चिंता नहीं करते। बच्चे हैं, अल्हड़ हैं (तेज़ होकर) यह भी कोई बात है ? लोग पागल हो जाते हैं। कानून अपने हाथ में ले लेते हैं। गोली चली है तो ज़रूर कोई कारण रहा होगा। कुछ लोगों ने बैंक पर धावा बोला होगा। पुलिस पर पत्थर फेंके होंगे।

[सविता का प्रवेश—चौथे भाई, जन-नेता सुभाषचन्द्र की पत्नी, आयु पैंतिस वर्ष]

सविता—फेंके होंगे तो इसका यह अर्थ नहीं कि पत्थर के जवाब में गोली चला दी जाय। गोली उन्हें आत्मरक्षा के लिए नहीं दी जाती, जनता की रक्षा के लिए दी जाती है।

अन्नपूर्णा—सविता तुम कहाँ से आ रही हो ?

(लक्ष्मीचन्द्र का प्रवेश—व्यापारी, सबसे बड़े भाई, आयु ५६ वर्ष)

शरत—तुम क्या कह रही हो ?

सविता—मैं ठीक कह रही हूँ...

लक्ष्मी—तुम बिलकुल ग़लत कह रही हो। पुलिस गोली न चलाती तो बैंक लुट जाता, बाज़ार लुट जाता, चारों ओर लूट-मार मच जाती। शासन की जड़ें हिल जातीं।

सविता—शासन की जड़ें हिलतीं या न हिलतीं दादाजी, पर आपकी जड़ें ज़रूर हिल जातीं। आपका व्यापार ठप हो जाता। आपका नुकसान होता......

लक्ष्मी—हाँ मेरा नुकसान होता। मैं सरकार की प्रजा हूँ। प्रजा की रक्षा करना सरकार का फ़र्ज़ है......!

सविता—यानी सरकार की पुलिस आपकी रक्षा करने के लिए है।

लक्ष्मी—हाँ मेरी रक्षा करने के लिए है।

सविता—केवल आपकी......?

अन्नपूर्णा—न, न, सविता। इनका मतलब केवल अपने से नहीं है। भीड़ इनका ही नुकसान करके न रह जाती। वह सारे शहर को बरबाद कर देती।

सविता—भीड़ में इतनी शक्ति है, जीजी?

शरत—भीड़ में कितनी शक्ति है, सवाल यह नहीं है।

सविता—तो क्या है?

शरत—सवाल यह है कि क्या भीड़ को कानून अपने हाथ में लेने का अधिकार है? मैं समझता हूँ उसे यह अधिकार नहीं है!

सविता—और यदि वह लेती है तो......

शरत—तो वह विद्रोह है और विद्रोह को दबाने का सरकार को पूरा पूरा अधिकार है।

सविता—लेकिन विद्रोह क्यों किया गया है यह देखना क्या सरकार का कर्त्तव्य नहीं है।

[टेलीफ़ोन की घंटी बजती है। शरत एकदम चोंगा उठाते हैं। सब उनके पास आते हैं।]

शरत—हलो...हाँ मैं ही हूँ...क्या स्थिति अभी काबू में नहीं है। लूट-मार तो नहीं हुई न? अच्छा...घायल कितने हुए...पाँच वहीं मर गये। बीस घायल अस्पताल में हैं...मैं अभी आता हूँ। अभी......

(टेलीफ़ोन का चोंगा रख कर तेज़ी से जाने को मुड़ते हैं।)

अन्नपूर्णा—(एकदम) नहीं, नहीं, आप ऐसे नहीं जा सकते।

लक्ष्मी—हाँ, पहले फ़ोन करके पुलिस बुला लो।

सविता—पुलिस क्या करेगी? चलिए मैं चलती हूँ।

शरत—आप चिन्ता न करें। पुलिस की गाड़ी बाहर खड़ी है।

सविता—(व्यंग्य से) ज़रूर होगी। जनता के नेता अब पुलिस की गाड़ी में ही जा सकते हैं। (आवेश में) जिन्होंने जनता का नेतृत्व किया। जनता के आगे होकर गोलियाँ खायीं, जो एक दिन जनता की आँखों के तारे थे, वे ही आज पुलिस के पहरे में जनता से मिलने जाते हैं।

[शरत तिलमिला कर कुछ कहना चाहते हैं कि तभी तीसरे भाई विजय, पुलिस कप्तान, आयु ४८ वर्ष, पूरी वर्दी में प्रवेश करते हैं।]

लक्ष्मी—(एकदम) विजय!

सविता—कप्तान साहब आप यहाँ!

अन्नपूर्णा—विजय, अबक्या हाल है?

शरत—विजय, तुमने यह क्या कर डाला ? तुमने गोली क्यों चलायी ? तुम्हें सोचना चाहिए था कि......

लक्ष्मी—विजय ने जो कुछ किया सोच समझ कर किया है और ठीक किया है।

अन्नपूर्णा—हाँ, बिना सोचे-समझे कोई काम कैसे किया जा सकता है। सोचा तो होगा ही पर......

शरत—नहीं, नहीं, यह बहुत बुरा हुआ। जानते नहीं अब जनता का राज है और जनता के राज में, जनतंत्र में, जनता की प्रतिष्ठा होती है।

विजय—लेकिन गुण्डों की नहीं !

सविता—वे गुण्डे हैं !

लक्ष्मी—हाँ वे गुण्डे हैं। दंगा करने वाले गुण्डे होते हैं, शोहदे होते हैं !

शरत—नहीं भइया। वे सब गुण्डे नहीं होते। हाँ, गुण्डों के बहकाये में ज़रूर आ जाते हैं।

सविता—यह भी खूब रही। जनता कुछ गुण्डों के बहकाये में आ जाय और आप लोगों की, जो कल तक उनके सब-कुछ थे, कोई बात न सुने !

शरत—(तिलमिला कर) सविता...सविता...

सविता—सुनिए भाई साहब ! बात यह है कि आप अपना सन्तुलन खो बैठे हैं। आप निरंकुश होते जा रहे हैं। आप अपने को केवल शासक मानने लगे हैं। आप भूल गये हैं कि जन-राज में शासक कोई नहीं होता, सब सेवक होते हैं।

विजय—(थका-सा) सेवक होते हैं तो क्या सेवक मर जाने के लिए हैं ?

सविता—हाँ मर जाने के लिए ही हैं। कोई मर कर देखे तो......

लक्ष्मी—सविता, बहू ! तुम बहुत आगे बढ़ रही हो। स्वतंत्रता का युग है तो इसका यह मतलब नहीं कि बड़े-छोटे का विचार न किया जाय।

अन्नपूर्णा—हाँ सविता। तुम्हें इतना तेज़ नहीं होना चाहिए।

सविता—मैं क्षमा चाहती हूँ। आप सब मुझसे बड़े हैं। आपका अपमान मैं कभी नहीं कर सकती, ऐसा सोच भी नहीं सकती। पर इस नाते-रिश्ते से ऊपर भी तो हम कुछ हैं। हम स्वतंत्र भारत की प्रजा हैं, हम एक स्वतंत्र देश के नागरिक हैं। हम इन्सान हैं !

विजय—इन्सान हैं तो सभी हैं। स्वतंत्र देश के नागरिक हैं तो सभी हैं। कानून सब पर लागू होता है।

लक्ष्मी—बेशक सब पर लागू होता है। सब समान हैं।

सविता—बेशक सब समान हैं दादाजी, पर जिन पर व्यवस्था और न्याय की ज़िम्मेदारी है, उनका दायित्व अधिक है।

शरत—ज़रूर है, इसीलिए मुझे जाना है। लेकिन जाने से पहले मैं जानना चाहूँगा विजय, कि आख़िर बात कैसे बढ़ गयी?

विजय—मैं तो वहाँ था नहीं। कल के झगड़े के बारे में आप जानते ही हैं। आज फिर विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किये। डिपो पर हमला किया। वहाँ से वे बैंक के पास आये......

शरत—क्या उन्होंने बैंक पर हमला किया?

विजय—कर सकते थे। शायद वे यही चाहते थे।

शरत—कौन? विद्यार्थी......

विजय—यह तो नहीं कह सकता। भीड़ में केवल विद्यार्थी ही नहीं थे। शरारती लोग ऐसे अवसरों की ताक में रहते हैं। पुलिस ने भीड़ को रोका तो उन्होंने पत्थर फेंके......

अन्नपूर्णा—पुलिस पर पत्थर फेंके?

लक्ष्मी—तब तो ज़रूर उनका इरादा बैंक लूटने का था।

शरत—क्या पुलिस वालों को चोटें आयीं?

विजय—जी हाँ, दस-बारह सिपाही घायल हो गये। एक इन्सपेक्टर का सिर फूट गया।

सविता—बस!

लक्ष्मी—तुम चाहती थी कि वे सब मर जाते।

(चौथे भाई सुभाषचन्द्र का प्रवेश—जन-नेता, आयु ४४ वर्ष)

सुभाष—हाँ वे सब मर जाते तो ठीक होता।

शरत—सुभाष!

अन्नपूर्णा—सुभाष यह तुम क्या कह रहे हो?

लक्ष्मी—तुम तो कम्युनिस्ट हो गये हो और अपनी बहू को भी तुमने ऐसा ही बना दिया है।

(बाहर शोर उठता है।)

सुभाष—दादाजी! मैं न कभी कम्यूनिस्ट था, न हूँ और न कभी बनूँगा पर मैं स्वतंत्र भारत में गोली चलाना जुर्म मानता हूँ।

लक्ष्मी—चाहे जनता कुछ भी करे ! उसे सब अधिकार हैं !

सुभाष—बेशक हैं। उसी ने इन लोगों के (शरत की ओर इशारा करता है।) हाथ में शासन की बागडोर सौंपी है।

शरत—किसलिए सौंपी है? रक्षा के लिए या बरबादी के लिए?

[बाहर शोर तेज़ होता है। सविता चौंकती है। धीरे से बोलती है और बाहर जाती है। शेष लोग तेज़-तेज़ बोलते रहते हैं।]

सविता—(अलग से) यह शोर कैसा है। देखूँ तो......

(खिसक जाती है।)

सुभाष—(शरत की बात का उत्तर देते हुए) रक्षा के लिए !

शरत—लेकिन जब जनता स्वयं नाश करने पर तुल जाय तो क्या हमें उसे ऐसा करने देना चाहिए ?

सुभाष—नहीं !

विजय—(एकदम) यही तो हमने किया है।

लक्ष्मी—और ठीक किया है।

शरत—और ऐसा करने का उन्हें अधिकार है। वे हैं ही इसलिए। तुम भी इसे मानते हो तो फिर कहना क्या चाहते हो ?

सुभाष—यही कि हमें राज्य की रक्षा करते-करते प्राण दे देने चाहिएँ, प्राण लेने नहीं चाहिएँ। हमें देने का ही अधिकार है लेने का नहीं !

शरत—सुभाष ! यह कोरा आदर्शवाद है।

सुभाष—कर्तव्य का पालन करते हुए मरना यदि आदर्शवाद है तो मैं कहूँगा कि विश्व के प्रत्येक नागरिक को ऐसा ही आदर्शवादी होना चाहिए।

शरत—सुभाष, तुम केवल बोलना जानते हो।

सुभाष—आप से ही सीखा है, भाई साहब।

विजय—लेकिन ज़िम्मेदारी सम्हालना नहीं सीखा।

सुभाष—वह भी सीखा है। मैं जनता से प्रतिज्ञा करके आया हूँ कि आज शाम तक गोली चलाने वाले कप्तान पुलिस को मोअत्तिल कराके छोड़ूँगा।

अन्नपूर्णा—क्या—क्या कहा तुमने !

लक्ष्मी—अपने ही घर में तुम अपनों के दुश्मन बन कर आये हो।

सुभाष—अपना-पराया मैं कुछ नहीं जानता। मैं जनता का प्रतिनिधि हूँ। मैं माननीय उप-मंत्री श्री शरतचन्द्र को बताने आया हूँ कि उनके एक अधिकारी ने निहत्थी जनता पर गोली चला कर जो बर्बर काम किया है, उसकी जाँच

करवानी होगी और जब तक वह जाँच पूरी नहीं होती, तब तक गोली चलाने से सम्बन्धित सब व्यक्तियों को मोअत्तिल करना होगा।

शरत—यह किसकी माँग है?

सुभाष—उस जनता की जिसने आपको गद्दी सौंपी है, जिससे आज आप दूर भागते हैं, डरते हैं।

शरत—मैं डरता हूँ?

सुभाष—हाँ, आप डरते हैं। यदि न डरते तो घर में छिप कर बैठ रहने की बजाय जनता के पास जाते। तब यह नौबत न आती, गोली न चलती, निर्दोष निहत्थे नागरिक न मरते!

शरत—लेकिन तुम भी तो जनता के नेता हो, तुमने कौन सा तीर मार लिया?

सुभाष—मैंने क्या किया है, यह मेरे मुँह से सुन कर क्या करेंगे, पर इतना कहे देता हूँ कि जनता संयत न रहती तो कप्तान विजयचन्द्र यहाँ बैठे न दिखायी देते। इनसे पूछिए तो कि क्या इन्हें बन्दूकें इसीलिए दी गयी हैं कि ज़रा-सा पत्थर आ लगे तो जनता को गोली से भून दें......

लक्ष्मी—गोली न चलती तो......

सुभाष—(एकदम) दादाजी, आप न बोलें। आप व्यापारी हैं। आपका सिद्धांत आपका स्वार्थ है......

लक्ष्मी—(एकदम आवेश में) मैं तो स्वार्थी हूँ, पर तुम अपनी कहो। तुम्हारी नेतागीरी भी तो मुझ स्वार्थी के पैसे से ही चलती है।

सुभाष—ठीक है, उतना पैसा सार्थक होता है...पर आप यह क्यों भूल गये कि उस दिन जब कुछ व्यापारी पकड़े गये थे तो आपने विजय भइया को कितना कोसा था।

लक्ष्मी—और आज तुम कोस रहे हो। क्योंकि तुम मन्त्री नहीं हो, विरोधी दल के हो।

सुभाष—हाँ मैं विरोधी दल का हूँ, लेकिन दादाजी! मैं आपसे बातें नहीं कर रहा।

लक्ष्मी—(क्रोध में) तो मैं ही कब तुमसे बातें कर रहा हूँ, वाह!

(तेज़ी से अन्दर जाते हैं।)

अन्नपूर्णा—दादा जी, दादा जी......

(पीछे-पीछे जाती है, विजय भी जाते हैं।)

सुभाष—मैं माननीय उप-मंत्री महोदय से पूछता हूँ कि......

शरत—(एकदम) और मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या जनता के राज में भी सड़कों पर प्रदर्शन होने चाहिएँ, भीड़ को कानून हाथ में लेना चाहिए।

सुभाष—जब तक सरकार और उसके अधिकारी ठीक आचरण नहीं करेंगे, तब तक जनता प्रदर्शन करती ही रहेगी। कानून हाथ में लेती रहेगी। भाई साहब, इस नौकरशाही ने, शासन की इस भूख ने आपको जनता से दूर कर दिया है।

शरत—सुभाष, तुम बार-बार एक ही बात की रट लगाये जा रहे हो।

सुभाष—मैं ठीक कह रहा हूँ। जनता सरकार के ढाँचे को उतना महत्व नहीं देती जितना अधिकारियों की ईमानदारी और हमदर्दी को। आप चलिए मेरे साथ......

(सहसा शोर बढ़ता है।)

शरत—(एकदम) हाँ मैं चलूँगा, मुझे तो कभी का चले जाना था, पर....यह शोर कैसा है?

सुभाष—अवश्य कोई बात है। देखूँ......

[जाने को मुड़ता है तभी लक्ष्मीचन्द्र की पत्नी तारा देवी विक्षिप्त सी वहाँ आती है।]

तारा—(पागल सी) विजय कहाँ है?

(चारों तरफ देखती है।)

सुभाष—भाभी जी क्या बात है?

तारा—मैं पूछती हूँ विजय कहाँ है? उसका मन चाहा हो गया। उसकी गोली अरविन्द के सीने से पार हो गयी......

शरत—(एकदम) भाभी!

सुभाष—भाभी, तुम क्या कह रही हो!

(सविता का प्रवेश)

सविता—भाभी ठीक कह रही हैं। अरविन्द जनता की सरकार की गोली का शिकार हो गया।

(लक्ष्मीचन्द्र, विजय, अन्नपूर्णा का प्रवेश)

लक्ष्मी—कौन गोली का शिकार हो गया?

सविता—अरविन्द!

लक्ष्मी—(काँप कर) क्या...क्या अरविन्द मर गया?

तारा—हाँ गोली उसके सीने से पार हो गयी! वह मर गया!

[सब हक्के-बक्के रह जाते हैं। पागल से देखते हैं। लक्ष्मीचन्द्र सोफ़े पर गिर पड़ते हैं। विजय दोनों हाथों से मुँह ढक लेते हैं। अन्नपूर्णा पागल सी तारा को सम्हालती है और बोलती है :]

अन्नपूर्णा—अरे मेरे अरविन्द को किसने मार डाला, नाश हो जाय इस पुलिस का। बिना गोली कोई बात ही नहीं करता। अरे विजय, यह तुमने क्या किया ?

विजय—(पागल सा) ओह यह क्या हुआ ? अरविन्द वहाँ क्यों गया था ?

(टेलीफ़ोन की घंटी बजती है सविता उठती है।)

सविता—हलो, जी हाँ, हैं, (विजय से) कप्तान साहब आपका फ़ोन है।

विजय—(फोन लेकर) जी हाँ क्या...भीड़ बेकाबू हो गयी है, टोलीगंज में, आया, अभी आया।

(चोंगा पटक कर तेज़ी से किसी की ओर देखे बिना भागता है।)

सुभाष—मैं भी जाता हूँ कहीं कुछ हो न जाय।

(जाता है।)

शरत—मैं भी चलता हूँ।

(मुड़ता है पर जब तारा बोलती है तो ठिठक जाता है।)

अन्नपूर्णा—तारा भाभी जी अन्दर चलें।

(उठाती है।)

तारा—(पूर्ववत) सब जाओ पर अरविन्द क्या आयगा ? उसने किसी का क्या बिगाड़ा था। वह चिल्लाया—मैं दंगा नहीं करता, मैं बाज़ार जाता हूँ...

(विक्षुब्ध जाती है।)

लक्ष्मी—पर मदान्ध पुलिस वालों ने एक न सुनी पुलिस को अपनी जान इतनी प्यारी है कि एक दस वर्ष के बच्चे से भी उन्हें डर लगा......

सविता—(जाते-जाते) किसी ने उसकी आवाज़ नहीं सुनी। किसी ने उसकी ओर नहीं देखा।

लक्ष्मी—सब अन्धे हैं। ताकत के अन्धे ! जो सामने आता है उसे कुचल देना चाहते हैं। चाहे वह धूल हो चाहे पत्थर......

शरत—(जाता हुआ व्यथा से) ओह, यह क्या हो रहा है। यह क्या हुआ ?

लक्ष्मी—वही हुआ जो विजय चाहता था, जो तुम चाहते थे।

शरत—(एकदम) दादा जी......

लक्ष्मी—(पूर्ववत) तुमने मेरा घर बरबाद कर दिया। मेरे बच्चे को मार डाला। तुम सब हत्यारे हो......

शरत—दादा जी, ओह, मैं क्या कहूँ......

लक्ष्मी—(पूर्ववत) जब पैसे की ज़रूरत होती है तो मेरे पास भागे आते हो। टैक्स माँगते हो, दान माँगते हो, व्यापार में पैसा लगाने को कहते हो और...मुझी पर गोली चलाते हो......

शरत—दादा जी, गोली उन्होंने जानबूझ कर नहीं चलायी। अरविन्द तो बच्चा था! उससे किसी का क्या बैर था?

लक्ष्मी—बैर क्यों नहीं था। वह जनता में था और तुम हो जनता के शत्रु! मैं अभी जाकर विजय से पूछता हूँ......

(जाने को उठते हैं, सविता आती है।)

सविता—अभी रुकिए दादा जी। भाभी जी को दौरा पड़ गया है...(टेलीफ़ोन की घंटी बजती है, उठाती है) हलो, जी हाँ, (शरत से) आपका फ़ोन है।

शरत—(फ़ोन लेकर) हलो, जी हाँ। क्या...मंत्रि-मण्डल की बैठक हो रही है, मुझे भी बुलाया है। मैं अभी आया!

(फ़ोन रख कर जाने को मुड़ते हैं। तभी सुभाष का तेज़ी से प्रवेश)

सुभाष—भाई साहब! आपको अभी चलना है।

शरत—मैं चल ही रहा हूँ। मंत्रि-मण्डल की बैठक हो रही है।

सुभाष—वहाँ नहीं, आपको मेरे साथ चलना है। आपको जनता के पास चलना है। जनता में बड़ी उत्तेजना है। विद्यार्थी पीछे रह गये, दूसरे समाजद्रोही तत्व आगे आ गये हैं और विजय ने गोली चलाने से इनकार कर दिया है।

शरत—(पागल सा) विजय ने गोली चलाने से इनकार कर दिया।

सुभाष—जी हाँ

शरत—वह कहाँ है?

सुभाष—भीड़ के सामने

शरत—वह भीड़ के सामने है। (एकदम दृढ़ होकर) चलो सुभाष मैं देखता हूँ, जनता क्या चाहती है।

(दोनों जाते हैं।)

सविता—मैं भी चलती हूँ।

लक्ष्मी—मैं भी चलता हूँ।

सविता—नहीं, नहीं, आप ठहरें। आप भाभी जी को सम्हालें।

(जाती है, तभी अन्नपूर्णा आती है।)

अन्नपूर्णा—क्या हुआ दादा जी, सब कहाँ गये?

लक्ष्मी—सब गये। सुभाष आया था। कहता था विजय ने गोली चलाने से इनकार कर दिया। अब...अब तो इनकार करना ही था। वे तो मेरे बच्चे को मारना चाहते थे......

अन्नपूर्णा—नहीं, नहीं, दादाजी यह बात नहीं थी।

लक्ष्मी—यह बात कैसे नहीं थी? मैं उन सबको जानता हूँ। वे मेरे पैसे से आगे बढ़े और मुझी को बरबाद कर दिया। मैं पूछता हूँ उन्होंने पहले ही गोली चलाने से इनकार क्यों न किया। क्योंकि...क्योंकि......

अन्नपूर्णा—नहीं, दादाजी, नहीं......

लक्ष्मी—(आवेश) ये मेरे छोटे भाई...एक ने मुझे स्वार्थी, देशद्रोही कहा, दूसरे ने मेरे बेटे को मार डाला। मेरे मासूम बच्चे को मार डाला, मार डाला

(रोकर गिर पड़ते हैं।)

अन्नपूर्णा—(सम्हालती हुई) दादाजी, दादाजी। ओह, यह एक ही घर में क्या होने लगा। भाई भाई में यह मनमुटाव। (एकदम) नहीं, नहीं, यह नहीं होगा। दादाजी, आप ग़लत समझ रहे हैं......

लक्ष्मी—(आँखें खोल कर) मैं ग़लत समझ रहा हूँ...मैं ग़लत समझ रहा हूँ... अरविन्द, मेरे बच्चे, तू चला गया, मैं तुझ से दो बातें भी न कर सका, तू तो भीड़ में भी नहीं था! अरविन्द......

(तारा का प्रवेश)

तारा—अरविन्द। क्या अरविन्द आया है। कहाँ है?

(अन्नपूर्णा तारा को पकड़ती है।)

अन्नपूर्णा—भाभी जी, भाभी जी आप क्यों उठ आयीं। हम अभी अस्पताल चलते हैं। आप अपने को सम्हालिए।

[अन्दर ले जाती है। लक्ष्मीचन्द्र भी जाते हैं। तभी अस्त-व्यस्त, परेशान सविता का प्रवेश]

सविता—(बोलती जाती है) अद्भुत दृश्य था, अपार भीड़ थी, उनके आगे खड़े थे कप्तान भइया। दूर से देख सकी। किसी ने पास जाने ही नहीं दिया। एक रेला आया और मैं पीछे आ पड़ी।

(अन्नपूर्णा आती है।)

अन्नपूर्णा—तुम आ गयीं। वे लोग कहाँ हैं ? सुभाष कहाँ है ?

सविता—कुछ पता नहीं, मुझे किसी का कुछ पता नहीं। मैं आगे नहीं बढ़ सकी और वे दोनों आगे बढ़े चले गये। एक बार भीड़ के बीच में सब को देखा फिर उस ज्वार-भाटे में सब कुछ छिप गया। (टेलीफ़ोन की घंटी बजती है, उठाती है।) हलो, जी हाँ, जी वे तो गये। जी हाँ भीड़ में जाते मैंने देखा था। जी हाँ। (फ़ोन रखती है) मंत्रि-मण्डल की बैठक में शरत भाई साहब का इन्तज़ार हो रहा है। वे अभी तक पहुँचे ही नहीं। मैं कहती हूँ ये लोग मंत्रि-मण्डल की बैठकें क्यों कर रहे हैं। जो लोग विदेशियों की गोलियों से नहीं डरे, वे अपने ही बच्चों और भाइयों से क्यों डरते हैं ? जनता में क्यों नहीं आते......

अन्नपूर्णा—क्योंकि शासन भीड़ में आकर नहीं चलाया जाता। आख़िर जनतंत्र भी तो कानून का राज है ?

सविता—है, पर...(एकदम) नहीं, अब बहस करने का समय नहीं है। सोचने का और काम करने का समय है। बेचारा अरविन्द ! उसकी मौत क्यों हुई। जन-राज्य में एक निर्दोष, निरीह, बालक की हत्या क्यों हुई ? (टेलीफ़ोन की घंटी फिर बजती है, उठाकर) हलो, क्या, हाँ, हाँ, कप्तान साहब तो कभी के चले गये। क्या, उनका पता नहीं मिल रहा ! नहीं, नहीं, वे...वे भीड़ के सामने थे। मैंने देखा था। जी हाँ मैंने देखा था। उधर का क्या हाल है, ठीक नहीं, हूँ। उनके हुक्म के बिना कुछ नहीं कर सकते...हाँ, हाँ, आये तो कह दूँगी...क्या...कोई आया है। हाँ, हाँ, पूछिए...हलो...हलो...हलो...(फ़ोन रख कर) कनेक्शन काट दिया...अवश्य कोई बात है। (जाने को मुड़ती है।) मैं जाती हूँ...

अन्नपूर्णा—सविता। तुम न जाओ। ठहरो तो सविता........(सविता नहीं रुकती) गयी।

लक्ष्मी—(आकर) कौन गयी ? क्या बात है ?

अन्नपूर्णा—ज़रूर कोई बात है। सविता टेलीफ़ोन कर रही थी, पता नहीं किसी ने क्या कहा, भागी चली गयी।

लक्ष्मी—तो मैं भी जाता हूँ। अरविन्द को भी लाना है।

(गला रुँध जाता है, तेज़ी से जाते हैं।)

अन्नपूर्णा—दादाजी ! अभी रुकिए ! किसी को आ जाने दीजिए।

लक्ष्मी—घबराओ नहीं, मैं बच्चा नहीं हूँ।

[जाते हैं, दूसरे द्वार से विजय की पत्नी उमा, आयु ४२ वर्ष, पागलों की तरह आती है।]

उमा—जीजी ! सब कहाँ है ?

अन्नपूर्णा—मुझे पता नहीं। यहाँ से तो कभी के गये। क्या तुम्हें सविता नहीं मिली।

उमा—मुझे कोई नहीं मिला अरविन्द की खबर सुन कर भागी आ रही हूँ। जीजी...जीजी, मैं भाभी जी को कैसे मुँह दिखाऊँगी ? मैं मर क्यों न गयी।

अन्नपूर्णा—(शून्यवत) न जाने क्या होने वाला है। एक ही घर के लोग एक दूसरे को खा रहे हैं। (बाहर भीड़ का शोर) यह क्या ? लोग इधर आ रहे हैं।

उमा—(द्वार पर जाकर देखती है, चीख पड़ती है।) जीजी...ई...ई......!

अन्नपूर्णा—क्या हुआ ? क्या हुआ उमा ?

[उठ कर तेज़ी से आगे बढ़ती है। तभी घायल शरत वहाँ आते हैं। मुख पर घाव हैं। एक हाथ बँधा है।]

अन्नपूर्णा—(काँप कर) आप ! यह क्या हुआ ?

शरत—वही जो होना चाहिए था। विजय भीड़ में कुचला गया, पर उसने गोली नहीं चलायी।

उमा—कुचले गये, कौन ?

शरत—विजय कुचला गया। चला गया।

उमा—(चीख कर) भाई साहब, वे कहाँ हैं !

(भागती है।)

अन्नपूर्णा—(शरत से) यह तुम क्या कह रहे हो ?

शरत—भीड़ सन्तुलन खो बैठी थी, विवेक खो बैठी थी। वह चिल्लाती रही—'अरविन्द कहाँ है ? अरविन्द को लौटाओ !' और विजय भीड़ के सामने अड़ा रहा। चिल्लाता रहा—'मुझसे अरविन्द का बदला लो। मैंने अरविन्द को मारा है। तुम मुझे मार डालो !'

उमा—और भीड़ ने उन्हें मार डाला।

शरत—पता नहीं किसने मार डाला...उनके गिरते ही भीड़ पर जैसे अंकुश लग गया, पर...पर...जब वहाँ शांति हुई तो विजय और सुभाष दोनों कुचले हुए पड़े थे।

उमा—सुभाष भी !

अन्नपूर्णा—सुभाष भी कुचला गया। हाय......

शरत—हाँ सुभाष भी कुचला गया। लेकिन ख़बरदार जो उनके लिए रोये। रोने से उन्हें दुख होगा। उन्होंने प्राण दे दिये, पर शासन और जनता का सन्तुलन ठीक कर दिया। वे शहीद हो गये, पर दूसरों को बचा गये। नगर में अब बिलकुल शांति है। सब मौन, सगर्व इन बलिदानों की चर्चा कर रहे हैं। सब शोक-संतप्त हैं। (बाहर देख कर) लो वे आ गये। रोना मत... रोना मत...(आगे बढ़ कर) हाँ, वहीं लिटा दो......

[तभी लक्ष्मीचन्द्र और सविता के साथ पुलिस के तथा दूसरे अधिकारियों का प्रवेश। धीरे-धीरे वे विजय, सुभाष और अरविन्द की लाशें बराबर के कमरे लाकर रखते हैं। एक भयंकर सन्नाटा छाया रहता है। सविता का मुख पत्थर की तरह कठोर है। लक्ष्मीचन्द्र तूफ़ान की तरह काँप रहे हैं। शरत दृढ़ता से प्रबन्ध में लगे हैं। सहसा उमा तेज़ी से बढ़ती है, बराबर के कमरे में झाँक कर ज़ोर की चीख़ मारती है:]

उमा माँ...ऽऽ री...ई...यह क्या हुआ ?

(तारा अन्दर से आती है।)

तारा—कैसा शोर है अन्नपूर्णा। अरविन्द आ गया। कहाँ है ?

शरत—भाभी यह देखो, कमरे में तीनों लेटे हैं। कभी नहीं उठेंगे। ये अरविन्द और सुभाष हैं—यह जनता की क्षति है। और इधर यह विजय है—यह सरकार की क्षति है।

अन्नपूर्णा—(रोकर) यह तुम कैसी बावलों की-सी बातें करते हो। यह सब मेरे घर की क्षति है।

सविता—(उसी तरह पत्थर-वत्) नहीं जीजी। यह घर की नहीं, सारे देश की क्षति है, देश क्या हमसे और हम क्या देश से अलग हैं ?

शरत—तुमने ठीक कहा सविता। यह हमारे देश की क्षति है। जनतंत्र में सरकार और जनता के बीच कोई विभाजक-रेखा नहीं होती......

(पर्दा गिरता है।)

'नवजोती' की नयी हीरोइन

●●

सत्येन्द्र शरत

[बम्बई के अढाई कमरे वाले एक फ़्लैट का सजा हुआ ड्राइंग-रूम। फर्नीचर और सजावट के सामानों को गिनाना व्यर्थ है, इसलिए कि यदि यह नाटक खेला गया तो खेलने वाले अपने साधन और अपनी सुविधा के अनुसार ये सब चीज़ें जुटायेंगे, मेरी दी हुई सूचि के अनुसार नहीं। वैसे आम फ़र्नीचर के साथ एक कोने में एक कुर्सी और एक राइटिंग-टेबल भी हो तो अच्छा है। टेलिफ़ोन उसी टेबल पर होगा।

कमरे के दो दरवाज़े हैं—दायीं और बायीं ओर। दोनों दर्शकों से अदृश्य हैं। बायीं ओर का दरवाज़ा फ़्लैट का प्रमुख द्वार है, जिससे आगन्तुक आयेंगे। दायीं ओर का दरवाज़ा अन्दर बैड-रूम और किचन में जाता है। नौकर इस द्वार से स्टेज पर आयेगा।

पर्दा उठने पर घर का नौकर फ़र्नीचर और दूसरा सामान झाड़ता-पोंछता दीख पड़ता है। पहाड़ी लहजे में वह कोई गीत भी गुनगुना रहा है।

कुछ क्षण बाद एक सुन्दर, स्वस्थ युवक बायीं ओर से अन्दर आता है। यह घर का स्वामी रामेश्वर है। वह एक ओर चुपचाप खड़ा हो जाता है और नौकर को गीत गाते देखता रहता है। सहसा वह आगे बढ़ता और नौकर को पुकारता है।]

रामेश्वर—भगवान !

भगवान—(चौंकता है और रामेश्वर को देखता है।) जी बाबू जी !

रामेश्वर—भगवान, तुम काम कम करते हो और गाना ज़्यादा गाते हो......

भगवान—(दोनों हथेलियाँ मलता हुआ) बाबू जी, मैं ख़ाली बैठे गाना नहीं गाता। मैं तो काम करते हुए गाना गाता हूँ...जितना गाता हूँ उतना ही काम करता हूँ।

रामेश्वर—अच्छा अच्छा। तुम ने सब चीज़ें ठीक-ठाक कर ली हैं न?

भगवान—जी बाबू जी, बस चिवड़ा रह गया है। कमरा साफ़ करके मैं अभी चिवड़ा तैयार करता हूँ।

रामेश्वर—अच्छा तो जल्दी करो....(दीवार-घड़ी की ओर देखता हुआ) पाँच बजने वाले हैं।

भगवान—(अन्दर की ओर जाता हुआ) जी बाबू जी!...(सहसा रुक कर, रामेश्वर को सम्बोधित करता हुआ) बाबू जी!

रामेश्वर—क्या बात है?

भगवान—बाबू जी, बीबी जी सचमुच ही फिलिम कम्पनी में जा रही हैं?

रामेश्वर—क्यों? तुम से मतलब?

भगवान—जी, अगर बीबी जी को फिलिम में काम मिल रहा है तो बाबू जी फिर मेरे भी भाग जग गये। फिर तो बाबू जी, बीबी जी की वजह से मुझको भी कहीं चानस मिल जायगा।

रामेश्वर—(रस लेते हुए) क्यों, तुमको भी फिलिम में काम करने का शौक है?

भगवान—(गहरी साँस लेकर) अजी बाबू जी, इसी शौक की वजह से तो घर से भाग कर यहाँ बम्बई आया हूँ।

रामेश्वर—(मुस्करा कर) अच्छा, अगर तुम्हें बीबी जी से अपनी सिफ़ारिश करवानी है तो तुम्हें चाहिए कि अपने काम से अपनी बीबी जी को हमेशा खुश रक्खो...तभी बीबी जी तुम्हारे लिए भी कोशिश करेंगी।...समझ गये न?

भगवान—(सिर हिलाता हुआ) जी...समझ गया।

रामेश्वर—अच्छा, अब बातें मत करो। तुम्हारी बीबी जी कपड़े बदल कर यहाँ आने ही वाली हैं। उनके यहाँ आने से पहले ही तुम किचन में पहुँच कर काम में जुट जाओ!

भगवान—अच्छा जी......

(लेकिन जाता नहीं, खड़ा रहता है।)

रामेश्वर—जाओ भागो!

भगवान—(जाते हुए) जा रहा हूँ बाबू जी!

[भागता हुआ-सा अन्दर चला जाता है। रामेश्वर मुस्कराता हुआ खड़ा रहता है और कमरे में चारों ओर दृष्टि फेंकता है। कुछ क्षण

बाद वह दायीं ओर बढ़ता है और दायें प्रवेश-द्वार के निकट खड़ा होकर कहता है—]

रामेश्वर—अरे मालती, तुम अभी तक तैयार ही नहीं हुईं !

मालती—(अन्दर से) हो गयी हूँ । बस, साड़ी पहन रही हूँ ।

रामेश्वर—वह तो तुम पिछले आधे घंटे से पहन रही हो...(रुक कर) किसी बड़े आदमी ने सच ही कहा है, जितने समय में औरतें कपड़े पहन कर तैयार होती हैं, उतने समय में किसी देश की क़िस्मत का फ़ैसला हो सकता है—मैं तो बल्कि यह कहना चाहूँगा कि किसी एक देश का नहीं, सारे संसार की क़िस्मत का फ़ैसला हो सकता है ।

मालती—(हँस कर) और मज़ा यह कि इतना सब हो चुकने पर भी स्त्री तैयार न हो पायेगी......

रामेश्वर—(ज़ोर से हँसता है ।) मालती, जीवन में आज पहली बार इंटेलिजेंट बात कही है तुमने ! ज़रा इसी बात पर बाहर तो आ जाओ......

मालती—यह लीजिए आ गयी ।

[सुन्दर और क़ीमती रेशमी कपड़ों में आवृत मालती दाहिनी ओर से आती है । रामेश्वर उसे देखता रहता है । मालती लजा जाती है ।]

मालती—(लजाये स्वर में) ऐसे क्या देख रहे हैं ?

रामेश्वर—(मुस्करा कर) कुछ नहीं । कभी-कभी पुरानी आदतें याद आ जाती हैं ।

मालती—(लजा कर) अच्छा, बैठ तो जाइए ! आप को खड़े रहने की सज़ा किस ने दी है ?

रामेश्वर—(बैठते हुए) यों ही । तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था । तुम भी तो बैठो ।

मालती—लीजिए ।

(सोफ़े पर बैठ जाती है ।)

रामेश्वर—(मालती की ओर देखते हुए) अच्छा, तो 'नवजोती फ़िल्म्स' के डायरेक्टर ने तुम्हें अपनी इसी पिक्चर में एक साइड-रोल दे दिया है ।

मालती—हाँ...मिसेज़ कांताबाला के बहुत कहने पर ही वे राज़ी हुए...बात यह है कि उनकी कास्टिंग हो चुकी है ।

रामेश्वर—ओ ! ..तो जो रोल तुम करने जा रही हो, वह पहले कौन कर रहा था ?

मालती—कोई मिस अंजलि मेहता थीं।......अब उनकी जगह मैं यह रोल करूँगी। डायरेक्टर साहब कह रहे थे कि इस पिक्चर में तो रोल बहुत छोटा है, लेकिन अगली पिक्चर में उन्होंने मुझे बड़ा रोल देने का प्रॉमिज़ किया है।

रामेश्वर—(हँस कर) हाँ, अगर उनकी अगली पिक्चर बनी तो......

मालती—(बात काट कर) क्या मतलब ?

रामेश्वर—भई, इस लाइन का क्या भरोसा...? ख़ैर, आख़िर डायरेक्टर साहब ने क्या कहा ?

मालती—उन्होंने कहा था कि वे आज अपने प्रोडक्शन-मैनेजर को यहाँ भेजेंगे, ताकि वह कुछ ज़रूरी जानकारी हासिल कर ले और मुझसे इस पिक्चर के लिए टर्म्ज़ आदि तय कर ले...

रामेश्वर—(स्वर में किंचित आश्चर्य है।) टर्म्ज़ प्रोडक्शन-मैनेजर तय करता है ?...

मालती—हाँ। बात यह है कि प्रोडक्शन-मैनेजर, पिक्चर के फ़नाँसर सेठ बुलाकीदास दामोदरमल का ख़ास आदमी है। सेठ जी उसी की मानते हैं। अगर प्रोडक्शन-मैनेजर मुझ से इम्प्रेस हो जाय और सेठ जी से मेरे फ़ेवर में बात करे, तो मेरे चान्सेज़ बड़े स्ट्रौंग हो जाते हैं......

रामेश्वर—यानी ?......

मालती—यानी इस पिक्चर में भी अच्छे पैसे मिल जायँगे और अगली पिक्चर में तो हो सकता है कि मुझे ही हीरोइन ले लिया जाय......

रामेश्वर—और इस तरह तुम्हारी क़िस्मत जाग उठेगी।

मालती—साथ में तुम्हारी नहीं ?

रामेश्वर—हाँ, अब तो मेरी तुम्हारी क़िस्मतें जुड़ गयी हैं...(मुस्करा कर) चलो, यह सौभाग्य भी विरलों को ही नसीब होता है।

मालती—(कुछ आश्चर्य से) कौन-सा सौभाग्य ?

रामेश्वर—पत्नी के टिकट पर ख्याति पाना......

मालती—(उठ खड़ी होती है) अच्छा, अब बातें बनाना छोड़िए। कुछ काम कीजिए।

रामेश्वर—(फ़ुर्ती से उठ खड़ा होता है।) आज्ञा दीजिए, क्या काम है ?

मालती—(व्यग्र स्वर में) ज़रा देखना, चाय और खाने का सब सामान तैयार है न ?

रामेश्वर—इतनी छोटी-छोटी बातों की चिन्ता कर अपना यह सुन्दर शरीर घुलाने लगोगी तो फिर हीरोइन कैसे बनोगी ?

मालती—तुम्हें तो हमेशा मज़ाक ही सूझता रहता है।

रामेश्वर—हमेशा नहीं, तुम्हें देख कर ही !

मालती—अच्छा इस वक़्त रहने दो। ज़रा देख लो, सब चीज़ें ठीक हैं न ?

रामेश्वर—हाँ सब ठीक हैं। सिर्फ़ चिवड़ा अभी तक तैयार नहीं हुआ।

मालती—(चिढ़े स्वर में) दो घंटे हो गये हैं, अभी तक तैयार नहीं हुआ ! यह भगवान बहुत सुस्त है।

रामेश्वर—(हँस कर) क्या करे बेचारा ? इस नाम के सभी जीव-जन्तु सुस्त होते हैं।

मालती—(चिढ़ कर) तुम हमेशा उसका पक्ष लेते हो। क्या बात है ?

रामेश्वर—भाई मैं आस्तिक हूँ। भगवान का पक्ष न लूँ ?...और फिर इस बम्बई में भगवान—मेरा मतलब है नौकर—मिलते कहाँ हैं ?

मालती—हाँ, (घड़ी की ओर देखती हुई) यह घड़ी भी कमबख़्त सुस्त हो गयी है। कितने धीरे-धीरे चल रही है।

रामेश्वर—आज तो तुम्हें सभी चीज़ें सुस्त दीखेंगी। आज तुम्हारा दिल जो बल्लियों उछल रहा है।

मालती—तुम्हारी घड़ी में क्या टाइम है ?

रामेश्वर—दीवार-घड़ी ठीक है। दोनों घड़ियों में एक ही टाइम है—पाँच बजने में दो मिनट।

मालती—ओह ! अभी तक दो मिनट बाकी हैं।

रामेश्वर—(हँस कर) कहो तो घड़ी की सुई आगे सरका दूँ। अभी पाँच बज जायेंगे।

मालती—(अचानक) सुनो जी, जैसे-जैसे घड़ी की सुई आगे सरक रही है, मेरा दिल घबरा रहा है। कुछ नर्वसनेस मालूम हो रही है। क्या करूँ ?

रामेश्वर—(हँस कर) नौशादर की शीशी सूँघ लो। तबियत फ़्रेश हो जायेगी।

मालती—फिर मज़ाक। बड़े बेरहम हो !

रामेश्वर—अच्छा, मुझे एक बात तो बता दो। वह जो तुम्हारे प्रोडक्शन-मैनेजर साहब आने वाले हैं न, उनके सामने मुझे क्या करना होगा ?

मालती—कुछ नहीं। आराम से राइटिंग-टेबल पर कुछ पढ़ते लिखते रहना। हम लोग (सोफ़े की ओर इशारा कर) यहाँ बातें करते रहेंगे।

रामेश्वर—ठीक है। (अचानक) हाँ मालती, यह तो बताओ कि मिस्टर कोलम्बस का सही नाम क्या है?

मालती—(साश्चर्य) कोलम्बस!

रामेश्वर—हाँ हाँ; जिन्होंने तुम्हारी डिस्कवरी की है—यानी जिनकी तुम नयी खोज हो।

मालती—ओह! (हँसती है।) उनका नाम मिस्टर जाधव राव है।

रामेश्वर—(हँसता है, फिर घड़ी की ओर देख कर) लो, पाँच भी बज गये।

मालती—(आकुलता से) अब प्रोडक्शन-मैनेजर साहब आने ही वाले होंगे।

रामेश्वर—(मुस्करा कर) हाँ, अगर उनकी घड़ी में भी पाँच बज गये होंगे तो।

मालती—(बायें दरवाज़े तक जाती है, सहसा मुड़ती है।) अच्छा जी, तुमने मेरे नये फ़ोटोग्राफ़्स देखे?

रामेश्वर—वे जो तुमने फ़िल्म के इस इन्टरव्यू के लिए खिंचवाये हैं?

मालती—हाँ!

रामेश्वर—नहीं, तुमने दिखाये ही नहीं।

मालती—अभी लो......(चंचलता से) ज़रा बताना, कैसे हैं? (राइटिंग-टेबल की ड्राअर में से एक लिफ़ाफ़ा लाती है।) लो, ये देखो......

रामेश्वर—(लिफ़ाफ़े में से तस्वीरें निकालता है, देखते हुए) हूँ...गुड!...वेरी गुड!...स्टूडियो शां-प्रीला में खिंचवाये हैं न?

मालती— चेहरे पर प्रसन्नता है) हाँ!

रामेश्वर—(एक फ़ोटो देखते हुए) अच्छा! इस फ़ोटो में आप ने हाथ में फूल भी ले रखा है। यह किस लिए साहब?

मालती—जिससे फ़ोटो में स्वाभाविकता आ जाय।

रामेश्वर—(हँसता है) ओह! मैं तो समझा था कि......

मालती—क्या?

रामेश्वर—कि फ़ोटो में खुशबू आ जाय। (धीमे हँसी) नहीं साहब यह तीनों पोज़ अच्छे हैं।

मालती—(प्रसन्न स्वर में, लेकिन बनती हुई) भई, मुझे तो यह पोज़ पसन्द नहीं।

रामेश्वर—क्यों? इसमें क्या ख़राबी है?

मालती—देखो न...इसमें मेरी नाक कितनी छोटी है !

रामेश्वर—(हँस कर) क्या हर्ज है ? साल दो साल में अपने आप बड़ी हो जायगी।

मालती—(बन कर) तुम फिर मज़ाक कर रहे हो !

रामेश्वर—नहीं, सीरियसली कह रहा हूँ। इस फ़ोटो में तो मुझे दूसरा ही डिफ़ेक्ट नज़र आता है ।

मालती—क्या ?

रामेश्वर—तुमने गले में जो हार पहन रखा है वह इतना बढ़िया है कि सारा ध्यान तो यही खींच लेता है। हुआ यह है कि इस फ़ोटो में यह हार फ़ोरग्राउँड में आ गया है और तुम्हारा चेहरा बैकग्राउँड में चला गया है।

मालती—(खीज कर) अच्छा, लाइए फ़ोटोग्राफ़्स ! मेरी ग़लती थी जो मैंने आपको दिखाये ।

(रामेश्वर हँसता है—सहसा कॉल बेल बजती है।)

मालती—(मुदित स्वर में) लो वे आ गये हैं, मालूम पड़ता है ।

रामेश्वर—ये फ़ोटो कहाँ रखूँ ?

मालती—उधर डाल दो न मेज़ पर। (आवाज़ देती है।) भगवान ! ओ भगवान !

भगवान—(अन्दर से) जी बीबी जी (चिवड़े की तश्तरी लिये भागा चला आता है।)...जी बीबी जी ।

मालती—देख, दरवाज़े पर जो साहब हैं, उन्हें अन्दर ले आ ।

भगवान—अच्छा जी बीबी जी।

(बायीं ओर जाने लगता है।)

मालती—गधे, वह चिवड़े की तश्तरी हाथ में लिये बाहर कहाँ जा रहा है ? उसे यहीं रख दे न !

भगवान—ओह ! ग़लती हो गयी बीबी जी ।

(तश्तरी मेज़ पर रखता है।)

मालती—जल्दी जा।

भगवान—(जाते हुए) जा रहा हूँ बीबी जी ।

मालती—(सहसा) अरे भगवान सुनो सुनो ।

भगवान—(वापस आकर) जी बीबी जी !

मालती—एकदम दरवाज़ा मत खोल। पहले झिरमिरी में से झाँक कर देख आ कि कौन साहब हैं बाहर।

भगवान—अच्छा बीबी जी।

(बाहर चला जाता है।)

रामेश्वर—क्यों, इस बात का क्या मतलब ?

मालती—थोड़ी सावधानी बरतने में क्या हर्ज है ? यह भी तो हो सकता है कि यह कॉल-बेल प्रोडक्शन-मैनेजर साहब की बजाय हमारे किसी परिचित या मित्र ने बजायी हो।

रामेश्वर—(सोचता-सा) वैसे आज किसी के आने की बात तो नहीं थी।

मालती—अजी, ये मित्र या परिचित लोग पहले से टाइम तय कर के थोड़े ही आया करते हैं ?

(भगवान भागा-भागा आता है।)

भगवान—बीबी जी, एक मोटे-से साहब दरवाज़े पर खड़े हैं।

रामेश्वर—मोटे-से साहब ?

मालती—मोटे से साहब ! (रामेश्वर को देखती हुई) हमारे जानकारों में तो कोई मोटे-से साहब हैं नहीं। यक़ीनन वे प्रोडेक्शन-मैनेजर ही हैं। जा, भागता हुआ जा और उन्हें फ़ौरन अन्दर ले आ।

भगवान—(भागता जाता है।) अच्छा जी......

मालती—(डाँटते स्वर में) तुम अब यहाँ इस तरह मत खड़े रहो। वहाँ कुर्सी पर बैठ जाओ। 'फ़िल्मफ़ेयर' पड़ा है, उसे देखते रहो। (रामेश्वर बिना कुछ बोले कुर्सी की ओर बढ़ता है।) पर तुम अपना कालर तो ठीक कर लो। (रामेश्वर अपना कालर ठीक करने लगता है।) लेकिन पहले ज़रा तुम मेरा जूड़ा ठीक कर दो !

[रामेश्वर अपना कालर वैसे ही छोड़ मालती का जूड़ा ठीक करने लगता है।]

रामेश्वर—(ठीक करके) यह लो......

मालती—अब ठीक है न ?......

रामेश्वर—(मुस्करा कर) फ़र्स्ट क्लास !

मालती—(धीमे स्वर में) सुनो जी, मैं कैसी लग रही हूँ ?

रामेश्वर—(उसको बाहों में लेने का प्रयास करते हुए) सुनना चाहती हो तो...

मालती—(अपने को रामेश्वर की बाहों से छुड़ाते हुए) छोड़ो जी ! देखो, वे साहब आ गये हैं।

[भगवान के साथ एक मोटे-से साहब अन्दर पधारते हैं। रामेश्वर मालती को मुक्त कर देता है। मालती उन सज्जन को देख, निराशा से रामेश्वर की ओर देखती है।]

मालती—(नमस्ते करती हुई) नमस्ते अभिमन्यु जी......

अभिमन्यु—(हाथ जोड़ नमस्ते करता है।) नमस्ते मालती जी......

मालती—आइए, आइए। इधर बैठिए।

अभिमन्यु—(बैठता हुआ) धन्यवाद! (रामेश्वर की ओर इशारा कर) आप शायद देवटिया साहब हैं?

मालती—(मुस्करा कर) जी हाँ!

(रामेश्वर अभिमन्यु जी को नमस्ते करता है।)

रामेश्वर—(अभिमन्यु की ओर संकेत कर) मालती, आपकी तारीफ़?

मालती—ओह! आप हैं श्री अभिमन्यु पांडे—'माहीम आर्ट थियेटर' के सेक्रेटरी। स्वयं भी बहुत अच्छे अभिनेता हैं। पिछले वर्ष क्लब की ओर से जो 'उत्तरा अभिमन्यु' नाटक हुआ था न......

रामेश्वर—हाँ हाँ......

मालती—उसमें अभिमन्यु का पार्ट आप ही ने किया था।

रामेश्वर—(मुस्करा कर) ओह! साहब बड़ी प्रसन्नता हुई आप से मिल कर। कहिए, आज हम पर कैसे कृपा की?

अभिमन्यु—(मुस्करा कर) अजी, कृपा कैसी? अपने स्वार्थ से आया हूँ। मालती जी को फिर कष्ट देना है।

मालती—किस बात के लिए?

अभिमन्यु—इस बार 'माहीम आर्ट थियेटर' की तरफ़ से 'चट्टान' ड्रामा खेला जा रहा है। मिस्टर रायमोहन ही डायरेक्ट कर रहे हैं। कल एक इन्फ़ॉर्मल मीटिंग कर, हमने उसकी कॉस्टिंग कर ली थी। लीडिंग रोल आप कर रही हैं। इस शुक्रवार को ६ बजे उसकी पहली रिहर्सल है—गोखले हॉल. बी. बी. सी. आई. दादर में। आप को आना है।

मालती—माफ़ कीजिए। मैं न आ सकूँगी।

अभिमन्यु—(घबराये स्वर में) क्यों आपकी तबियत तो ठीक है?......

मालती—जी हाँ तबियत तो ठीक है। पर मैं ड्रामे में पार्ट न कर सकूँगी।

अभिमन्यु--(साश्चर्य) यह आप क्या कह रही हैं मालती जी ? हमारे पिछले ड्रामों की कामयाबी में आपका बहुत बड़ा हाथ रहा है। आपके भरोसे पर ही हमने इस बार इतना मुश्किल ड्रामा चुना है। मिस्टर रायमोहन की तो शुरू ही से यह राय थी।

मालती—आप मिस्टर रायमोहन को मेरा धन्यवाद कह दीजिएगा और मेरी ओर से माफ़ी माँग लीजिएगा।

अभिमन्यु—पर ड्रामे में काम न करने की वजह तो बता दीजिए। क्या हम लोगों से कोई ग़लती हो गयी है ?

मालती—जी नहीं। बात यह है कि मुझे एक फ़िल्म में काम मिल गया है। अगले महीने से उस फ़िल्म की शूटिंग है। मैं दो नावों में न चल सकूँगी।

अभिमन्यु—(हताश स्वर में) तो आपने भी फ़िल्म्स ज्वायन कर लीं ! ख़ैर ! ......किस पिक्चर में काम कर रही हैं आप ?

मालती—पिक्चर का नाम तो नहीं मालूम। पर उसे नवजोती फ़िल्म कम्पनी प्रोड्यूस कर रही है।

अभिमन्यु—(साश्चर्य) नवजोती फिल्म कम्पनी ! पर मालती जी नवजोती की एक अभिनेत्री तो हमारे ड्रामे में भी काम कर रही हैं। बहुत कोशिश कर रही हैं बेचारी कि हीरोइन का रोल मिल जाय उन्हें। कल ही आयी हैं।

मालती—(कौतूहल पूर्वक) क्या नाम है उनका ?

अभिमन्यु—मिस अंजलि मेहता।

मालती—(प्रसन्न होकर) ज़रूर कोशिश कर रही होंगी ! उस पिक्चर में जो रोल वे करने वाली थीं, वह अब मैं कर रही हूँ। अब बेचारी स्टेज पर काम न करेंगी तो क्या करेंगी ?

अभिमन्यु—अच्छा !

मालती—जी हाँ। ख़ैर आप अपने ड्रामे में मेरा रोल उन्हें दे दीजिए।

अभिमन्यु—जी मजबूरी में यह तो करना ही होगा। वैसे तो ज़्यादा अच्छा यही होता कि आप ही हीरोइन का रोल करतीं।

मालती—मैंने अपनी मजबूरी आपको बतला दी अभिमन्यु साहब।

(खड़ी हो जाती है।)

अभिमन्यु—(खड़े होते हुए) आप एक बार और सोच लीजिएगा मालती जी।

मैं टेलीफ़ोन नम्बर छोड़े जाता हूँ। अगर आपकी राय बदल जाय तो मिस्टर रायमोहन को रिंग कर लीजिएगा।

मालती—नहीं। उसकी कोई ज़रूरत नहीं अभिमन्यु साहब। मैंने अच्छी तरह सोच कर ही आप को इनकार किया है।

अभिमन्यु—(विवशता से) जैसी आपकी इच्छा मालती जी। आप से प्रार्थना करना मेरा कर्तव्य था। उसका मैंने पालन किया।

मालती—आप को निराश करते हुए मुझे भी दुःख हो रहा है।

अभिमन्यु—नहीं जी। कोई बात नहीं। अच्छा तो मैं चलूँगा, नमस्ते...नमस्ते...

मालती—नमस्ते।

(अभिमन्यु जाता है।)

रामेश्वर—**(अभिमन्यु की पीठ से)** नमस्ते! **(मालती के निकट आता हुआ)** टेलीफ़ोन नम्बर तो रख लिया होता मालती।

मालती—क्या ज़रूरत थी, जब मैं इस ड्रामे काम ही नहीं कर रही! एक साथ तो मैं दो जगह कंसेंट्रेट नहीं कर सकती!

रामेश्वर—तो भी। नम्बर रख लेने में हर्ज ही क्या था? वक्त-ज़रूरत काम आता।

मालती—जी हाँ। टेलिफ़ोन नम्बर न हुआ, गोया किसी अफ़सर का टेस्टिमोनियल हो गया जो वक्त-ज़रूरत काम आता।

(कॉल बेल फिर बजती है।)

मालती—देखो, घंटी बजी है। इस बार ज़रूर प्रोडक्शन-मैनेजर ही हैं।

रामेश्वर—भगवान को भेज कर पहले मालूम कर लो। कहीं धोखा न खाना पड़े।

मालती—भगवान...भगवान!

[भगवान इस बार, अन्दर दायीं ओर से नहीं, बायीं ओर से भागा हुआ आता है]

भगवान—जी बीबी जी, एक कोट पतलून धारी सज्जन हैं। हाथ में चमड़े का बैग है।

मालती—(घबरा कर) ज़रूर प्रोडक्शन-मैनेजर हैं! (बेताबी से) जा बुला ला जल्दी। (रामेश्वर से) तुम ज़रा मेरा जूड़ा ठीक कर दो। बार-बार ढीला हो जाता है। (रामेश्वर मुस्करा कर जूड़ा ठीक करने लगता है।) बस बस, देखो वे आ रहे हैं।

[कोट पतलून धारी एक सज्जन का प्रवेश। हाथ में चमड़े का पोर्ट-फ़ोलियो है। अन्दर आते ही ठिठक जाते हैं। भगवान अन्दर चला जाता है।]

आगन्तुक—नमस्ते। जी, श्रीमती मालती देवटिया आप ही हैं न ?

मालती—(घबराहट में साड़ी का पल्लू ठीक करते और नमस्कार के लिए हाथ उठाते हुए) जी हाँ। आप......

आगन्तुक—जी, मैं नवजोती......

मालती—(बात काट कर) मैं समझ गयी। आइए, बैठिए। ये हैं मेरे पति रामेश्वर देवटिया। 'मातृभूमि' में सर्कुलेशन-मैनेजर हैं।

आगन्तुक—नमस्ते। (बैठता है।) बहुत खुशी हुई आप से मिल कर।

रामेश्वर—मुझे भी बहुत खुशी हुई।

मालती—ज़रा आप भगवान से कह दीजिएगा। चाय यहीं ले आये।

रामेश्वर—हाँ हाँ। अभी लो।

(अन्दर चला जाता है।)

आगन्तुक—अजी रहने दीजिए। तकलीफ़ क्यों करती हैं ?

मालती—इस में तकलीफ़ की क्या बात है ? यह तो चाय का ही टाइम है। वैसे आपको कोई आपत्ति तो नहीं है ? चाय पीते हैं न ?

आगन्तुक—बहुत। हमारा तो काम ही ऐसा है कि चाय का सहारा लेना पड़ता है।

मालती—जी हाँ, आपको डे-नाइट वर्क जो करना पड़ता है।

आगन्तुक—(हँसता-सा) जी हाँ, ज़िंदा रहने के लिए करना ही पड़ता है।

मालती—और देखिए, लोग समझते हैं कि आपकी लाइन में लोग हज़ारों लाखों कमाते हैं। यह कोई नहीं देखता कि उसके पीछे कितनी कड़ी मेहनत छिपी रहती है।

आगन्तुक—बात यह है जी, लोग दूसरों के काम को बहुत अच्छा और आसान समझते हैं।

मालती—जी यही बात है, गो मैं ऐसा नहीं समझती। लीजिए चाय आ गयी... हाँ, यहीं रख दो।

[भगवान चाय तथा खाने का सामान एक ट्रे में लेकर प्रवेश करता है और ट्रे को छोटी मेज़ पर रख, अन्दर जाता है। मालती चाय बनाना आरम्भ करती है।]

आगन्तुक—सुना है मिसेज़ देवटिया, आप अभिनय बहुत अच्छा करती हैं।

मालती—(शरमाती हुई) अजी कहाँ ? बस यूँ ही, मामूली सा...लीजिए चाय लीजिए।

आगन्तुक—(चाय का प्याला लेते हुए) धन्यवाद ! मिसेज कांतावाला आपकी बहुत प्रशंसा करती थीं।

मालती—(कुछ आश्चर्य से) आप भी मिसेज़ कांतावाला को जानते हैं ?

आगन्तुक—(साश्चर्य) क्यों, मुझे आपसे मिलने के लिए......

मालती—(बात काट कर) ओह, मैं समझ गयी...मिसेज़ कांतावाला की बहुत मेहरबानी है मुझ पर। यह सब जो हो रहा है, उन्हीं की कृपा है।

आगन्तुक—जी हाँ।

मालती—देखिए, मुझे अच्छी एक्टिंग के लिए सबसे पहला मैडल मिसेज़ कांतावाला ने ही दिया था। उन्हें मेरी एक्टिंग बहुत पसंद आयी थी।

आगन्तुक—(हँसी का लहजा) ओह। कौन सा नाटक था ?

मालती—गोगोल के एक नाटक का हिंदी अनुवाद था—'शाह-बादशाह।' हिन्दी में अच्छे नाटक हैं ही कहाँ ?

आगन्तुक—जी हाँ...कहाँ हुआ था यह ?

मालती—दामोदर हाल परेल में। देखिए, शायद उसका कोई स्टिल मेरे पास होगा। अभी दिखाती हूँ आपको।......

(जाती है और छोटी मेज़ से एक स्टिल निकालती है।)

मालती—(आती हुई) जी यह देखिए। मैं मेयर की लड़की बनी हुई हूँ।

आगन्तुक—(प्रशंसात्मक स्वर में) जी, बहुत अच्छा है। आपकी ड्रेस तो उन्होंने विदेशी रखी है।

[रामेश्वर अन्दर से आता है और राइटिंग-टेबल के निकट बैठ जाता है।]

मालती—मेरी नहीं, सारी कास्ट की ड्रेस उन्होंने विदेशी रखी है। हिन्दुस्तानी ड्रेस में भी मेरे फ़ोटोग्राफ्स हैं....(ऊँची आवाज़ में रामेश्वर से) जरा देखना जी, आज सुबह जो फ़ोटो आये हैं, वह वहीं छोटी मेज़ पर रखे हुए हैं न ?

रामेश्वर—(दूर से) देखता हूँ...हाँ, वहीं रखे हैं।

मालती—जरा इधर दे देना...(धीमी आवाज़ में आगन्तुक से) अभी तीन-चार दिन पहले ही खिंचवाये हैं—स्टूडियो शांशीला में।

रामेश्वर—यह लो !

(लफ़ाफ़ा मेज़ पर रख देता है ।)

मालती—(उत्साह भरे स्वर में) जी यह देखिए—तीनों पोज़ हैं—फ्रण्ट, प्रोफ़ाइल और फ़ुल फ़िगर ।

आगन्तुक—(प्रशंसात्मक स्वर में) जी बहुत अच्छे हैं...बहुत ही अच्छे हैं । सच मानिए मिसेज़ देवटिया, मैं झूठी प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ ।

मालती—बहुत-बहुत धन्यवाद । आपका क्या ख़याल है ? मेरा फ़ेस, फ़ोटोजेनिक है या नहीं ?

आगन्तुक—(हिचकिचाहट के साथ) अब देखिए, मैं इस सिलसिले में क्या कह सकता हूँ ? यह तो......

मालती—(बात काट कर) मैं समझ रही हूँ । पर तब भी...(टोन बदल कर) अरे आपने चिवड़ा तो लिया ही नहीं ? लीजिए न । बिलकुल ताज़ा है ।

आगन्तुक—धन्यवाद ! इतना खा लिया है कि अब तो बिलकुल भी गुंजाइश नहीं रही है ।

(लेकिन खाये निरन्तर जा रहे हैं ।)

मालती—अजी क्या खाया है आप ने ? सारी प्लेटें ज्यों की त्यों रखी हैं ।

(हालाँकि प्लेटें लगभग ख़ाली हो चली हैं ।)

आगन्तुक—(हँसने का अभिनय) नहीं जी, बहुत हो गया है । (रूमाल से मुँह पोंछ कर) मेरा खयाल है अब उस सिलसिले में भी कुछ बात कर ली जाय जिसके लिए मैं यहाँ आया हूँ ।

मालती—(प्रसन्न स्वर में) ओह ! अवश्य !...आप कॉन्ट्रेक्ट-फ़ॉर्म तो अभी अपने साथ नहीं लाये होंगे !

आगन्तुक—(सोचता हुआ) कान्ट्रेक्ट फ़ॉर्म ?...ओह आपका मतलब शायद प्रपोज़ल फ़ॉर्म से है । वह तो मैं लाया हूँ । बैग में है । हमारा प्रॉस्पैक्टस तो आप ने नहीं देखा होगा ।

मालती—उसे देखने का सौभाग्य तो अभी प्राप्त नहीं हुआ ।

आगन्तुक—मैं अभी दिखाता हूँ । (बैग खोलने को हाथ बढ़ाता है, सहसा रुक कर) वैसे एक बात पूछना चाहता था । दस हज़ार के लिए तो आप को कोई आपत्ति नहीं होगी ?

मालती—(चौंक कर) दस हज़ार ?

आगन्तुक—जी, दस हज़ार तो कोई बहुत बड़ी रक़म नहीं है । और फिर आप की...आई मीन पोज़ीशन को देखते हुए......

मालती—(प्रसन्न स्वर में) नहीं, अगर आप इसे ठीक समझते हैं, तब मैं क्या कह सकती हूँ ?

आगन्तुक—साहब, मेरा तो ख़्याल है कि कम-से-कम इतना तो होना ही चाहिए !

मालती—चलिए, आप ही की बात मान ली।

आगन्तुक—और टाइम कितना रखा जाय—दस साल ?

मालती—(चौंक कर) दस साल !

आगन्तुक—क्यों ? क्या दस साल बहुत कम हैं ? पर टाइम में क्या रखा है ?... आई...मीन पन्द्रह, बीस या लाइफ़ लाँग कर देंगे इसे......

मालती—(चौंक कर) लाइफ़ लाँग ?....मालूम होता है आप लोगों की बहुत बड़ी-बड़ी योजनाएँ हैं।

आगन्तुक—(हँस कर) जी हाँ। दूसरी कम्पनियों की अपेक्षा हमारी योजनाएँ बड़ी ही हैं। लाइफ़ लाँग प्रपोज़ल के सिलसिले में मैं आपसे एक आवश्यक बात पूछना चाहता था, यदि आप कुछ...आई मीन...माइंड न करें।

मालती—हाँ हाँ, पूछिए न !

आगन्तुक—देखिए, सभ्य समाज में एक महिला से इस प्रकार का प्रश्न करना...आई मीन...इंडीसेंसी समझी जायगी, मगर ज़रूरत देखते हुए मजबूर हूँ। पूछना ही पड़ रहा है......

मालती—नहीं-नहीं, आप संकोच मत कीजिए। पूछिए न......

आगन्तुक—जी, आपकी डेट आफ़ बर्थ यानी जन्म-तिथि क्या है ?...मेरा मतलब है आपकी उम्र इस समय कितनी है ?

मालती—(शरमाती हुई) देखिए, मेरी जन्मपत्री तो खो गयी है, इसलिए सही तारीख या सन् बताना मेरे लिए सम्भव नहीं है। हाँ, मेरे हाई स्कूल सार्टिफ़िकेट में मेरी जन्म-तिथि १६ अक्तूबर १६२६ लिखी हुई है, जो मेरे विचार से ठीक ही है......

आगन्तुक—यानी आपकी उम्र इस समय......

(टेलीफ़ोन की घंटी बजती है।)

मालती—(ऊँची आवाज़ से) ज़रा देखिएगा जी, किस का फ़ोन है !

रामेश्वर—(स्वर में थोड़ा व्यंग्य है।) वही कर रहा हूँ साहब...(पृष्ठभूमि में

रिसीवर उठा कर) हैलो...जी...यह ६६१०० है...मैं रामेश्वर देवटिया बोल रहा हूँ...जी हाँ...अच्छा...लेकिन वो तो...मगर यहाँ तो...

मालती—हाँ तो आप क्या कह रहे थे ?

आगन्तुक—मैं कह रहा था कि आपकी उम्र पच्चीस साल सात माह बैठती है। इसके अनुसार आपके लिए यह अच्छा होगा कि आप....

रामेश्वर—(टेलीफ़ोन रखकर, ऊँची आवाज़ में) मालती !

मालती—किसका फ़ोन है ?

रामेश्वर—(ऊँची आवाज़ में) बताता हूँ। इधर आओ !

मालती—(धीमे से) ज़रा एक मिनट मुझे माफ़ कीजिएगा।

(रामेश्वर के निकट जाती है।)

आगन्तुक—हाँ हाँ अवश्य।

(चिवड़े की प्लेट की ओर हाथ बढ़ाता है।)

मालती—(रामेश्वर के निकट) क्या बात है ? किस का फ़ोन था ?

रामेश्वर—नवजोती फ़िल्म कम्पनी के प्रोडक्शन मैनेजर का !

मालती—(साश्चर्य) नवजोती के प्रोडक्शन मैनेजर का ! लेकिन यह......

रामेश्वर—पहले पूरी बात तो सुनो। उस ने फ़ोन पर कहा है कि उसे दिये हुए टाइम पर न पहुँच पाने का बहुत अफ़सोस है। उसे इस बात का भी अफ़सोस है कि वह कभी यहाँ न आ सकेगा क्योंकि कुछ मजबूरियाँ ही ऐसी हो गयी हैं। सेठ बुलाकीदास दामोदरमल को शेयर बाज़ार में जबरदस्त घाटा पड़ा है। वो दीवालिये हो गये हैं और फ़िल्म तो क्या, बीवी-बच्चों को भी फ़नांस करने लायक नहीं रहे। वह फ़िल्म और फ़िल्म कम्पनी सब ठप्प हो गयी है।

मालती—(आवेश में) यह ग़लत है...ऐसा कैसे हो सकता है ?...किसी ने हमारे साथ मज़ाक किया है।......

रामेश्वर—मज़ाक कौन करेगा ? किसे ऐसी ज़रूरत पड़ी है ?

मालती—लेकिन....लेकिन नवजोती के प्रोडक्शन मैनेजर तो ये बैठे हैं।

रामेश्वर—इनकी शकल पर लिखा हुआ तो है नहीं।

मालती—तो...तो ये साहब कौन हैं ?

रामेश्वर—पूछ लो इन्हीं से।

(मालती आगन्तुक के निकट आती है।)

मालती—(आगन्तुक के निकट) क्यों साहब, क्या आप नवजोती फ़िल्म कम्पनी के प्रोडक्शन मैनेजर नहीं हैं ?

आगन्तुक—(साश्चर्य) नवजोती फ़िल्म कम्पनी ?...(प्लेट हाथ में ही लिये खड़ा हो जाता है ।) जी नहीं । मैं नवजोती इंश्योरेन्स कम्पनी का एजेंट हूँ । मिसेज़ कान्तावाला ने मुझे आपकी इंश्योरेंस के लिए भेजा था ।

मालती—(सक्रोध) आपने पहले ही क्यों नहीं कहा ?

आगन्तुक—आपने कहने का मौका ही कहाँ दिया ?

मालती—आपको मौका निकालना चाहिए था ।

आगन्तुक—मैंने...आई मीन...कोशिश तो बहुत की थी...मगर......

मालती—(बात काट कर) मगर-वगर कुछ नहीं साहब । आप ठीक बात तो कर नहीं रहे हैं, आई मीन, आई मीन करते जा रहे हैं । आप को सब से पहले अपना कार्ड देना चाहिए था ।

आगन्तुक—मेरे कार्ड छपने गये हुए हैं । नहीं मैं एक की जगह दो-दो कार्ड पेश करता । वही एक मजबूरी हो गयी ।

(प्लेट मेज़ पर रख देता है ।)

मालती—आपकी मजबूरी ने मुझे कितनी बड़ी ग़लतफ़हमी में डाल दिया ।

आगन्तुक—इसके लिए मुझे अफ़सोस है । (कुछ रुक कर इधर-उधर देखते हुए) अच्छा जी, मुझे अब आज्ञा दीजिए । काफ़ी देर हो गयी है...मैं फिर आऊँगा । अच्छा जी नमस्ते...नमस्ते ।

रामेश्वर—नमस्ते ।

[आगन्तुक अपना बैग उठा कर प्रस्थान करता है । उसके चेहरे पर मुस्कराहट है । मालती हताश भाव से सोफ़े पर धम्म से गिर पड़ती है ।]

मालती—(स्वर में थकान और निराशा है ।) ओह भगवान !......

(भगवान अन्दर से भागा-भागा आता है ।)

भगवान—(निकट आ कर) क्या लाऊँ बीबी जी ?

मालती—(जैसे शिकंजे में कसी जा रही हो) मेरा सिर !

रामेश्वर—(मुस्करा कर) भगवान, तुम्हारी बीबी जी थक गयी हैं । चाय पिलाने में इतनी मगन रहीं कि खुद ठंग से एक प्याला भी नहीं पी सकीं । जाओ भाग कर टी-पाट में थोड़ा पानी और ले आओ !

भगवान—जी बहुत अच्छा !

(टी-पाट उठा कर भाग जाता है ।)

मालती—देखिए, मुझे तंग न कीजिए । अपने हाल पर छोड़ दीजिए मुझे ।

(उसी तरह मूर्तवत सोफ़े में धँसी रहती है ।)

रामेश्वर—मैं कहता हूँ, नवजोती की नयी हीरोइन तो तुम बन लीं, अब क्या 'माहीम आर्ट थियेटर' के चाँस से भी हाथ धो लोगी । 'नवजोती' टूट गयी तो प्रभजोती बन जायगी, पर पब्लिक आई (public eye) के सामने से अपने आपको दूर कर लोगी तो......

मालती—(जैसे फिर ज़िन्दा हो उठती है ।) पर रायमोहन का फ़ोन नम्बर तो मेरे पास है नहीं । अभिमन्यु जी रखे जा रहे थे पर......

रामेश्वर—नम्बर की तुम चिन्ता न करो, इनक्वाइरी से पूछ लेते हैं ।

मालती—उन्होंने कम्पनी बदल ली है, जाने कौन सी कम्पनी है ? मैंने क्यों न अभिमन्यु जी से फ़ोन नम्बर ले लिया !

रामेश्वर—(जो इस बीच में सोच रहा है, चुटकी बजाकर) मैं कहता हूँ मिसेज़ कान्तावाला के यहाँ क्यों न चलें । वहीं से रायमोहन को फ़ोन कर देंगे ।

मालती—यह ठीक है चलो कान्तावाला के यहाँ......

(एक दम उठ पड़ती है और रामेश्वर का हाथ खींचती है ।)

रामेश्वर—(उठता हुआ) पर चाय एक प्याला तो पी लो ।

मालती—(उसे खींचते हुए) छोड़ो चाय । मैं चाहती हूँ कि अभिमन्यु जी के वहाँ पहुँचने से पहले मैं उन्हें अपनी स्वीकृति की सूचना दे दूँ । कहूँगी कि मैंने अभिमन्यु जी को इनकार कर दिया था, पर रंग-मंच का मोह मुझे नहीं छोड़ता......

रामेश्वर—(मालती की गिरफ़्त में खिंचते हुए) तुम्हारा जूड़ा ढीला हो रहा है ।

मालती—चलो चलो, कस जायगा जूड़ा ।

[उसे खींचती हुई निकल जाती है, भगवान टी-पाट लिये हुए आता है और दरवाज़े में रुक जाता है ।]

भगवान—(अपने आप से) बीबी जी किधर गयीं (आवाज़ देता हुआ आगे बढ़ता है ।) बीबी जी...बीबी जी......

(पर्दा गिरता है ।)

सत्य किरण

कृष्णकिशोर श्रीवास्तव

[डाक्टर आचार्य (वैज्ञानिक) की प्रयोगशाला का बाहरी कमरा। कमरे में दो दरवाज़े हैं। दोनों दरवाज़ों पर रंगीन पर्दे पड़े हैं। दरवाज़ों के बीच दीवार में एक खिड़की है। इस खिड़की से एक काँच का गोला दिखायी देता है। यह गोला काँच की नली से जुड़ा है। काँच का गोला तथा उससे जुड़ी नली के अतिरिक्त खिड़की से और कुछ नहीं दिखायी देता। एक काला पर्दा इस रहस्यात्मकता का कारण है, जो इन काँच की चीज़ों के पीछे लगा दिखायी देता है। कमरे की दीवारों पर विभिन्न तत्वों का सप्तरंजन (Speotrum) बतलाने वाले बड़े-बड़े चित्र लगे हैं। खिड़की से हटकर कमरे के बीच पाँच-छः कुर्सियाँ पड़ी हैं। एक कुर्सी पर रामगरीब (नेता) दूसरी पर खगेश (साहित्यिक) बैठे हैं, तीसरी कुर्सी ख़ाली है और चौथी पर करुणा देवी (समाज सेविका) हैं। बाकी कुर्सियाँ भी ख़ाली हैं। ज़ोरासिंह (रिटायर्ड पुलिस अधिकारी) दीवारों पर लगे चित्रों को घूम-घूम कर देख रहे हैं। करुणादेवी की कुर्सी पकड़े डा० आचार्य खड़े हैं। रामगरीब की ओर कुछ हटकर मिट्ठूलाल (डा० आचार्य का सहकारी) डाक्टर आचार्य के आदेशों के लिए उत्सुक खड़ा है।]

आचार्य—(गम्भीरता से) आज मैंने आप लोगों को यहाँ एक विशेष कारण-वश निमंत्रण दिया है। वैसे तो मैं लोगों से बहुत कम मिलता-बोलता हूँ, क्योंकि इसमें भी समय और शक्ति लगती है। (रुककर) मैं अपना सारा समय, सारी शक्ति अपने प्रयोग को ही देना चाहता हूँ। पर आज......

खगेश—(बीच में) अहा, अलौकिक है आपकी लगन! यह लगन एक महान और अनूठा पागलपन है। मैं इस अनूठे पागलपन की महानता स्वीकार

करता हूँ। (रुककर) वास्तव में साहित्य भी एक विशिष्ट पागलपन का उद्‌गार मात्र है।

रामगरीब— (तेज़ी से) होगा। पर राजनीति चीज़ ही और है। हर कदम सोच-समझ कर रखना होता है। साहब, एक कदम भी डगमगाया तो दुनिया डगमगा जाती है। खगेश जी, साहित्य में पागलपन ज्यों-का-त्यों चल सकता है, पर राजनीति में तो पागलपन को समझदारी मानकर अपनाया जाता है।

मिट्ठू—(आचार्य की मुद्रा देखकर) आप लोग पहले डाक्टर साहब को अपनी बात कह लेने दीजिए।

करुणा—(मिट्ठू की बात अनसुनी कर) रामगरीब जी, यदि दिमाग़ से तौलकर देखें तो आपको मालूम होगा कि राजनीति और साहित्य से बड़ी चीज़ है समाज-सेवा। सेवा चाहे पागलपन में ही क्यों न की जाय, है वह सेवा ही। (घूमकर) क्यों सिंह साहब, आपकी क्या राय है?

सिंह—(चित्रों की ओर से घूमते हुए, कुछ कड़े स्वर में) देवी जी, पहले डाक्टर साहब को अपनी बात कहने दीजिए। डाक्टर साहब, आप अपनी बात कहिए!

आचार्य—जी, मेरी बात ही आप लोगों को सुनना चाहिए।

सिंह—(फिर चित्रों की ओर घूमते हुए) आप अपनी बात शुरू कीजिए!

करुणा—(बात सम्हालते हुए) ज़रूर शुरू कीजिए। (खगेश जी की ओर झुककर) खगेश जी, हमें आचार्य जी की नयी खोज में जनहित खोजना है।

आचार्य—मिट्ठूलाल मेरी बात कहेगा। मिट्ठूलाल समझाना शुरू करो!

मिट्ठू—(आस्तीन सम्हालकर खिड़की के पास आते हुए) आज डाक्टर साहब अपनी नयी और युगान्तरकारी खोज 'सत्य किरण' से आप लोगों का परिचय करायेंगे। सत्य किरण .....

आचार्य—(बीच में) आप लोग इसे 'ट्रुथ' रे (Truth-ray) भी कह सकते हैं।

खगेश—(भावुकता का अभिनय करते हुए) सत्य किरण! क्या तात्पर्य है?

सिंह—(चित्रों की ओर मुँह किये) ज़रा सी चीज़ है। सत्य किरण...यानी जो सच में किरण हो।

मिट्ठू—जी...मैं समझाता हूँ। जब आदमी का शरीर (X-ray) के सामने रखा जाता है तो उसका सारा दिखावा गायब हो जाता है और हमें उसका अस्थिपिंजर दिखायी देने लगता है। (मिट्ठू आचार्य की ओर देखता

है और आचार्य सिर हिला कर स्वीकृति देते हैं।) तो इसी प्रकार एक अलौकिक शक्ति इस सत्यकिरण में है......

करुणा—कौन सी शक्ति है इसमें ? सिंह साहब सुनिए !

रामगरीब—(विरोध करते हुए) पर डाक्टर साहब, आपको ये चीज़ें तो प्रेस कान्फ़रेन्स में बतलानी चाहिएँ।

सिंह—(घूमते हुए) हम लोग किसी प्रेस वाले से कम हैं ! (बैठकर) हमें बुलाकर आपने ठीक ही किया है।

आचार्य—रामगरीब जी, मैं प्रेस कान्फ़रेन्स को मामूली चीज़ें समझता हूँ। प्रेस में झूठ को सच और सच को झूठ बताने के लिए ही मशीनें चलती हैं। यही नहीं, आजकल प्रेस रिपोर्टर वे बनते हैं, जिन्हें और कोई काम नहीं मिलता। यही सब सोचकर मैंने आप लोगों को बुलाना ठीक समझा।

खगेश—(गद्‌गद् होकर) आचार्य जी, आप वास्तव में धन्य हैं। आपने हम लोगों को बुलाकर अपनी अपूर्व बुद्धि का परिचय दिया है। रामगरीब जी, आचार्य दूरदर्शी हैं। (डाक्टर की ओर झुककर) आचार्य, आप अपनी बात कहिए।

आचार्य—मिट्ठू कंटीन्यू।

मिट्ठू—सत्यकिरण में एक दैवी शक्ति है। जिस मनुष्य का मस्तिष्क उस किरण के मार्ग में रख दिया जाता है, उसके सारे छल-कपट दूर हो जाते हैं, वह मनुष्य सत्य बोलने लगता है।

खगेश—इसका प्रमाण।

सिंह—गवाही पेश कीजिए।

मिट्ठू—आप लोग ही इसका प्रमाण बन सकते हैं और गवाही दे सकते हैं।

करुणा—(घबराकर) जी नहीं, माफ़ कीजिए। (सम्हलते हुए) मुझे तो इसका प्रमाण नहीं बनना। शायद रामगरीब जी तैयार हों।

रामगरीब—(चौंककर) मैं...हैं...हैं...डाक्टर साहब, दिमाग तो कवियों का परीक्षा के लायक होता है।

खगेश—(घबराहट छिपाते हुए) मैं साहित्यिक होने के नाते, विज्ञान से अपने आपको पृथक ही रखना चाहता हूँ। इसके लिए तो वीरसिंह जी जैसे साहसी आदमी का मस्तिष्क ठीक होगा।

सिंह—(हँसने की चेष्टा करते हुए) मैंने पैंतीस साल पुलिस में नौकरी की

है। पर दिमाग से मैंने बहुत कम काम लिया है। पता नहीं आज वह कुछ मतलब का है भी या नहीं।

आचार्य—आप लोग अपने जीवन का सत्य छिपाना चाहते हैं, तभी आप डर रहे हैं।

करुणा—(पसीना पोंछते हुए) जी...जी...ऐसी बात नहीं। सारा नगर मुझे जानता है। बच्चा-बच्चा मेरी सेवाओं की कहानी कहता है। जनता की सेवा करने के लिए मैंने स्वयं के सुख को ठुकरा दिया है। सड़कें और नालियाँ साफ़ करना, अपढ़ों को पढ़ाना, बीमारों की सेवा करना तो मेरी दिनचर्या है। पर (अटकते हुए) पर मामला विज्ञान का है, इसलिए कुछ डर मालूम होता है।

रामगरीब—(खाँसकर) जी यही बात है। वरना हमारे जीवन के सत्य में तो कुछ ऐसा है कि किसी भी नौजवान को जोश दिलाने के लिए काफ़ी है। क्यों ज़ीरासिंह जी! आप तो मुझे बहुत दिनों से जानते हैं। (शीघ्रता से) मैं भी आपको जानता हूँ। डाक्टर साहब पुलिस में ज़ीरासिंह जी जैसा देशभक्त मैंने कभी नहीं देखा।

सिंह—रामगरीब जी, आप तो शर्मिन्दा कर रहे हैं। (रुक कर) डाक्टर साहब अपनी नौकरी के दिनों में हर मिनट मुझे यह ख़याल रहा करता था कि पहले मैं हिन्दुस्तानी हूँ...बाद में अंगरेज़ों का नौकर। बस इसी ख़याल ने मुझे गिरने से बचाया है। और......

खगेश—(बीच में) मेरे विषय में भी यह सत्य है। आचार्य, हमारी जीवन-गाथाएँ इतिहास का निर्माण करेंगी। विश्वास कीजिए, हमारा जीवन अपने आदर्शों के कारण भारत की भावी पौध का सुचारु-रूप से मार्ग-दर्शन कर सकता है।

आचार्य—फिर तो आप लोगों को अपनी खोज का प्रमाण बताकर मुझे खुशी होगी। (रुककर) मिट्ठू प्रोसीड .....

मिट्ठू—सत्यकिरण की सत्यता परखने के लिए उसका प्रयोग कई प्राणियों पर किया गया। उन प्राणियों के हाव-भाव बतला रहे थे कि वे भी अपने जीवन का सत्य कहना चाहते हैं, पर न बोल सकने के कारण हमें वे कुछ संतोष न दे सके। प्रयोगों में जो दूसरी महत्वपूर्ण बात देखी गयी, वह यह थी कि उनके शरीर पर सत्यकिरण का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा।

आचार्य—आप लोगों को डरना नहीं चाहिए। मिट्ठू......

मिट्ठू—जी यही मैं कह रहा था ।

रामगरीब—(उत्सुकता से) इसका असर कितनी देर रहता है ?

मिट्ठू—जितनी देर आपका मस्तिष्क इसके मार्ग में रहेगा...बस उतनी ही देर।

खगेश—यह अत्यन्त सुन्दर है । अन्यथा इसके प्रभाव से जीवन बड़ा व्यथित हो जाता । (रुक कर) करुणा देवी, आपको सहमत होना पड़ेगा कि हरेक के जीवन में कुछ ऐसे रहस्यमय क्षण होते हैं, जिनका उद्घाटन करने के बदले वह प्राण त्यागना उचित समझता है ।

सिंह—(बीच में) जरूर होते हैं । पुलिस वाले की जिन्दगी में तो राज़ ही राज़ होते हैं ।

करुणा—सभी के जीवन में ऐसे क्षण होते हैं । (रुक कर) मेरे ऐसे बहुत से रहस्य हैं जिन्हें करुणेश जी भी नहीं जानते ।

आचार्य—करुणेश कौन ?

रामगरीब—(शीघ्रता से) करुणा देवी के पति । बहुत बड़े व्यापारी हैं । (हँस कर) इनके पति होने के साथ-साथ वे करोड़-पति भी हैं ।

खगेश—(गद्गद् होकर) अहा । रामगरीब जी यही पति का नया और मौलिक प्रयोग है ।

आचार्य—(हँसने की कोशिश करते हुए) जोड़ी के नाम खूब मिलते हैं ।

करुणा—जी बात ऐसी नहीं है । मेरा नाम करुणा है, इसलिए मुझसे विवाह करने के बाद उन्होंने अपना नाम बदल कर करुणेश कर लिया (शर्मा कर) मुझे बड़ा प्यार करते हैं न !

मिट्ठू—(गर्व से) डाक्टर साहब अपनी प्रयोगशाला को भी ऐसा ही प्यार करते हैं ।

खगेश—अत्यन्त मनोसुखकारी ! आचार्य, आपकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही कम है । अतएव अब मैं आपकी प्रशंसा नहीं करूँगा ।

आचार्य—(कुछ चिढ़ कर) मिट्ठूलाल......

मिट्ठू—(खिड़की की ओर इशारा कर) आप लोग इधर देखिए । मैं पहले आप लोगों को सत्य किरण के महान यंत्र के विषय में कुछ बता देना चाहता हूँ । (रामगरीब, करुणा देवी और खगेश अपनी अपनी कुर्सी सरका कर खिड़की की ओर देखने लगते हैं । जोरा सिंह अपनी कुर्सी से उठकर खिड़की के पास आ जाते हैं, डाक्टर अपना सिर हिला कर

मिट्‌ठू को इशारा करते हैं।) मैं आप लोगों को इस यंत्र की प्रधान बातें बताऊँगा।

खगेश—क्यों। विस्तार पूर्वक क्यों नहीं!

आचार्य—यह मेरी आज्ञा है। क्योंकि......

सिंह—खगेश जी, हिन्दुस्तान के कवियों में न जाने कब सब्र आयेगा।

रामगरीब—चुप भी रहिए खगेश जी करुणा देवी साहित्यिकों की आदत होती है बीच-बीच में बोलने की। मुझे देखिए, मैं चुप हूँ।

करुणा—(हँसकर) राजनीतिकों की चुप बड़ी भयानक होती है। बोलने पर तो उनके मन का पता चल जाता है।

सिंह—करुणा देवी, मैं तो सूरत देख कर ही आदमी के मन का पता पा लेता हूँ। डाक्टर साहब आप अपनी बात कहिए।

आचार्य—मैं आप लोगों के सामने उतनी ही बातें कहूँगा जितनी आप समझ जायँ। आप जानते हैं यह विज्ञान का विषय है। विज्ञान पढ़ना और समझना हर एक के बस की बात नहीं। यदि मैं इसकी वैज्ञानिकता पर बोलने लगूँगा तो आप लोग घबरा जायेंगे।

सिंह—डाक्टर साहब, अच्छे-अच्छे चोरों...लुटेरों का सामना किया है मैंने। घबराने की बात आप इन लोगों से कहिए।

रामगरीब—(हँसी रोकने की कोशिश करते हुए) हम जानते हैं कि आप नहीं घबरायेंगे पर आपको हमारी घबराहट का ख़याल तो रखना ही होगा। डाक्टर साहब, आप आगे बढ़िए।

आचार्य—आप लोग संक्षेप में इतना समझ लीजिए कि (खिड़की की ओर इशारा कर) इसके पीछे दो प्रधान काँच की नलियाँ हैं। एक नली में एक्स-रे बनती है और दूसरी में गामा-रे।

खगेश—(चौंककर) जी गामा......।

आचार्य—जी हाँ, गामा-रे। ये दोनों ही दो प्रकार की किरणें हैं। ये दोनों किरणें फिर एक तीसरी नली में आती हैं। यहाँ विद्युत की सहायता से उनमें एक रासायनिक क्रिया होती है।

करुणा—कौन सी क्रिया?

आचार्य—यह मैं नहीं बताऊँगा। यह मेरे इस प्रयोग का रहस्य है।

मिट्‌ठू—और यदि आप बतायेंगे भी तो ये लोग नहीं समझेंगे।

आचार्य—(डाँट कर) मिट्‌ठू। (रुक कर) एक्स-रे और गामा-रे की रासायनिक क्रिया

के बाद सत्य-किरण बनती है और इस काँच के गोले से बाहर निकलती है। मिट्ठू तुम अन्दर स्विचबोर्ड के पास जाओ, जब मैं कहूँ तो ऑन करना। (मिट्ठू का प्रस्थान) अब मैं आप लोगों को सत्य किरण से परिचित कराऊँगा।

खगेश—(डरे स्वर में) तो...तो...क्या सत्य किरण के प्रभाव से मैं...मैं...सत्य बोल जाऊँगा।

रामगरीब—(सम्हालते हुए) खगेश जी, सत्य बोल जायेंगे हम लोग? करुणा देवी आपके जीवन का रहस्य और सत्य......

करुणा—(चौंक कर) मेरे जीवन का सत्य। (रुक कर) सिंह साहब, आप तो पुलिस की नौकरी करते रहे हैं...। आपके जीवन के सारे रहस्य......

सिंह—(अटकते हुए) रहस्य! नहीं...नहीं...। रहस्य था ही क्या? पुलिस वालों की बातें तो सभी जानते हैं। फिर भी...उसे दोहराना...क्या......

आचार्य—आप लोग डरिए नहीं। किसी के जीवन का सत्य इस प्रयोगशाला के बाहर नहीं जायेगा। (रुक कर) आप शायद नहीं जानते कि वैज्ञानिक अपने प्रयोग के फल पहले गुप्त ही रखते हैं।

करुणा—पहले गुप्त रखते हैं...और बाद में......

आचार्य—(हँस कर) कुछ फल हमेशा गुप्त रखे जाते हैं। लोगों के सामने तो प्रयोग की सफलता और विशेषता की बातें ही आती हैं। अच्छा अब आप लोग तैयार हो जाइए। इस गोले में प्रकाश होते ही सत्य किरण इस ओर आने लगेगी और (कुर्सियों के आस पास संकेत कर) यह सारी जगह उससे प्रभावित हो जायेगी। (रुक कर) तैयार! (पुकार कर) मिट्ठू, स्विच ऑन करो! (भीतर किसी मशीन के चलने की आवाज़ आती है। कुछ क्षणों बाद काँच के गोले में प्रकाश दिखायी देता है। आचार्य खिड़की के पास से हट कर दूर खड़े हो जाते हैं।) यह देखिए आ गयी सत्य किरण। (घड़ी को कुछ क्षण देख कर) बस अब आप लोगों पर इसका प्रभाव होगया। आप लोग अब केवल सच बोलेंगे!

रामगरीब—डाक्टर साहब, आप भी इधर आइए न। हम लोगों में शामिल हो जाइए। हम लोग भी आपके जीवन का सत्य जान जायेंगे। आज की दुनिया में वैज्ञानिक भी बहुत बड़े आदमी माने जाते हैं।

आचार्य—(कुछ घबरा कर) कुछ देर ठहर जाइए। अभी मुझे अपने यंत्रों का भी ध्यान रखना है।

सिंह—(हँस कर) डाक्टर साहब आप उड़ रहे हैं। मैंने पुलिस में पैंतीस साल नौकरी की है। मिल-जुल कर सब-इन्स्पेक्टर हुआ था। पर फिर अपनी ही चालाकी से डी. एस. पी. होकर रिटायर हुआ हूँ। मुझ से आप नहीं उड़ पायेंगे।

खगेश—आचार्य आपका सहयोगी मिट्ठू लाल पर्याप्त निपुण है। हम लोगों को उस पर विश्वास है।

आचार्य—जी...पर...!

करुणा—आप अपने जीवन का सत्य हम से छिपाना चाहते हैं, मुझे शक हो रहा है।

रामगरीब—शक की तो बात है ही।

सिंह—(हँस कर) देखिए डाक्टर साहब, एक कहावत है कि चोर चोर मौसेरे भाई। अब आ जाइए!

आचार्य—(कुर्सियों की ओर आते हुए) जी...बात...ऐसी नहीं...। जब आप सभी मेरे सामने सच बोलेंगे तो मुझे आपके सामने सच बोलने में क्या डर हो सकता है। लीजिए मैं आ गया।

[भीतर से आती मशीन की आवाज़ कुछ तेज़ होती है, उसके साथ ही प्रकाश कुछ कुछ तेज़ हो जाता है। कुछ देर बाद आवाज़ धीमी हो जाती है।]

खगेश—आचार्य जी, सत्य या असत्य का भय वहाँ होता है जहाँ प्रेम का अभाव है। जहाँ प्रेम ही सब कुछ है, वहाँ हर बात प्रेम के अनुकूल सत्य या असत्य बन जाती है।

करुणा—खगेश जी मैं प्रेम और उसके नाटकों पर बिलकुल विश्वास नहीं करती।

खगेश—पर आपने ही कहा था कि करुणेश जी आपको बहुत प्रेम करते हैं। जीरा सिंह जी...यह कहा था न करुणा देवी ने।

सिंह—हम सब इसके गवाह हैं।

करुणा—खगेश जी, मैंने प्रेम को सदा से मूर्खता माना है। करुणेश जी प्रेम का जितना नाटक करते हैं, उससे अधिक नाटक मैं करती हूँ।

रामगरीब—(आश्चर्य से) करुणेश जी प्रेम का नाटक करते हैं। आपने तो अभी यह कहा था कि आपके प्रेम के कारण उन्होंने अपना नाम करुणेश रख लिया है।

करुणा—पर अब तो कह रही हूँ कि दोनों ओर ही नाटक है। उनका प्रेम एक

वेश्या से है, जिससे विवाह करने से वे डरते हैं। शहर में मेरी इज़्ज़त है... मेरा नाम है, इसीलिए उन्होंने मुझे अपनी पत्नी का पार्ट दिया है। बस इससे अधिक और कुछ नहीं।

सिंह—अच्छा! सेठ जी तो मुझसे अक्सर कहा करते हैं कि उन्हें अपने चरित्र पर नाज़ है। (हँस कर) पर आप तो कुछ और ही बता रही हैं।

खगेश—(उत्सुकता से) करुणा देवी अपने इस अभिनय की कुछ महत्वपूर्ण बातों पर और प्रकाश डालिए न!

करुणा—खगेश जी, करुणेश व्यापारी हैं। रात-दिन पैसों की हाय हाय। दमड़ी से चमड़ी का मोल भाव! जो फँसा उसका गला दबाने में वे नहीं चूकते। (रुक कर) मैं तो जीवन के रसमय पक्ष पर विश्वास करती हूँ, साथ ही यह भी चाहती हूँ कि समाज में जो इज़्ज़त है, वह भी बनी रहे। वर्तमान स्थिति में मेरी दोनों साधें पूरी हो जाती हैं।

रामगरीब—किस प्रकार?

आचार्य—मैं भी इतनी देर से चुप था, पर मैं भी उत्सुक हो गया हूँ।

सिंह—(हँसने की कोशिश करते हुए) आपकी बातें विचित्र लग रही हैं। आगे कहिए!

करुणा—धनी सेठ की पत्नी हूँ, इसलिए जहाँ जाती हूँ, लोग सिर पर बैठाते हैं। (मुस्कराते हुए) समाज-सेवा का काम भी मैंने अपना मतलब सिद्ध करने के लिए शुरू किया है।

रामगरीब—समाज-सेवा से कौन सा मतलब सिद्ध होता है?

करुणा—समाज-सेवा के बहाने घूमने-फिरने और मिलने-जुलने की स्वतंत्रता मिली रहती है। (रुक कर) खगेश जी, आपने पिछले दिनों मेरी प्रशंसा में जो कविता लिखी थी, वास्तव में उसमें सब कुछ झूठ था।

खगेश—(शीघ्रता से) वह कविता मेरे नाम से छपी अवश्य थी, पर उसका रचयिता मैं नहीं हूँ। एक निर्धन पड़ोसी है मेरा, उसे दो रुपये देकर वे दो दर्जन पंक्तियाँ मैंने उससे ही लिखवायी थीं। (रुक कर) देवी जी वह बड़ा विद्वान है।

रामगरीब—विद्वान गरीब तो होते ही हैं। लोग मुझे भी विद्वान समझते हैं, पर डाक्टर साहब, सच मानिए यदि मैं विद्वान होता तो शायद शहर की हवेलियाँ मेरी न होतीं।

सिंह—रामगरीब जी, आज कल पैसा और कुर्सी देख कर आदमी को समझदार

या बेवकूफ़ कहा जाता है। मेरी ही मिसाल लीजिए। जब तक सब-इन्स्पेक्टर था, सभी आफ़िसर बेवकूफ़ समझते थे। जिस दिन कप्तान हुआ, होशियारी का ठप्पा लग गया।

खगेश—सीरासिंह जी, आप सत्य कह रहे हैं। एक समय था जब कोई मुझसे बात करना भी उचित नहीं समझता था। जहाँ मेरी तीन-चार पुस्तकें प्रकाशित हुईं कि लोगों ने पलकों के पालने में बैठा लिया।

करुणा—खगेश जी, आपकी वे पुस्तकें कैसे निकलीं हैं ? उनमें तो कई कविताएँ होंगी।

खगेश—सब कविताओं के विषय में वही एक सत्य है। वही मेरे जीवन का सत्य भी है। (रुक कर) पर मुझ में एक मौलिकता भी है। प्राचीनतम, अप्राप्य पांडुलिपियों तथा पत्र-पत्रिकाओं का मैंने संग्रह किया है। भिन्न-भिन्न पांडुलिपियों और पत्रिकाओं की भिन्न-भिन्न पंक्तियाँ मेरे प्रयत्न से एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं। ये एक स्थान पर जड़ी पंक्तियाँ एक नयी और मौलिक कविता का रूप ले लेती हैं।

आचार्य—कई पत्रों ने भी आपकी बड़ी तारीफ़ की है।

खगेश—मैंने अपनी चतुराई और चाटुकारी की सहायता से सम्पादकों से परिचय कर लिया है। एक सम्पादक के पुत्र का मैं अवैतनिक शिक्षक हूँ। दूसरों की पत्नी से राखी बँधवा कर...मैंने उसे अपनी भगनी बना लिया है। (रुक कर) आचार्य वे समस्त लेख मैंने स्वयं लिखवाये थे।

करुणा—अच्छा ! यह मुझे नहीं मालूम था।

सिंह—तो अब नोट कर लीजिए।

रामगरीब—खगेश जी, आपकी एक पुस्तक प्रकाशित भी तो बड़ी सज-धज से हुई थी।

खगेश—रामगरीब जी, उस पुस्तक के प्रकाशक मेरे ससुर हैं। अपने विवाह के समय दहेज के रूप में मैंने उस पुस्तक का प्रकाशन ही माँगा था। (कुछ झेंप कर) करुणा देवी इस सत्य के कारण मैं अपनी पत्नी पर अपने कवित्व का प्रभुत्व नहीं जमा पाता।

रामगरीब—पत्नी पर प्रभुत्व किस प्रकार जमाया जाये यह मुझसे पूछिए।

सिंह—(कुछ दुख से) बड़ी देर से बताया आपने। मेरी पत्नी तो मुझ पर अपना रौब जमा कर दुनियाँ से चली गयी।

आचार्य—रामगरीब जी, फिर भी आप सुना डालिए। हम लोगों के काम आयेगा।

रामगरीब—आप भी कुछ सुनाइए न।

आचार्य—आपके बाद सुनाऊँगा। (मुस्कुरा कर) मैं नागरिक हूँ, नेता के पीछे रहूँगा।

रामगरीब—(गला साफ कर) पत्नी पर प्रभुत्व जमाने के लिए एक ही मूल-मंत्र है—सदा उससे झूठ बोलना (गम्भीरता से) पर झूठ भी हिम्मत से बोलना चाहिए। घबराये कि बात डगमगा गयी। (रुक कर) मैं उसे मूर्ख समझता हूँ जो पत्नी से सच बोलता है। डाक्टर साहब, बिना झूठ बोले कोई भी अपनी पत्नी पर प्रभुत्व जमा ही नहीं पाता।

खगेश—रामगरीब जी क्या जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी आप असत्य का आधार लेते हैं।

रामगरीब—जी हाँ! मेरा सारा केरियर ही झूठ पर बना है। मैंने अभी कहा न कि मैं झूठ हिम्मत से बोलता हूँ। ऐसी हिम्मत से मैं झूठ बोलता हूँ कि दूसरा आदमी सच भी उस हिम्मत से नहीं बोल सकता।

आचार्य—हिम्मत तो बड़ी चीज़ है। पर आप अपनी हिम्मत का कोई सबूत तो दीजिए।

रामगरीब—मेरी हिम्मत का सबसे बड़ा सबूत तो मेरे कपड़े और मेरे विचार हैं। सच मानिए, मैंने न जाने कितनी पार्टियाँ ज्वाइन की और छोड़ीं। उन पार्टियों के अनुसार कपड़े और विचार बदले। (रुक कर ऊँचे स्वर में) हिम्मत की बात तो यह कि एक पार्टी को छोड़ते ही, चौराहे पर खड़े होकर उसे जी भर गालियाँ दीं। डाक्टर साहब, ग़ौर कीजिए, कल जिसकी तारीफ़ की, आज उसे ही हिम्मत से गाली दी (रुक कर) बड़ी बात है न करुणा देवी।

करुणा—बहुत बड़ी बात है। पर मेरे लिए नयी नहीं है। मैंने घर में पति को गालियाँ दी हैं, उनसे झगड़ा किया है और घर से बाहर स्टेज पर पति-भक्ति पर लम्बे-लम्बे सारगर्भित भाषण दिये हैं। (हँस कर) दोनों चीज़ें एक साथ।

खगेश—(गद्‌गद् हो कर) करुणादेवी, आपका यह साहस, रामगरीब जी के साहस से भी महान है!

सिंह—(कुछ चिढ़ कर) कवि जी, हमारे साहस को आप नहीं जानते। कितने

चोरों और डाकुओं को पकड़ने के लिए हमें प्रमोशन मिले। हमारे साहस पर सब ने हमारी तारीफ़ की। और असल बात यह थी कि हम तो घर से बाहर ही नहीं निकले। हमारे सिपाहियों ने सारा काम किया। (दबे स्वर में) अब कहिए।

(सब की हँसी)

करुणा—यह साहस सब से ऊँचा है। रामगरीब जी अब आप अपनी बात आगे बढ़ाइए। हम लोग उत्सुक हैं।

रामगरीब—करुणा देवी, आप जानती होंगी, मेरी नेतागीरी म्युनिसपेलिटी के चुनाव से शुरू हुई थी। चुनाव के पूर्व वोट देने वालों से जितने वादे किये, चुनाव होते ही मैंने उन वादों को बिना संकोच भुला दिया। चुनाव के पहले खोद-खोद कर जिनसे पहचान निकाली (हँस कर) चुनाव के बाद, याद दिलाने पर भी उन्हें न पहचान पाया।

आचार्य—क्या बात है! (रुक कर) रामगरीब जी, सुना है पहले आपकी हालत सब तरफ़ से बड़ी कमज़ोर थी।

सिंह—आपने सुना था...हमने तो सब कुछ देखा था। बड़ी कमज़ोर थी इनकी हालत।

रामगरीब—(ज़ोर देते हुए) जी हाँ, बहुत ही कमज़ोर थी। और अब देखिए कैसा ज़ोर है। बात यह है डाक्टर साहब कि मैंने नेता बनने के बाद वही काम किये हैं जो आनरेरी, याने अवैतनिक थे। मेरा तो अनुभव है कि अवैतनिक कामों में ही वेतन अधिक मिलता है। मज़े की बात तो यह है कि इस वेतन पर (हँस कर) इनकम-टैक्स भी नहीं लगता। (खगेश का खुला मुँह देख कर) खगेश जी, आप को आश्चर्य हो रहा है। मैं कहता हूँ कि यदि आसामी पहचाना आ गया तो पैसा बहता हुआ घर में चला आता है।

खगेश—आप का कथन सत्य है। लोगों का कथन है कि साहित्यिक निर्धन होते हैं, पर मेरा कथन है कि वे साहित्यिक निर्धन होते हैं जिनके पास स्वार्थ बुद्धि की कंगाली होती है। मैंने चाहे साहित्य को न समझा हो, साहित्य का अध्ययन भी न किया हो...पर साहित्यिक कहलाता तो हूँ। (रुक कर) मैं निर्धन नहीं हूँ।

सिंह—यह तो मैं जानता हूँ। पुलिस की डायरी में एक जगह नोट किया गया था कि आपके पास मोटर कैसे आ गयी, इसका पता चलाया जाय।

रामगरीब—वीरसिंह जी, खगेश जी उसके बाद ही मेरे पास आये थे। हम दोनों के प्रयत्न से वह नोट डायरी से काट दिया गया।

सिंह—मुझे मालूम है। मैंने ही उसे कटवाया था। पर खगेश जी वह मोटर आपके पास आयी कैसे ?

खगेश—करुणा देवी जानती हैं।

आचार्य—तो आप ही बताइए न करुणा देवी।

करुणा—खगेश जी को मोटर करुणेश जी ने भेंट की थी। दस हजार रुपये उनके लिए कोई बड़ी चीज नहीं।

सिंह—पर इस भेंट का कोई सबब जरूर होगा। खगेश जी बताइए न।

खगेश—आपको याद होगा कि पार साल करुणेश जी को उनकी वर्ष-गाँठ पर नगर के साहित्यिकों द्वारा एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया गया था। वह अभिनन्दन ग्रंथ क्या है....करुणेश जी की झूठी प्रशंसा का पोथा। करुणादेवी जानती हैं। (रुक कर) करुणेश जी की इच्छा से मैंने यह कार्य कराया था।

आचार्य—(शीघ्रता से) ओ, तो मोटर उस मेहनत का फल थी। (हँस कर) बड़ा जोर है, आपकी कलम में खगेश जी।

करुणा—डाक्टर साहब, रामगरीब जी के भाषण भी बड़े जोरदार होते हैं। मैंने सुने हैं।

रामगरीब—भाषण लिखने के लिए मैंने एक मुंशी रख छोड़ा है। मुझे भाषण वही समझाता है और वही रटाता है। यों मैंने दो-चार कलमघसीट भुखमरे और जमा लिये हैं। जहाँ दस का एक पत्ता भेजा कि बना हुआ भाषण चला आया। (रुक कर) मुझे एक ही कष्ट करना होता है...उन्हें ठीक से रटने का। पर मैं अपना काम दिल लगाकर करता हूँ। क्या मजाल कि कॉमा वगैरह तक की भूल हो जाय।

खगेश—भाषण भी आप हिम्मत से ही देते होंगे।

रामगरीब—पूरी हिम्मत से स्टेज पर चढ़ता हूँ। जब बोलता हूँ तो लोग उसे मेरा ही भाषण समझते हैं। पत्रकारों को जब तब चाय पिलाता हूँ ताकि वे मेरे भाषण को अपने-अपने पत्रों में अच्छे स्थान पर छापें। बस !

आचार्य—आपकी बातें सुन कर मेरी इच्छा भी प्रेस वालों से मिलने की हो रही है। रामगरीब जी, वह तो मैंने देखा कि आज-कल लोग समाचार-पत्रों की बातों पर जल्दी भरोसा कर लेते हैं।

खगेश—तभी तो हम लोग अपनी भावनाओं का व्यक्तिकरण समाचार-पत्रों के माध्यम से करते हैं। करुणा देवी आपका क्या विचार है ?

करुणा—पेपर में नाम छपवाने की कोशिश तो मैं भी करती हूँ, पर साथ ही साथ यह भी कोशिश करती हूँ कि अपना कोई ऐसा रहस्य पेपर में न छपने पाये जिससे अपने सामाजिक व्यापार में नुकसान हो।

रामगरीब—मुँह की बात छीन ली आपने, ठीक उसी तरह.....

करुणा—(शीघ्रता से) जैसे आप लोगों के मुँह का कौर छीन लेते हैं।

(सब की हँसी, रामगरीब गम्भीर हो जाते हैं।)

आचार्य—(बात बदलते हुए) रामगरीब जी कुछ दिनों पहले भिखारियों की समस्या पर पेपरों में आपका जो भाषण छपा था, वह मुझे बड़ा पसन्द आया था।

रामगरीब—(सम्हलते हुए) मेरे मुंशी ने उस भाषण को तैयार करने के लिए न जाने कितनी पुस्तकें और बड़े-बड़े नेताओं के दर्जनों भाषण पढ़े थे। इसके बाद मुंशी ने उस भाषण को एक हफ़्ते में लिखा था। (हँस कर) और मैंने (ज़ोर देकर) एक दिन में याद किया था। (रुक कर) ऐसे ही भाषणों ने मुझे आगे बढ़ाया है। ज़ोरासिंह जी, आपके बढ़ने का क्या कारण है... आपने बतलाया ही नहीं।

सिंह—मैं अर्ज़ कर चुका हूँ कि ख़ुशामद का ही ज़ोर था जो मुझे यहाँ तक ले आया। जब मैं सब-इन्सपेक्टर हुआ तब अपने साहबों के सामने मैंने अपने को कान्सटेबल से बड़ा नहीं समझा। साहब, वह अंगरेज़ों का ज़माना था। उनके सामने इन चीज़ों की बड़ी कीमत थी। मैं काम से ज़्यादा इन चीज़ों की फिकर करता था...और बढ़ता जाता था।

करुणा—एक दिन करुणेशजी कह रहे थे कि आप लोगों को बड़ा तंग करते थे।

सिंह—(हँस कर) तंग ! नहीं जी, मैं तो सरकार की बात मानता था। जब दो-चार साथियों को मारता और गालियाँ देता था तो साहब पीठ ठोका करते थे। (रुक कर) आप से क्या छिपाऊँ, सन ४२ के आन्दोलन में मैंने आज़ादी का नाम तक लेने वालों को ऐसा दुरुस्त किया था कि आज भी उनकी हड्डियाँ कड़कती होंगी।

खगेश—च्-च्-च्...यह तो कठोरता है।

सिंह—उन दिनों यही कर्तव्य समझा जाता था। अँगरेज़ सरकार को मैंने

आन्दोलन की कितनी गुप्त बातें बतायी थीं। उन्हीं बातों के दम पर कितने लोग पकड़े गये।

आचार्य—आपको इसमें क्या मिला था ?

सिंह—प्रमोशन। आन्दोलन ठंडा हुआ और मैं डी० एस० पी० हो गया।

करुणा—नयी सरकार आने पर आपकी इज़्ज़त घट गयी होगी।

सिंह—जी नहीं। हमारी नयी सरकार के आने पर हमारी इज़्ज़त और बढ़ गयी। (रुक कर) इसका कारण रामगरीब जी बतलायें। ये भी तो इज्जत बढ़ाने वालों में हैं।

रामगरीब—बात यह थी करुणा देवी कि ज़ीरासिंह जी जैसे पुलिस अधिकारी हम लोगों का सारा इतिहास जानते थे। यदि इन्हें दूर करते तो अपना सारा भंडा फोड़ होता। इसीलिए इन लोगों को गले लगाना ही पड़ा। (हँस कर) यही तो राजनीति है।

खगेश—ज़ीरासिंह जी, अब तो अवकाश प्राप्त कर चुके हैं आप। अब तो समय बड़ी कठिनाई से कटता होगा।

सिंह—नहीं कवि जी, अब भी कहाँ आराम है। हमारी सरकार हम पर बड़ी खुश है। हम पर सरकार को भरोसा भी बहुत है। (रुककर कुछ ऐंठ से) अब भी हम पाँच-सात बड़ी कमेटियों के मेम्बर हैं। अब इज़्ज़त और बढ़ गयी है। (कुछ सोचते हुए) डाक्टर साहब एक चीज़ याद आयी।

आचार्य—तो ज़रूर कहिए, यहाँ तो अपना ही राज्य है।

सिंह—कुछ दिनों पहले, पेपर में जहाँ यह ख़बर छपी थी कि मैं पुलिस का विशेष अधिकारी बना दिया गया हूँ...उसी के नीचे यह भी छपा था कि आपके गुरु प्रयोगशाला में मरे पाये गये। ख़बर में था कि प्रयोग करते समय......

आचार्य—(बीच में) वह ख़बर ग़लत थी।

सिंह—तो सच क्या था ?

आचार्य—वास्तव में सत्य किरण का आविष्कार उन्हीं का था। यदि वे जीवित रहते तो इस आविष्कार का सारा श्रेय उन्हीं को मिलता। पर मैं दुनिया को यह बताना चाहता था कि इसका आविष्कारक मैं हूँ। इसका सारा श्रेय मैं चाहता था, इसीलिए मैंने उन्हें अपने रास्ते से हटा दिया। (रुक कर) मैंने उन्हें ज़हर दे दिया था।

[इसी समय दरवाजे पर मिट्ठू लाल आकर ज़ोरों से हँसता है। सब लोग चौंक कर उसी ओर देखने लगते हैं।]

मिट्ठू—मैंने आप सबकी बातें बगल के कमरे से सुन ली हैं। डाक्टर साहब ! आज मैं सारी चीज़ समझ गया।

आचार्य—(डाँट कर) मिट्ठूलाल।

मिट्ठू—अब आपकी डाँट का मुझ पर कोई असर नहीं होगा। दुनिया में मैं आपकी वैज्ञानिकता का ढोल पीटूँगा। आपके साथ इन सब के गुण भी गाऊँगा।

करुणा—(घबरा कर) तुमने सारी बातें सुन ली हैं।

मिट्ठू—जी। करुणेश जी का प्रेम, आपकी समाज सेवा। (हँसी, आचार्य उसकी ओर बढ़ते हैं।) वहीं रुकिए डाक्टर साहब, मैं सब जान गया हूँ। खगेश जी का साहित्य, रामगरीब जी की नेतागीरी, जीरासिंह जी की ईमानदारी ! कल तक सारी दुनिया भी जान जायेगी डाक्टर साहब, नमस्ते...मैं चल दिया।

(हँसी, प्रस्थान। उसकी हँसी नेपथ्य में कुछ देर सुनायी देती है।)

रामगरीब—डाक्टर साहब, अब क्या होगा ?

खगेश—मैं अपने साहित्य पर एक मित्र से आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा रहा था ...अब वह यों ही रह जायेगा।

सिंह—मैं भी कई राष्ट्रीय समितियों का मेम्बर हूँ।

करुणा—(घबरा कर) डाक्टर साहब, कुछ कीजिए। हमें बचाइए।

आचार्य—आप लोगों से अधिक मुझे अपनी चिन्ता है। (सोचते हुए) मैं इस सत्य किरण के आविष्कार को संसार के सामने नहीं जाने दूँगा। सत्य किरण की सत्यता न कोई जानेगा और न कोई मिट्ठू की बातों पर भरोसा करेगा। मिट्ठूलाल की बातें सत्य किरण ही सत्य कर सकती है। पर सत्य किरण से अधिक महत्वपूर्ण हमारा जीवन है। आप लोग विश्वास रखिए...हम लोग दुनिया की आँखों से नहीं गिरेंगे।

सब—आप धन्य हैं डाक्टर साहब।

[डाक्टर खिड़की से आती सत्य किरण को देखता है और सब डाक्टर को ओर देखते हैं। पर्दा धीरे-धीरे गिरता है।]

बन्दी

●●

जगदीश चन्द्र माथुर

[उत्तर भारत के एक गाँव में एक बड़े घराने के बंगले का बगीचा। पृष्ठभूमि में मकान की झलक। मकान में जाने के लिए बायीं तरफ़ से रास्ता है और बाहर जाने के लिए दाहिनी तरफ। समय चैत्र पूनो की संध्या। चाँदनी का साम्राज्य गोधूलि वेला में ही फैल रहा है। राय तारा नाथ हेमलता के साथ एक स्थान की ओर संकेत करते हुए आते हैं।]

राय साहब—और यही वह स्थान है जहाँ तुम्हारी माँ पूजा के बाद तुलसी जी को पानी चढ़ाने आती और मैं......

हेमलता—आप तो नास्तिक रहे होंगे पापा !

राय साहब—तुम्हारी माँ को चिढ़ाने के लिए। लेकिन उसकी श्रद्धा अडिग थी। और तभी मैं बगीचे के किसी कोने में...शायद वही तो...वह देखती हो न पत्थर ?

हेमलता—याद है।

राय साहब—क्या याद है ?

हेमलता—कि उस पत्थर पर बैठ कर आप मुझे सितारों की कथा सुनाया करते थे। (रुक कर मानो कुछ याद आयी हो) पापा, कलकत्ते में सितारों-भरा आसमान मानो मेरे मन के कोने में दुबका पड़ा रहता था, लेकिन यहाँ (स्निग्ध स्वर) गाँव आते ऐसे ही खिला पड़ता है, जैसे आज इस चैत्र पूनों की चाँदनी !

राय साहब—आसमान भी खिला पड़ता है और तुम्हारा मन भी बेटी ! (हँसता है। कुछ रुक कर) बजा क्या है ! (आहिस्ता से) गाड़ी का तो वक्त हो गया होगा !

हेमलता—आप भी पापा। (रूठ कर) समझते हैं कि मुझे यूँ तो चाँदनी भाती ही नहीं, सिर्फ़......

राय साहब—(बात पूरी करते हुए) बीरेन की इन्तज़ारी की घड़ी में ही खिली पड़ती है। (हँसते हैं।) बुराई क्या है ? बीरेन भला लड़का है, इसलिए तो यहाँ आने का न्योता दिया है उसे। देखूँ गाँव की आभा उसके मन चढ़ती है या नहीं ?

हेमलता—जैसे जनम से ही शहर की धूल फाँकी हो।

राय साहब—वही समझो। कहता था न कि बचपन में पिता के मरने पर बरेली चला गया और उसके बाद लखनऊ और तब कलकत्ता......

हेमलता—मुझे भी तो आप बचपन में ही कलकत्ते ले गये और अब लाये हैं गाँव पहली बार......

राय साहब—मैं तुम्हें लाया हूँ बेटी या तुम मुझे ?

हेमलता—पापा, आते ही मैं तो यहाँ की हो गयी। न जाने कितने युगों का नाता जुड़ गया। (उल्लास पूर्ण स्वर) यह हमारा घर, पुरानी कोठी, जिसकी दीवार में पड़ी दरारें मुस्कान भरे मुखड़े की सिलवटें हैं ! ये दूर दूर तक फैले हुए खेत, जिन पर दबे पाँव दौड़ते दौड़ते हवा उन पर निछावर हो जाती है और यह चाँदनी जो जितनी हँसती है उतना ही छिपाती भी है। (तन्मय) कलकत्ते में चैत्र की चाँदनी और ईद के चाँद में कोई अंतर नहीं होता। लेकिन यहाँ, झोपड़ियों पर बाँस के झुरमुटों में, खेत-खलिहान पर, बे-हिसाब, बे ज़ुबान, बे-झिझक चाँदनी की दौलत बिखरी पड़ रही है। ओह, पापा !

(अपरिमित सुखानुभूति का मौन)

आया—(नेपथ्य में) हेम बीबी चाय तैयार है !

राय साहब—चाय ! इतनी देर में ?

हेमलता—आया की ज़िद ! कहती है सर्दी हो चली है, थोड़ी चाय पी लो। (मकान की ओर रुख करके) यहीं ले आओ आया, बगीचे में। और दो मूढ़े भी !

राय साहब—(स्मृति के सागर में उतराते हैं।) सोचता हूँ कि अगर तुम्हारी माँ तुम्हारी तरह बोल या लिख पाती तो वह भी कवि या तुम्हारी तरह आर्टिस्ट होती।

हेमलता—अगर माँ बोल पाती तो आपको कलकत्ते न जाने देती।

राय साहब—रोका था। दो चार आँसू भी गिराये थे। लेकिन क्या तुम सच मान सकती हो हेम, कि मैं न जाता? कैसे न जाता? सारे केरियर का सवाल था। यह ज़मींदारी उन दिनों भरी-पुरी थी, लेकिन आख़िर को ले न डूबती मुझे अपने साथ!

हेमलता—काश इस गाँव में ही हाईकोर्ट होता! यहीं आप वकालत करते और यहीं जज हो जाते!

राय साहब—वाह बेटी! तब तो यहीं वह बड़ा अस्पताल भी होता जहाँ तुम्हारी माँ की लम्बी बीमारी का इलाज हुआ था और यहीं वह कालिज और हाई स्कूल होते, जहाँ तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा हुई और यहीं वे थियेटर सिनेमा...

(आया का प्रवेश। हाथ में ट्रे। अपनी धुन में बात करती है:)

आया—यही तो मैं कहती थी सरकार! इस देहात में कैसे हेम बिटिया की तबियत लगेगी। सनीमा नहीं, थेटर नहीं, क्लब नहीं। (पीछे की तरफ़ देख कर पुकारती हुई) अरे ओ चेतुआ, किधर ले गया मेज़?...देहात का आदमी, समझ भी तो मोटी है! (चेतुआ एक हाथ में छोटी सी टेबल और एक में मूढ़ा लिये हुए आता है।) उधर रख...हाँ बस (मेज़ पर चाय की ट्रे रख देती है। चाय बनाती हुई।) आपके लिए भी बनाऊँ सरकार?

राय साहब—(कुछ अनिश्चित से मूढ़े पर बैठते हुए) मे...रे...लिए......

आया—(चेतुआ को खड़ा देख कर) अरे खड़ा क्यों है? दूसरा मूढ़ा तो उठा ला दौड़ कर।

चेतराम—जाते हुए अभी लाया जी!

आया—(प्याला देती हुई) लो बीबी जी, गर्म कपड़ा नहीं पहना तो गर्म चाय तो लो।

हेमलता—तुम तो आया समझती हो कि जैसे हम बरफ़ की चोटी पर बैठे हैं!

आया—(दूसरा प्याला बनाते हुए) नहीं हेम बीबी, देहात की हवा शहरवालों के लिए चंडी होती है चंडी!

हेमलता—तुम भी तो देहात ही की हो आया।

आया—अब तीन चौथाई ज़िन्दगानी तो गुज़र गयी आप लोगों के संग (चाय का प्याला राय साहब की ओर बढ़ाते हुए) लीजिए सरकार! (राय साहब को देख, कुछ चौंक कर) अरे!

राय साहब—(प्याला लेते हुए) क्यों क्या हुआ?

आया—आप भी सरकार गजब करते हैं। यहाँ खुले में आप यों ही बैठे हैं।

(घर की तरफ़ तेज़ी से बढ़ती है।)

हेमलता—किधर चली आया ?

आया—(जल्दी से) ड्रेसिंग गाउन लेने।...साहब का बेरा कलकत्ते से आता तो ऐसी गफ़लत क्यों होती ?

(चली जाती है।)

राय साहब—हा हा हा (ठहाका मारते हैं।) गुड ओल्ड आया ! (चाय पीते हुए) समझती है कि सारी दुनिया नादान बच्चों का झुंड है और अकेली वह माँ है।

हेमलता—क्या सच उसे देहात नहीं सुहाता पापा ? मैं नहीं मान सकती। मगर (चेतू मूढ़ा ले आया है।) यहीं रख दो मूढ़ा, मेज़ के पास।

राय साहब—मुझे ये पुराने मूढ़े पसंद हैं। कमर बिलकुल ठीक एंगिल में बैठती है। (चेतू को रोक कर) ए, क्या नाम है तुम्हारा ?

चेतराम—जी, चेतराम !

राय साहब—कहार हो ?

चेतराम—मुसहर हूँ सरकार !

राय साहब—मुसहरों की तो एक बस्ती थी करीब ही कहीं, गन्दी-सड़ी। बाप का नाम ?

चेतराम—कमतूराम !...अब गन्दगी नहीं है सरकार !

राय साहब—अरे, तू कमतू का लड़का है ?

हेमलता—क्यों नहीं है अब गन्दी बस्ती ?

(आया का प्रवेश)

आया—लीजिए सरकार ड्रेसिंग गाउन, जब बैठना ही है यहाँ खुले में तो... अरे तू यहीं खड़ा है चेतू ?

राय साहब—(ड्रेसिंग गाउन पहनते हुए) आया, यह तो उसी कमतू का लड़का है जो १५ बरस पहले यहाँ......

आया—हाँ, सरकार मैंने तो उसे ही बुलाया था, मगर उसने लड़के को भेज दिया। ख़ैर, जाने-पहचाने का लड़का है। चोरी-ओरी करेगा तो पकड़ना मुशकिल नहीं।

हेमलता—तुम तो आया—

आया—अरे हां बीबी जी, अब ये देहाती सीधे-सादे नहीं रहे। हमारे-तुम्हारे

कान काटते हैं। चेतू चाय की ट्रे ले कर जल्दी आना। पलंग-वलंग ठीक करने हैं। (चलते चलते) देखूँ बावर्ची ने खाना भी तैयार किया कि नहीं।

राय साहब—डीयर ओल्ड आया।

(आया जाती है। राय साहब चाय की चुस्की लेते हैं।)

हेमलता—चेतराम!

चेतराम—जी बीबी जी।

हेमलता—मुसहर बस्ती में अब गन्दगी नहीं है! क्यों?

चेतराम—बस्ती ही बह गयी सरकार!

राय साहब—बह गयी?

चेतराम—पिछले साल बहुत ज़ोर की बाढ़ आयी। हमारी तो बस्ती ही खतम हो गयी। चालीस घर थे। मेरे दादा के पास धनहर खेत था आठ कट्ठा। जैसे-तैसे महाजन से छुड़ाया। वह भी बालू में पड़ गया। और कान्हू काका की चार बकरी थीं! सब पानी......

राय साहब—सरकारी मदद मिली?

चेतराम—बातचीत तो चल रही है...पर अब तो हम लोग पहाड़ी की तलहटी में चले गये हैं। नयी टोली बस रही है।

राय साहब—ओ हो, बड़े ज़ोम हैं। लेकिन वहाँ तो ऊसर ज़मीन है। खेती की गुंजायश कहाँ?

चेतराम—मुसकिल तो हुई है सरकार। पर बारी-बारी से दस-दस जन मिल कर तैयार करते हैं। एक बाँध बन जाय तो बेड़ा पार है सरकार।

राय साहब—हिम्मत तो बहुत की तुम लोगों ने।

हेमलता—लेकिन है मुसीबत ही। रोज़ का खाना पीना कैसे चलता होगा इन लोगों का?

राय साहब—यही, नौकरी मजूरी। जब मिल जाय।

चेतराम—वह तो हुई सरकार! पर अब तो बाँस का काम करने लगे हैं। हाट-बाजार में बिक जाता है। इनसे भी बढ़िया मूढ़े बनाने लगे हैं।

राय साहब—अच्छा! लाना भई हमारे लिए भी एक सेट।

चेतराम—जरूर सरकार! दादा तो इसी में लगे रहते हैं रात दिन। मैंने भी टोकरी बनाना सीख लिया है, रंग-बिरंगी। लोनग भैया को बहुत पसंद हैं। कहते हैं सहर में तो बहुत बिकेंगी......

हेमलता—तो तुम्हारे भाई भी हैं ?

चेतराम—(हँसता है ।) न बीबी जी ! लोचन भैया ! लोचन भैया तो...सब के भैया हैं ! कहते हैं......

राय साहब—जगत भैया !

आया—(नेपथ्य में) चेतू, ओ चेतू !

चेतराम—चाय ले जाऊँ सरकार ?

राय साहब—हाँ ! और तो नहीं लोगी हेम ?

हेमलता—उं...हाँ...हूँ...नहीं । ले जाओ !

[चेतू ले जाता है । राय साहब ड्रेसिंग गाउन की जेब में हाथ डाल कर घूमने लगते हैं ।]

राय साहब—तो यह है इन लोगों की ज़िन्दगी । गरीब भी और गन्दे भी । उन दिनों तो उस टोली में बिना नाक बंद किये जाना हो ही नहीं सकता था । बाप इसका मेहनती था । असल में काम करने में पक्के हैं ये लोग, लेकिन हैं जाहिल !

हेमलता—पापा, आपको याद है हमारे आर्ट मास्टर ने वह तसवीर बनायी थी 'किसान की साँझ'—कंधे पर हल, आगे बैल, थका-माँदा किसान, साँझ की चित्ताकर्षक रंगीनी में भी निर्लिप्त......

राय साहब—पाँच सौ रुपये दाम रखा था न उन्होंने उसका ?

हेमलता—पापा, आपने ग़ौर किया इस चेतराम की शक्ल उससे मिलती है... मास्टर साहब कहते थे देहाती ज़िन्दगी और दृश्यों में अनगिनती मास्टर-पीसेज़ के बीज बिखरे पड़े हैं । एक-एक चेहरे में सदियों का अवसाद है । एक एक झांकी में युगों की गहराई । अमृता शेरगिल......

राय साहब—अमृता शेरगिल...भई, उसकी तसवीरों पर तो मातम-सा छाया रहता है ।

हेमलता—वह तो अपना अपना ऐटीट्यूड है । अपनी भंगिमा ! लेकिन पापा, यह तो मानिएगा कि शेरगिल के रंगों में भारत के गाँव की मिट्टी झलक रही है ! पापा मुझे लगता है जैसे मेरी कूची, मेरे ब्रुश को यहाँ आकर नयी दृष्टि मिली हो । कितने चित्र मैं यहाँ खींच सकती हूँ ? पकते हुए गेहूँ के खेत में चकित-सी किसान बाला । रंग-बिरंगी बाँस की टोकरियाँ बनाता हुआ इसी चेतराम का बाप ! सवेरे की किरण में धुली-धुली-सी गाय को दुहता हुआ ग्वाला......

राय साहब—और यह चाँदनी ! (हँसता है ।) मगर हेम, वह चित्र भी तैयार हुआ या नहीं ?

हेमलता—कौन सा ?

राय साहब—अरे वही...ख़ास चित्र !

हेमलता—पापा आप तो (शर्मीली-सी) लेकिन बीरेन ने पंद्रह मिनट भी तो लगातार सिटिंग नहीं दी । इधर से उधर फुदकते फिरते थे ।

राय साहब—इस वक्त भी जान पड़ता है कहीं फुदक ही रहे हैं, हज़रत ।

हेमलता—आपने भी फिज़ूल भेजा ताँगा । जिसके पैर में ही सनीचर हो......

(बीरेन पीछे से हठात् निकलता है ।)

बीरेन—सनीचर नहीं आज तो शुक्र है । कहीं इसी वजह से तुम ताँगा भेजना नहीं भूल गयीं ।

हेमलता—बीरेन !

राय साहब—बीरेन ? अरे ! क्या तुम्हें ताँगा नहीं मिला स्टेशन पर ?

बीरेन—नमस्ते पापाजी ! जी, मुझे ताँगा नहीं मिला, शायद......

राय साहब—अजब अहमक है यह साईस । रास्ता तो एक ही है ।

बीरेन—लेकिन कोई बात नहीं । मेरा भी एक काम बन गया ।

राय साहब—सामान कहाँ है ?

हेमलता—चेतू ! (पुकारते हुए) आया, चेतू को भेजना ! सामान......

बीरेन—सामान तो चौधरी जंगबहादुर की देख-रेख में स्टेशन ही छोड़ आया हूँ ।

राय साहब—यानी मिल गये तुम्हें भी चौधरी जंगबहादुर ।

हेमलता—वही न पापा, जो हर गाड़ी पर किसी न किसी आने वाले को लेने के लिए जाते हैं ?

बीरेन—या किसी न किसी जाने वाले को पहुँचाने । मगर यह भी निराला शौक है कि बिलानागा हर गाड़ी पर स्टेशन जा पहुँचना ।

राय साहब—दो ही तो गाड़ी आती हैं इस छोटे स्टेशन पर, लेकिन चौधरी की वजह से उस सूने स्टेशन पर रौनक हो जाती है ।

बीरेन—जी हाँ, जब तक उनसे मुलाकात नहीं हुई तब तक तो मुझे भी लगा कि पैसफ़िक सागर के टापू पर बहक गया हूँ ।

हेमलता—यहाँ चौरंगी की चहल-पहल की उम्मीद करना तो बेकार था बीरेन ।

बीरेन—(ठहाका) याद है न बेकन की वह उक्ति, "भीड़ के बीच में भी चेहरे

गूँगी तसवीरें जान पड़ते हैं और बातचीत घंटियाँ, अगर कोई जाना पहचाना न हो।'' लेकिन तुमने यह कैसे समझ लिया कि मुझे वीराना पसन्द नहीं।......मैं तो चौधरी साहब से भी पल्ला छुड़ाकर भागा।

राय साहब—तो शायद उन्होंने तुम्हें समूची दास्तान सुनानी शुरू कर दी होगी।

बीरेन—जी हाँ, यह बताया कि वे साल भर में एक बार, सिर्फ़ एक बार, कलकत्ते की रेस में बाज़ी लगाने जाते हैं। यह भी बताया कि गवर्नर साहब के जिस डिनर में उन्हें बुलाया गया था, उसका निमंत्रण-पत्र अब भी उनके पास है और यह कि इस गाँव में अब तक जितनी बार कलक्टर आये हैं, उनके दिन और तारीखें उन्हें पूरी तरह याद हैं।

हेमलता—गज़ब है!

राय साहब—हाँ भाई याददाश्त चौधरी की लाजवाब है।

बीरेन—याददाश्त की दुनिया में ही रहते जान पड़ते हैं! इसलिए जब उन्होंने स्टेशन पर सामान की देखभाल का ज़िम्मा लिया तो मैंने भी छुटकारे की साँस ली और रास्ता छोड़कर खेतों की राह बस्ती की ओर चल दिया।

(आया का प्रवेश)

आया—बीरेन बाबू, पहले गर्म चाय पीजिएगा या फिर खाने का ही इन्तज़ाम...

बीरेन—ओ! हलो आया कैसी हो?

आया—मैं तो मज़े ही में हूँ। लेकिन आपके आने से हमारी हेम बीबी के लिए चहल-पहल हो गयी वरना......

हेमलता—वरना क्या? मुझे तो कलकत्ते की चहल-पहल से यहाँ का सूना संगीत ही भाता है।

राय साहब—आया, हेम की उलटबाँसियाँ तुम न समझोगी।

बीरेन—लेकिन, आया, अब मैं इस जंगल में मंगल करने वाला हूँ।

आया—भगवान वह दिन भी जल्दी दिखावें मैं तो हेम बिटिया......

हेमलता—चुप भी रहो, आया!

राय साहब—(ठहाका) हा, हा, हा!

बीरेन—मैं दूसरी बात कह रहा था। मेरा मतलब है इस गाँव की काया-पलट करना। यह गाँव मेरा इन्तज़ार कर रहा है, जैसे...जैसे......

हेमलता—जैसे वीणा के तार उस्ताद की उँगलियों का (किंचित हास) खूब!

राय साहब—(हँसते हुए) हा, हा, हा! बीरेन, है न मेरी बिटिया लाजवाब?

बीरेन—लेकिन वीणा के सुर में वह मस्ती कहाँ जो एक नयी दुनिया के निर्माण में है।

हेमलता—(व्यंग्य) कोलम्बस !

राय साहब—नयी दुनिया का निर्माण। यह तो दिलचस्प बात जान पड़ती है बीरेन ! सुनें तो......

बीरेन—जिस रास्ते से—शार्टकट से—मैं आया हूँ, उससे लगी हुई जो ज़मीन है, थोड़ी ऊँची और समतल, उसे देखकर मेरी तबियत फड़क गयी और मैंने तय कर लिया कि......

आया—बीरेन बाबू !

बीरेन—(अपनी बात जारी रखते हुए) कि बिलकुल आइडियल रहेगी वह जगह ! बिलकुल मानो उसी के लिए तैयार खड़ी हो......

राय साहब—किसके लिए ?

आया—सरकार बीरेन बाबू की बातें तो सावन की झरी हैं, पर मुझे तो बहुतेरा काम पड़ा है।

हेमलता—(चंचल) इन्हें खाना मत देना आया !

बीरेन—(उसी धुन में) मैं कहता हूँ पापाजी उससे बेहतर जगह......

राय साहब—ना, भई, बीरेन ! पहले आया का हुक्म मान लो। हेम, कमरा इन्हें दिखा दो। गर्म पानी का इन्तज़ाम तो होगा ही। जब तैयार हो जायें और खाना भी, तो आया, मुझे ख़बर दे देना।

आया—लेकिन इस मौसम में बाहर रहिएगा देर तक तो......

राय साहब—बस अभी आया। चौधरी साहब इस बीच में आयें तो दो बात उन से भी कर लूँगा।

बीरेन—(जाते-जाते) लेकिन, पापाजी, आप ग़ौर करके देखिए, ग्रामोद्धार-समिति के लिए पहाड़ की तलहटी वाली ज़मीन से मौज़ूँ और कोई जगह हो ही नहीं सकती ! मैंने उन लोगों से......

(जाता है।)

राय साहब—ग्रामोद्धार-समिति ! ख़याल तो अच्छा है। एक ज़माने में मैंने भी...(सामने देखकर) कौन ? चेतू ! अरे तू यहाँ कैसे खड़ा है ?

चेतू—सरकार......

(रुक जाता है।)

राय साहब—क्या गर्म पानी तैयार नहीं ?

चेतू—कर आया सरकार ! कमरा भी सफ़ा है ।

राय साहब—ठीक ।

चेतू—सरकार !

(झिझक कर रुक जाता है ।)

राय साहब—क्या बात है चेतू ?

चेतू—सरकार वह तलहटी वाली ज़मीन !

राय साहब—कौन ज़मीन ?

चेतू—जी नये साहब जिसे लेने की सोच रहे हैं ।

राय साहब—अरे बीरेन ! अच्छा वह ज़मीन, जहाँ वह ग्रामोद्धार-समिति बैठायेंगे ।

चेतू—लेकिन सरकार उस पर तो हम लोग अपना नया बसेरा कर रहे हैं । आठ दस बाँस की कोठियाँ—झुरमुट—लग जायें तो बेड़ा पार हो जाय ।

राय साहब—अरे तुम मुसहरों का क्या ! जहाँ बैठ जाओगे, बसेरा हो जायेगा, लेकिन गाँव में जो उद्धार के लिए काम होगा—(घोड़े के टापों और ताँगे की आवाज़) यह क्या ? ताँगा आ गया क्या ? देख भई, बीरेन बाबू का सामान उतार ला । (चेतू बाहर जाता है । ताँगा रुकने की आवाज़) चौधरी साहब हैं क्या ?

बालेश्वर—(बाहर ही से बोलता हुआ आता है ।) जी, चौधरी साहब ने ही मुझे भेजा है सामान के साथ । मेरा नाम बालेश्वर है, बी० पी० सिन्हा । और ये हैं करम चंद बरैठा । (करम चंद नमस्ते करता है ।) बच्चू बाबू के चचेरे भाई हैं । मैं चौधरी साहब का भतीजा हूँ ।

राय साहब—कहाँ रह गये चौधरी साहब ?

बालेश्वर—जी ताँगे में आने की वजह से उनके घूमने का कोटा पूरा नहीं हुआ तो फिर से घूमने गये हैं ।

राय साहब—(हँसते हुए) ख़ूब !

करम चन्द—हम लोगों ने सोचा कि आपका सामान भी पहुँचा दें और आपके दर्शन भी हो जायें ।

बालेश्वर—बात यह है कि देहात में कोई 'लाइफ़' नहीं ।

करम चन्द—जबसे शहर से लौटे हैं, जान पड़ता है कि बन्दी बन गये हैं । 'ट्रान्सपोर्टेशन फ़ार लाइफ़ !'

राय साहब—क्या करते थे शहर में ?

बालेश्वर—करम चंद तो इंटरमीडियेट तक पढ़ कर लौट आये और मैं......

करम चन्द—बात यह है कि इम्तहान के परचे ही बेढंगे बनाये थे किसी ने।

बालेश्वर—मैं तो बी० ए० कर रहा था और एक दफ़्तर में किरानी की नौकरी के लिए भी दरख़्वास्त दे दी थी, मगर सिफ़ारिश की कमी की वजह से......

राय साहब—किरानी? तुम्हारे यहाँ तो कई बीघे खेती होती है।

बालेश्वर—पढ़ाई-लिखाई के बाद भी खेती! पढ़े फ़ारसी बेचे तेल!

करम चन्द—और फिर शहर की लाइफ़ की बात ही और है। खाने के लिए होटल, सैर के लिए मोटर, तमाशे के लिए सिनेमा।

राय साहब—रहते कहाँ थे?

बालेश्वर—शहर में रहने का क्या? चार अंगुल का कोना भी काफ़ी है।

करम चन्द—शहर की सड़कें यहाँ के बैठक-ख़ाने से कम नहीं। वह चहल-पहल वह रंगीनियाँ!

राय साहब—भई, यह तो तुम लोग ग़लत कहते हो। मैंने अपने बचपन और जवानी के अनेक सुहाने बरस यहाँ गुज़ारे हैं।

बालेश्वर—तब बात और रही होगी, जज साहब!

करम चन्द—और फिर छोटी उम्र में शहर की मनमोहक ज़िन्दगी से गाँव का मिलान करने का मौका कहाँ मिलता होगा।

राय साहब—मन मोहक...ख़ैर। आजकल क्या शग़ल रहता है?

करम चन्द—गले पड़ी ढोलकी बजावे सिद्ध! सोचा कुछ पढ़े-लिखे, जानकार लोगों का क्लब ही बना लें।

बालेश्वर—वह भी तो नहीं करने देते लोग।

राय साहब—कौन लोग?

करम चन्द—इस गाँव की पालिटिक्स आपको नहीं मालूम?

राय साहब—यहाँ भी पालिटिक्स है?

बालेश्वर—ज़बरदस्त! बात यह है कि मैं और करम चन्द तो ढंग से क्लब चलाना चाहते हैं। प्रेज़ीडेंट, दो वाइस प्रेज़ीडेंट, एक सेक्रेटरी, दो ज्वाइंट सेक्रेटरी, पाँच कमेटी मेम्बर।

करम चन्द—जी हाँ, यह देखिए! (**एक काग़ज़ निकाल कर राय साहब को दिखाता है।**) इस तरह लेटर-पेपर छपवाने का इरादा है। ऊपर क्लब का नाम रहेगा और...यहाँ हाशिए में इन पदाधिकारियों के नाम और...

बालेश्वर—लेकिन ठाकुरों की बस्ती में दो आदमी हैं, धरम सिंह और किशन-

कुमार सिंह। कहते हैं, दोनों वाइस प्रेज़ीडेंट उन्हीं के रहें और कमेटी में भी तीन आदमी। मैंने कहा कि एक ज्वाइंट सेक्रेटरी ले लो और दो कमेटी के मेम्बर।

राय साहब—वे भी तो पढ़े-लिखे होंगे।

करम चन्द—जी हाँ, कालेज तक।

राय साहब—तब?

करम चन्द—अपने को लाट साहब समझते हैं। कहते हैं, क्लब होगा तो उन्हीं के मोहल्ले में।

बालेश्वर—भला आप ही सोचिए, हम लोगों के रहते हुए ठाकुरों की बस्ती में क्लब कैसे खुल सकता है?

करम चन्द—आप ही इंसाफ़ कीजिए, जज साहब।

राय साहब—भई, इसके लिए तुम बीरेन से बात करो। यह लो बीरेन आ गये।

बीरेन—(हेम के साथ आते हुए) पापा जी ग्रामोद्धार-समिति वाली वह बात मैंने पूरी नहीं की।

राय साहब—बीरेन वह बात तुम इन लोगों को समझाओ। यह हैं बालेश्वर उर्फ़ बी० पी० सिन्हा और ये हैं करम चन्द बरैठा। गाँव के पढ़े-लिखे नौजवान! क्लब खोलना चाहते हैं। मैं तो चलता हूँ, देरी हो रही है। हेम बेटी, बीरेन को देर मत करने देना।

(चले जाते हैं।)

बीरेन—अच्छा तो गाँव में क्लब स्थापित करना चाहते हैं आप?

बालेश्वर—जी हाँ। यह देखिए यह है हम लोगों का लेटर-पेपर और नियमावली का मसौदा। बात यह है कि......

बीरेन—आइए मेरे कमरे में चलिए, वहाँ इत्मीनान से बातें होंगी। इधर से चलिए। मैं अभी आया।

(बालेश्वर और करम चन्द जाते हैं।)

हेमलता—मैं यहीं हूँ। जल्दी करना नहीं तो जानते हो आया वह ख़बर लेगी कि......

बीरेन—तुम भी चलो न! क्या उमदा मेरी योजना है। सुनकर फड़क जाओगी।

हेमलता—कमरे में चलूँ? उँह,...देखते हो यह चाँदनी (बाहर दूर से सम्मिलित स्वर में गाने की आवाज़) और सुनते हो यह स्वर, मानो चाँदनी बोलती हो!

बारेन—(जाते जाते शरारत भरे स्वर में) मैं तो देखता हूँ बस किसी का चाँद-सा मुखड़ा और सुनता हूँ तो अपने दिल की धड़कन (हाथ हिलाते हुए) टा...टा !

हेमलता—(मीठी मुस्कान) झूठे ।

(सम्मिलित संगीत-स्वर निकट आ रहा है, स्त्री-पुरुष दोनों का स्वर)

चननिया छुटकी मो का करो राम ।
गंगा मोर मइया जमुना मोर बहिनी
चाँद सूरज दूनो भइया
मो का करो राम । चननिया छुटकी......
सासु मोर रानी, ससुर मोर राजा
देवरा हवैं सहजादा मो का करो काम
चननिया छुटकी मो का करो राम !

[गाने के बीच में चेतू का जल्दी से आना और बाहर की तरफ चलना]

हेमलता—कौन चेतू ? कहाँ जा रहे हो ?

चेतू—जी...वह...वह...गाना

हेमलता—बड़ा सुन्दर है ।

चेतू—मेरी ही बस्ती की टोली है । हर पूनो की रात को गाँव के डगरे-डगरे घूमती है ।

हेमलता—इधर ही आ रही है ।

चेतू—सामने वाले डगरे में । वह देखिए । और देखिए उसमें वह लोचन भैया भी हैं ।......

हेमलता—कहाँ ?

चेतू—वह मिर्जई पहने । मैं चलता हूँ बीबी जी । वे लोग मुझे बुला रहे हैं......

(जाता है । गाने का स्वर निकट आकर दूर जाता है ।)

"मो का करो राम...मो का करो राम !"

हेमलता—(अब स्वर मंद हो गया है ।) "चननिया छुटकी मो का करो राम !" ओह, कैसी मनोहर पीर है यह !

आया—हेम बीबी, हेम बीबी । इस ठंड में कब तक बाहर रहोगी ?

हेमलता—(उच्च स्वर) अभी आयी आया । (फिर मंद स्वर में) चाँदनी

और मैं ! मैं और बीरेन ! लेकिन यह गाना और वह...वह...लोचन !

(विचार-मग्न अवस्था में प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

[स्थान वही । पन्द्रह रोज़ बाद । समय सबेरे । बाहर से राय साहब और एक व्यक्ति की बातचीत का अस्पष्ट स्वर और फिर थोड़ी देर में ठहाका मार मार कर हँसते हुए राय साहब का प्रवेश ।]

राय साहब—हा, हा, हा ! वाह भाई वाह ! सुना बेटी हेम ! हेम !

हेमलता—(नेपथ्य में) आई पापा !

राय साहब—हा, हा, हा !

(हेम का प्रवेश, हाथ में एक बड़ा-सा चित्र और ब्रश ।)

हेमलता—क्या बात हुई पापा ?

राय साहब—हेम हमारे चौधरी साहब भी लाजवाब हैं ! अभी तो मुझे फाटक पर छोड़ कर गये हैं । सबेरे की चहलकदमी में इनका साथ न हो तो मैं तो इस देहात में गूँगा भी हो जाऊँ और बहरा भी !

हेमलता—आप तो आज उनके घर तक जाने वाले थे ।

राय साहब—गया तो था, यही सोच कर कि थोड़ी देर के लिए उनकी बैठक में भी चलूँ, लेकिन बाहर से ही बोले, "वहीं ठहरिए !"

हेमलता—अरे !

राय साहब—कहने लगे, "पहले मैं ऊपर पहुँच जाऊँ, तब आप कार्ड भेजिएगा और तब बैठक में जाना मुनासिब होगा ! क़ायदा जो है ।

हेमलता—(हँसती है ।) ऐसी भी क्या अँग्रेजियत ?

राय साहब—और भी तो सुनो । घर में उनका जो प्राइवेट कमरा है, उसमें बाहर एक घंटी लगी है । जिसे भी अन्दर जाना हो, घंटी बजानी होती है । बिना घंटी बजाये अगर कोई अन्दर आ गया तो चौधरी साहब उससे बात नहीं करते, चाहे उनकी बीवी हो ।

हेमलता—मालूम होता है मनुस्मृति की तरह एटीकेट संहिता चौधरी साहब छोड़ कर जावेंगे ।

राय साहब—लेकिन आदमी दिल का साफ़ और बिलकुल खरा है, हीरे की मानिन्द ! दूसरे के एक पैसे पर हाथ नहीं लगाता ।

हेमलता—तभी शायद बीरेन ने उन्हें ग्रामोद्धार-समिति का ऑडीटर बनाया है।

राय साहब—बीरेन से कह देना कि चौधरी साहब हिसाब में बहुत कड़े हैं। कह रहे थे कि चूंकि इस संस्था में उनका भतीजा बालेश्वर शामिल है, इस लिए इसकी तो एक एक पाई पर निगाह रखेंगे!

हेमलता—बालेश्वर मुझे पसंद नहीं। झगड़ालू आदमी है।

राय साहब—झगड़ा तो गाँव की नस-नस में बसा है।

हेमलता—पहले भी ऐसा था पापा?

राय साहब—था, लेकिन ऐसी हठ-धर्मी नहीं थी। मैं यह नहीं कहता कि पहले, शेर-बकरी एक घाट पानी पीते थे, लेकिन...लेकिन...पहले, पढ़े-लिखे नौजवान गाँव में कम थे और......

हेमलता—पढ़े-लिखे नहीं, अधकच्चरे। टैगोर ने लिखा है न 'हाफ़ बेक्ड कल्चर।' लेकिन पापा क्या सच बीरेन का तूफ़ानी जोश और उसकी पैनी सूझ गाँव में काया-पलट कर देगी?

राय साहब—तुम क्या समझती हो?

हेमलता—कह रहे थे न बीरेन उस रोज़ कि गाँव में क्रांति के लिए एक नये दृष्टि-कोण की ज़रूरत है, एक नये मानसिक धरातल की......

राय साहब—बीरेन बोलता खूब है! उसी का जादू है।

हेमलता—सैकड़ों की जनता झूम जाती है।

राय साहब—उस दूसरी पार्टी का क्या हुआ। ग्राम-सुधार-समिति में शामिल हुई या नहीं?

हेमलता—अभी तो नहीं। कल रात बहुत सा वाद-विवाद चलता रहा। बीरेन देर से लौटे थे। पता नहीं क्या हुआ?

राय साहब—लेकिन आज तो नींव पड़ेगी समिति की।

हेमलता—हाँ, आप नहीं जाइएगा उत्सव में पापा?

राय साहब—न बेटी, मैं ने तो बीरेन से पहले ही कह दिया था कि मैं नहीं आ सकूँगा मुझे......

[**एक हाथ में काग़ज़ लिये, दूसरे से कुरते के बटन लगाते हुए बीरेन का प्रवेश।**]

बीरेन—लेकिन पापा जी, चौधरी साहब तो आ रहे हैं।

राय साहब—उन्हें ठीक स्थान पर बैठाना, नियम के साथ।

बीरेन—(हँसते हुए) उनकी पूरी देख-भाल होगी। पापा जी, अगर आप वहाँ पहुँच नहीं रहे हैं तो यह तो देखिए मेरे भाषण का ड्राफ्ट।

राय साहब—(उसके हाथ से काग़ज़ लेते हुए) तुम तो बिना तैयारी के ही बोलते हो।

(काग़ज़ पढ़ने लगते हैं।)

बीरेन—जी हाँ, लेकिन आज तो ग्राम-सुधार-समिति की समूची योजना को गाँव के सामने रखना है...पढ़िए न!

राय साहब—(पढ़ते हुए) बड़ी ज़ोरदार स्कीम है!

बीरेन—जी आगे और देखिए (हेम से) और हेम समिति के भवन में जो चित्र टँगेंगे तुमने पूरे कर लिये?

हेमलता—एक तो तैयार ही-सा है।

(चित्र की ओर संकेत करती है।)

बीरेन—यह?...बड़े चटकीले रंग हैं, बड़ा मनोहर नाच का दृश्य है...खूब! लेकिन...ये...इस कोने के अँधेरे में ये कौन लोग हैं?......

हेमलता—तुम क्या समझते हो?

बीरेन—(रुक कर सोचता-सा) जैसे निर्वासित भटके हुए प्राणी!

राय साहब—(पढ़ते पढ़ते) बीरेन तुम्हारी ग्राम-सुधार-समिति में दिमाग़ी कसरत तो बहुत है—पुस्तकालय, भाषण, अध्ययन मंडल......

बीरेन—(चित्र को अलग रखता हुआ) वही तो पापाजी! ग्राम-जागृति के मानी क्या हैं? अपनी जरूरतों और समस्याओं पर विचार करने की क्षमता! देहात की मूक-व्यथा को वाणी की आवश्यकता है। माँग है, चुने हुए ऐसे नौजवानों की जो धरती की घुटनों को गगन के गर्जन का रूप दे सकें, जो रूढ़ियों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठा सकें, जो आर्थिक प्रश्नों से माथापच्ची कर सकें। मैं समिति के पुस्तकालय में मार्क्स, लेनिन से लेकर स्पेंग्लर, रसेल इत्यादि सभी ग्रंथों का अध्ययन कराऊँगा। एक नयी रोशनी, एक नया मानसिक मन्थन—इंटलेक्युअल फ़रमेंट......

राय साहब—ठीक बीरेन ठीक! बातें तो बहुत होंगी, लेकिन भई, देहात की ग़रीबी और गन्दगी को देखकर तो मन उचाट होता है।

बीरेन—(जोश के साथ) यह आपने ठीक सवाल उठाया। ग़रीबी और गन्दगी! पापाजी, इस ग़रीबी और गन्दगी को देखकर मेरा मन क्रोधाग्नि से जल जाता है। वे बेघरबार के बूढ़े-बच्चे, वह भूखे-भिखमंगों की टोली, वे

चीथड़ों में सिकुड़ी औरतें—इन सबके ध्यान-मात्र से दया का सागर उमड़ उठता है। लेकिन दया के सागर में क्रोध के तूफ़ान की ज़रूरत है पापा जी। तूफ़ान जो न थमना जाने न चुप रहना। और इस तूफ़ान को कायम रखने के लिए चाहिए कुछ ऐसी हस्तियां जो उस क्रोध और दया के क़ाबू में न आकर भी उसी के राग छेड़ सकें, वकील की तरह पूरे जोश के साथ जिरह कर सकें, लेकिन मुवक्किल से अलग भी रह सकें।

हेमलता—सरोवर में कमल, लेकिन जल से अछूता!

बीरेन—हाँ, उसी की ज़रूरत है। जो लोग इस गरीबी और गन्दगी की दलदल से दूर रह कर उसमें फँसी दुनिया के बेबस अरमानों को समाज के सामने मुस्तैदी के साथ चुनौती का रूप दे सकें। (रुककर भाषण के स्तर से उतरता हुआ) लेकिन मुझे तो चलना है पापाजी। पहले से जाकर समिति की कुछ उलझनें सुलझानी हैं, जिससे उत्सव के वक्त फ़साद न हो।... तुम तो थोड़ी देर में आओगी हेम? तब तक इस चित्र को ठीक-ठाक कर लो। अच्छा तो मैं चला।

(चला जाता है। कुछ देर चुप्पी रहती है।)

राय साहब—यही तो जादू है बीरेन का।

हेमलता—जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले।

राय साहब—कभी कभी मुझे तो देहात में उलझन-सी लगती है। बरसों बाद आया हूँ...जैसे चश्मा शहर ही छोड़ आया हूँ...और बीरेन है कि आते ही गाँव को अपना लिया।

हेमलता—मालूम नहीं पापा जी, उन्होंने गाँव को अपना लिया था...

(चेतू का प्रवेश)

चेतू—सरकार का नाश्ता तैयार है।

राय साहब—(जाते हुए) अच्छा चेतू! आता हूँ। (चलते चलते चित्र पर निगाह जाती है।) हेम! यह तसवीर अच्छी बनी है।

हेमलता—थोड़ा टच करना बाकी है।

राय साहब—नाचने वालों की टोली में बड़ी लाइफ है। रंग की भी, गति की भी! लेकिन...कोने में यह लोग कैसे खड़े हैं?

हेमलता—आप क्या समझते हैं?

राय साहब—(सोचते-से अन्यमनस्क) जैसे...जैसे सूखे और सूने दरख्त जिन्हें धरती से खुराक ही नहीं मिलती।

हेमलता—पापा, आप भी तो कवि हैं।

राय साहब—(हँसते हैं।) तुम्हारा बाप भी जो हूँ।...अच्छा मैं तो चला।

(चले जाते हैं।)

हेमलता—(विचार मग्न) सूखे और सूने दरख्त।...या निर्वासित और भटके प्राणी!...नहीं...नहीं कुछ और (चेतू से) चेतू ज़रा लाना वह स्टूल, यहीं बैठ कर ज़रा इसे ठीक करूँ।

चेतू—(स्टूल रखता हुआ) यह लीजिए। रंग भी यहीं रख दूँ?

हेमलता—लाओ, मुझे दो। अब तो तुम्हें मेरी तसवीर खींचने की झक की आदत हो गयी है।

(रंग तैयार करने लगती है।)

चेतू—जी, बीबी जी।

हेमलता—देखो, थोड़ी देर में यह तसवीर लेकर तुम्हें मेरे साथ चलना है।

चेतू—कहाँ?

हेमलता—बीरेन बाबू की समिति का जलसा कहाँ हो रहा है, वहीं पहाड़ी की तलहटी पर।

चेतू—(झिझकता हुआ) बीबी जी, वहाँ मैं नहीं जाऊँगा।

हेमलता—क्यों?

चेतू—बीबी जी, वहाँ हम ग़रीब मुसहर अपना बसेरा करने वाले थे। हम बाँस की पौध लगा रहे थे। मेहनत करके टोकरी बनाते, घर तैयार करते। बाँध होता तो खेत भी......

हेमलता—(चित्र बनाते बनाते) लेकिन ग्रामोद्धार-समिति से भी तो आखिर तुम लोगों की तकलीफ़ें दूर होंगी।

चेतू—पता नहीं बीबी जी। समिति में बहुत देर तक बहसें तो होती हैं। पर......

हेमलता—और फिर बीरेन बाबू के दिल में तुम लोगों के लिए कितना ख़याल है, कितनी दया है।

चेतू—(किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत हो) हमें दया नहीं चाहिए।

हेमलता—(चौंक कर उसकी ओर मुड़ती है।) दया नहीं चाहिए? चेतू! यह तुमसे किसने कहा?

चेतू—(कुछ भकपका कर) बीबीजी लोचन भैया कहते हैं कि......

(सड़क पर से सम्मिलित स्वर में नारों की आवाज़)

ग्रामोद्धार-समिति ज़िन्दाबाद !
बी० पी० सिन्हा ज़िन्दाबाद !
ग़द्दारों का नाश हो !
ग्रामोद्धार-समिति ज़िन्दाबाद !

(आवाज़ दूर हो जाती है।)

हेमलता—चेतू यह सब क्या है ?

(खड़ी होकर देखने लगती है।)

चेतू—उत्सव में ही जा रहे हैं। बालेश्वर बाबू की पार्टी के लोग हैं। करम चंद बाबू इनसे अलग हो गये हैं और ठाकुर पार्टी के लोगों में जा मिले हैं।

हेमलता—कल रात झगड़ा तय नहीं हुआ ?

चेतू—पता नहीं...यह देखिए दूसरी पार्टी के लोग भी जा रहे हैं। कहीं झगड़ा न हो जाय।

(सड़क पर से दूसरे दल के नारों का शोर सुनायी देता है।)

करम चंद की जय हो !
करम चंद की जय हो।
ग्रामोद्धार-समिति हमारी है।
ग्राम-जागृति ज़िन्दाबाद !
स्वार्थी सिन्हा मुर्दाबाद

(आवाज़ दूर हो जाती है।)

हेमलता—(चिंतित स्वर में) चेतू, ये लोग तो लाठी लिये हुए हैं।

चेतू—जी हाँ, पहली पार्टी भी लैस थी।

(नेपथ्य में पुकारते हुए आया का प्रवेश)

आया—चेतू, ओ चेतुआ ! देख तो यह क्या फ़साद है ?

चेतू—बालेश्वर बाबू और करम चन्द की पार्टियां हैं। दोनों बीरेन बाबू के उत्सव में गयी हैं।

हेमलता—लाठी-डंडा लिये हुए, आया !

आया—और तू यहीं खड़ा है चेतुआ। अरे जल्दी जा दौड़ कर चौकीदार से कह कि थाने में ख़बर कर दे। क्या मालूम क्या झगड़ा हो जाये। जल्दी जा। लाठी चल गयी तो बीरेन बाबू घिर जायँगे।...जल्दी दौड़ जा।

(चेतू तेज़ी से जाता है।)

हेमलता—मैं भी जाऊँगी, आया। बीरेन अकेले हैं।

आया—न बीबी जी, तुम्हें न जाने दूँगी। (जाते हुए चेतू को पुकारते हुए) चेतू, लौटते वक्त जलसे में झाँकता आइयो (हेम से) हेम बीबी, कहाँ की इल्लत मोल ले ली बीरेन बाबू ने !

हेमलता—उनकी बात तो सब लोग सुनेंगे।

आया—बीबी जी, तुम ने अभी तक नहीं समझा गाँव-गँवई के मामलों को। यहाँ भलेमानसों का बस नहीं है। अपना तो वही कलकत्ता अच्छा था।

हेमलता—(झिड़कते स्वर में) आया तुम तो बस......

आया—मैं ठीक कह रही हूँ बीबी जी। अभी तुम लोगों को पन्द्रह दिन हुए हैं यहाँ आये। देख लो, बड़े सरकार की तबीयत ऊबी सी रहती है। चौधरी न हों तो एक दिन काटना मुश्किल हो जाय। और तुम हो......

हेमलता—मुझे तो अच्छा लगता है। कई स्केच बना चुकी हूँ।

आया—अरे, तसवीरें तो तुम कलकत्ते में भी बना लोगी। अनगिनती और इनसे अच्छी।

हेमलता—तुम तो, आया, उलटी बातें करती हो। आख़िर हम लोग गाँव की ही औलाद हैं। यह धरती हमारी माँ है। अब हम लोग फिर यहाँ आकर रहना चाहते हैं। इसकी गोदी में आना चाहते हैं।

आया—अब बीबी जी इतनी हुसियार तो मैं हूँ नहीं जो तुम्हें समझा सकूँ। पर इतना कहे देती हूँ कि उखाड़े हुए पौधे की जड़ में हवा लग जाय तो फिर दुबारा ज़मीन में गाड़ना बेकार है। उसके फूल तो बंगले के गुलदस्तों की ही शोभा बढ़ायेंगे।

हेमलता—(अचंभित आया को देखती रह जाती है।) आया तुम्हारी बात... तुम्हारी बात...खौफ़नाक है !

(नेपथ्य से आवाज़ें "इधर...इधर...ले आओ, सम्हल कर...चेतू तुम हाथ पकड़ लो...इधर...इधर")

आया—हैं ! यह कौन आरहा है ? (बाहर की ओर देखते हुए) अरे यह तो बीरेन बाबू को पकड़े दो आदमी चले आ रहे हैं। घायल, होगये क्या ? बाप रे !...

(दौड़ कर बाहर की तरफ़ जाती है।)

हेमलता—(घबड़ा कर) बीरेन, बीरेन ! (बंगले की तरफ़ पुकारते हुए)... पापा जी, पापा जी इधर आइए !

राय साहब—(नेपथ्य में) क्या हुआ ?
हेमलता—बीरेन घायल हो गये। ओह......!

[बेहोश बीरेन को लाठियों के स्ट्रेचर पर सम्हाले हुए, चेतू और एक व्यक्ति, जिसकी अपनी बाँह पर घाव है, प्रवेश करते हैं। वह इस परिस्थिति में भी स्थिरचित्त जान पड़ता है। उसकी वेश-भूषा चेतू की सी है।]

आया—(घबड़ाई हुई) चेतू, ये तो बेहोश हैं। हाय...राम !

(स्ट्रेचर ज़मीन पर रख दी जाती है।)

व्यक्ति—घबड़ाइए नहीं।
हेमलता—(स्ट्रेचर के पास घुटने टेकती हुई) बीरेन ! बीरेन !

(राय साहब घबड़ाये हुए प्रवेश करते हैं।)

राय साहब—क्या हुआ ? हैं ! यह तो बेहोश हैं ।...चेतू क्या हुआ ?
चेतू—सरकार दोनों पार्टी के लठैत भिड़ गये। बीच में आ गये बीरेन बाबू। वह तो लोचन भैया ने जान पर खेल कर बचा लिया वरना......
व्यक्ति—इन्हें फ़ौरन मकान के अन्दर पहुँचाइए। पट्टी-वट्टी है घर में ?
हेमलता—बीरेन ! बीरेन !
राय साहब—आया जल्दी अन्दर ले चलो।...चेतू सम्हल कर लिटाना। हेम, मेरी ऊपर वाली अलमारी में लोशन है, जल्दी...जल्दी...... (बीरेन को पकड़ कर आया, चेतू और हेम जाते हैं।) और यह लोचन कौन है ?
व्यक्ति—मेरा ही नाम लोचन है।
राय साहब—तुमने बड़ी बहादुरी का काम किया। यह लो दस रुपये और ज़रा दौड़ जाओ, थाने के पास ही डाक्टर रहते हैं।
लोचन—आप रुपये रखें। मैं डाक्टर के पास पहले ही खबर भेज आया हूँ। आते ही होंगे।
राय साहब—(कुछ हतप्रभ) तुम...तुम इसी गाँव के हो ?
लोचन—हूँ भी और नहीं भी।...आप बीरेन बाबू को देखें।
राय साहब—(संकुचित होकर) हाँ...आँ...हाँ......

[जाते हैं। लोचन कमर में बँधे कपड़े को फाड़ कर, अपनी बायीं भुजा में बहते हुए घाव पर पट्टी बाँधता है, तसवीर को सीधा उठा कर रखता और गौर से देखता है। इतने में तेज़ी से हेमलता का प्रवेश।]

हेमलता—तुम्हारा ही नाम लोचन है ?
लोचन—जी !

हेमलता—तुम्हीं ने बीरेन की जान बचायी है। (प्रसन्न स्वर में) वे होश में आ गये हैं। हम लोग बड़े एहसानमन्द हैं।

लोचन—(स्पष्ट स्वर में) जान मैंने नहीं बचायी।

हेमलता—तुम्हारी बाँह पर भी तो चोट है।

लोचन—जान उन गरीब मुसहरों ने बचायी है जिनसे ज़मीन छीन कर बीरेन बाबू ग्रामोद्धार-समिति का भवन बनवा रहे हैं। जब समिति के क्रांतिकारी नौजवान आपस में लाठी चला रहे थे, तब यही ग़रीब बीरेन बाबू को बचाने के लिए मेरे साथ बढ़े। (व्यंग्य-पूर्ण मुस्कान) क्रांति का दीपक बच गया !

हेमलता—(हिचकिचाती हुई) तुम...आप पढ़े-लिखे हैं ?

लोचन—पढ़ा-लिखा ! (वही मुस्कान) हाँ, भी और नहीं भी।...अच्छा चलता हूँ।...हाँ, यह तसवीर आपने बनायी है ?

हेमलता—कोई त्रुटि है क्या ?

लोचन—नहीं ! आपने हमारे नाच की गति को रेखाओं और रंगों में खूब बाँधा है। और......

हेमलता—और ?

लोचन—कोने में खड़े छाया में लपेटे ये व्यक्ति......

हेमलता—कैसे हैं ?

लोचन—(बिना झिझक के) जैसे अपनी ही ज़ंजीरों से बँधे बन्दी !

हेमलता—बन्दी ! क्यों ?

लोचन—(वही मुस्कान) यह फिर बताऊँगा। (चलते हुए) अच्छा नमस्ते !

[लोचन चला जाता है। हेमलता अचरज में खड़ी रह जाती है। फिर चित्र उठा कर घर की तरफ़ जाती है।]

हेमलता—(जाते-जाते मंद स्वर में) बन्दी। अपनी ही ज़ंजीरों में बँधे बन्दी...

(पर्दा गिरता है।)

तीसरा दृश्य

[वही स्थान। एक हफ़्ते बाद। समय संध्या। नौकर लोग मकान से बगीचे में होकर बाहर की ओर सामान लाते नज़र पड़ते हैं। कभी-

कभी आया की दबंग आवाज़ सुन पड़ती है, कभी चेतू की, कभी और लोगों की]

"वह बिस्तरा दो आदमी पकड़ो !"
"सम्हाल कर भई ।"
"बक्से में चीनी के बर्तन हैं ।"
"जल्दी...जल्दी ।"
"यह टोकरी दूसरे हाथ में पकड़ो !"

[घर की तरफ़ से आया का व्यस्त मुद्रा में जल्दी-जल्दी आना । बाहर से चेतू आता है ।]

आया—सब सामान लद गया चेतू ?

चेतू—हाँ आया ! बस, बड़े सरकार का अटेन्ची रहा है । उनके आने पर बन्द होगा ।

आया—कहाँ गये सरकार ?

चेतू—चौधरी जी के यहाँ विदा लेने । सुना है चौधरी के बचने की उम्मीद नहीं ।

आया—जिस गाँव में भतीजा अपने चचा पर वार कर बैठे वहाँ ठहरना धरम नहीं ।

चेतू—अभी ज़मानत नहीं मिली बालेश्वर बाबू को ।

आया—अब हमें क्या मतलब ? हम तो कलकत्ते पहुँच कर शान्ति की साँस लेंगे ।

चेतू—शान्ति !

आया—तू तो बुद्धू है चेतू । चल कलकत्ते । मौज उड़ायेगा । देखेगा बहार और बजायेगा चैन की बंसी ।

चेतू—गाँव छोड़ कर ? नौकरी ही करनी है तो अपनी धरती पर करूँगा ।

आया—अरे, शहर में नौकरी भी न करेगा तो भी रिक्शा चला कर डेढ़-दो सौ महीना कमा लेगा ।

चेतू—डेढ़-दो सौ ?

आया—हाँ, और रोज़ शाम को सनीमा । होटल में चाय । चकचकाती सड़कें, जगमगाते महल । ठाठ से रहेगा ।

चेतू—(विरक्त मुद्रा) खाना किराये का, रहना किराये का और बोली भी किराये की ।

आया—जैसी तेरी मर्ज़ी। भुगत यहीं देहात के संकट।

चेतू—लोचन भैया तो कहत......

आया—(झिड़कती हुई) चल, चल, लोचन भैया के बाबा ! अन्दर जा कर देख, बीरेन बाबू तैयार हों तो सहारा देकर लिवा ला। हेम बीबी तो तैयार हैं ?

चेतू—अच्छा।

(अन्दर जाता है।)

आया—(जाते-जाते) देखूँ गाड़ी पर सामान ठीक-ठीक लदा है या नहीं। ये देहाती नौकर......

[बाहर जाती है। थोड़ी देर में राय साहब और लोचन का बातें करते हुए बाहर से प्रवेश।]

राय साहब—भई लोचन, मुझसे यहाँ नहीं रहा जायेगा। अच्छा हुआ जाते वक्त तुम आ गये। बीरेन ने तुम्हें देखा नहीं। चलते वक्त उस दिन के एहसान के लिए......

लोचन—मैंने सोचा था कि आप लोग रुक जायँगे।

राय साहब—रुकना ? आया तो इसी विचार से था कि कलकत्ते के बाद देहात में ही दिन काटूँगा। लेकिन एक महीने में देख लिया कि हम तो इस दुनिया से निर्वासित हो चले। बरसों पहले की दुनिया उजड़ गयी और मैं जिस समाज में बसने आया था, वह ख़्वाब हो चला। चौधरी भी शायद उसी ख़्वाब के भटके हुए टुकड़े थे। अभी उन्हें देख कर आ रहा हूँ। उम्मीद नहीं बचने की। उस दिन के झगड़े में बालेश्वर ने उन पर लाठी से वार नहीं किया, दिल को भी चकनाचूर कर दिया।

लोचन—बालेश्वर ही गाँव की नयी पीढ़ी नहीं है।

राय साहब—(निराश स्वर) मैं नहीं जानता कि कौन नयी पीढ़ी है। बस इतना देखता हूँ कि रैयत के सुख-दुख में हाथ बटाने वाला ज़मींदार, पुरखों के तजुर्बे के रक्षक बुज़ुर्ग, बेफ़िक्री की हँसी और बड़ों की इज़्ज़त में पले हुए नौजवान—जब ये सब ही नहीं रहे तो गाँव में ठहर कर मैं क्या करूँ ! शहर......

लोचन—शहर आपको खींच रहा है राय साहब !

राय साहब—(लाचारी का स्वर) तुम शायद ठीक कहते हो। शहर मुझे खींच रहा है।

लोचन—और आप बेबस खिंचे जा रहे हैं।

राय साहब—(पीड़ित मुद्रा) बेबस...बेबस...ऐसा न कहो लोचन, ऐसा न कहो !...हम जा रहे हैं क्योंकि...क्योंकि......

(चेतू का सहारा लिये बीरेन का प्रवेश, साथ में हेम भी है।)

बीरेन—पापा जी, अब आप ही की देरी है।

राय साहब—(मानो मुक्ति मिली हो) कौन ? बीरेन, हेम ! तैयार हो गये तुम लोग ? तो मैं भी अपना अटेची ले आता हूँ। चेतू मेरे साथ तो चल !

(घर की तरफ़ प्रस्थान। साथ में चेतू)

लोचन—(हेमलता से) नमस्ते !

हेमलता—कौन ?...अच्छा आप ? बीरेन, यही हैं लोचन जिन्होंने उस रोज़ तुम्हें बचाया था।

बीरेन—अच्छा !...उस दिन तो तुम्हें देखा नहीं था, लेकिन फिर भी (ग़ौर से देखते हुए) तुम पहचाने-से लगते हो।

लोचन—(मुस्कराते हुए) कोशिश कीजिए। शायद पहचान लें।

बीरेन—(सोचता हुआ) तुम...वह...वह...नहीं नहीं। वह तो ऊँची जात का, ऊँचे कुल का आदमी था।

हेमलता—कौन ?

बीरेन—मेरा कालेज का साथी एल० एस० परमार।

लोचन—(मुस्कराहट) एल० एस० परमार।...लोचन सिंह परमार।

बीरेन—(चौंक कर) ऐं ! परमार...परमार !!

लोचन—(अविचलित स्वर में) हाँ मैं परमार ही हूँ, बीरेन।

हेमलता—(विस्मित) बीरेन यह तुम्हारे कालेज के साथी हैं ?

बीरेन—(लोचन का हाथ पकड़ कर) यक़ीन नहीं होता परमार, कि तुम्हीं हो इस देहाती वेश में, मुसहरों के बीच। कालेज छोड़ कर तो तुम ऐसे गायब हुए थे कि......

लोचन—(किंचित् हँसी) एक दिन मैंने तुम लोगों को छोड़ा था और आज (रुक कर)...आज, तुम जा रहे हो।

बीरेन—परमार, मैं जा रहा हूँ चूंकि मैं अपने आदर्श को खंडित होते नहीं देख सकता।

लोचन—आदर्श ? कौन-सा वह आदर्श है जिसे गाँव खंडित कर देगा ?

वीरेन—क्रांति का आदर्श परमार। मैं भूल गया था कि देहात की मध्ययुगीन ऊसर भूमि अभी क्रांति के लिए तैयार नहीं है। उसके लिए ज़रूरत है शहर और कारख़ानों की सजग और चेतनाशील भूमि की।......

लोचन—(तीव्र दृष्टि) वीरेन, तुम भाग रहे हो।

वीरेन—मैं लाठियों की मार से नहीं डरता लोचन।

लोचन—तुम भाग रहे हो लाठियों के डर से नहीं, बल्कि उन गुटबन्दियों, अंधविश्वास और झगड़े-फ़साद की दल-दल के डर से, जिसे तुम एक छलांग में पार कर जाना चाहते थे। (गम्भीर चुनौती पूर्ण स्वर में) तुम पीठ दिखा रहे हो, वीरेन!

वीरेन—(हठात् विचलित) पीठ दिखा रहा हूँ...नहीं...नहीं...यह ग़लत है। ...हम जा रहे ...हैं, क्योंकि...क्योंकि......

(आया का तेज़ी से प्रवेश)

आया—हेम बीबी! वीरेन बाबू!! अरे आप लोगों को चलना नहीं है क्या? सारा सामान रवाना भी हो गया। कहीं गाड़ी छूट गयी तो......कहाँ हैं बड़े साकार? आप लोग भी ग़ज़ब करते हैं।—

(राय साहब का प्रवेश, साथ में चेतू अटेची लिये हुए)

राय साहब—यह आ गया मैं। चलो भई, आया। वीरेन, तुम चेतू का सहारा लेकर आगे बढ़ो, पहले तुम्हें बैठना है।

वीरेन—मैं चलता हूँ परमार! फिर कभी......

लोचन—फिर कभी (किंचित हँसी) फिर कभी!......

[आया अटेची लेती है, चेतू का सहारा लिये हुए वीरेन बाहर जाता है। पीछे पीछे आया]

राय साहब—अच्छा भाई लोचन, हम भी चलते हैं।...मुमकिन है तुम्हारा कहना सही हो!

लोचन—काश मैं आपको रोक पाता!—

राय साहब—हेम, तुम्हारी तसवीर उधर कोने में रखी रह गयी।

हेमलता—अभी लायी पापा, आप चलिए।

राय साहब—अच्छा!

(चलते हैं।)

लोचन—आप भी जा रही हैं हेमलता जी।

हेमलता—मजबूर हूँ।

लोचन—मैं जानता हूँ। बीरेन का मोह।

हेमलता—मैं बीरेन को यहाँ रख सकती थी लेकिन......

लोचन—लेकिन

हेमलता—(सत्य की खोज से अभिभूत वाणी) लेकिन एक बात है जिसे न पापा समझते हैं न बीरेन। पर मैं कुछ-कुछ समझ रही हूँ। पापा गाँव को लौटे प्रतिष्ठा और अवकाश में सराबोर होने। बीरेन ने देहात को क्रांति की योजना का टीला बनाना चाहा और मैं...मैं गाँव की मोहक झाँकी में कल्पना का महल बनाने को ललक पड़ी।

लोचन—महल मिटने को बनते हैं, हेमजी।

हेमलता—यह मैं जानती हूँ, लेकिन हम तीनों यह न समझ सके कि हमारी जड़ें कट चुकी हैं, हम गाँव के लिए बिराने हो चुके हैं।...(आविष्ट स्वर) क्या आप इस दुविधा, इस उलझन, इस पीड़ा के शिकार नहीं हुए हैं? एक तरफ़ गाँव और दूसरी तरफ़ नागरिक शिक्षा-दीक्षा और सभ्यता की मज़बूत जकड़। उफ़, कैसी भयानक है यह खाई जिसने हमारे तन, हमारे मन, हमारे व्यक्तित्व को दो टूक कर दिया है? बताइए कैसे यह दुविधा मिट सकती है? कैसे हम धरती की गंध, धरती के स्पर्श को पा सकते हैं? बताइए।...बताइए!

आया—(नेपथ्य में) हेम बीबी, हेम बीबी जल्दी आओ देरी हो रही है।

लोचन—आपके प्रश्न का उत्तर मेरे पास है, लेकिन आप तो जा रही हैं।

हेमलता—जाना ही है। आप मेरे लिए पहेली ही बने रहेंगे!...वह तसवीर आपके लिए छोड़े जा रही हूँ। नमस्ते।

(जाती है।)

लोचन—(कुछ देर बाद आप ही आप धीरे-धीरे) पहेली...(तसवीर उठाता है।) और ये बन्दी! (तसवीर की ओर एक टक देखता है) मैं जानता हूँ—(गहरी साँस)...मैं जानता हूँ कि कौन सी ज़ंजीरें हैं जो इन्हें बंद किये हैं। (नेपथ्य में ताँगे के चलने की आवाज़) जा रहे हैं वे लोग!...और मैं बता भी न पाया!...कैसे बताऊँ?...कैसे बताऊँ कि यह कुदाली और ये मेहनत-कश हाथ, यही वे तिलिस्म हैं जिससे मैं धरती के भेद पाता हूँ। ये मेरी आज़ाद दुनिया के संदेश-वाहक हैं, यही वह वाणी है जो मुझे ग़रीबी के लोक में अपनापन देती है...(रुक कर) तुम लोग जा रहे

हो। बच कर भाग रहे हो...लेकिन मैं ?...क्या मैं अकेला हूँ ? (विश्वास-पूर्ण स्वर) अकेला ही सही, लेकिन बन्दी तो नहीं।

[इस बीच में चेतू आकर खड़ा-खड़ा लोचन की स्वगत-वार्ता को सुनने लगता है।]

चेतू—लोचन भैया।

लोचन—कौन ?

चेतू—लोचन भैया, आप तो अपने आप ही बातें करते हैं।

लोचन—चेतराम !...मैं भूल गया था।

चेतू—क्या भूल गये थे भैया ?

लोचन—कि मैं अकेला नहीं हूँ।

चेतू—अकेले ?

लोचन—हाँ और यह भी भूल गया था कि हमारी दुनिया में बेकार बातें करने का समय नहीं है।

चेतू—काम तो बहुत है ही भैया। अब वह ज़मीन वापस मिली है तो—

लोचन—चलो, चेतराम तलहटी वाली ज़मीन पर खुदाई शुरु करें, आज ही।

चेतू—जो बांस के झुरमुट भी तो लगायेंगे।

लोचन—हाँ और बाँध भी बाँधेंगे।

चेतू—अगली बरखा तक खेत तैयार करेंगे।

लोचन—(उल्लास-पूर्ण वाणी) चलो हम रोज़ साँझ को अपने पसीने के दर्पण में कभी न मिटने वाली झाँकी देखेंगे। चलो चेतराम !

[कंधे पर कुदाली और बगल में चेतराम को लेकर प्रस्थान करता है। नेपथ्य में वाद्य-संगीत जो ओजस्विनी लय में परिवर्तित हो जाता है।]
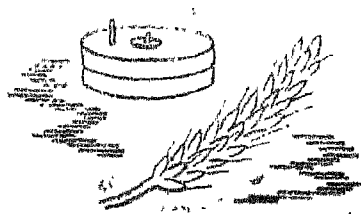
केदारनाथसिंह

●

बादल के नाम

हम नये-नये धानों के बच्चे तुम्हें पुकार रहे हैं—
"बादल ओ!" "बादल ओ!" "बादल ओ!"
हम बच्चे हैं—
चिड़ियों की परछाईं पकड़ रहे हैं उड़-उड़!
हम बच्चे हैं—
हमें याद आयी है जाने किन जनमों की,
आज हो गया है जी उन्मन!
तुम कि पिता हो,
बादल ओ!

हम कि नदी को नहीं जानते,
हम कि दूर सागर की लहरें नहीं माँगते,
हमने सिर्फ़ तुम्हें जाना है—
तुम्हें माँगते हैं!

आर्द्रा के पहले झोंके में तुमको सूँघा है,
पहला पत्ता बढ़ा दिया है।
लिये हाथ में हाथ हवा का,
संध्या की मेड़ों पर फिरते तुमको देखा है—
बेबस ओठों को झुका दिया है।
ओ सुनो अन्नवर्षी बादल!
ओ सुनो बीजवर्षी बादल!
हम पंख माँगते हैं,
हम शक्ति माँगते हैं,

हम बूँदों की हल्की-हल्की थपकियाँ माँगते हैं।
हम बस कि माँगते हैं—
बादल ! बादल !!
घर बादल,
आँगन बादल,
सारे दरवाज़े बादल,
तन बादल,
मन बादल,
ये नन्हें हाथ-पाँव बादल,
हम बस कि माँगते हैं—
बादल ! बादल !!

तुम गरजो—
पेड़ चुरा लेंगे गर्जन !
तुम कड़को—
चट्टानों में बिखर जायगी कड़कन !
तुम बरसो—
फूट पड़ेगी प्राणों की उमड़न-कसकन !
फिर हम अबाध भीजेंगे,
झूमेंगे,
ये हरी भुजाएँ नील दिशाओं को छू आयेंगी।
फिर तुम्हें वनों में पाखी गायेंगे !
फिर नये जुते खेतों में हवा-सरस बस जायेगी,
फिर नयन तुम्हें जोहेंगे—
परियों के जूही-बन में,
जादू के देश,
साँझ के सूने टीलों पर !
पवन-अँगुलियाँ फिर तुम्हें चीन्ह लेंगी—
पौधों में,
पत्तों में,
कत्थई कोंपलों में !

तुम कि पिता हो,
कहीं तुम्हारे संवेदन में भी तो यही कम्प होगा
जो हमें हिलाता है !

ओ सुनो रंगवर्षी बादल,
ओ सुनो गंधवर्षी बादल,
हम तुम्हें माँगते हैं—
हम अधजनमे धानों के बच्चे तुम्हें माँगते हैं !

पूर्वाभास

रात कहीं कोई मीनार टूटने की आवाज़—
इधर आयी थी,
क्या यह सच है !
सुबह एक मंदिर के पास—
किसी अजनबी फ़रिश्ते के पंख पड़े दीखे थे,
क्या यह सच है !
दोपहर—किसी टूटे दरवाज़े से होकर,
स्वर्ग-रथों का जुलूस एक गुज़रा था,
क्या यह सच है !
शाम—किसी बच्चे ने बुद्ध-मूर्ति के आगे,
ऊषा का एक नया मंत्र गुनगुनाया था,
क्या यह सच है !

आँगन की गुहार

जाना, फिर जाना,
उस तट पर भी जा कर दिया जला आना !
पर पहले अपना यह आँगन कुछ कहता है !

उस उड़ते आँचल से गुड़हल की डाल
बार-बार उलझ जाती है,
एक दिया वहाँ भी जलाना !

एक दिया वहाँ, जहाँ नयी-नयी दूबों ने कल्ले फोड़े हैं;
एक दिया वहाँ, जहाँ उस नन्हें गेंदे ने अभी-अभी
पहली ही पँखड़ी बस खोली है;
एक दिया उस छप्पर के नीचे,
जिसकी हर लतर तुम्हें छूने को आकुल है;
एक दिया वहाँ, जहाँ बर्तन माँजने से
गड्ढा-सा दिखता है;
एक दिया वहाँ, जहाँ अभी-अभी धुले नये चावल का
पानी फैला है;
एक दिया उस घर में, जहाँ नयी फ़सलों की गन्ध
छटपटाती है;
एक दिया उस जँगले पर
जिससे दूर नदी की नावें अक्सर दिख जाती हैं;
एक दिया उस सिरहाने,
जिसने आज किसी चन्दा से लोरियाँ नहीं माँगीं;
एक दिया वहाँ, जहाँ पघरा बँधता है;
एक दिया वहाँ, जहाँ पियरी दुहती है;
एक दिया वहाँ, जहाँ अपना प्यारा झबरा
दिन-दिन भर सोता है;
एक दिया उस पगडंडी पर,
जो अनजाने कुहरों के पार डूब जाती है;
एक दिया उस चौराहे पर,
जो मन की सारी राहें विवश छीन लेता है,
एक दिया इस चौखट
एक दिया उस ताखे;
एक दिया बरगद के तले जलाना !

जाना, फिर जाना !
उस तट पर भी जाकर दिया जला आना !
पर पहले अपना यह आँगन, कुछ कहता है—
जाना, फिर जाना !

गंगाप्रसाद श्रीवास्तव

हम जीते हैं

दर्द तो जैसे अपनी सौगात
और ऐंठन पीड़न हँसी की बात

आँखों के आगे कुहरे का जाल
फटता माथा छटके हुए बाल

दम टूटने को पर कलम पकड़े
ज़िन्दगी के चँगुलों में जकड़े

हम जीते हैं

जीने का अर्थ है करना और मरना
जीने का अर्थ है ख़ाली को भरना

सेमर के पेड़

लम्बे बड़े
घर की छतों से बहुत ऊँचे
घनी डालें
हवा से न कँपने वाली
मोटी मज़बूत पेड़ियाँ
रंग स्याह,
सेमर के पेड़
पत्तियों का बोझ सब
उतार फेंका है तन से
टहनियों के जाल भी

काटे हैं छाँटे हैं
बेलों लताओं सारे बंधनों से
अपने को कर लिया है मुक्त
मुक्त होकर जीने के वास्ते
मुक्तिभोगी बनने के वास्ते
देखो और
मन की सब बेड़ियों को खोल-खोल
रेशम से चिकने सुगंध-सने
बड़े पट-बीजने से
गोल-गोल फाहे निकालते हैं
बाँटते हैं उनको जन-जन में
निर्बंध निर्भेद
धरती के हर छोर तक पहुँचाते हैं
अपना देय सब तक पठाते हैं
सेमर के पेड़

कनाट प्लेस

घूमो
.खूब घूमो
चार छः चक्कर लगाओ
भीतरी बाहरी 'सर्किल' में आओ, जाओ
रुको मत, लगातार चलो
कनाट प्लेस .खूब घूमो
पार्कों में चले आओ
सकरी, पतली गलियों से निकलो
उनमें भूलो, भटको, चक्कर लगाओ
भीतर घुसो
घास का मख़मलीपन महसूस करो
दो चार खिले-मुँदे फूल देखो
पौदों को छुओ

बिजली और तारों के झुटपुटे में देखो
कुछ कुछ पहिचाने से लगेंगे
पार्कों में आओ
मन बहलाओ

दुकानों की ओर बढ़ो
घूमते हुए गोले के साथ घूमो, मुड़ो
सिर्फ़ एक ध्यान रखो
मोटरों से बचो
किसी से टकराओ
'सॉरी' कहो
कोई राह दे उसे 'थैंक्स दो'
चलते जाओ
अगल-बगल देखो
आदमी दिखेंगे—
देशी-विदेशी, गोरे-काले
औरतें दिखेंगी—
मोटी-पतली, गोरी-साँवली
सुन्दर अति सुन्दर
यौवन दिखेगा—
बहता, उफनाता, ढरता, कुछ कहता
भरा-पुरा
ज्वार-उतार,
रूप तुम देखोगे—
चाँद-सा सूरज-सा
कलियों-सा
खिले फूलों-सा
चिकने गदराये मसृण मेघों-सा
फूटती उषा-सा
ढलती संध्या-सा
देखो, देखो, सब कुछ देखो

घूम कर देखो
फिर कर देखो
झुक कर, मुड़ कर, तिरछे हो
खड़े होकर देखो
जी भर लो
दुकानों की जगमगाहट देखो
चीज़ों का रंग
खेल-कूद, चुहल
आना-जाना
हँसना-लुभाना
अंदाज़ से बुलाना
सब पर निगाह डालो
जी भर लो

मन का कोई कोना खाली न रक्खो
सारी इन्द्रियों को तृप्ति के सागर में डुबा लो
अतृप्ति मिटा लो
घूमो, ख़ूब घूमो
लगातार चलो, रुको मत
तन-बदन हाथ-पाँव थका लो
अपने को शिथिल बना लो
लेकिन, कसम है तुम्हें
यह सब देख, अपने किसी को याद न करो
घर जाकर बिस्तर पर पड़ो
आँख मूँद सो जाओ
अपने किसी को सोच उदास न हो
आँख न भर लाओ

श्रीकान्त वर्मा

●

मणि सर्प

मेरी बाँबी से तुम ले गये
मेरी मणि हर कर,
मेरी—
अनुभूति खो गयी है,
अनुभूति खो गयी है,
अनुभूति खो गयी है,
अर्थ-हीन मंत्रों-सा पथ पर मैं फिरता हूँ।
अँधेरे की झाड़ी-झुरमुट में
लटक,
अटक,
पत्थर पर फण पटक
रहता हूँ।
मणि के बिना मैं अंधा अपाहिज साँप हूँ!
मेरी—
अनुभूति खो गयी है,
अनुभूति खो गयी है,
शब्द मर गये हैं, आवाज़ मर गयी है।

डोल रहे शब्द-हीन गीत हवा में, जैसे
वंशी की बिछुड़न में
प्राणों की राधा की लाज मर गयी है।
मेरी—
अनुभूति खो गयी है।

मणि बिन मैं अंधा हूँ।
मणि बिन मैं गूंगा हूँ।
मणि बिन मैं साँप नहीं।
मणि बिन मैं मुर्दा हूँ।

ठहरो, ठहरो, ठहरो,
मेरी बाँबी मत रौंदो अपने पाँवों से!
मुझमें अब भी विष है।
मेरा विष ही मणि बन मुझको पथ दिखलायेगा।
मेरे विष की थैली रत्ना, मणिगर्भा है।
मणि लेकर मुझसे, मुझपर मत कौड़ी फेंको!
दूध का कटोरा मत मेरे आगे रक्खो!
विष को लग जायगा दूध
ज़हर मेरा मर जायेगा।
मेरे फुफकारों की लहू की त्रिवेणी में
डूबेंगे तीर्थ सभी चर्बी के पंडों के।
मेरे दंशन से ये सोने की मुँडेरें नीली पड़ जायँगी—
तुमने मेरी मणि को,
उल्लू की आँख बना रक्खा है।
लेकिन मेरे विष को कैसे पी पाओगे?
मेरी ही केंचुल से मुझी को डराओगे?

सम्हलो! जिन साँपों को दूध पिलाया तुमने
मैं उनसे भिन्न हूँ—
मैं अपनी मणि वापस लेने आया हूँ
मैं मणि का स्वामी हूँ।
मैं मणि का स्रष्टा हूँ।
मैं मणि का रक्षक हूँ।
तक्षक हूँ, तक्षक हूँ।

जन्म दो सूर्य के लिए

गहरे अँधेरे में,
मद्धिम आलोक का
वृत्त खींचती हुई
नंगी लालटेन-सी,
बैठी हो तुम।

चूल्हे की राख-से
सपने सब शेष हुए,
बच्चों की सिसकियाँ
भीतों पर चढ़ती
छिपकलियों-सी बिछल गयीं।

बाज़ारों के सौदे-जैसे
जीवन के क्षण
तुमसे स्वेद मुद्रा ले
दिवस की तराज़ू पर
तौल दिये समय ने
बासी सब्ज़ियों-से।

दिन अगर तुम्हारे लिए
झंझट की बेल है,
रात किसी बासन पर
मली हुई राख है।
तुम पति के अंक में
वधू नहीं, वध्य हो।
साँस भी विवशता,
उच्छ्वास भी विवशता है।

बच्चे नहीं चलते हैं,
चलते हैं प्रश्न चिह्न !
जीवन के प्रश्न चिह्न !
आँगन के प्रश्न चिह्न !
मगर तुम निरुत्तर हो।
ज़िन्दगी निरुत्तर है।

प्राण, उठो !
गिरना अनिवार्य नहीं,
उठना अनिवार्य है।

बच्चों की सिसकी
साँसों की प्रत्यंचा से
तीरों-सी छूटेगी।
बच्चों के नारों की
कुञ्जी से द्वार
नये युग के खुल जायँगे।
बच्चों के शब्द
समय के खेतों को
हल बन जोतेंगे।
बच्चे मैली-मैली सदियों को
आँसू से,
धो देंगे, धो देंगे।

ओ पीड़ित आत्मा !
एक और आत्मा को
कुहरे में जन्म दो —
सूर्य के लिए !

भटका मेघ

भटक गया हूँ—
मैं असाढ़ का पहला बादल।
श्वेत फूल-सी अलका की
मैं पंखुरियाँ तक छू न सका हूँ।
किसी शाप से शप्त हुआ,
दिग्भ्रमित हुआ हूँ।
शताब्दियों के अन्तराल में घुमड़ रहा हूँ, घूम रहा हूँ!
कालिदास, मैं भटक गया हूँ,
मोती के कमलों पर बैठी
अलका का पथ भूल गया हूँ!

मेरी पलकों में अलका के
सपने जैसे डूब गये हैं।
मानो तुम, अब तक भी मुझमें
कड़क रहा है बिजली बन आदेश तुम्हारा।
आँसू धुला रामगिरि काले हाथी जैसा मुझे याद है।
लेकिन मैं निरपेक्ष नहीं, निरपेक्ष नहीं हूँ।
मुझे मालवा के कछार से
साथ उड़ाती हुई हवाएँ
कहाँ न जाने छोड़ गयी हैं।
अगर कहीं अलका बादल बन सकती!
मैं अलका बन सकता!!

मुझे मालवा के कछार से
साथ उड़ाती हुई हवाएँ
उज्जयिनी में
पल भर जैसे ठहर गयी थीं,
क्षिप्रा की अति क्षीण धार छू
ठिठक गयी थीं।

मैंने अपने स्वागत में तब कितने हाथ जुड़े पाये थे—
मध्य मालवा, मध्य देश में
कितने खेत पड़े पाये थे।
कितने हलों, नागरों की तब
नोकें मेरे वक्ष गड़ी थीं।
कितनी सरिताएँ धनु की ढीली डोरी सी क्षीण पड़ी थीं।
ताल-पत्र सी धरती,
सूखी, दरकी, कब से फटी हुई थी।
माँएँ मुझे निहार रही थीं, बधुएँ मुझे पुकार रही थीं,
दीन मुझे ललकार रहे थे
ऋतुएँ मुझे गुहार रही थीं।

मैंने शैशव की
निर्दोष आँख में तब पानी देखा था।
मुझे याद आया, मैं ऐसी ही आँखों का कभी नमक था।
अब धरती से दूर हुआ,
मैं आसमान का धब्बा भर था।

मुझे क्षमा करना कवि मेरे!
तब से अब तक भटक रहा हूँ।
अब तक वैसे हाथ जुड़े हैं;
अब तक सूखे पेड़ खड़े हैं;
अब तक उजड़ी हैं खपरैलें;
अब तक प्यासे खेत पड़े हैं।
मैली-मैली संध्या में—
झरते पलाश के पत्तों से
धरती के सपने उजड़ रहे हैं।
मैं बादल, मेरे अन्दर कितने ही बादल घुमड़ रहे हैं।

मैं सदियों के अन्तराल में
वाष्प-चक्र-सा घूम रहा हूँ।

बार-बार सूखी धरती का
रूखा मस्तक चूम रहा हूँ।
प्यास मिटा पाया कब इसकी
घुमड़ रहा हूँ, घूम रहा हूँ।

जिस धरती से जन्मा था मैं,
उसे भुला दूँ कैसे सम्भव?
पानी की जड़ है पृथ्वी में
बादल तो है केवल पल्लव!

मुझ में अन्तर्द्वन्द्व छिड़ा है।
मुझे क्षमा करना कवि मेरे,
तुमने जो दिखलाया, मैंने
उससे कुछ ज़्यादा देखा है।
मैंने सदियों को मनुष्य की आँखों में घुलते देखा है।

मेरा मन भर आया है कवि,
अब न रुकूँगा—
अलका भूल चुकी, मैं अब तो
इस धरती की प्यास हरूँगा!
सूखे पेड़ों, पौधों, अँकुओं की अब मौन पुकार सुनूँगा!
सुखी रहे तेरी अलका मैं
यहीं झरूँगा!
अगर मृत्यु भी मिली
मुझे तो
यहीं मरूँगा!

मुझे क्षमा करना कवि मेरे,
मैं अब अलका जा न सकूँगा!
मुझे समय ने याद किया है
मैं खुद को बहला न सकूँगा!

अब अँकुआये धान,
किसी कजरी में तुम मुझको पा लेना !
मैं हूँ नहीं कृतघ्न
मुझे तुम शाप न देना !

मैं असाढ़ का पहला बादल,
शताब्दियों के अन्तराल में घूम रहा हूँ
बार-बार सूखी धरती का रूखा मस्तक चूम रहा हूँ ।
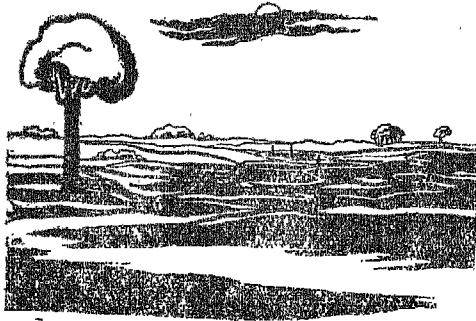
संस्मरण

गुरुदेव

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

मुझे ग्यारह वर्ष से अधिक समय तक गुरुदेव का स्नेह प्राप्त करने का अवसर मिला था। इस बीच उनके अनेक उपदेश सुनने को मिले हैं, अनेक आदेश पालन करने पड़े हैं, अनेक सरस विनोदों और झिड़कियों के भी सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है, इन बातों की स्मृति आज अन्तस्तल में चुभती रहती है। इतना बड़ा प्रेमी, इतना बड़ा सदाशय, ऐसा महान् मानव-विश्वासी मनुष्य मैंने नहीं देखा। उनके पास दस मिनट बैठने के बाद चित्त में अपूर्व आत्म-बल का संचार होता था। ऐसे लोग तो संसार में बहुत मिलेंगे जिनके पास जाने और जिनसे दो घड़ी बात चीत करने से मनुष्य अपने भीतर के दोषों को देखता है, अपने अन्तस्तल के असुर को प्रत्यक्ष देख कर निराश हो जाता है, पर ऐसे लोग बहुत कम मिलेंगे जो उसके भीतर के देवता को प्रत्यक्ष करा दें। रवीन्द्र नाथ ऐसे ही महापुरुष थे। वे मनुष्य के अन्तस्तल में निस्तब्ध देवता को प्रत्यक्ष करा देते थे। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनके काव्यों की भाँति ही मनोहर, उद्बोधक और प्रेरणादायक था। वस्तुतः अपने काव्यों की भाँति ही अपने जीवन को भी उन्होंने महान् प्रेरणादायक तत्वों से संघटित किया था। मैंने उन्हें अनेक विचित्र और जटिल समस्याओं के भीतर निर्वात, निष्कम्प दीप-शिखा की भाँति प्रशान्त तेज से जलते देखा है। एक बार भी उन्हें ऊँचे आसन से नीचे उतरते नहीं देखा। एक बार भी उन्हें आभिभूत होते नहीं देखा। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों से स्निग्ध प्रीतिधारा झरती-सी रहती थी। मैंने उन्हें वृद्धावस्था में देखा था। फिर भी कैसी अपूर्व शोभा उनके इस वृद्ध शरीर में थी मुख-मंडल से कान्ति की धारा झरती रहती थी, बड़ी-बड़ी आँखों से स्नेह की पावन धार बरसती रहती थी और श्मश्रु से आच्छादित अधरोष्ठों के मन्दस्मित से तो अपूर्व शांति की स्रोतस्विनी ही बह आया करती थी। उनके विराट् मानस में औदार्य, तेज और

प्रेम की त्रिवेणी लहराया करती थी। और कुशाग्र-बुद्धि जगत् की गूढ़ समस्याओं को अनायास भेद जाया करती थी। जितना ही सोचता हूँ, उतना ही लगता है, रवीन्द्र नाथ का व्यक्तित्व अपूर्व था, अद्भुत था। ऐसे महापुरुष के सान्निध्य को विधाता के वरदान के सिवा और क्या कहा जा सकता है? और ऐसे स्नेहाधार से विमुक्त होने को दुर्दैव के भयंकर अभिशाप के सिवा और क्या कहा जाय!

जिस दृष्टि की प्रेमाप्लुत मोहिनी शक्ति की मैंने ऊपर चर्चा की है, वह दृष्टि बड़ी भेदक थी। उसने इस युग के सम्पूर्ण रहस्य को इस सहज-भाव से देखा था कि आश्चर्य होता है। उसमें सौन्दर्य और सत्य तक पहुँचने की अपूर्व शक्ति थी। यूरोप की सभ्यता ने हमारे देश के पिछले इतिहास को अभिभूत कर रखा था। कुछ लोग उसके प्रभाव में एकदम बह गये थे। कुछ दूसरे लोग ठीक बह तो नहीं गये थे, पर उसकी ओर से धक्का खाकर अपने प्राचीन आचारों से चिपट गये थे। ये लोग पग-पग पर हमारे यहाँ का ब्रह्मास्त्र चलाया करते थे। रवीन्द्र नाथ ने इस सभ्यता के दोष और गुण दोनों को विवेक के साथ परखा था। इस युग में यूरोप ने निश्चय ही किसी बड़े सत्य को पाया है। न पाया होता तो इतनी उन्नति उसकी न होती। रवीन्द्र नाथ ने इस सत्य से अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा था कि 'भौतिक जगत् के प्रति व्यवहार सच्चा होना चाहिए, यह आधुनिक वैज्ञानिक युग का अनुशासन है। इसे न मानने से हम धोखा खायेंगे। इस सत्य को व्यवहार करने की सीढ़ी है—मन को संस्कार-मुक्त करके, विशुद्ध प्रणाली से विश्व के अन्तर्निहित भौतिक तत्वों का उद्धार करना।' आगे चल कर वे इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—'यह बात सही है, किन्तु और भी सोचने की बात रह जाती है। यूरोप ने जिस बात में सिद्धि प्राप्त की है, उस पर हमारे देशवासियों की दृष्टि बहुत दिनों से पड़ी है, वहाँ पर उसका जो ऐश्वर्य है, वह विश्व के सामने प्रत्यक्ष है। किन्तु जिस बात में उसे सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है, वह गहराई में है, इसीलिए वह बहुत दिनों तक दुनिया की आँखों से ओझल रही है। यही उसने विश्व की भयंकर क्षति की है और यह क्षति अब धीरे-धीरे उसी की ओर लौट रही है। यूरोप के जिस लोभ ने चीन को अफीम खिलायी है, वह लोभ तो चीन की मृत्यु से ही मर नहीं जाता। हम बाहर से देख सकें या नहीं, यह लोभ यूरोप को प्रतिदिन बेरहमी के साथ मोहान्ध बनाता जा रहा है। केवल भौतिक जगत् में ही नहीं, मनुष्य की दुनिया में भी निष्काम-चित्त से सत्य का व्यवहार करना आत्मरक्षा का आख़िरी और उत्तम उपाय है। उस

सत्य-व्यवहार पर से पश्चिमी जातियों की श्रद्धा प्रतिदिन कम होती जा रही है। इसी कारण उनकी लज्जा भी दूर होती जा रही है, और इसीलिए उनकी समस्या भी जटिल होती जा रही है। विनाश नज़दीक आता जा रहा है।

क्या मानव जगत् और क्या भौतिक जगत्, क्या स्वदेश और क्या विदेश, सर्वत्र सत्याचरण को ही उन्नति और अभ्युदय का मूल-मंत्र मानना चाहिए। कवि ने अपने जीवन में भी और अपने ग्रंथों में भी सर्वत्र इस सत्य का जयगान किया है। इस सत्य पर दृष्टि निबद्ध रहने के कारण ही आज से बीसियों वर्ष पहले वे ऐसी बात लिख गये हैं जो आज आश्चर्यजनक भविष्यवाणी जैसी लगती है। सन् १६१६ में चीन समुद्र से उन्होंने अपने एक प्रिय जन को पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने चीनी मज़दूरों की अपूर्व कर्म-तत्परता को देख कर लिखा था—'कर्म की यही मूर्ति है। एक दिन इसी की जीत होगी। यदि न हो, यदि वाणिज्य-दानव ही मनुष्य की घर-गृहस्थी, आनन्द, आज़ादी आदि को लीलता चला जाय और एक बृहत् ग़ुलाम संप्रदाय की सृष्टि कर डाले, तथा उसी की मदद से कुछ थोड़े से लोगों का आराम और स्वार्थ साधन करता रहे तब यह पृथ्वी रसातल को चली जायगी। चीन की यह इतनी बड़ी शक्ति—कर्म करने की शक्ति—जिस दिन हमारे इस युग के सर्वश्रेष्ठ वाहन को पा सकेगी अर्थात् जिस दिन विज्ञान को हाथ कर लेगी, उस दिन संसार की कौन सी शक्ति है जो उसे बाधा दे सके!' रवीन्द्र नाथ की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई है। चीन को बाधा देने की समस्त चेष्टाएँ व्यर्थ हुई हैं। चीन की इस कर्म-तत्परता को देख कर उन्हें अपना देश याद आ गया था। उन्होंने दीर्घ निश्वास त्याग करते हुए लिखा था—कब मिलेगी यह तसवीर भारतवर्ष में देखने को? यहाँ तो मनुष्य अपना बारह आना अंश अपने आपको ही धोखा देकर काट रहा है। नियमों का ऐसा जाल फैला है जिससे केवल बाधा ही बाधा पाकर केवल उलझ-उलझ कर ही अपनी शक्ति का अधिकांश फ़िज़ूल ख़र्च कर देता है, बाकी अंश को काम-काज में जुटा ही नहीं पाता। विपुल जटिलता और जड़ता का ऐसा समावेश पृथ्वी में और कहीं नहीं मिल सकता। चारों ओर केवल जाति के साथ जाति का विच्छेद, नियम के साथ काम का विरोध और आचार-धर्म के साथ काल-धर्म का विरोध-द्वन्द्व फैला हुआ है।' इस प्रकार उन्होंने भारतीय धर्म की जड़-विधियों का तिरस्कार किया था, परन्तु सत्यों का सत्य यह है कि उपनिषदों के अपूर्व मंथन करने के बाद ही उन्होंने सिद्धि को स्थिर किया था।

रवीन्द्र नाथ मनुष्य की जीवन-धारा में पूर्ण आस्था रखते थे। वे जानते थे कि ऊपर-ऊपर का हो-हल्ला क्षणिक है। समस्त अशांति और आलोड़ना के नीचे मनुष्य की वह जाति की सहज कर्मशील धारा ही एक-मात्र जीवित रहती है, जो मैदानों में परिश्रम करती है, जो जड़-संचय के बल पर नहीं, बल्कि जीवन्त प्राण-मय कर्मशक्ति पर भरोसा रखती है, इसीलिए वे प्रबल उत्तेजना के समय भी शान्त-निस्तब्ध रह सके थे। उनका उस परमात्मा में विश्वास था जो विलास और शक्ति-मद में नहीं रहता, बल्कि कर्ममय मानव-जीवन के साथ नित्य चला करता है। एक कविता में उन्होंने इस भाव को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है :

वे चिरकाल रस्सी खींचते हैं, पतवार थामे रहते हैं;
वे मैदानों में बीज बोते हैं; पका धान काटते हैं; वे काम करते हैं;
नगर और प्रान्तर में।
राज-छत्र टूट जाता है, रण डंका बंद हो जाता है।
विजय-स्तंभ मूढ़ की भाँति अपना अर्थ भूल जाता है।
लहू-लुहान हथियार, धरे हथियारों के साथ सभी लहू-लुहान आँखें
शिशु-पाठ्य-कहानियों में मुँह ढाँपे पड़ी रहती हैं।
वे काम करते हैं।
देशदेशान्तर में,
अंग बंग कालिंग में
समुद्र और नदियों के घाट-घाट में
पंजाब में, बम्बई में, गुजरात में,
उनके गुरु-गर्जन और गुन-गुन स्वर
दिन-रात में गुँथे रह कर दिन-यात्रा को मुखरित किये रहते हैं।
मुद्रित कर डालते हैं जीवन के महा-मंत्र की ध्वनि को
सौ-सौ साम्राज्यों के भग्नावशेष पर।
वे काम किये जा रहे हैं!

रवीन्द्र नाथ ने कई सौ ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें काव्य हैं, उपन्यास हैं, कहानियाँ हैं, नाटक हैं, निबन्ध हैं, आलोचना है। साहित्य अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित करता है, उस सब पर उनका अबाध अधिकार था। देह और दुनिया की सभी समस्याओं पर उन्होंने विचार किया है। सर्वत्र उन्होंने सत्य का पक्ष लिया है। सम्राटों की विकट भ्रुकुटियों की उन्होंने परवाह नहीं की।

धनकुबेरों की भरी थैलियों की ओर उन्होंने आँख उठा कर नहीं ताका। वे विशुद्ध मनुष्यता की गति जानते रहे। उन्होंने समय रहते ही संसार की विनाश की आँधी से बचने की सतर्क वाणी उच्चारित की थी, पर ऊँचे सिंहासनों तक वह वाणी पहुँच न सकी। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उनके चित्त में यह आशंका प्रबल रूप धारण करती जा रही थी कि संसार फिर एक बार शिशुघाती, नारी-घाती प्रबल वीभत्सता का शिकार होने जा रहा है। उन्होंने व्याकुल भाव से अपने इतिहास-विधाता से इसका प्रतिरोध करने लायक शक्ति माँगी थी—

'इधर दानव-पक्षियों के झुण्ड उड़ते आ रहे हैं क्षुब्ध अम्बर में
विकट वैतरणिका के अपर तट से।
यंत्र-पक्षों के विकट हुंकार से करते अपावन
गगन तल को, मनुज-शोणित माँस के ये क्षुधित दुर्दम गिद्ध!
कि महाकाल के सिंहासन स्थित हे विचारक शक्ति दो मुझको,
निरन्तर शक्ति दो!
दो कंठ में मेरे विकट वह वज्र-वाणी,
करूँ कठिन प्रहार
इस वीभत्सता पर!
बाल-घाती, नारि-घाती इस परम कुत्सित अल्प को
कर सकूँ क्षार जर्जर!!
शक्ति दो ऐसी—
कि यह वाणी सदा स्पंदित रहे,
लज्जातुरित इतिहास के उद्देश्य में,
उस समय भी—
जब रुद्ध-कंठ,
यह श्रंखलित युग
चुपचाप हो,
प्रच्छन्न अपने चिता भस्म स्तूप में!

निस्सन्देह रवीन्द्र नाथ की यह वज्रवाणी इतिहास के लज्जातुर हृत्स्पंदन में सदा अंकित रहेगी और जब यह श्रृंखलित युग चुपचाप चिता-भस्म के नीचे दब जायगा तो वह विशुद्ध मानवता अंकुरित होगी जिसके लिए वे इतना कुछ कर गये हैं।

सभापति मुन्शी जी

सज्जाद ज़हीर

अप्रेल १९३६ में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होने वाला था, जिसके प्रधान जवाहर लाल नेहरू चुने गये थे। प्रगतिशील-लेखक-संघ का घोषणापत्र इसी बीच में छप चुका था और दो अढ़ाई महीने तक भारत के विभिन्न नगरों में संघ की सरगर्मियों के कारण बुद्धिजीवियों के एक बड़े हलके में प्रगतिशील आन्दोलन से लगाव और दिलचस्पी बढ़ने लगी थी। हम सब की राय हुई कि कांग्रेस अधिवेशन के दिनों ही में हमारा सम्मेलन भी लखनऊ में हो। और उसके सभापति मुन्शी प्रेमचन्द बनें।

प्रेमचन्द उन दिनों बनारस में रहते थे और प्रगतिशील-लेखक-संघ का अस्थायी केन्द्र इलाहाबाद में था और मैं उसके अस्थायी मंत्री की हैसियत से काम कर रहा था। प्रगतिशील-लेखक-संघ के संगठन और दूसरी समस्याओं के बारे में उनसे बराबर पत्र-व्यवहार होता रहता था। प्रगतिशील-आन्दोलन में भी उनकी दिलचस्पी दिनों-दिन बढ़ रही थी। वे बड़े व्यस्त थे। हाल यह था कि हिन्दी या उर्दू की कोई भी साहित्यिक सभा या सम्मेलन देश के किसी हिस्से में भी हो, मुन्शी प्रेमचन्द को उनका सभापति बनाने के लिए सभी लोग दौड़ते थे। प्रेमचन्द क्योंकि बड़े भले, मिलनसार और विनम्र स्वभाव के थे, इसलिए उनके सम्बन्ध में बहुत लोगों को यह भ्रम रहता था कि उनकी ख्याति और साहित्य में उनकी साख की आड़ लेकर वे अपने टेढ़े-मेढ़े उद्देश्य सिद्ध कर सकते हैं। मुन्शी जी की व्यापक सहानुभूति और इंसानों की नेकनीयती पर उनका भरोसा उन्हें विभिन्न प्रकार और मत के लोगों से मिलने-जुलने और उनके आन्दोलनों और उद्देश्यों में भाग लेने को तैयार कर देता था, लेकिन असाधारण बुद्धि, स्वच्छन्द प्रकृति, स्वतन्त्रता-प्रेम, ईमान-दोस्ती की तरफ़ उनका झुकाव और सच्चाई की खोज सदैव खोटे और खरे की परख में उन्हें सहारा देती थी। इसी कारण उनके

साहित्य में सीधे सच्चाई तक पहुँचने और मानवों के परस्पर सम्बन्धों और सामाजिक परिवर्तनों और आन्दोलनों की आन्तरिक प्रक्रिया का अन्वेषण करने का एक निरन्तर प्रयास पाया जाता। जब वे सुधारवादी-गांधीवादी दर्शन को स्वीकार करते हैं तो उस दृष्टि-कोण को खाह्-म-खाह् सच्चा साबित करने के लिए वे सामाजिक यथार्थ पर पर्दा नहीं डालते। और जब आखिर में सामाजिक यथार्थ का अन्वेषण उन्हें एक हद तक सुधारवादी दर्शन की त्रुटियाँ समझने में मदद देता है तो इस बात के बावजूद कि उनकी पहले की धारणाएँ रद होती हैं, वे ऐसे परिणामों की ओर क़दम बढ़ाने से नहीं हिचकचाते, जिन पर पहुँचने का तगादा सत्य का अन्वेषण उनसे करता है।

जब मैंने प्रेमचन्द को लखनऊ कान्फ्रेंस के सभापतित्व के लिए लिखा तो उन्होंने विवशता प्रकट की—

"सभापतित्व की बात, मैं इसके योग्य नहीं। विनम्रतावश नहीं कहता, मैं अपने में कमज़ोरी पाता हूँ। मिस्टर कन्हैयालाल मुन्शी मुझसे बेहतर होंगे। या डाक्टर ज़ाकिर हुसेन। पंडित जवाहर लाल नेहरू तो बड़े व्यस्त होंगे, नहीं वे एकदम उपयुक्त होते। इस अवसर पर सभी राजनीति के नशे में चूर होंगे, साहित्य से शायद ही किसी को दिलचस्पी हो, लेकिन हमें कुछ-न-कुछ तो करना है। यदि जवाहर-लाल ने दिलचस्पी ली तो अधिवेशन सफल हो जायगा।

मेरे पास इस वक्त भी सभापतित्व के लिए दो जगह के निमंत्रण पड़े हैं—एक लाहौर के हिन्दी सम्मेलन का, दूसरा हैदराबाद दक्षिण की हिन्दी प्रचार सभा का। मैं इनकार कर रहा हूँ, पर वे लोग इसरार (अनुरोध) कर रहे हैं। कहाँ-कहाँ प्रीज़ाइड (Preside) करूँ। हमारी संस्था में कोई बाहर का आदमी सभापति बने तो ज़्यादा अच्छा हो। मजबूरी दर्जा मैं तो हूँ ही। कुछ रो-गा लूँगा।

और क्या लिखूँ? तुम ज़रा पंडित अमरनाथ झा को तो आज़माओ। उन्हें उर्दू साहित्य से दिलचस्पी है और शायद वे सभापति होना स्वीकार कर लें"

(पत्र उर्दू में है और इस पर १५ मार्च १९३६ की तारीख़ है।)

लेकिन दो-एक खतों के बाद आख़िर प्रेमचन्द ने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली और मुझे लिखा——

"यदि हमारे लिए कोई योग्य सभापति नहीं मिलता तो मुझी को रख लीजिए। मुश्किल यही है कि मुझे पूरे-का-पूरा भाषण लिखना पड़ेगा...मेरे भाषण में आप किन समस्याओं पर बहस चाहते हैं, इसका कुछ इशारा कर दीजिए। मैं तो डरता हूँ, मेरा भाषण ज़रूरत से ज़्यादा निराशाप्रद न हो। आज ही लिख दो ताकि वर्धा जाने से पहले उसे तैयार कर लूँ।

(१९ मार्च १९३६)

सभापति का फ़ैसला हुआ तो फिर हम दूसरे कामों में लगे। सवाल यह था कि कान्फ्रेंस में क्या होगा—एड्रस, भाषण, प्रस्ताव या कुछ और भी? कुछ ऐसा लगता था कि यह काफ़ी नहीं। साहित्य-सम्मेलन में साहित्यिक विषयों पर भी विचार-विनिमय और वाद-विवाद होने चाहिएँ और फिर हमारे विशाल देश में चौदह-पन्द्रह बड़ी-बड़ी भाषाएँ जिनमें से हरेक को लाखों-करोड़ों आदमी बोलते हैं और इनमें मूल्यवान साहित्य है। कुल-हिन्द कान्फ्रेंस में इन तमाम या इनमें से अधिकांश भाषाओं के आधुनिक साहित्य और साहित्यिक समस्याओं पर लेख पढ़े जाने चाहिएँ। यदि हमारे सम्मेलन द्वारा देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्यिकों का एक दूसरे के साहित्य से थोड़ा बहुत परिचय भी हो जाय और यदि हम जान लें कि देश की बड़ी-बड़ी भाषाओं में इस समय कौन सी समस्याएँ सोच का विषय बनी हैं और साहित्यिक धाराओं का रुख किधर को है तो इस सम्मेलन के द्वारा एक बड़े उपादेय और लाभदायक काम का सूत्रपात हो जायगा और हमारे प्रगतिशील आन्दोलन को सामूहिक ढंग से लाभ पहुँचेगा।

दूसरा काम संस्था के विधान का खाका तैयार करना था, जिससे अखिल-भारतीय-केन्द्रीय व्यवस्था कायम हो सके। और क्षेत्रिय और स्थानीय शाखाओं के आपसी सम्बन्धों और संघ की सदस्यता के नियमों का निश्चय हो सके और संस्था की केन्द्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय शाखाएँ नियमपूर्वक डेमोक्रेटिक ढंग से अपना काम चालू कर सकें।

फिर हमारे सामने दो सवाल और थे। जो राजनीतिक थे। पहले तो यह कि हमारे देश में अँग्रेज़ी साम्राज्य ने बोलने, लिखने और विचारने की स्वतन्त्रता के डेमोक्रेटिक अधिकार पर पाबन्दियाँ लगा रखी थीं। इन बंधनों का देश-भक्त साहित्यिकों पर सीधा असर पड़ता था। प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें सदा सरकार के कोप का भाजन बनती रहती थीं। साहित्यिकों की सहायता और

उनका प्रोत्साहन तो दूर रहा, किसी स्वतन्त्र देश के साहित्यिकों को जो सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ उनका हमारे यहाँ स्वप्न तक देखना मुश्किल था।

इन्हीं सब कारणों से साहित्यिकों का ऐसा संगठन ज़रूरी था, जो उनके अधिकारों की रक्षा करे।

दूसरा सवाल यह था कि उस ज़माने में अंतर्राष्ट्रीय वातावरण बड़ी तेज़ी से गदला हो रहा था। जर्मन और इतालवी फ़ाशिज़्म दुनिया को दूसरे महायुद्ध की ओर खींचे लिये जा रहा था। इटली ने शांत अबीसिनिया पर आक्रमण करके, उस पर अधिकार कर लिया था और लीग-आफ़-नेशन्ज़ उसे रोक न सकी थी। उधर जापानी साम्राज्य ने चीन पर आक्रमण करके उसके उत्तरीय इलाकों को हड़प लिया था और चीन में युद्ध जारी था।

राष्ट्रों की आज़ादी की इस बेदर्दी से हत्या, जन-तन्त्र का ख़ून, अंतर्राष्ट्रीय युद्ध—जिसका उद्देश्य यह हो कि सारी मानवता को रक्त-रंजित, धूल-धूसरित करके चन्द साम्राज्य सारी दुनिया को आपस में बाँट लें—सभ्यता और संस्कृति के लिए महान संकट उपस्थित करते हैं और कोई सच्चा साहित्यिक, जिसे अपनी कला और मानवता से लगाव हो, इस वास्तविकता से आँखें नहीं चुरा सकता। हमारे लिए यह ज़रूरी था, ऐसी कोशिश करें कि देश के समस्त कलाकार अपने साहित्यिक, राजनीतिक विचारों और दृष्टिकोणों की विभिन्नता के बावजूद राष्ट्रीय स्वन्त्रता, डेमोक्रेसी, साम्राज्य-विरोध और अंतर्राष्ट्रीय शांति के पक्षधरों की पंक्ति में खड़े हों।

जब कान्फ्रेंस के शुरू होने में कोई आठ-दस दिन रह गये तो केन्द्रीय कर्यालय, याने—मैं—तीन-चार फ़ाइलों समेत लखनऊ आ गया।

उस समय लखनऊ में 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' की कोई स्थानीय शाखा नहीं थी और स्थानीय लोगों में हमारे निजी मित्रों, रिश्तेदारों या विश्व-विद्यालय के दो-तीन छात्रों के अतिरिक्त हमारा कोई सहायक न था। स्थिति यह थी कि हमारे पास ख़र्चे के लिए सौ-सवा-सौ रुपयों से ज़्यादा न थे। न स्वयंसेवक थे, न चपरासी, न क्लर्क और न अधिवेशन करने के लिए कोई हाल।

मैं जब लखनऊ पहुँचा तो दो एक दिन के अन्दर अमृतसर से डा० रशीद जहाँ और महमूदुज़्ज़फ़र भी आ गये। हम सब वज़ीर मंज़िल में टिके थे। मेरे पिता का यह मकान उन दिनों सजा-सजाया, पर अधिकांशतः ख़ाली पड़ा रहता था। वे स्वयं इलाहाबाद में रहने लगे थे। इस काफ़ी बड़े मकान के एक हिस्से में बड़े भाई डाक्टर सैयद हुसेन ज़हीर रहते थे। दो तिहाई

हिस्सा ख़ाली था। डाक्टर ज़हीर पेशे से वैज्ञानिक हैं, पर उनका स्वभाव है कि हर उस काम या आन्दोलन में, जिसे वे अच्छा या लाभप्रद समझते हैं, बेधड़क, खुले दिल से सहायता करने को तैयार हो जाते हैं। मैं तो ख़ैर उनका छोटा भाई था, लेकिन मेरे सारे मित्र और प्रगतिशील सम्मेलन के कार्यकर्ता धीरे-धीरे आकर वज़ीर मंज़िल में टिकते गये और सब उनके अतिथि हो गये। डाक्टर ज़हीर और उनकी अच्छी बेगम को इस पर आपत्ति न थी कि हम सब मान न मान उनके मेहमान हो गये हैं और उन्हें परेशान कर रहे हैं, वे मुझे और मेरे दोस्तों को इस बात पर डाँटते रहते कि हम खाना समय पर नहीं खाते, पहले से यह नहीं बताते कि एक वक्त में कितने आदमी खाना खायेंगे। कभी खाना बच जाता और कभी कम पड़ जाता है।

महमूदुज़्ज़फ़र के आ जाने से अपने आप हमारे काम में नियमितता आ गयी और यद्यपि मैं संघ का अस्थायी जनरल सेक्रेटरी था, वे स्वभावतः उसके जनरल मैनेजर हो गये। उन्होंने सब काग़ज़ों को अलग अलग फ़ाइलों में बाँटा। जितने काम थे, उनका सम्पादन करके, कार्यक्रम को निर्धारित किया। कार्यकर्ताओं को प्रतिदिन काम बाँटने और शाम को उनके काम की रिपोर्ट लेने लगे और जैसा कि वे हमेशा करते हैं अपने ज़िम्मे सब से ज़्यादा काम ले लिया और उसे यथा-समय पूरा किया।

लखनऊ में तीन-चार हाल हैं, जहाँ साधारणतः कान्फ्रेंसें होती हैं... सौभाग्य से वकीलों में कुछेक प्रगतिशील भी थे। पंडित आनन्द नारायण मुल्ला, हालांकि प्रगतिशील दृष्टिकोण के पूरे हामी नहीं, पर वे अच्छे कवि, देशभक्त और साहित्यिकों की सहायता करने वाले व्यक्तियों में से थे। उनकी और कुछ दूसरे लोगों की कोशिशों से 'रफ़ाए-आम हाल' हमें मुफ़्त मिल गया और हमारी सब से बड़ी परेशानी दूर हो गयी।

उधर से निमटे तो सम्मेलन के लिए स्वागत-समिति बनायी कि और कुछ नहीं तो उसके नाम पर सौ-पचास टिकेट बेच कर कुछ चन्दा इकट्ठा किया जा सके। स्वागताध्यक्ष के लिए चौधरी मुहम्मद अली साहब रदोलवी को मनाया गया। उन्होंने पहला काम यह किया कि बड़ी क्षमा याचना करते हुए चुपके से सौ रुपया चन्दा हमें दे दिया। उन्हें इस बात की शरमिंदगी थी कि रक़म बहुत कम थी, लेकिन उन्हें मालूम न था कि हमें कान्फ्रेंस के लिए किसी व्यक्ति से एक मुश्त दस रुपये से ज़्यादा चन्दा न मिला था।

हमने सम्मेलन के लिए हाल भरने को दो-तीन सौ कुर्सियाँ किराये पर

तो ले लीं, लेकिन अब यह चिन्ता हुई कि हाल भरेगा भी या नहीं ? देश के विभिन्न प्रान्तों से जिन प्रतिनिधियों के आने की सूचना मिली थी, उनकी संख्या मुश्किल से तीस-चालीस रही होगी—दो बंगाल से, तीन पंजाब से, एक मद्रास से, दो गुजरात से, छै महाराष्ट्र से और शायद बीस-पचीस उत्तर प्रदेश के विभिन्न शहरों से !

लखनऊ में उस समय तक हमारा आन्दोलन आरम्भ ही न हुआ था। इलाहाबाद में तो फ़िराक़, एजाज़ हुसैन, अहमद अली आदि यूनिवर्सिटी में पढ़ाते थे और उनके काफ़ी छात्र हमारी सभाओं में आते थे, लखनऊ यूनीवर्सिटी में उस समय तक हमारा कोई भी साथी न था। इस बात से हमारी उस समय की विवशता और कमज़ोरी साफ़ प्रकट होगी कि लखनऊ जैसे साहित्यिक नगर में, हमारी कान्फ्रेंस में दिलचस्पी लेने वाले गिनती के होंगे। हमें इस बात का एहसास था कि इस स्थिति का कारण लखनऊ वालों की अरसिकता अथवा अगतिशीलता नहीं थी, बल्कि यह था कि उन्हें हमारे आन्दोलन और उसके उद्देश्यों की कोई ख़बर ही न थी और न हमीं ने इस सम्बन्ध में किसी तरह का ज़ोरदार प्रचार किया था। चन्द दिनों में चन्द आदमी इस कमी को पूरा भी कैसे करते ? तो भी हम ने हार नहीं मानी।

विश्व-विद्यालय में कुछ छात्रों के ज़रिये हमने सम्मेलन की विज्ञप्ति बँटवायी। जब सम्मेलन से दो दिन पहले बड़े पोस्टर छप कर आ गये तो महमूदुज़्ज़फ़र अपने चन्द साथियों को लेकर शहर के ख़ास-ख़ास हिस्सों, नुक्कड़ों और चौराहों पर रात भर उन्हें चिपकाते फिरे। रशीद जहाँ चन्द साल पहले लखनऊ में डाक्टरी की प्रेक्टिस कर चुकी थीं और बहुतों से वाकिफ़ थीं, उन्होंने घूम-घूम कर स्वागत-समिति के तीन-तीन रुपये के टिकेट बेचने शुरू कर दिये। इनके अतिरिक्त कांग्रेस अधिवेशन में शामिल होने के लिए हज़ारों आदमी लखनऊ आने लगे थे। इनमें सोशलिस्ट नेता और कम्यूनिस्ट कार्यकर्ता भी थे, जो प्रायः साहित्यिक तो न थे, पर प्रगतिशील साहित्य के इस आन्दोलन के समर्थक ज़रूर थे। आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, कमला देवी चट्टोपाध्याय, मियां इफ़्ताख़ारुद्दीन और सरोजिनी नाइडो ने हमारी कान्फ्रेंस में शामिल होने का वचन दिया।

ज्यों-ज्यों कान्फ्रेंस का दिन निकट आता, हमारी घबराहट बढ़ती जाती। रुपयों की कमी के कारण हम अपने प्रतिनिधियों को ठहराने और उनके खाने

पीने का प्रबन्ध भी न कर सकते थे। कुछ को हमने अपने मित्रों और रिश्तेदारों के यहाँ ठहराने की व्यवस्था की थी। बहुत से कांग्रेस के कैम्प में जा कर टिक गये थे, जहाँ एक झोपड़ी चन्द रुपयों में किराये पर मिल जाती थी और खाना सस्ता था। कुछ यूनिवर्सिटी के हॉस्टल के ख़ाली कमरों में ठहरे। यह प्रबन्ध हमारे लिए बड़ी परेशानी का कारण था, इसलिए कि कान्फ्रेंस हाल और मेरे घर से, जहाँ कान्फ्रेंस का अस्थायी दफ़्तर था, ये सब जगहें कई-कई मील के अंतर पर थीं। लेकिन मजबूरी थी, हमने अपने मेहमानों को अपनी हालत बता दी थी कि हम लखनऊ में उनके ठहरने का प्रबन्ध सुचारु रूप से नहीं कर सकते।

बाहर से आने वाले लोगों का स्वागत रेलवे स्टेशन पर करना भी हमारे बस का नहीं था। तीन-चार आदमी आख़िर क्या करते? तो भी अपनी कान्फ्रेंस के प्रधान मुन्शी प्रेमचन्द को स्टेशन से लेने के लिए जाने का फ़ैसला हम ने किया था। महमूद किसी और काम में लगे हुए थे, इसलिए रशीदा और मैंने तय किया कि हम दोनों स्टेशन पर जायेंगे। कहीं से थोड़ी देर के लिए हमने एक कार भी माँग ली थी।

सुबह का समय था। गाड़ी नौ बजे के लगभग आने को थी। हमने सोचा कि साढ़े आठ बजे घर से रवाना होंगे। हम आठ बजे के करीब बैठे चाय पी रहे थे कि घर में एक ताँगे के दाख़िल होने की आवाज़ आयी और साथ ही साथ एक नौकर ने आकर मुझे इत्तला दी कि बाहर कोई साहब मुझे बुला रहे हैं। मैं बाहर निकला तो देखा कि प्रेमचन्द जी और उनके साथ एक और साहब हमारे मकान के बरामदे में खड़े हैं। मैं शर्म और हैरत के मिले-जुले भावों से अवाक खड़ा रह गया। लेकिन इस से पूर्व कि मैं कुछ कहूँ प्रेमचन्द जी हँसते हुए बोले :

"भाई तुम्हारा घर बड़ी मुश्किल से मिला।
बड़ी देर से इधर उधर चक्कर लगा रहे हैं।"

इतने में रशीदा भी बाहर निकल आयीं और हम दोनों अपनी सफ़ाई देने लगे। पता चला कि हमें ट्रेन के समय की सूचना ग़लत मिली थी। उसके आने का समय एक घंटा पहले का था। पहली अप्रेल से वक्त बदल गया। लेकिन अब उलटे प्रेमचन्द जी अपनी सफ़ाई देने लगे :

"हाँ मुझे चाहिए था कि चलने से पहले तुम

> लोगों को तार भेज देता लेकिन मैंने सोचा, क्या जरूरत है अगर स्टेशन पर कोई न मिला तो ताँगा लेकर सीधा तुम्हारे घर चला आऊँगा......"

और मैं दिल में सोच रहा था कि सम्मेलनों के सभापतियों का बड़ा शानदार स्वागत किया जाता है। उन्हें प्लेटफ़ार्म पर हार पहिनाये जाते हैं। उनके जुलूस निकलते हैं और उनकी 'जय जयकार' होती है और एक हमारे सभापति मुन्शी प्रेमचन्द हैं कि स्वयं अपनी जेब से रेल का टिकट ख़रीद कर चुपके से आ गये हैं, स्टेशन पर स्वागत करने वाला तो क्या, राह बताने वाला भी उन्हें कोई नहीं मिला। एक साधारण-से ताँगे पर बैठ कर स्वयं ही बड़ी बेतकल्लुफ़ी से सम्मेलन के व्यवस्थापकों के घर चले आये हैं। उनकी शिकायत करना तो क्या उनके माथे पर एक बल नहीं पड़ा और उन से यों घुल-मिल गये हैं, जिससे लगता है कि इन रस्मी बातों पर समय नष्ट करना उनके निकट नितान्त अनावश्यक है। निश्चय ही हमारा आन्दोलन एक नये किस्म का आन्दोलन था और हमारा सभापति नये किस्म का सभापति, जिसकी शान उसकी विनम्र सादगी से प्रकट होती थी।

सुंघनी साहु

श्रीमती महादेवी वर्मा

महाकवि प्रसाद का जब जब स्मरण आता है तब तब मेरे सामने एक ही चित्र अंकित हो जाता है।

हिमालय के ढाल पर, उसकी गर्वीली चोटियों से समता करता हुआ, एक सीधा, ऊँचा देवदारु का वृक्ष था! उसका उन्नत मस्तक, हिम, आतप, वर्षा के प्रहार झेलता था, उसकी विस्तृत शाखाओं को आँधी-तूफ़ान झकझोरते थे और उसकी जड़ों से एक छोटी पतली जलधारा आँख-मिचौनी खेलती थी! ठिठुराने वाले हिमपात, प्रखर धूप और मूसलाधार वर्षा के बीच में भी उसका मस्तक उन्नत रहा और आँधी और बर्फ़ीले बवंडर के झकोरे सह कर भी वह निष्कम्प निश्चल खड़ा रहा। पर जब एक दिन संघर्षों में विजयी के समान आकाश में मस्तक उठाये, आलोक-स्नात वह उन्नत और हिमकिरीटिनी चोटियों से अपनी ऊँचाई नाप रहा था, तब एक विचित्र घटना घटी। जिस उपेक्षणीय जलधारा का प्रहार हल्की गुदगुदी के समान जान पड़ता था, उसी ने तिल-तिल कर के उसकी जड़ों के नीचे उसे खोखला कर डाला और परिणामतः चरम-विजय के क्षण में वह देवदारु अपने चारों ओर के वातावरण को सौ-सौ ज्योतिश्चक्रों में मथता हुआ धरती पर आ रहा।

सभी महान प्रतिभाशाली साहित्यकारों के जीवन में संघर्ष रहना अनिवार्य है, पर बड़े-बड़े संघर्ष उनकी जीवनीशक्ति को क्षीण कम कर पाते हैं। यह कार्य तो ऐसी छोटी बाधाओं का सम्मिलित परिणाम होता है, जिनकी ओर वे सर्वथा उपेक्षा का भाव रखते हैं। प्रसाद जी इसके अपवाद नहीं थे।

मेरे चित्र की पृष्ठभूमि में उनका साहित्य, मेरा कुछ घंटों का परिचय और कुछ प्रचलित स्तुतिनिन्दापरक कथाएँ ही हैं। छायावाद युग की दृष्टि से उनके साहित्य से मेरा अपरिचय सम्भव नहीं था और स्थान की दृष्टि से

प्रयाग से काशी दूर नहीं थी, परन्तु कुछ अज्ञात कारणों से मैंने उन्हें प्रथम और अन्तिम बार तब देखा जब वे कामायनी का दूसरा सर्ग लिख रहे थे और मैं सान्ध्यगीत लिख चुकी थी। पर उनका यह दर्शन भी न किसी अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के विवादी मेघ-गर्जन में हुआ और न किसी अखिल भारतीय कवि सम्मेलन में सातों स्वर-समुद्रों के मंथन के बीच, न भाषण के अजस्र प्रवाह में, न फूल-मालाओं के घटाटोप में! काशी में उनका दर्शन अपनी कवित्व-हीनता में विचित्र है।

भागलपुर से प्रयाग आते-जाते मार्ग में जब-तब काशी पड़ जाती थी। एक बार प्रसाद के दर्शनार्थ ही मैंने कुछ घंटों के लिए यात्रा भंग की। पर मैं और मेरे साथ आने वाला नौकर दोनों ही काशी की सड़कों और गलियों से सर्वथा अपरिचित थे। कवि प्रसाद को सब जानते होंगे, इसी विश्वास से कई ताँगे वालों से पूछताछ की, पर परिणाम कुछ न निकला। निराश होकर जब स्टेशन के वेटिंग-रूम में लौटने वाली थी तब एक ने प्रश्न किया, "क्या सुंघनी साहु के घर जाना है?"

सुंघनी साहु का रूढ़ अर्थ ग्रहण करने में मैं असमर्थ रही। समझा तम्बाखू के चूर्ण का नास लेने वाले कोई साहूकार होंगे। फिर अर्थ को और स्पष्ट करने के लिए पूछा, "सुंघनी साहु क्या काम करते हैं?"—"तम्बाखू की दुकान करते हैं!" सुन कर ताँगे वाले पर अकारण ही क्रोध आने लगा। प्रसाद जैसा महान कवि तम्बाखू की दुकानदारी जैसा गद्यात्मक कार्य कैसे कर सकता है? कुछ स्वगत और कुछ उस अज्ञ ताँगे वाले के कानों के लिए कहा, "मुझे किसी तम्बाखू की दुकान वाले सेठ जी के यहाँ नहीं जाना है। जिनके यहाँ जाना है वे कविता लिखते हैं।" ताँगेवाला भी साधारण नहीं था, इसी से उसने परास्त न होने की मुद्रा में उत्तर दिया, "हमारे सुंघनी साहु भी बड़े-बड़े कवित्त लिखते हैं।" तब मैंने सोचा, सम्भव है ऐसे कवित्त लिखने में ख्यात सुंघनी साहु, प्रसाद जैसे कवि से अपरिचित न हों। स्टेशन पर कई घंटे बिताने से अच्छा है कि सुंघनी साहु से पता पूछ देखूँ।

आकाश को नीले कपड़े की चीरों में विभाजित कर देने वाली, काशी की गलियों में प्रवेश कर मुझे सदा ऐसा लगता है मानों मैं किसी विशालकाय अजगर के उदर में घूम रही हूँ जिस ने अपनी साँसों से मुझे ही नहीं कुछ दुकानों को भी अपने भीतर खींच लिया है और अब बाहर आने का एक मात्र द्वार—उसका मुख—बंद हो गया है।

अन्त में जहाँ तक ताँगा जा सका, वहाँ तक ताँगे में, उसके उपरान्त कुछ दूर पैदल चल कर हम एक सफ़ेद पुते हुए मकान के सामने पहुँचे जो अति-साधारण और असाधारण के बीच की मध्यम स्थिति रखता था। कहलाया, प्रयाग से महादेवी आयी हैं। सोचा यदि गृहस्वामी प्रसाद जी ही होंगे तो मेरा नाम उनके लिए सर्वथा अपरिचित न होगा और यदि कोई सुंघनी साहु ही हैं तो शिष्टाचार के नाते ही बाहर आ जायेंगे।

प्रसाद जी स्वयं ही बाहर आ गये। उनका चित्र उन्हें अच्छा हृष्ट-पुष्ट स्थविर बना देता है, पर स्वयं न वे उतने हृष्ट जान पड़े और न उतने पुष्ट ही। न अधिक ऊँचा, न नाटा मझोला कद; न दुर्बल न, स्थूल छरहरा शरीर; गौर वर्ण; माथा ऊँचा और प्रशस्त; बाल न बहुत घने न विरल—कुछ भूरापन लिये काले; चौड़ाई लिये मुख, मुख की तुलना में कुछ हलकी सुडौल नासिका; आँखों में उज्ज्वल दीप्ति; ओंठों पर अनायास आने वाली बहुत स्वच्छ हँसी; सफ़ेद खादी का धोती-कुरता। उनकी उपस्थिति में मुझे एक उज्ज्वल स्वच्छता की वैसी ही अनुभूति हुई, जैसी उस कमरे में सम्भव है जो सफ़ेद रंग से पुता और सफ़ेद फूलों से सजा हो।

उनकी स्थविर जैसी मूर्ति की कल्पना खंडित हो जाने पर मुझे हँसी आना ही स्वाभाविक था। उस पर जब मैंने अनुभव किया कि प्रसाद जी ही सुंघनी साहु हैं, तब हँसी रोकना ही असम्भव हो गया। उन दिनों मैं बहुत अधिक हँसती थी और मेरे सम्बन्ध में सब की धारणा थी कि मैं विषाद की मुद्रा और डबडबाई आँखों के साथ आकाश की ओर दृष्टि किये हौले-हौले चलती और बोलती हूँ।

मेरी हँसी देख कर या मुझे मेरे भारी भरकम नाम के विपरीत देख कर प्रसाद जी ने निश्छल हँसी के साथ कहा, "आप तो महादेवी जी नहीं जान पड़तीं!" मैंने भी वैसे ही प्रश्न में उत्तर दिया, "आप ही कहाँ कवि प्रसाद लगते हैं, जो चित्र में बौद्ध भिक्षु जैसे हैं!"

उनकी बैठक में ऐसा कुछ नहीं दिखायी दिया जिसे सजावट के अंतर्गत रखा जा सके! कमरे में एक साधारण तख़्त और दो-तीन सादी कुर्सियाँ, दीवाल पर दो-तीन चित्र, अलमारी में कुछ पुस्तकें! यदि इतने महान कवि के रहने के स्थान में मैंने कुछ असाधारणता पाने की कल्पना की होगी तो मेरे हाथ निराशा ही आयी।

उन दिनों वे 'कामायनी' का दूसरा सर्ग लिख रहे थे। क्या लिख रहे हैं? पूछने पर उन्होंने प्रथम सर्ग का कुछ अंश पढ़ कर सुनाया।

वेदों में अनेक कथानक बहुत नाटकीय हैं और उनमें से किसी पर भी एक अच्छा महाकाव्य लिखा जा सकता था। उन्होंने ऐसा कथानक क्यों चुना है, जिसमें कथासूत्र बहुत सूक्ष्म है, ऐसी जिज्ञासाओं के उत्तर में उन्होंने कामायनी सम्बन्धी अपनी कल्पना की कुछ विस्तार से व्याख्या की।

उनकी धारणा थी कि अधिक नाटकीय कथाओं की रेखाएँ इतनी कठिन हो गयी हैं कि उन्हें अपने दार्शनिक निष्कर्ष की ओर मोड़ना कठिन होगा। युग की किसी समस्या को प्राचीन कलेवर में उतारना तभी सम्भव हो सकता है, जब प्राचीन मिट्टी लोचदार हो। जो प्राचीन कथा कठिन होकर एक रूपरेखा पा लेती है, उसमें वह लचीलापन नहीं रहता, जो नयी मूर्त्तिमत्ता के लिए आवश्यक है। इन्द्र का व्यक्तित्व उनकी दृष्टि में बहुत आकर्षक और रहस्यमय था, परन्तु उसकी नाटकीय और बहुत कुछ रूढ़ कथावस्तु, कामायनी के सन्देश को वहन करने में असमर्थ थी।

ऋग्वेद कालीन वरुण के व्यक्तित्व और विकास के सम्बन्ध में भी उन्होंने अपना विश्लेषण दिया। वैदिक साहित्य और भारतीय दर्शन मेरा प्रिय विषय रहा है, अतः तत्सम्बन्धी बहुत सी जिज्ञासाएँ मेरे लिए स्वाभाविक थीं, परन्तु सभी चर्चाओं में मैंने अनुभव किया कि प्रसाद जी दोनों के सम्बन्ध में आधुनिकतम ज्ञान ही नहीं, अपनी विशेष व्याख्या भी रखते हैं, वे कम शब्दों में अधिक कह सकने की जैसी क्षमता रखते थे, वैसी कम साहित्यकारों में मिलेगी।

उनके बहुश्रुत होने का प्रमाण तो स्वयं उनका साहित्य है, परन्तु दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि के सम्बन्ध में, इतने कम शब्दों में इतने सहज भाव से वे अपने निष्कर्ष उपस्थित कर सकते थे कि श्रोता का विस्मित हो जाना ही स्वाभाविक था।

लौटने का समय देख जब मैंने विदा ली तो ऐसा नहीं जान पड़ा कि मैं कुछ घंटों की परिचित हूँ। प्रसाद जी ताँगे तक पहुँचाने आये और हमारे दृष्टि के ओझल होने तक खड़े रहे। अपने साहित्यिक अग्रज को फिर देखने का मुझे सुयोग नहीं प्राप्त हो सका। वे कहीं आते-जाते नहीं थे और मैंने एक प्रकार से क्षेत्र-सन्यास ले लिया था।

इसी बीच प्रसाद के अस्वस्थ होने का समाचार मिला, पर बहुत दिनों तक किसी को यह भी ज्ञात नहीं हो सका कि रोग क्या है ? अन्त में क्षय की सूचना भी हिन्दी जगत के लिए चिन्ता का कारण नहीं बन सकी। हमारे वैज्ञानिक युग

में नितान्त साधन-हीन यह रोग मारक सिद्ध होता है। प्रसाद जी के साथ साधन-हीनता का कोई सम्बन्ध किसी को ज्ञात नहीं था, इसी से अन्त तक सब को उनके स्वस्थ होने का विश्वास बना रहा।

जब कामायनी का प्रकाशन हो चुका था और हिन्दी जगत एक प्रकार से पर्वोत्सव मना रहा था तब उनके महाप्रयाण की वेला आ पहुँची।

मैं स्वयं कई दिन से ज्वरग्रस्त थी। एक बन्धु ने भीतर सन्देश भेजा कि वे अत्यन्त आवश्यक सूचना लाये हैं। किसी प्रकार उठ कर मैं बाहर के दरवाज़े तक पहुँची ही थी कि सुना प्रसाद जी नहीं रहे। कुछ क्षण उनके कथन का अर्थ समझने में लग गये और कुछ क्षण द्वार का सहारा लेकर अपने आपको सम्हालने में।

बार बार उनका अन्तिम दर्शन स्मरण आने लगा और साथ ही साथ उस देवदारु का जिसे जल की क्षुद्र धारा ने तिल-तिल काट कर गिरा दिया था।

प्रसाद का व्यक्तिगत जीवन अकेलेपन की जैसी अनुभूति देता है, वैसी हमें किसी अन्य सम-सामयिक साहित्यकार के जीवन के अध्ययन से नहीं प्राप्त होती।

उन्हें एक सम्पन्न पर ऋण-ग्रस्त प्रतिष्ठित परिवार में जन्म मिला और भाई-बहिनों में कनिष्ठ होने के कारण कुछ अधिक मात्रा में स्नेह-दुलार प्राप्त हो सका। किशोरावस्था में वे एक ओर शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बादाम खाते और कुश्ती लड़ते रहे। दूसरी ओर मानसिक विकास के लिए कई शिक्षकों से संस्कृत, फ़ारसी, अँग्रेज़ी आदि का ज्ञान प्राप्त करते रहे। पर इसी किशोरावस्था में उन्हें पारिवारिक कलह की कटुता का अनुभव हुआ। इतना ही नहीं, उनके किशोर कन्धों पर ही पारिवारिक उत्तरदायित्व, अर्थव्यवस्था और ऋण का भार आ पड़ा। ऐसा लगता है, यही दुर्वह भार—सारे दुलार, स्वास्थ्य और विद्या—का स्वाभाविक प्राप्य था।

तरुणाई में ही वे माता-पिता, बड़े भाई, दो पत्नियों और एकलौते पुत्र की वियोग-व्यथा झेल चुके थे। यह बचपन से तारुण्य के अन्त तक फैली हुई विछोह की परम्परा उनके भावुक मन पर कोई दुखने वाली चोट नहीं छोड़ गयी थी, ऐसा कथन मनुष्य के स्वभाव के प्रति अन्याय होगा और यदि वह मनुष्य एक महान साहित्यकार हो तो इस अन्याय की मात्रा और अधिक हो जाती है।

बहुत सम्भव है कि सब प्रकार के अन्तरंग बहिरंग संघर्षों में मानसिक सन्तुलन बनाये रखने के प्रयास में ही उन्हें उस आनन्दवादी दर्शन की उपलब्धि हो गयी हो जिसके भीतर करुणा की अन्तः सलिला प्रवाहित है।

चाँदनी से धुले ज्वालामुखी के समान ही उनके भीतर की चिन्ता उनके अस्तित्व को क्षार करती रही हो तो आश्चर्य नहीं। उनकी अन्तर्मुखी वृत्तियाँ या रिज़र्व भी इसी ओर संकेत करता है। पारिवारिक विरोध और प्रतिष्ठा की भावना के वातावरण में पलने वाले प्रायः गोपनशील हो ही जाते हैं। उसके साथ यदि कोई गम्भीर उत्तरदायित्व हो तो यह संकोच उनके मनोभावों और वाह्य वातावरण के बीच में आग्नेय रेखा खींच देता है। कण-कण कटती हुई शिला के समान उनकी जीवनी-शक्ति रिसती गयी और जब उन्होंने जीवन के सब संघर्षों पर विजय प्राप्त कर ली तब वे जीवन की बाज़ी हार गये, जिसमें हार जाने की सम्भावना भी उनके मन में नहीं उठी थी।

क्षय कोई आकस्मिक रोग नहीं है, वह तो दीर्घ स्वास्थ्य-हीनता की चरम परिणति ही कहा जा सकता है। अस्वस्थ रहते हुए भी वे एक ओर अपनी लौकिक स्थिति ठीक करने में संलग्न थे और दूसरी ओर कामायनी में अपने सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को भावात्मक अवतार दे रहे थे।

रोग के निदान ने उनके सामने दो विकल्प उपस्थित किये। ऐसी चिकित्सा प्रचुर व्यय-साध्य होती है। और कभी-कभी रोग का अन्त रोगी के साथ होने पर, परिवार को आत्मीय जन की वियोग-व्यथा के साथ विपन्नता का भार भी वहन करना पड़ता है।

उनके सामने अकेला किशोर पुत्र था और अपने किशोर जीवन के संघर्षों की स्मृति थी। यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि वे अपने किशोर पुत्र के भविष्य पर किसी दुर्वह भार की काली छाया डाल कर अपने इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते थे। तब दूसरा विकल्प यही हो सकता था कि वे पतवार फेंक कर तरी को समुद्र में इस प्रकार छोड़ दें कि वह दिशा-हीन बहती हुई जीवन-मरण के किसी भी तट पर लग सके। उन्होंने इसी को स्वीकार किया और अपने अदम्य साहस और आस्था से मृत्यु की उत्तरोत्तर निकट आने वाली पदचाप सुन कर भी विचलित नहीं हुए।

पर जीवन और मृत्यु के संघर्ष का यह रोमांचक पृष्ठ हमारे मन में एक जिज्ञासा की पुनरावृत्ति करता रहता है। क्या इतने बड़े कलाकार का कोई अन्तरंग मित्र नहीं था जो इस असम द्वन्द्व के बीच में खड़ा हो सकता?

सम्भवतः घर में ऐसा कोई बड़ा व्यक्ति नहीं था, जिसका निर्णय निर्विवाद मान्य होता, सम्भवतः किशोर पुत्र के लिए पिता के हठ पर विजय पाना कठिन था। पर क्या ऐसे आत्मीय बन्धु का भी उन्हें अभाव था जो उनके दुराग्रह को

अपने सत्याग्रही विरोध से परास्त कर क्षय के चिकित्सा-केन्द्रों तथा विशेषज्ञों का सहयोग सुलभ कर देता।

कार्य से कारण की ओर चलें तो विश्वास करना होगा कि नहीं था! सम्पन्न, मधुर-भाषी और हँसमुख व्यक्ति के साथ आनन्दगोष्ठी में बैठ कर हँस लेना सब के लिए सहज हो सकता है; परन्तु किसी संक्रामक रोग से ग्रस्त मित्र की निष्प्रभ आँखों में मृत्यु के सन्देश के अक्षर पढ़ कर उसे बचाने के लिए कोई बाज़ी लगाना कठिन हो जाता है।

प्रसाद जैसे मनस्वी और संकोची व्यक्ति के लिए किसी से स्नेह और सहानुभूति की याचना भी सम्भव नहीं थी। चन्द्रगुप्त में सिंहरण के निम्न शब्दों में बहुत कुछ प्रसाद के मन की बात भी हो तो आश्चर्य नहीं—

'अपने से बार-बार सहायता करने के लिए कहने में मानव स्वभाव विद्रोह करने लगता है। यह सौहार्द और विश्वास का सुन्दर अभिमान है। उस समय मन चाहे अभिनय करता हो संघर्ष से बचने का, किन्तु जीवन अपना संग्राम अंध होकर लड़ता है। कहता है—अपने को बचाऊँगा नहीं, जो मेरे मित्र हों आवें और अपना प्रमाण दें।'

सम्भव है कवि प्रसाद का जीवन भी अपना संग्राम अंध होकर लड़ा हो और उसने अपने आपको बचाने का कोई प्रयत्न न किया हो। उन्हें किसी की प्रतीक्षा रही या नहीं, इसे आज कौन बता सकता है! व्यावहारिक जीवन में एक का हित दूसरे के हित का विरोधी भी हो सकता है।

ऐसे व्यक्तियों की प्रसाद सम्बन्धी स्मृति उनकी अपनी चोटों की स्मृति अधिक हो सकती है, प्रसाद की विशेषताओं की कम!

भारतेन्दु के उपरान्त प्रसाद की प्रतिभा ने साहित्य के अनेक क्षेत्रों को एक साथ स्पर्श किया है। करुण-मधुर गीत, अतुकान्त रचनाएँ, मुक्त-छन्द, खंड काव्य, महाकाव्य सभी उनके काव्य के बहुमुखी प्रसाद के अन्तर्गत हैं। लघु कथा के वैचित्र्य से लम्बी कहानियों की विविधता तक, उनका कथा साहित्य फैला है। कंकाल उपन्यास के विषम नागरिक-यथार्थ से तितली की भावात्मक ग्रामीणता तक उनकी औपन्यासिक प्रतिभा का विस्तार है।

एकांकी, प्रतीक-रूपक, गीतिनाट्य, ऐतिहासिक नाटक आदि में उन्होंने नाटकीय स्थितियों का संचयन किया है। उनका निबन्ध-साहित्य किसी भी गम्भीर दार्शनिक चिन्तक को गौरव देने में समर्थ है।

साहित्यिक प्रतिभा के साथ उनकी व्यवहार बुद्धि भी कम असाधारण नहीं है। धूमिल नये युग के काव्य और विचार को आलोक की पृष्ठभूमि देने के लिए ही उन्होंने 'इन्दु,' 'जागरण' जैसे पत्रों की कल्पना को मूर्त रूप दिया। 'भारती भंडार' का जन्म भी उनकी उसी बुद्धि का परिणाम है जिसने युग की प्रत्येक सम्भावना को परख कर उसका उचित दिशा में उपयोग किया। उनका जीवन उनके कार्य को देखते हुए घट में समुद्र का स्मरण दिलाता है।

बुद्धि के आधिक्य से पीड़ित हमारे युग को, प्रसाद का सब से महत्वपूर्ण दान 'कामायनी' है—अपने काव्य-सौन्दर्य के कारण भी और अपने समन्वयात्मक जीवन-दर्शन के कारण भी!

भाव और उसकी स्वाभाविक गति में बनने वाले जीवन-दर्शन में सापेक्ष-सम्बन्ध है। बहती हुई नदी का जल आदि से अन्त तक ऊपर से कहीं तरंगाकुल, कहीं प्रशान्त मन्थर जल ही दिखायी देता है, परन्तु वह तरलता किसी शून्य पर प्रवाहित नहीं होती। वस्तुतः उसके अतल अछोर जल के नीचे भी भूमि की स्थिति अखंड रहती है। इसी से आकाश के शैन्य से उतरने वाले मेघजल को हम बीच में तटों से नहीं बाँध पाते, पर नदी के तट उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम हैं।

भाव के सम्बन्ध में भी यही सत्य है, जिसके तल में कोई संश्लिष्ट जीवन-दर्शन नहीं है, उसे आकाश का जल ही कहा जा सकता है। जीवन को तट देने के लिए उसके आदि की इकाई को अन्त की समष्टि में असीमता देने के लिए ऐसे दर्शन की आवश्यकता रहती है, जो श्रेय, प्रेय में तरंगायित होकर सुन्दर बन सके। यदि कोई भाव-धारा ऐसी संश्लिष्ट दर्शन भूमि नहीं पाती तो उसके स्थायित्व का प्रश्न संदिग्ध हो जाता है।

यह दर्शन महाकाव्य की रेखाओं से जिस विस्तार तक घिर सकता है उस विस्तार तक गीत से नहीं, छायावाद युग में भाव के जिस ज्वार ने जीवन को सब ओर से प्लावित कर दिया था, उसके तट और गन्तव्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा स्वाभाविक थी। और इस जिज्ञासा का उत्तर 'कामायनी' ने दिया।

प्रसाद को आनन्दवादी कहने की भी एक परम्परा बनती जा रही है, पर कोई महान कवि विशुद्ध आनन्दवादी दर्शन नहीं स्वीकार करता, क्योंकि अधिक और अधिक सामन्जस्य की पुकार ही उसके सृजन की प्रेरणा है और वह निरन्तर असंतोष का दूसरा नाम है।

'आनन्द अखंड घना था।' 'कामायनी' की यह पंक्ति विश्व जीवन का चरम-लक्ष्य हो सकती है, परन्तु उसे इस चरम सिद्धि तक पहुँचाने के लिए कवि को निरन्तर साधक ही बना रहना पड़ता है। सितार यदि समरसता पा ले तो फिर झंकार के जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह तो हर चोट के उत्तर में उठती है और सम-विषम स्वरों को एक विशेष क्रम में रख कर दूसरों के निकट संगीत बना देती है। यदि आघात या आघात का अभाव दोनों एक-मौन या एक-स्वर बन गये हैं, तब फिर संगीत का सृजन और लय सम्भव नहीं।

प्रसाद का जीवन, बौद्ध विचारधारा की ओर उनका झुकाव, चरम-त्याग, बलिदान वाले करुण-कोमल पात्रों की सृष्टि उनके साहित्य में बार बार अनुगुंजित करुणा का स्वर आदि प्रमाणित करेंगे कि उनके जीवन के तार इतने सधे और खिंचे हुए थे कि हल्की-सी कम्पन भी उनमें अपनी प्रतिध्वनि पा लेती थी।

हमारे युग की समष्टि के हृदय और बुद्धि में जो भाव और विचार नीरव उमड़-घुमड़ रहे थे उन्हें कवि ने जागरण के स्वर देकर मुखरित किया।

पर जब हिमाद्रि तुंग-श्रृंग से माँ भारती ने अपने इस स्वर साधक को पुकारा तब वह अपनी वीणा रख कर मौन हो चुका था।

लघु कथाएँ

रामधारी सिंह दिनकर

रहस्यवादी

इस गये-बीते ज़माने में भी रहस्यवादी जन्म लेते ही रहते हैं। रोशनी की बाढ़ से सारी दुनिया परेशान है, तब भी ऐसी आत्माएँ हैं, जो गोधूलि में लिपटी आती हैं और चाँदनी ओढ़ कर विदा हो जाती हैं।

ऐसी ही एक आत्मा उस मन्दिर के पिछवाड़े निवास करती थी, जहाँ हम लोग प्रार्थना की पाँच मिनटी रस्म अदा करने जाया करते थे।

और जब तक लोग प्रार्थना करते, वह साधु धरती पर लकीरें खींचता रहता। और जब लोग घड़ियाल बजाते, वह दीवार से उठँग कर सो जाता। और जब आस-पास की दुनिया ख़ाली हो जाती तब वह चाँदनी में बैठकर अपनी गहराइयों से बातें करता। आकाश की ओर देखते-देखते उसकी आँखों से आँसू बहने लगते और नदी में नहाते-नहाते उसे समाधि लग जाती। और लोग कहते, "यह बौद्धिक पागल है। इसका इलाज यह है कि इसकी शादी कर दो, फिर तो इसका सारा प्रेम ऐसा जमेगा कि हर साल यह एक बच्चे का बाप बनता चला जायगा।"

और सूफ़ी कहता, "यह बात कुछ-कुछ ठीक है। मगर मेरा ब्याह शायद हो चुका है और मैं पर्वत और पानी में अपनी दुलहिन को ही ढूँढ़ रहा हूँ। राम ने सीता को बनवास दिया था न? मेरी दुलहिन ने मुझे ही निकाल दिया है, मैं उसी की निशानी खोज रहा हूँ।"

मगर, मैं साधु का मज़ाक न उड़ाता। मुझे लगता, यह आदमी पागल हो सकता है, मगर इसकी नज़र कहीं दूर पर है और हो न हो, वह किसी आश्चर्य में खोयी हुई है।

आख़िर एक दिन एकान्त पाकर मैंने उससे पूछ ही तो लिया, "बाबा!

एक बात बताओगे ? मेरा ख़याल है, तुम किसी आश्चर्य में खोये रहते हो। सो, वह क्या चीज़ है जिसे देख कर तुम्हें अचरज होता है ?"

साधु बोला, "अरे, कहता क्या है ? सामने इतनी बड़ी अनन्तता खुली हुई है और न उसका इधर का छोर पकड़ायी देता है, न उधर का। यह अचरज की बात नहीं है ? और सोचा भी है कि समय कितना लम्बा है ? जब सृष्टि नहीं थी, समय तब भी वर्तमान था और वह तब भी रहेगा जब यह सृष्टि समाप्त हो जायगी। किसी न किसी तरह रंध्र में प्रवेश करके उस अवस्था को पकड़ना चाहता हूँ, जब समय का अस्तित्व नहीं रहा होगा। मगर, वह अवस्था अपनी गोद में मुझे ठीक से बैठने नहीं देती जैसे माँ अपने बच्चे को गोद में जरा-सा बिठा कर फिर नीचे उतार दे। और काले मेघ के किनारे-किनारे जब रोशनी की लकीर उगती है, मुझे लगता है, शायद मेरी दुलहिन अब अंधकार से बाहर आयेगी। देखता रहता हूँ कि पूरी साड़ी कब दिखायी देती है, मगर पूरी साड़ी कभी दिखायी नहीं देती। और लगता है कि यह जो अनन्तता है, वह मेरे सामने पर्दे की तरह झूल रही है और उसके पीछे एक दोस्त रहता है जो मेरा सब से प्यारा दोस्त है। और यह पर्दा उठता नहीं, यह अचरज की बात नहीं है क्या ? दर्पण का एक ही पहलू तो देखा है। उलट कर जानना चाहता हूँ कि उसके दूसरी ओर क्या है ? मगर जान नहीं पाता।

और तू तो अँग्रेजी पढ़ा-लिखा बाबू है न ? मगर आ, तेरे कान में एक भेद धर दूँ कि चीजें वहीं ख़त्म नहीं हो जातीं जहाँ बुद्धि हाँफ कर बैठ जाती है। दृश्य के परे एक और वास्तविकता है जो अदृश्य है और इस अदृश्य वास्तविकता को छूने की कोशिश में आदमी पहली कुर्बानी अपनी अक़्ल की देता है और जब-जब लोग मुझे पागल कहते हैं, मैं खुशी से नाच उठता हूँ कि मेरी पहली कुर्बानी पूरी हो गयी जिसकी सारी दुनिया गवाह है।"

साधु ने इतना कहा ही था कि पश्चिम की ओर आकाश में पहला तारा दिखायी पड़ा और साधु की आँख उधर को ही जा लगी।

वह अपनी दुलहिन का कर्णफूल पहचानने में इतना मस्त हुआ कि मेरे वहाँ से चल देने की उसे आहट भी महसूस नहीं हुई।

---

२२५ ●● लघुकथाएँ ● *रामधारी सिंह दिनकर*

नदियाँ और समुद्र

एक ऋषि थे, जिनका शिष्य तीर्थाटन करके बहुत दिनों के बाद वापस आया।

संध्या-समय हवन-कर्म से निवृत्त हो कर जब गुरु और शिष्य, ज़रा आराम से, धूनी के आर-पार बैठे, तब गुरु ने पूछा, "तो बेटा, इस लम्बी यात्रा में तुम ने सब से बड़ी कौन बात देखी ?"

शिष्य ने कुछ सोच कर कहा, "सब से बड़ी बात तो मुझे यह लगी कि देश की सारी नदियाँ बेतहाशा समुद्र की ओर भागी जा रही हैं।"

गुरु बोले, "अरे, इसमें कौन-सी बड़ी बात है ?"

शिष्य ने निवेदन किया, "बड़ी बात तो है महाराज ! अब यही देखिए कि जितनी नदियाँ हैं वे सब की सब श्रद्धेय हैं, उनका रूप मनोहर और जल सुस्वादु है और उनके किनारों पर इतने फूल खिलते हैं, इतने पक्षी चहचहाते रहते हैं कि आदमी का जी वहाँ से हटने को नहीं चाहता। मगर नदियाँ हैं कि एक क्षण कहीं रुकने का नाम नहीं लेतीं, वे भागी जा रही हैं, भागी जा रही हैं। और किसकी तरफ़ को महाराज ? उस समुद्र की तरफ़ को, जिसका रंग नीला और सारा शरीर लवण से तिक्त है, जिसके मुँह से हर समय पागलों की तरह झाग चलता रहता है और जिसे यह फ़िक्र ही नहीं रहती कि कौन उससे मिलने को आ रहा है।"

ऋषि ने कहा, "बेटा, समुद्र नर और नदियाँ नारी हैं। नारियों का स्वभाव है कि वे अपने प्रेमी का चुनाव, रूप नहीं, गुण देख कर करती हैं। समुद्र नीला और खारा भले ही हो, मगर वह गम्भीर है और बड़ा मर्यादावान भी। इसलिए वह न तो कभी घटता है और न उसमें बाढ़ ही आती है। ऐसे सुगम्भीर मर्यादा-पुरुषोत्तम का आकर्षण भला कौन नारी रोक सकती है ?"

सुदर्शन

●

दीवार

एक शहर में एक अमीर रहता था। उसके पास इतना धन था कि अगर वह रोज़ एक सौ रुपया ख़र्च करता, और निरन्तर एक सौ वर्ष तक इसी तरह ख़र्च करता चला जाता, तब भी उसका धन समाप्त न होता।

और उसकी शान बड़ी थी, और उसका दबदबा बड़ा था। मगर वह फिर भी व्याकुल रहता था, उसके दिनों के पास उसकी ख़ुशी न थी, उसकी रातों के पास उसकी नींद न थी।

और वह सोचता था—भगवान ने मुझे इतना अमीर बना कर भी इतना ग़रीब क्यों बना दिया? क्या उसके पास मेरे लिए सन्तान न थी। अब मैं इतने धन का क्या करूँगा? और जब मेरी मौत मेरा नाम ले कर मुझे पुकारेगी तो मेरे धन को कौन सम्हालेगा?

उसी शहर में एक ग़रीब भी रहता था। उसके पास इतना भी न था कि वह महीने में एक दिन भी आराम कर सके।

वह अठारह-अठारह घंटे मेहनत-मजूरी करता था, तब भी उसे इतना न मिलता था कि वह अपने घर वालों के पेट भर सके और नंगे शरीर ढक सके।

उसका शरीर बड़ा था और उसकी हिम्मत भी कड़ी थी, मगर उसके मन में शांति न थी। वह दिन के समय अपने भाग्य को कोसता रहता था। वह रात के समय अपने घर वालों को गालियाँ देता रहता था। और उसकी ग़रीबी उसके सपनों में भी उसका साथ न छोड़ती थी।

और वह सोचता था—भगवान ने मुझे इतना ग़रीब बना कर भी इतना अमीर क्यों बना दिया? क्या उसके पास मेरे लिए कोई बाँझ स्त्री न थी? अब मैं इतने बाल-बच्चों का पालन कैसे करूँगा? और जब दुनिया में मेरे दिन पूरे हो जायँगे तो मेरे अनाथों की देख-भाल कौन करेगा?

ग़रीब का झोंपड़ा अमीर के महल के नीचे था। मगर अमीर ने कभी ग़रीब के झोंपड़े की तरफ़ झुक कर न देखा था। और ग़रीब ने कभी अमीर के महल की ओर सिर उठा कर न देखा था।

हत्यारा

एक दिन एक शहर में दंगा हो गया। गुण्डे लाठियाँ, नेज़े और आग ले कर निकल पड़े और शहर के गली-कूचों में फिरने लगे।

वे निहत्थों की गरदनें उड़ा देते थे, वे कमज़ोरों के घर जला देते थे और जिनके ताले मज़बूत न थे, उनकी दुकानें लूट लेते थे।

शहर के साधारण लोगों में गुण्डों के आतंक के सामने खड़े होने की हिम्मत न थी। वे भाग जाते थे या छिप जाते थे या मारे जाते थे।

मगर उसी शहर में एक वीर भी था, जिसके पास पुट्ठों की मज़बूती थी, दिल में दिलेरी थी और तलवारों का लोहा और बन्दूकों की गोलियाँ थीं। और गुण्डे उसकी तरफ़ बढ़ने से भी डरते थे।

मगर साँझ के अँधेरे में गुण्डों के पाँव उन्हें वीर के घर की तरफ़ ले गये। वहाँ वीर खड़ा मुस्करा रहा था और उसकी मुस्कराहट किसी से डरना न जानती थी।

वीर ने गुण्डों को अपने पास बुलाया और अपनी वीरता को एक तरफ़ रख कर उनसे नेकी और नर्मी की बातें कीं।

उसने उन्हें दया और धर्म के उपदेश दिये। उसने उन्हें प्यार और उपकार के गुण समझाये। उसने उन्हें आदमी के ऊँचे आसन पर बैठाने की कोशिश की।

और जब गुण्डों ने उसकी कोई बात न सुनी तो उसने एक गुण्डे को अपनी तलवार दे दी, दूसरे को अपनी बन्दूक दे दी, और छाती तान कर बोला—"लो, मुझे मार डालो। मैं तुम्हें मारने की अपेक्षा आप मर मिटना कहीं अच्छा समझता हूँ।"

दूसरे क्षण वीर का शरीर अपने द्वार पर मुर्दा पड़ा था और उसके घर में लूट-मार मच रही थी।

समाचार-पत्रों ने यह खबर छाप कर लिखा—'वह वीर था!'

लोगों ने यह समाचार पढ़कर कहा—'वह वीर था!'

मगर जब यह समाचार आसमान के देवताओं के पास पहुँचा तो उन्होंने कहा—'गुण्डों ने वीर के शरीर की हत्या की है, मगर वीर ने गुण्डों की आत्माओं की हत्या कर डाली है। और वीर का पाप गुण्डों के पाप से भी बढ़ कर है।'

गंगा प्रसाद पाण्डेय

भिखारी का ज्ञान

"जय हो सेठ जी की ! एक रोटी का सवाल है, राजा बहुत भूखा हूँ ।" भिखारी ने आवाज़ दी ।

सेठ जी ने जलपान बंद करते हुए तनिक आक्रोश के साथ कहा, "चल हट यहाँ से, कुत्ते की तरह हमेशा मुँह ताकता रहता है । मैंने तेरी भूख का ठेका ले रखा है ? रोटी का सवाल, रोज़-रोज़ नाकों दम कर रखा है ।"

"भूख तो रोज़ ही लगती है, क्या करूँ सेठ जी ? क्या आप रोज़ नहीं खाते ? शायद दिन में चार बार खाते होंगे । कल से मैंने कुछ नहीं खाया । बहुत भूखा हूँ, गला सूख रहा है ।"

"भूखे हो तो जा कर कुत्तों के साथ भूँको, कौन मना करता है ? मैं खाता हूँ तो मेरा भाग्य ! भगवान दाने-दाने में खाने वाले का नाम लिख देते हैं । तुम्हारे नाम का दाना नहीं है तो मैं क्या कर सकता हूँ ? अपने भाग्य को कोसो और उसी से माँगो ।"

"अच्छा, दाने में खाने वाले का नाम लिखा रहता है ?"

"हाँ हाँ, दाने-दाने में नाम लिखा रहता है, तभी तो खाना मिलता है ।"

"आप अभी जो पूड़ियाँ खा रहे थे, उनमें आप का नाम लिखा था ?"

"ज़रूर लिखा था, नहीं तो खाता कैसे ? तुम्हारी ही तरह दाँत निपोरते न घूमता फिरता । भगो यहाँ से, मुँह मत लड़ाओ ।"

भिखारी ने आव देखा न ताव, मलाई की पूड़ियों का थाल उठा कर निःसंकोच खाने लगा । सेठ जी अपने भारी-भरकम पेट के साथ उस पर टूट पड़े । दो-चार पूड़ियाँ भिखारी के मुँह में और बाकी सड़क पर बिखर गयीं । दुकान के लहटे कुत्ते उनको एक क्षण में चट कर गये ।

धक्का-मुक्की के शोर-गुल से भीड़ इकट्ठी हो गयी । भिखारी ने धीरज और साहस के साथ सब को समझाया—

"अभी-अभी इसने कहा था कि दाने-दाने पर खाने वाले का नाम लिखा रहता है, जिसे भगवान लिखता है, पूड़ियों में मेरा नाम लिखा था । जैसे यह बनिया पढ़ सकता है, वैसे ही मैंने भी पढ़ा है । जो पूड़ियाँ सेठ ने खायीं, उनमें

इसका नाम और जो मैंने खायीं उनमें मेरा नाम लिखा था। और जो कुत्तों ने पायी उनमें उनका नाम भी अवश्य ही लिखा रहा होगा।

मनस्तत्त्व

घर के नौकर महादेव ने बहुत ही गिड़गिड़ा कर कहा, "अब हम से काम नहीं होगा बाबू। दिन भर की परेशानी, एक मिनट की भी छुट्टी नहीं मिलती। सारा दिन फिरकी की तरह नाचते बीतता है। आप अपना नौकर खोज लें। मुझ से नहीं होता।" घर के मालिक रमेश ने पूछा, "आखिर बात क्या है? तुम हो, बुधुआ है, फिर भी काम की शिकायत! कौन से भारी काम करने पड़ते हैं!? दिन भर बैठे ही तो रहते हो।"

"जो भी हो, अब आगे नहीं चल सकता, क्योंकि बैठे-बैठे की हो या खड़े-खड़े की, नौकरी तो नौकरी है। दिन भर छुट्टी तो नहीं मिलती है। कल से मलमास लगेगा, गंगा का नहान चलेगा। आने-जाने में दो घंटे लगते हैं। आप की नौकरी में धरम नहीं सध सकता। दो घंटे की छुट्टी कहाँ मिलेगी?"

"क्यों नहीं मिल सकती छुट्टी? जरूर मिलेगी। कल से तुम को दो घंटे की छुट्टी और पाँच रुपये की तरक्की भी मिलेगी। मगर उस का एक ही उपाय है।"

"बताइए-बताइए बाबू जी, मैं जरूर करूँगा। मैं आप को छोड़ना तो नहीं चाहता, मगर जब आप मेरा भी ख़याल करें! बोलिए तो क्या उपाय है।"

"तुम जानते ही हो कि बुधुआ सिर्फ़ दोनों वक्त पानी भरने का काम करता है। बाकी सब दौड़-धूप तुम्हीं को करनी पड़ती है। यदि तुम उस का भी काम कर लिया करो तो उस को अलग कर दें। तुम्हारा पाँच रुपया बढ़ जायगा और छुट्टी भी मिल जाया करेगी। एक ही महीने की तो बात है। सब काम जल्दी-जल्दी कर लिया करना, बस फिर छुट्टी।"

महादेव जैसे सहसा खिल गया, "इसमें कौन बात है? मैं उस का भी काम कर लिया करूँगा। थोड़ी सी मेहनत में सभी सध जायगा। छुट्टी की वजह से कोई काम छूटेगा नहीं। आप इतना समझे रहें बाबू जी! यह बहुत अच्छा है। पाँच रुपया महीना अधिक और दो घंटे की छुट्टी रोज मुझ को मिलेगी और दस रुपया आप का भी बचेगा। बुधुआ तो पन्द्रह लेता है न!"

रमेश मुस्कराते हुए बोला—"ठीक, बहुत ठीक !"

महादेव ने दोहराया, "ठीक है, बहुत ठीक है। भगवान आप का भला करें। गंगा में आप के नाम की भी डुबकी लगाऊँगा।"

सत्य

●

तप-भंग

उग्र तपस्या के बल पर अपने आप को महान समझने वाले तपस्वी का तप भंग करवाने के लिए एक वेश्या को विपुल धन-राशि दी गयी।

उस वेश्या के प्रत्येक सम्भव प्रयत्न के बावजूद भी वे विचलित नहीं हुए। वह वेश्या उस महात्मा की दृढ़ता और विशालता पर मुग्ध हो गयी।

उन के चरणों पर अपना नत-मस्तक रख कर उस ने कहा :

"महात्मा, मैं अपने प्रत्येक पूर्व कृत्य एवं पराजय के लिए लज्जित हूँ !"

विनीत भाव से उस तपस्वी की चरण-रज श्रद्धा-सहित अपने माथे पर लगा कर उस ने फिर कहा :

"आपके पवित्र संसर्ग से मुझे अपार शांति मिली है। हे तपस्वी, मुझे क्षमा करो ! आशीर्वाद दो कि मेरी यह शांति सदा निर्मल रहे !"

उस तपस्वी ने क्षम्य दृष्टि के उस पतित-नारी की ओर देखा और स्थिर स्वर में कहा, "उस परमात्मा को धन्यवाद दो देवी ! उस के प्रति कृतज्ञता प्रकट करो, जिस ने तुम्हारे मन में शुभ एवं सत्संकल्प की प्रेरणा दी।"

"श्रीमान !"

उस वेश्या ने एक दिन कहा, "मेरी चार अभागी बहिनें यही निंद्य कर्म करती हैं। मुझे विश्वास है कि यदि उन्हें पवित्रता का अर्थ एवं आदर्श समझाया जाय तो वे भी प्रायश्चित्त करने के लिए सम्भवतः प्रस्तुत हो जायँ।

कृशकाय, वृद्ध तपस्वी, एक क्षण तक सोचते रहे। फिर बोले, "प्रभु की यही इच्छा है देवी कि तुम भगवद्भक्ति करो। किसी के भाग्य का निर्माण करना हमारे अथवा तुम्हारे हाथ की बात नहीं है। यह तो उस परम पिता परमात्मा के बस की बात है, जिस की खोज मैं इतने समय से कर रहा हूँ।"

वह 'पतित नारी' एक क्षण स्तब्ध खड़ी रही और उस तपस्वी की बात समझने का प्रयत्न करती रही।

उस वेश्या का करुण-स्वर प्रकम्पित हुआ। उस ने कहा, "परिवर्तन और विकास की गति, तपस्या की जड़ता में क्या इतनी कुंठित हो जाती है महात्मा, और तुम्हारी तपस्या क्या यही है?"

आँखों में आँसू भरे और भारी दिल से उस ने घोषित किया कि तपस्वी का तप भंग हो गया!

क्षमा

मेरे स्वस्थ और गोरे शरीर पर रेशमी कपड़ों का बहुमूल्य और शानदार सूट और पैरों में काले रंग के चमकदार जूते आदम-कद आइने के सामने खड़े हो कर देखने पर बड़े भले लग रहे थे।

सोचा :

'यह कितनी भली बात है कि मेरा रूप, स्वास्थ्य और शृंगार किसी भी महिला के मुग्ध-आकर्षण और सहज-समर्पण का कारण बन जाते हैं।

मेरी मुस्कराहट में स्निग्धता है और चेहरे पर प्रसन्नता की स्वच्छता। मैं अपनी एक प्रेयसि से मिलने जा रहा था!

सूर्य की तेज़ गर्मी और दिन भर की उमस से व्याकुल एक मैला-कुचैला भिखमंगा-सा लड़का सूर्यास्त के सौंदर्य को देखने की बजाय, सड़क के एक किनारे खड़े लम्बे पेड़ की छाँह में टाँगें पसारे ऊँघ रहा था।

मैं अपनी मादक कल्पना में बेहोश था।

उस लड़के के फैले हुए पतले पाँवों को मैंने तब तक नहीं देखा, जब तक कि मेरा भारी भरकम चमड़े का मज़बूत जूता उस के पाँवों को कुचल नहीं गया।

उस लड़के ने अपने को ज़ब्त किया और कोशिश की कि मैं उस की दर्दभरी चीख़ को न सुन सकूँ।

मुझे अपनी उस भूल के लिए क्षमा माँगनी चाहिए थी।

इस से पहले कि मैं झुक कर उसे कुछ कहूँ, उस ने मेरे बूटों पर हाथ रख कर अपने गले में अटक जाने वाले थूक को निगलते हुए कहा :

"—बाबू जी, बूट पालिश!"

वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा

प्यासी धरती

वर्षा की प्रतीक्षा करते-करते धरती की सारी हरियाली झुलस गयी। ख़ुश्की के मारे जगह-जगह दरारें पड़ने लगीं। अन्तर की प्यास एक बूँद पानी के लिए तरस उठी।

तभी विस्तृत आकाश में मेघ का एक टुकड़ा इठलाता हुआ दिखलायी पड़ा।

"ओ मेघ दूत! क्या वर्षा का संदेश लाये हो?" संतप्त धरती करुणा-पूर्ण स्वर से चिल्ला उठी।

"इतनी उतावली क्यों...हो जायगी वर्षा समय आने पर!" मेघ ने उपेक्षा से उत्तर दिया।

"न जाने कब आयेगा तुम्हारा समय...मेरा तो प्यास के मारे दम निकला जा रहा है...फिर क्या मेरी लाश पर पानी बरसाओगे?" हताश धरती ने व्यंग्य पूर्ण याचना की।

"अरे!...जब मूसलाधार बरसूँगा तब तुम्हीं हाथ जोड़ कर विनती करोगी...बस, बस, अब नहीं चाहिए," मेघ ने ऐसे कहा जैसे धरती के ऊपर कोई बड़ा एहसान कर रहा हो। तभी हवा का एक तेज़ झोंका आया और वह उस के ऊपर सवार हो कर आगे बढ़ने लगा।

प्यास के मारे दम तोड़ती हुई धरती बौखला उठी, "तो सुन लो मेघ ! जब मेरे अन्तर का ज्वालामुखी भभक उठेगा तो तुम्हारी समस्त जलराशि भी उसे शांत न कर सकेगी..."

पर हवा का झोंका मेघ को तेज़ी से उड़ाये लिये जा रहा था। उस ने सुन कर भी अनसुनी कर दी।

ऊबड़खाबड़ रास्ता

ऊबड़खाबड़ रास्ता। उस पर एक इंसान बढ़ता चला जा रहा था।

चलते-चलते वह झुँझला उठा। सिर पकड़ कर, किनारे पड़े एक शिलाखंड पर सुस्ताने के लिए बैठते हुए, अत्यन्त खीझ भरे स्वर में सामने पड़े हुए उस लम्बे रास्ते से बोला—

"तुम इतने ऊबड़खाबड़ क्यों हो, रास्ते ?"

रास्ते ने उस की शिथिलता पर मुस्कराते हुए उत्तर दिया:

"मेरा काम तो मात्र पथ-प्रदर्शन करना है...मुझे सँवार कर रखना तो तुम्हारा काम है...जो जिस दशा में रखता है वैसे ही रहता हूँ...इस में मेरा क्या दोष है !"

रास्ते की बात ने इंसान को निरुत्तर कर दिया।

शांति एम० ए०

●

मौली के तार

श्यामा की ममता इतनी व्यापक थी और हृदय इतना विशाल कि कोई वृद्ध उस से एक बार भी मिलता तो उस को अपनी संतान से अधिक मानने लगता। कोई युवक उस के सम्पर्क में आ जाता तो रक्षा-बन्धन और भाई दूज के दिन

उस के पाँव अनायास ही उस के घर की ओर मुड़ जाते। कोई स्त्री क्षण-भर भी उस से बात कर लेती तो उसे लगता मानो अब तक वह उसी के स्नेह की, उसी की सान्त्वना की खोज में थी।

एक बार रक्षा-बन्धन के पुण्य-पर्व पर श्यामा ने बहुत ममता और उत्साह के साथ अपने निकटतम चार बन्धुओं को घर पर आमंत्रित किया। मौली के तार उन की कलाइयों पर बाँधे, अँगूठे में रोली लगा कर उन के टीका लगाया और मिठाइयों से भरा थाल सामने रख कर वह पानी लेने भीतर चली गयी।

उस के भीतर जाते ही एक ने कहा, "इस पावन स्नेह का मूल्य क्या जीवन भर भी हम चुका सकेंगे?"

दूसरे ने अत्यन्त उदासीन भाव से कहा, "यह तो अपना-अपना स्वभाव है। इस में तारीफ़ की या कृतज्ञता अनुभव करने की कौन सी बात है।"

तीसरे ने पाँच रुपये का एक नोट उंगलियों के बीच दबाते हुए कहा, "भई! आज कल तो एक राखी का मूल्य है पाँच रुपये!"

चौथे ने अपनी गोल-गोल आँखें नचाते हुए, बड़ी विरक्ति के साथ कहा- 'छोड़ो भी यार! बेकार की बातें करते हो। उस ने इतने युवकों की गर्म-गर्म कलाइयाँ पकड़ीं, माथे स्पर्श किये और उसे चाहिए ही क्या था!"

वृत्त शेष और अन्य कुछ कविताएँ

निज ललाट की रेख — बालकृष्ण शर्मा नवीन

अब तक की क्या तुम न पढ़ सके निज ललाट की रेख ?
देखे इतने दर्पण, फिर भी, बाँच न पाये नेक ?
हाँ, उलटे आखर पढ़ने का तुम्हें नहीं अभ्यास;
किन्तु पढ़ेगा अन्य कौन तब भाल-लिखित ये लेख ?

अच्छा है कि रहें अपठित ही ये विधि-अक्षर वाम;
पढ़ लोगे तो भी क्या होगा ? कौन सरेगा काम ?
जो होनी है वह तो होगी; अनहोनी होगी न;
यदि यह नियम अटल हैं तो तुम क्यों होते हो क्षाम ?

यदि है नियति पूर्व गति-निश्चिय-चालित घूर्णित चक्र,
तब क्या चिन्ता ? रहे भाग्य की रेखा ऋजु या वक्र !
यदि है यहाँ विवशता इतनी, तो फिर—खेल समाप्त !
मिलें भले ही जीवन-नद में तुम्हें मत्स्य या नक्र !

किसने तीतर-फन्द बनाया ? हैं ये तीतर कौन ?
पिञ्जर यह क्या है ? पिञ्जर के बाहर-भीतर कौन ?
कौन फँसा है ? फाँसा किसने ? कैसे ? कब ? किस अर्थ ?
तैत्तरीय गोत्रज तुम हो, तो बोलो, क्यों हो मौन ?

सहस्राब्दियों इन प्रश्नों को लेकर अपने अङ्क
यों विहँसी ज्यों हुलस विहँसता शरद शशाङ्क मयङ्क !
श्यामल शश शशि की गोदी में; औ ये धूर्जटि प्रश्न,
अयुत युगों, कल्पों के हिय में खेल रहे निःशङ्क !

निरुद्देश्य ही गिरी कङ्करी, जल में उठी तरंग,
और, उभक्र आये जो तारे तो काँपी नभ गङ्ग,
उसी प्रकार, बिना आशय ही ये सब गहरे प्रश्न,
करते हैं क्या संसृति-सर की नीरवता को भङ्ग ?

मत सोचो इन प्रश्नों की है निष्फल ऊहा-पोह;
चिर चिन्तन ही से कटता है जीवन का व्यामोह;
प्रश्न करो मधुकरी वृत्ति है सहज उन्नयन-पंथ;
ज्ञात नहीं क्या कि है हृदय में निरलस शाश्वत टोह ?

शतियों का शृङ्गार किया है इन प्रश्नों ने नित्य;
इनने सिरजा सहस्राब्दियों का मानव-साहित्य;
कम्पन, मन्थन, चिन्तन उन्मन, उलझन-क्षण, ये धन्य !
जिनके कारण चमका जन का बल-विक्रम-आदित्य !

कौन कहेगा किये प्रश्न हैं निरुद्देश्य, निःसार ?
कौन कहेगा कि है वृथा ही इनका तत्त्व-विचार ?
यदि ये प्रश्न व्यर्थ हैं तब तो जन-जिज्ञासा-वृत्ति ?
होगी सिद्ध व्यर्थ; फिर, होंगे बन्द प्रगति के द्वार।

उठते हैं यदि प्रश्न हृदय में तो वे उठें सुखेन;
प्रश्नों के बल हमें उपनिषत् मिली प्रश्न, कठ, केन;
करते-करते प्रश्न बन गया नचिकेता यम-मित्र;
और अमृत है केवल मन्थन-जिज्ञासा का फेन !

तुम हो कौन, कि जिसने हिम यों मथ डाला, हे प्राण ?
तुम हो कौन, कि मैं धरता हूँ निशि दिन जिसका ध्यान ?
विरही ने अकुला कर पूछा यों जिस क्षण, जिस याम—
उसी निमिष से मेघ-दूत के हुए हृदय-हर गान !

मानव ने भर प्रश्न दृगों में जब देखा जग-जाल,
वैज्ञानिकता बरबस जनमी उसी दिवस, तत्काल;
उसी प्रबल परिपृच्छा का पय पीकर हुई वयस्क—
और कुशल इतनी कि खिलाती है वह अणु के व्याल !

अन्तर्मुख होकर मानव ने पूछी जब कुछ बात—
तब बहि-रंग-रूप की महिमा हुई और कुछ ज्ञात;
तू-तू मैं-मैं, यह-वह के सब हुए आवरण दूर;
वह अद्वैत हुआ सम्मुख, जो अब तक था अज्ञात !

अपने श्रम की देख व्यर्थता मानव ने चुपचाप—
गही शरण उस नियति-नियम की जिसका क्षेत्र अमाप;
और, सोचने लगा कि क्या है यह सब दुर्दम खेल ?
क्यों है जीवन में इतना यह निपट विवशता-शाप ?

नियति तुम्हारे लिए अटल है; पर, सोचो यह बात—
कि जो नियति-निर्माण-हेतु है वह क्या है अज्ञात ?
है निर्बन्ध प्रेरणा चेतन के विकास में व्याप्त;
तब, इच्छा-स्वातन्त्र्य तुम्हारा है स्वभाव सहजात ।

कलिल जात जीवन-अणु से तुम स्वेच्छा से ही आज—
द्विपद, द्विभुज, मनवान्, बुद्धियुत बने सृजन के राज;
इस प्रकार है स्वयं सिद्ध तब इच्छा का स्वातन्त्र्य;
और, कर्म-स्वातन्त्र्य सजाता है सर्जन के साज ।

क्या है नियति ? नियति है केवल कर्म-समुच्चय, मित्र,
और क्रिया की प्रतिक्रिया है निश्चय, अशुभ, विचित्र;
कर्म तुम्हारे पच न सके जो, वे बन नियति कठोर—
तुम्हें विवश-सा नचा रहे हैं जीवन-नाच विचित्र ।

स्वेच्छा प्रेरित, स्वकृत, शुभ, अशुभ, जो एकत्रित कर्म—
उनमें ही है निहित नियति की जन्म-कथा का मर्म;
फिर भी सन्तत विद्यमान है सब स्वकर्म-स्वातन्त्र्य;
विषम-सम नियति-नाश, तुम्हारा है आत्यन्तिक धर्म।

कथित अमोघ नियति का कर्त्ता जो मानव मनवान्;
हर्त्ता भी हो सकता है यदि हो सचेष्ट सज्ञान;
चक्र-व्यूह-भेद प्राक्तन का करना, यह है शक्य,
यदि हों लौह-सार-बल संयुत इस मानव के प्राण।

यह सब है ध्रुवसत्य; किन्तु तुम निरखो वह निरीह प्राणी—
जिसके नयनों में जल-कण हैं और मूक जिसकी वाणी,
जिसका जीवन नियति-हस्तगत कन्दुक बन कर लुढ़क रहा,
स्वकृत कर्म-स्वातन्त्र्य-भावना ऐसे जन ने कब जानी?

यदि ● नलिन विलोचन शर्मा

यह शक्ल कितनी अच्छी होती,
और क्यों नहीं है?
और उसकी देह क्या पूर्णता नहीं होती
मूर्तिकार के स्वप्न की
जो प्रस्तरानुवाद को छलता ही रहता?
और उसकी शक्ल?
यह देह?
यदि पपोटे वैसी बरौनियों में ख़त्म होते,
जैसी ऊपर से लगाने के लिए मिलती हैं;
यदि सिङ-रा मध्य होता सुस्निग्ध;
यदि श्रौत क्लोरोफ़िल वाले दंतलेप
के विज्ञापन को उदाहृत करते,
यदि व्यथा संदिहान होती!

चित्रशाला ● सी० वी० राव

मैं न लूँगा चित्र, लेकर क्या करूँगा ?
आज तक ऐसे बहुत से चित्र मैंने
चाव से, उत्साह से, लेकर लगाये,
बन गयी दीवार घर की चित्र-शाला ।

पड़ गये धुँधले मगर, मैले, पुराने,
जो सुरक्षित सूर्य-किरणों से नहीं थे,
और जिनको सावधानी से बचा कर
मैं अँधेरे में छिपाये रख सका था,
कुछ समय के बाद पट की पीठिका से
वे उतर कर आ गये दीवार पर ही
और अब मिटते मिटाये भी न मुझसे ।

मैं न लूँगा चित्र ये निर्जीव, निष्क्रिय,
क्योंकि अब मैं ख़ुद बना कर देखता हूँ
चित्र जीते जागते, चलते, बदलते,
रोशनी में खोल घर की खिड़कियों को ।

सानेट ● त्रिलोचन शास्त्री

पलकें नीचे गिरीं । आँख में कहाँ दिठाई
तब तक आ पायी थी । रोम-रोम ही मानो
आँख बन गया, सिहरन से लहराया, दानों
से किसके यह हर्ष भरा था और मिठाई
मन में पाग उठी थी । मेरी और तुम्हारी
दो दुनियाँ हो गयीं एक थीं । कोयल बोली
और पपीहा चीखा, फेरी यों ही हो ली
प्राणों की । मन की छवि अपने आप उतारी

हमने अपनी-अपनी आँखों में । यह ऐसे
हुआ कि जान न पड़ा, मगर जब आगे आया
तब मालूम हुआ कि आज ही सब कुछ पाया
एक निमिष में । निमिष बन गया सतयुग जैसे ।
चुपके-चुपके प्राणों की वह अदला-बदली,
भीतर-बाहर छाई इन्द्रधनुष की बदली !

सच कहूँ ● डा० देवराज

सच कहूँ !
अनुभव में मेरे सब से बड़ी है,
ठोस, थिर, कड़ी है,
धरती यह, कैसे फिर स्वर्ग की
ब्रह्मलोक, गोलोक, जन्नत की, अर्श की
कल्पना गहूँ ?
सच कहूँ !

कहते हो प्रेयसी की नश्वर वे स्मितियाँ हैं,
सारहीन रूठने मनाने की स्थितियाँ हैं,
किसने देखे हैं किन्तु यम के वे तेवर,
और मुक्त पुरुषों के ज्योतित कलेवर ?
भय और आशा में उनकी मैं—
कैसे रहूँ ?
सच कहूँ !

सुनने में बन्धु ! देव-दानवों की
रोचक कथाएँ हैं,
तथ्य यही—मानव की मानव ही
हरता व्यथाएँ है,
नर हूँ मैं, नर को फिर देवों से
हीन क्यों कहूँ ?
सच कहूँ !

शांति कपोत ● श्रीकृष्णदास

युगों पहले एक विकल कपोत संकट-ग्रस्त,
गोद में शिव के छिपा सहमा, डरा संत्रस्त,
काँप कर बोला कि 'राजन ! दो अभय का दान,
नहीं तो यह क्रूर पंछी अभी लेगा प्राण !'
हिल उठे शिव, माँस दे, उसकी बचा ली जान,
रक्त से अपने दया का लिख गये आख्यान !
आज फिर आया सुअवसर, फिर वही इतिहास,
वही आस्था, वही करुणा, वही दृढ़ विश्वास !
आज शिव की भाग्यशाली दो अरब सन्तान,
दे रहीं फिर उसी खग को अभय जीवनदान,
है हृदय में न्याय नय कि विजय का उल्लास,
जल रही है स्नेह की शुचि वर्त्तिका सोच्छ्वास !
मनुजता का धवल, विमल प्रतीक, सुख का स्रोत
उड़ रहा है नील नभ पर श्वेत शांति कपोत !

बस और कुछ नहीं ● भुवनेश्वर प्रसाद

आँखों की धुन्ध में, उड़ती-सी
एक अजब अफ़वाह का मज़ाक़ है यह
पिघले हुए दिलों और नर्मायी हुई रोटियों का,
हीरा तो खान में एक
प्यारा-सा फ़साना है,
किसी पत्थर दिल और नम आँखों वाली रोटी का।
ग़रीबी के पछोड़ में
ग़म के दानों को रुत है
सब का बँधा हुआ मुँह
खुल जायगा कल के अख़बारों में
बस और कुछ नहीं।

—अनु० शमशेर बहादुर सिंह

वृत्त शेष ● सुमित्रानन्दन पंत

एक वृत्त हुआ शेष,
वृत्त शेष ! वृत्त शेष !
जन मन में मर्मर भर
नवयुग करता प्रवेश !
वृत्त शेष !

युग विवर्त प्रहर घोर
छाया तम ओर-छोर
दूर, अभी दूर भोर
दिक् कंपित भू-प्रदेश !
वृत्त शेष !

ज्वाला का लोक अमर
आकुल करता अन्तर,
मृत्यु घूम रहा घहर
गरजता क्षितिज अशेष !
वृत्त शेष !

निद्रा से क्लांत नयन,
स्मृतियों से उपचेतन,
मानस में युग स्पंदन,
प्राणों में नवोन्मेष !
वृत्त शेष !

सिहर रहे... सूक्ष्म भुवन
जीवन रज नव चेतन,
धरते नव स्वप्न चरण,
मिटने को दैन्य क्लेश !
वृत्त शेष !

विचार धारा

भगवत शरण उपाध्याय

प्रगति का ऐरावत

पिछले पचास वर्ष भारत के इतिहास में बड़े महत्व के रहे हैं। भारत ने इस बीच राजनीतिक रूप में भगीरथ प्रयत्न किये हैं और उन प्रयत्नों का प्रभाव न केवल उसकी राजनीति और आज़ादी की लड़ाई पर पड़ा है, वरन् उसका सारा जीवन उन प्रयत्नों में समा गया है। स्वयं उसका साहित्य भारत की नित्य बदलती क्रांति और प्रतिक्रियामयी परिस्थितियों का अनुवर्ती बना है। उस साहित्य की प्रगति की कहानी भी महत्व की है।

इन पचास वर्षों का आरम्भ-काल भारतीय साहित्य का प्रायः बीज-काल है। भारतीय समाज में आधारभूत परिवर्तन होने लगते हैं और उनका प्रभाव भारत के साहित्य पर स्पष्ट पड़ता है और साहित्यकार एक नये जीवन के प्राणों से आन्दोलित खुली हवा में साँस लेने लगते हैं। यद्यपि उनका कोई समझा हुआ संगठन नहीं है, उनके दृष्टिकोण का कोई सामूहिक रूप अभी नहीं बन पाया है, पर उनकी कृतियों के विषय सामाजिक हो उठते हैं। कला में, साहित्य में, सर्वत्र एक प्रकार का आक्रोश आता है, गतिशीलता आती है। पहले यह गतिशीलता अपने भूले हुए उन्नत अतीत को चेतती है, फिर प्रनष्ट सावधि को सुधारने के लिए डग भरने लगती है। कला में अजन्ता की अतीतापेक्षी दृष्टि पुनर्जागरण का सन्देश लिये भावभूमि में उतरती है और सावधि-जन-चेतना उसे सर्वथा अतीत का निष्क्रिय स्वप्न नहीं बनने देती। 'हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी ?' में जहाँ एक ओर शालीन अतीत की ओर संकेत है, वहाँ सावधि की 'समस्याओं पर विचार करो' की भी पुकार है।

राष्ट्रीय काँग्रेस की राजनीति पहले निरीह, पीछे सक्रिय हो उठती है और बीसवीं सदी के आरम्भ के वर्षों में उसका प्लेटफार्म अगर और कुछ नहीं तो कम से कम गतिमान्, प्राणवान् आलोचकों को एक 'फ़ोरम' तो दे ही देता है।

इटली की 'कारबोनारी' जैसी गुप्त राजनीतिक संस्थाओं का भारत पर भी प्रभाव पड़ता है और आयरलैण्ड की आज़ादी की लड़ाई इस देश के नवयुवकों में भी औचित्य की लगन भरती है। क्रांतिकारी दलों का संगठन, स्वदेशी आन्दोलन की सक्रियता, समाचार-पत्रों की नयी आवाज़—सभी समाज के नये जीवन की ओर संकेत करते हैं और सन् सत्रह की सफल रूसी क्रांति आज़ादी की नयी लहर से यहाँ के तरुणों को आन्दोलित करती है। 'होमरूल' की आवाज़ को दबा कर स्वतन्त्रता और स्वराज्य का नारा बुलन्द होता है। साहित्य और सामाजिक आन्दोलन एक मन-एक प्राण होते हैं और साहित्यकार जनता की आवाज़ में अपनी आवाज़ मिला कर ललकार उठता है—

भारत का छतिया पर भारत-बलकवा के बहेला रकतवा
के धार रे फिरंगिया !

काँग्रेस का 'स्वराज'-आन्दोलन ज़ोरों पर है। समूचा देश, काश्मीर से कुमारी तक, अटक से कटक नहीं गोहाटी तक, रंगून तक, एक साँस-एक स्वर में अपना 'जन्मसिद्ध अधिकार' माँगता है। पंडित और ज्ञानी, वकील और पत्रकार, विद्यार्थी और शिक्षक सरकार से असहयोग कर जेलों को भर देते हैं। यह रौलट ऐक्ट और पंजाब-हत्याकांड की मात्र प्रक्रिया नहीं है, यद्यपि उसकी प्रतिक्रिया भी स्वयं कुछ कम नहीं जो वह भारत के प्रमुख साहित्यकार कविवर-रवीन्द्र को अपना खिताब लौटाने को मजबूर करती है, यह वस्तुत: एक सोची-गुनी निश्चित योजना—स्वराज्य की योजना—का परिणाम है।

और साहित्यकार भी तब चुप नहीं बैठता। प्रेमचन्द्र, इक़बाल आदि की प्रेरणाएँ, चकबस्त और मैथिलीशरण गुप्त की अनुचेतनाएँ तभी रूप धारण करती हैं और राजनीतिक लड़ाई में स्वर फूँकता साहित्यकार तिलक की सज़ा पर देश के लड़ाकों को सावधान करता है—

शोरे-मातम न हो झंकार हो ज़ंजीरों की,
चाहिए क़ौम के भीषम को चिता तीरों की !

क़ौम की नस पकड़ी है कवि ने, साहित्यकार ने उसके चढ़े तेवर पहचाने हैं और उसकी आवाज़ ख़ल्क़ की आवाज़ बन जाती है—

हों ख़बरदार, जिन्होंने ये अज़ीयत दी है,
कुछ तमाशा ये नहीं, क़ौम ने करवट ली है ?

साहित्यकार क़ौम की वह करवट पहचानता है और अपनी फ़ौलादी कलम से आज़ादी के दुश्मनों की रूह चीरता चला जाता है, लेखनी से आग उगलने लगता है। गणेश शंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' की नीति-प्रतिज्ञा में भारतेन्दु की विद्रोही गूँज है और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की पौरुषपूत, कर्मठ वाणी ईसाई नबियों की चुनौती को तिरस्कृत कर देती है। साहित्य सामाजिक प्रेरणाओं और राजनीतिक आन्दोलनों की नसों का रक्त बन जाता है, उसका सक्रिय पिंडस्थ अनुवर्ती है।

फिर राजनीति कुछ काल के लिए शिथिल हो जाती है, स्वाभाविक ही! और साहित्य भी उसका अनुवर्ती होने के कारण निष्प्राण हो उठता है। वह अन्तर्मुख हो जाता है। उस की लेखनी की पैनी नोक सामाजिक दृष्टि से कुन्द हो जाती है, साहित्यकार के तीर तरकश में लौट आते हैं और जब वह उन्हें निकालता है तब बजाय उसका काकपत्र पकड़ने के वह नोक पकड़ता है और कमान की रस्सी चाहे वह कितनी ही क्यों न ताने, उसका तीर न तो दूर जाता है, न निशाने पर चोट कर पाता है; निशाना तो उसका कोई है ही नहीं!

राजनीति और साहित्य किस मात्रा तक एक-रस हैं, यह इससे सिद्ध है। आज़ादी के लड़ाके जब लौटते हैं तब साहित्य भी शिथिल हो जाता है और साहित्यकार अपने पलायन की ग्लानि में 'निज' को खोजते हैं—कभी के ऊर्जस्वित और क्रियापरायण अरविन्द के विराग में साँस लेने लगते हैं; आत्मविस्मृति से पराभूत, राग से रंजित, पिंड-तत्व से वंचित वे उच्छ्वास में, रुदन में, अनुपम निष्क्रियता में, पलायन के पराक्रम में अपनी सिद्धि मानते हैं। उन्हें, उन सब कुछ हारे हुओं को, पिंड (शरीर) के लिए प्रयास भौतिक-स्थूल और एतदर्थ ओछा लगता है, उनका चिन्तन अब उसके लिए है जो पिंड से—उदर की माँग से—परे है, स्थूल से परे है, सूक्ष्म है, निराकार है, निर्गुण, रूपहीन, अपरिमित, अपरिमेय है—अनन्त मदिर, सुकुमार शब्दाडम्बर मात्र यद्यपि!

पर एक तबक़ा लेखकों का फिर भी है जिसे अपने सावधि का बोध है; जो पिंड को घेरने वाले शून्य को देख कर भी 'पिंड' को भूलता नहीं। जानता है कि शून्य का बोध भी उसी स्थूल से होता है और कि जीवन 'पिंड' की परम्परा में है, उसी की परिधि में साकार हुआ है और उसकी निजता को क़ायम रखने के लिए स्वयं 'पिंड' को क़ायम रखना होगा, कि पिंड को क़ायम रखने के लिए, स्वतंत्राचरण के लिए आज़ादी अनिवार्य है और कि वह आज़ादी चूँकि कोई दूसरा उसे नहीं देगा, वह फ़िलिस्टीन का आचरण नहीं करेगा। पीठ की लगी

धूल को झाड़ कर वह फिर अखाड़े में जा उतरेगा और अपनी हार को जीत में बदल देगा, क्योंकि 'अजगर करे न चाकरी' उसका इष्ट नहीं।

इस तबक़े को पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, नरेन्द्र और बच्चन का साहित्य भी, जो अधिकतर इस मध्यवर्ती युग की देन है, सर्वथा अग्राह्य नहीं। उसमें भी उसने माधुर्य, पदलालित्य, सुकुमार और कोमल भाव-गुंफन—'लेतर-पोलीत' के प्रतिमान—पाये हैं, शुद्ध अतीत की सीमाओं से उसका विद्रोह उसने प्राणों की तरह सँजोया है और पन्त के प्रकृति-बोध के उदार अंचल की हवा और गाँव की सद्य: लेखनीकर्षित भूमि से उठती सुरभि से तो उसने अपने नथुने भरे हैं। निराला की शक्तिम, पंक्ति की परिधि में न समा सकने वाली महाप्राणता को तो उसने अपने व्रत का मंगल ही माना है। महादेवी के शब्द-चयन, नरेन्द्र शर्मा की मिठास यहाँ तक कि बच्चन की रागमयी, पर व्यथित जीवन से भी उसका उल्लासमय भाग ले लेने की प्रवृत्ति का वह स्वागत करता है। लेखकों का वह तबक़ा उस बीच के कोमल-पर्दीय साहित्य को भी 'क्लासिकल' के साथ ही अपनी विरासत, अपनी परम्परा की 'अक्षय-नीवी' में डाल लेता है।

लेखकों का यह दल अपने चारों ओर देखता है। उसका साबधि मृतप्राय: है। ग्लानि, विमर्ष और विद्रोह पैदा करने वाला वह कुछ करेगा, वरना अगर वह लेखक है तो वह अपने आदर्श से वंचित है, पथभ्रष्ट है, लक्ष्यान्ध है। वह जानता है कि उसके सूत ढीले भर हो गये हैं, टूटे नहीं; दृष्टि लुप्त भर हो गयी है; उसे दिशा-भ्रम मात्र हुआ है सो वह मरीचिका के पीछे दौड़ता रहा है—और अब वह अपने सूत खोज कर बटोर लेगा, अपने पुरातन संकल्प और जन-श्रेयस्कर साहित्य के राजमार्ग पर आरूढ़ हो दिशाओं को पहचान लेगा, उषा के प्राची गगन की ओर रजनी के श्यामल अंचल को भेद कर क्षितिज पर उगने वाले अरुण की ओर मुँह करेगा, पच्छिम की ओर पीठ, क्योंकि वह जानता है कि वह प्रकाश के डूबने की दिशा है, कि उसकी अत्यन्त पावन परम्परा ने उधर पीछे की ओर रुख़ करने से उसे आगाह किया है—

मा मा प्रापत्प्रतीचिका !

सावधान, कहीं पच्छिम की प्रतिगति की दिशा में न भटक पड़ना, वह मरीचिका की राह है!

और लेखक की इसी नयी चेतना में जन्म होता है प्रगतिशील आन्दोलन का, बोधिसत्व का, जो अपनी साहित्यिक अनन्त परम्परा के बुद्ध को मस्तक

झुकाता हुआ भी इस नवीन चेतना के बोधिसत्व के महायान को सरबस मानता है, अर्हत की एकाकी स्वार्थपर परम्परा को ओछा, हीनयाना ! अपने आनन्द और उल्लास को अर्हत की भाँति वह अकेला नहीं भोगना चाहता। वह जन-जन को उस अपनी रागमयी, विद्रोहमयी, कल्याणमयी अनुभूति का भागी बनायेगा ! वह तब तक निर्वाण नहीं लेगा जब तक इस धरा का एक प्राणी भी अनिर्वाण रह जायेगा!—यही उसका संकल्प है। रवि ठाकुर और प्रेमचन्द की राह का वह राही है और यद्यपि 'नवीन' अब उसके साथ नहीं, 'नवीन' की तपपूत, साधना-संचित पहले की ओजस्वी वाणी उसके संकल्प-स्वर में लय हो चुकी है।

देश भर के नौजवान साहित्यिक, देश में, विदेश में, इस नव-चेतना के स्वर सुनते हैं और एक नये प्रगतिशील, जन-प्रवण आन्दोलन का सूत्रपात करते हैं। १६३६ में लखनऊ में सर्वहारा मानव का साहित्य लिखने वाले महामना मुंशी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में प्रगतिशीलों का पहला सम्मेलन होता है और प्रगतिशील साहित्य के निर्माण के लिए, प्रगतिशील आन्दोलन के लिए, प्रगतिशील-लेखक-संघ की नींव पड़ जाती है।

साल-दो साल में साहित्य का देश-व्यापी आन्दोलन खड़ा हो जाता है, प्रान्त-प्रान्त में उसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ खुल जाती हैं और कवि, कहानीकार, नाटककार, गद्यकार—एक मन-एक प्राण हो कालिदास-तुलसी के बीन में अपनी आवाज़ भरते हैं। दूसरे प्रगतिशील सम्मेलन की अध्यक्षता स्वयं रवीन्द्र स्वीकार करते हैं और कलकत्ते के उस १६३८ के सम्मेलन में संघ अपना नवजागृति-संज्ञक जनहिताय-जनसुखाय साहित्य-निर्माण का संकल्प अपने घोषणा-पत्र में इस प्रकार प्रसारित करता है—

> "भारतीय समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। प्रतिक्रिया-वाद की आत्मा का अन्त यद्यपि अनिवार्य है और वह कुण्ठित भी हो चुकी है, फिर भी वह सक्रिय है और अपनी उम्र बढ़ाने की निरन्तर कोशिश कर रही है। क्लासिकल युग के अन्त के बाद भारतीय साहित्य की प्रवृत्ति जीवन की वास्तविकता से मुँह फेर लेने की रही है। यथार्थता से भाग कर उसने निराधार अध्यात्मवाद और आदर्शवाद की शरण ली है। फल यह हुआ है कि उसके शरीर का रक्त सूख गया है, उसका मानस निष्प्राण हो गया है और उसने पंजर-बद्ध रूप और जड़वादी विचार पद्धति स्वीकार कर ली है।

भारतीय लेखकों का यह कर्त्तव्य है कि भारतीय जीवन में होने वाले परिवर्तनों और देश की प्रगति की स्पिरिट और वैज्ञानिक बुद्धि का अपने साहित्य में प्रकाश करें। उन्हें साहित्यिक आलोचना की प्रवृत्ति विकसित करनी चाहिए क्योंकि वही प्रवृत्ति परिवार, धर्म, नर-नारी, युद्ध और समाज-सम्बन्धी प्रतिक्रियावादी-अतीतवादी प्रवृत्तियों से सफल लोहा लेगी। जितनी भी साम्प्रदायिक, विद्वेषी और मानव के शोषण की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ हैं, भारतीय लेखक उनका प्रतिकार करेंगे।

हमारे संघ का उद्देश्य उन रूढ़िवादी वर्गों से साहित्य और कलाओं की रक्षा करना होगा, जिनके हाथ में वे अब तक घिनौनी बनती रही हैं। उन्हें हमें जनता के मन-प्राण के निकट लाना होगा, उन्हें इतना सजीव बनाना होगा कि वे जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त कर सकें और हमें हमारे अभिप्रेत आदर्श तक पहुँचा सकें।

अपने को भारतीय सभ्यता की समुन्नत और उदात्त परम्पराओं का वारिस मानते हुए हम देश के प्रतिक्रियावादी सभी विचारों की उत्कट आलोचना करेंगे और हम (देशी-विदेशी दोनों साधनों से) व्याख्यात्मक और सृजनात्मक रचनाओं द्वारा वह सब कुछ करेंगे जिससे हमारा देश अपने अभिमत नवजीवन को प्राप्त कर सके। हमारा विश्वास है कि भारत का नया साहित्य तभी सफल और सार्थक होगा जब वह हमारी आज की समस्याओं का हल ढूँढ़ेगा—भूख और दरिद्रता, सामाजिक अवनति और राजनीतिक गुलामी की समस्याओं का हल! जो भी हमें परमुखापेक्षी, निष्क्रिय और तर्कहीन बनाता है, वह सभी हमारे लिए प्रतिक्रियात्मक है और जो भी हम में आलोचनात्मक प्रवृत्ति जगाता है, जो बुद्धि और तर्क के प्रकाश में संस्थाओं और परम्पराओं की समीक्षा करता है, जो भी हमें सक्रिय बनाता, परस्पर संगठित करता है, हमें बदल कर समुन्नत करता है, उस सबको हम प्रगत्यात्मक मानते हैं।"

(कलकत्ता, दिसंबर २४-२५, १९३८)

कहना न होगा कि पहली बार इस देश के इतिहास में किसी साहित्यिक संस्था ने साहित्य और जन-जीवन के सम्बन्ध में अपनी मान्यता और दायित्व की

घोषणा अद्भुत शक्ति और स्पष्ट भाषा में की। आन्दोलन का अगले वर्षों का इतिहास इस घोषणा की मान्यताओं के सर्वथा अनुकूल है। पहली बार इस देश की इस साहित्यिक संस्था ने सामाजिक ईतियों से लोहा लेने का यत्न किया। अकाल और भुखमरी, साम्प्रदायिक झगड़ों और राजनीतिक ज़ुल्म के ख़िलाफ़ पहली बार साहित्य के क्षेत्र में आवाज़ उठी। 'अकाल से लड़ने के लिए सांस्कृतिक कार्यकर्त्ताओं की समिति' बम्बई के हिन्दी-उर्दू प्रगतिशील लेखकों ने बनायी और बड़ी लगन से काम किया। देश-विभाजन के बाद जब भारत और पाकिस्तान के नगरों में मार-काट मची और भाई ने भाई का गला काटना शुरू किया तब न केवल पहली बार, बल्कि लगातार मात्र प्रगतिशील लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा उससे लड़ाई की और साम्प्रदायिक घिनौनी प्रवृत्तियों का बड़े साहस से, ख़तरे के बावजूद सामना किया। कैफ़ी आज़मी का 'ख़ाना जंगी', अश्क का 'तूफ़ान से पहले' और 'टेबल लैण्ड' अब्बास का 'अजन्ता' सज्जाद ज़हीर का 'साण्डर्स्ट रोड', कृशन चन्दर का 'हम वहशी हैं', अमृतलाल नागर का 'महाकाल', रामानन्द सागर का 'और इन्सान मर गया' और इस प्रकार की अनेक रचनाएँ हिन्दी, उर्दू, बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, उड़िया, असमिया, तेलुगू, तमिल, कन्नड़, मलायलम में प्रकाशित हुईं। इन्हें प्रगतिशील केवल प्रगतिशील आन्दोलन में हिस्सा लेने वाले, लेखकों ने प्रस्तुत किया औ अपने इस लेखन के साधन से साम्प्रदायिकता के भक्तों और देश के दुश्मनों का पर्दा फ़ाश किया। पहली बार उस काल में साम्प्रदायिक झगड़ों के ख़िलाफ़ भारतीय लेखक ने संघ बना कर, उस अवसर पर उनके ख़िलाफ़ हस्ताक्षर युक्त घोषणा-पत्र निकाला।

प्रगतिशील आन्दोलन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य ग्राम-साहित्य को पुनरुज्जीवित करना रहा है। इधर सौ वर्ष के भीतर संसार के प्रधान साहित्यों ने प्राचीन ग्राम-साहित्य के प्रति विशेष अभिरुचि दिखायी है। फ़्रान्स, जर्मनी, इंग्लैंड, स्पेन, इटली और विशेषकर नार्वे और रूस में इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न हुए हैं। पूर्वी प्रजातन्त्रों ने तो न केवल ग्राम-गीतों आदि की खोज कर उनका पुनरुद्धार किया, वरन् उनको फिर से सृजन कर, राष्ट्रीय नृत्यादि द्वारा अपने नवरंग को एक नयी दिशा दी। भारत को भी उधर से यह दृष्टि मिली और उसे इस देश में प्रारम्भ और विकसित किया प्रगतिशील आन्दोलन ने। देश में, विशेषकर गुजराती और उसकी देखा-देखी हिन्दी में पुराने ग्राम-गीतों

को खोजने के कुछ प्रारम्भिक उद्योग हुए पर वे अधिकतर अवैज्ञानिक, प्रारम्भिक और इक्के-दुक्के प्रयत्न थे। प्रगतिशील आन्दोलन ने उस सम्बन्ध में सामूहिक, संगठित और वैज्ञानिक प्रयत्न किये। सब से पहले तो देश को वह दृष्टि देनी थी कि इस सम्बन्ध के विषयों को वह हेय न समझे, कि 'ग्राम' या 'ग्रामीण' और 'ग्राम्य' या 'गँवारू' दो चीज़ें हैं, कि वे हमारे राष्ट्रीय जीवन के स्फुरण और उल्लास हैं। उस आन्दोलन ने पहली बार असाधारण शिक्षितों को ग्राम-गान-नृत्यादि को पुनरुज्जीवित करने के कार्य में दीक्षित किया। हमारे गाँवों की खोयी हुई, तथाकथित आभिजात्य के अभिशाप से मरी कला फिर जी उठी। आन्दोलन ने देखा कि खोज से साँस हाथ आ सकती है, पर जब तक उसमें प्राण की धारा नहीं बसेगी, नहीं बहेगी, साँस जी कर भी फिर निश्चय मर जायेगी और इसीलिए प्रगतिशीलों ने भारतीय जन-नाट्य-संघ की नींव डाली और उसके प्रदर्शनों से देश की दिशाएँ गुँजा दीं। जन-नाट्य-संघ (या जिसे साधारणतः 'इप्टा' कहते हैं) ने खोज को मरने न दिया और जिन्होंने कभी उसके रंगमंच पर प्रदर्शन देखे हैं, वे चकित रह गये हैं, उसकी शक्ति वे जानते हैं। पहली बार हमारी जीवित कला ने फूहड़ पारसी और शब्द-बोझिल, अवास्तविक आधुनिक नाटकों के पार साँस ली। प्रान्तीय जनता के अपने-अपने 'बैलड' (गाथा) अपनी-अपनी ज़बान में उस नव-राष्ट्रमंच पर मुखरित हुए—आन्ध्रों की 'बर्र-कथा', मराठों का 'पवादा', बंगालियों का 'कविगन', मध्य देश वासियों का 'आल्हा' एक नयी आनबान, नया सौरभ, नयी शक्ति लिये हमारे रंग पर उतरे। हमारे उर्दू के क्रांतिकारी कवियों ने भुलाई 'मसनवी' से अपनी शायरी का रूप सँवारा। आज जो ग्राम-संस्कृति के नर्तन-गायन-अभिनय की इस देश में व्यापक गूँज सुन पड़ने लगी है, उस का एकमात्र श्रेय प्रगतिशील आन्दोलन को है। आभिजात्य साहित्य और उसके उसके तथाकथित प्रवर्तकों की ज़बान पर तो यदा-कदा इस ग्राम-कला की ओर संकेत उतर पड़ते थे, पर उसे छूते-देखते उनके हाथ गन्दे होते थे, उनकी आँखे शरमा जाती थीं। 'इप्टा' ने उनका अहंकार तोड़ एक नयी ताज़गी से भारतीय 'रंग' को तरोताज़ा कर दिया। प्रगतिशील आन्दोलन का यह सब से अधिक महत्वपूर्ण, सब से अधिक टिकाऊ कार्य है।

आन्दोलन के प्रवर्तकों ने फिर यह सोचा कि उन महाप्राण जीवन प्रदायक ग्राम-स्रोतों का पुनरुद्धार हो कर भी यदि नव-सृजन से उनको योग न दिया जाय तो स्रोत स्वाभाविक ही सूख जायेंगे और उन्होंने, उनके आन्दोलन की सच्चाई

और अनिवार्य प्रभाव ने, नव कवि सिरज दिये। अनेक उदीयमान कवि जन-बोलियों में, खड़ी बोली में भी नव-राष्ट्र, नव-जागरण, नव-जीवन के गीत गाने लगे। मरे हुए हीर-राँझा जागे, पर साथ ही आज के हीर-राँझा भी, अनुराग के नये मान-प्रतिमान भी कजरी, बरवै, बिरहे, सोहर, और अनन्त राग-सम्पदा में सँवरे और मुखर हुए। बनारस-मिर्ज़ापुर और अवध के गँवई के चुटीले गीत गुमराह राजनीति पर भी चुटीले प्रहार करने लगे। जन-कवियों की वाणी में न निराशा थी, न पलायन था, न कुण्ठा थी। उनके राग में धरा का कम्पन था, तूफ़ानी समुन्दर के तेवर थे, वज्र की चोट थी। जन-कवियों का वह काफ़िला आज भी अपनी मंज़िल की ओर सचेष्ट बढ़ा जा रहा है, शालीन गजराज की तरह, जो उसकी राह में 'भौंकने वालों' की कमी नहीं रही है और उन्होंने अपने अहंकार में यहाँ तक कह डाला है कि हमने उस ऐरावत को फूँक से उड़ा दिया है।

सन् ४३ और ४७ के बीच अनेक प्रगतिशील पत्र भी निकले—बंगला में 'परिचय', हिन्दी में 'नया साहित्य', उर्दू में 'नया अदब', गुजराती में 'संस्कार', तेलुगू में 'अभ्युदय' आदि......

सन् ४२ में दिल्ली में प्रगतिशील लेखक संघ ने फ़ाशिस्त-विरोधी लेखकों का सम्मेलन बुलाया और उसमें कृशनचन्दर के साथ-साथ 'अज्ञेय' तक शामिल हुए। लेखकों ने अपना दायित्व समझा और अपना फ़ाशिस्त विरोधी मोरचा तैयार किया। उसी सत्यानाशी दूसरे महासमर के खिलाफ़ आन्दोलन ने बम्बई में दो-दो कान्फ्रेंसें कीं, फिर सन् ५३ में लेखकों के दायित्व के सम्बन्ध दिल्ली में अखिल भारतीय लेखकों की कान्फ्रेंस हुई।

उस बीच उर्दू और हिन्दी प्रगतिशील लेखकों के सम्मेलन हैदराबाद और इलाहाबाद में हुए। अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन इलाहाबाद में सितम्बर १९४७ में हुआ। अनेक दृष्टियों से सम्मेलन असाधारण महत्व का था। उद्घाटन उसका अमरनाथ झा ने किया, भदन्त आनन्द कौसल्यायन उसकी स्वागत-समिति के अध्यक्ष थे, महापंडित राहुल सांकृत्यायन उस सम्मेलन के प्रधान थे। पन्त, बच्चन आदि हिन्दी के प्रमुख कवियों ने उसके आयोजित कवि-सम्मेलन में भाग लिया, उर्दू के अनेक शायरों की आवाज़ सभा पर छा गयी। पर इससे भी अधिक महत्व की बातें वहाँ हुईं—जन कवि-सम्मेलन, उर्दू लेखकों का संदेश, सम्मेलन की घोषणा, सम्मेलन में पास किये गये प्रस्ताव।

पहली बार देश में जन-कवि-सम्मेलन हुआ। स्वाभाविक था कि जहाँ आभिजात्य साहित्यकार छुआ-छूत के विचार से जन-कवियों से दूर रहें वहाँ अपना कर्त्तव्य समझते हुए प्रगतिशील आन्दोलन जन-बोलियों के महान् कृतिकारों—जायसी, सूर, तुलसी के उन प्रतिनिधियों—का अभिनन्दन और सम्मेलन करे। और जिन्होंने वह जन-कवि-सम्मेलन देखा, वे भूल नहीं सकेंगे, किस प्रकार हमारे दिग्गज कवियों और प्रगतिशील गायकों सुमन और केदार के स्वरों के ऊपर भी इन जन कवियों की आवाज़ उठ कर छा गयी थी। खेम सिंह नागर सभापति थे। वंशीधर शुक्ल ने अवधी में, 'मूढ़' जी और साहेब सिंह मेहरा ने ब्रज बोली में, गंगाशरण पांडे, रामकेर और धर्मराज ने भोजपुरी में, श्री नन्दन और बैजनाथ कुम्हार ने मुंगेरी-मगही में, नवलपुरी ने वज्जिका (मुज़फ़्फ़र पुरी) में, विजय जी ने मैथिली में, अधिक लाल ने भागलपुरी (अंगिका-मगही) में और कानपुर के मजूर कवि सुदर्शन ने कानपुरी आल्हा में अपनी रचनाएँ पढ़ीं। सम्मेलन उमँग गया। सम्मेलन के आयोजन ने ग्राम-साहित्य के कृतित्व में चार चाँद लगा दिये।

उर्दू लेखकों ने सज्जाद् ज़हीर और सरदार जाफ़री द्वारा जो संदेश-पत्र भेजा उसके कुछ अंश इस प्रकार थे—"ऐसे वक्त पर—जब अभागे साम्प्रदायिक मतभेदों ने हिन्दू-मुस्लिम जनता के बीच न केवल द्वेष की दीवार खड़ी कर दी है, बल्कि एक बनावटी विभाजन द्वारा देश की एकता को नष्ट कर दिया है, मुस्लिम बस्तियों को भारतीय राज-संघ से विलग कर दिया है, उर्दू और हिन्दी के पोषकों के बीच के साहित्यिक झगड़े ने राजनीतिक रूप धारण कर लिया है—ऐसे वक्त पर हमें फिर भी गर्व है कि इस समूचे देश में केवल प्रगतिशील-लेखक-संघ ही एक सांस्कृतिक संस्था है जिसमें साम्प्रदायिक विद्वेष के लक्षण कभी पैदा नहीं हुए और जिसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखक संयुक्त रूप से जनता का साहित्य प्रस्तुत करने का कार्य कर रहे हैं। इससे हमें विश्वास है कि हिन्दी के प्रगतिशील लेखक बिना पूर्वाग्रह और पक्षपात के राष्ट्रीय और राजकीय भाषा के पेचीदे प्रश्न पर विचार करेंगे और कभी वे पूर्वाग्रह या साम्प्रदायिक कठमुल्लापन द्वारा हिन्दी-उर्दू की कुछ साहित्यिक संस्थाओं के लेखकों की तरह अपने निर्णय को ग्रस्त नहीं होने देंगे।

"हम हिन्दी और उर्दू के प्रगतिशील लेखकों का राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता में दृढ़ विश्वास है और हम हिन्दी और उर्दू को हिन्दुस्तान की और

पाकिस्तान की भाँति एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। चाहे हमारे देश का भौगोलिक बँटवारा हो गया है, पर हम अपनी संस्कृति, भाषा और साहित्य का 'बँटवारा' नहीं करेंगे, क्योंकि हम जानते हैं कि सांस्कृतिक बँटवारा राजनीतिक बँटवारे से कहीं अधिक घातक होगा और हमारी सम्मिलित संस्कृति और जीवन पर मर्मान्तक चोट करेगा।"

इस संदेश पर निम्नलिखित प्रसिद्ध उर्दू लेखकों के अतिरिक्त औरों के भी हस्ताक्षर थे—जोश मलिहाबादी, सागर निज़ामी, कृशनचन्दर, महेन्द्रनाथ, विश्वामित्र आदिल, मधुसूदन, ख़्वाजा अहमद अब्बास, इस्मत चुग़ताई, मुमताज़ हुसेन, कैफ़ी आज़मी, सरदार जाफ़री......

स्वयं प्रयाग के उस सम्मेलन ने अपनी जो घोषणा प्रसारित की वह अत्यन्त उदार, प्रगतिप्रवण, साम्प्रदायिकता विरोधी और साहसपूर्ण थी। किसी भारतीय साहित्यिक संस्था ने कभी अपने दायित्व की घोषणा ऐसी भाषा या निष्ठा से नहीं की। वह, ज्यों का त्यों, इस प्रकार है—

"हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों का यह सम्मेलन ऐसे अवसर पर हो रहा है जब कि एक ओर हम शताब्दियों की पराधीनता से मुक्त होकर देश के नवनिर्माण की ओर बढ़ रहे हैं तो दूसरी ओर परस्पर विद्वेष और हिंसा का ऐसा ताण्डव भारत की इस धरती पर हो रहा है, जैसा उसके लम्बे इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ। प्रगतिशील-लेखक-संघ जो अपने जन्मकाल से ही सामाजिक और राजनीतिक पराधीनता से लोहा लेता रहा है, स्वाधीनता के इस अवसर पर जनता का अभिनन्दन करता है और अब इस बात पर हर्ष प्रकट करता है कि वह अब जनता के सांस्कृतिक विकास में अधिक सहयोग कर सकेगा। इसके साथ ही हम इस बात की ओर सभी हिन्दी लेखकों का ध्यान आकर्षित करते हैं कि साम्प्रदायिक दंगों के कारण नयी संस्कृति का निर्माण-कार्य ही नहीं, बल्कि अब तक की जितनी सांस्कृतिक संपत्ति हमने अर्जित की है, उसके लुट जाने का भी ख़तरा है।

"आज अपनी भाषा और साहित्य की तमाम उदार परम्पराओं को भुला कर कुछ लोग साहित्य और संस्कृति को जाति, धर्म, मत और सम्प्रदाय की सीमाओं में बाँध देना चाहते हैं। हम समझते हैं कि अपनी भाषा और साहित्य का आदर करने वाले हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उनकी उदार सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा करे। प्रगतिशील लेखक सबसे आगे बढ़ कर इस

साम्प्रदायिक आग का सामना करेंगे। उसके बिना देश के नवनिर्माण और जनता के सांस्कृतिक विकास की समस्या कभी हल नहीं हो सकती।

"हम जानते हैं कि दो सौ साल की साम्राज्यवादी गुलामी की विरासत एक दिन में ख़त्म नहीं हो सकती। देश में ऐसी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ हैं जो स्वतन्त्र भारत में जनता के अभ्युत्थान को अपने लिए सबसे बड़ा संकट समझती हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि साम्राज्यवाद ने अपनी जड़ जमाये रखने के लिए ही इनकी सृष्टि की थी और प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक स्वाधीनता देने पर भी साम्राज्यवाद आशा करता है कि इन सहयोगी शक्तियों के भरोसे वह हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर पहले की ही भाँति अपना प्रभुत्व क़ायम रख सकेगा। देश की जनता के अपार बलिदान और लम्बे संघर्ष के बाद जो स्वाधीनता हमने पायी है, उसके फलों से वह हमें वंचित रखना चाहता है। यही शक्तियाँ खेत का अन्न भूखी जनता के मुख तक नहीं पहुँचने देतीं। यही शक्तियाँ तन ढकने के लिए ग़रीब जनता तक मिल का कपड़ा नहीं पहुँचने देतीं। यही शक्तियाँ साम्प्रदायिक आग को धधकाने में नितान्त हृदय-हीनता से अपने सम्पूर्ण साधनों का उपयोग कर रही हैं। साहित्य के क्षेत्र में प्रेस और प्रचार के तमाम साधनों पर अधिकार जमा कर वे लेखकों की स्वतन्त्रता और जनवाद की भावनाओं को दबा देना चाहती हैं। प्रगतिशील लेखक इस बात का बीड़ा उठाते हैं कि निरन्तर और संगठित प्रयोग से इन तमाम शक्तियों का विरोध करेंगे। उनके प्रभाव से कला, साहित्य और संस्कृति का विनाश करने वाली जो प्रवृत्तियाँ फिर सिर उठा रही हैं और जो हमारी जनता में विद्वेष और निराशा की भावनाएँ भर कर उसे मध्य युग की ओर ठेल देना चाहती हैं, इन सब प्रवृत्तियों का भी हम डट कर सामना करेंगे।

"हमें विश्वास है कि देश में जनता की राष्ट्रीय सरकार संस्कृति के निर्माण-कार्य में अपनी पूरी शक्ति लगायेगी और इस तरह के सभी कार्यों में उस से सहयोग करना हम अपना कर्तव्य समझेंगे। हम समझते हैं कि देश की निरक्षरता को दूर किये बिना यह सम्भव नहीं है कि हम जनता के सांस्कृतिक धरातल को ऊँचा कर सकें। इसके लिए हम सभी हिन्दी लेखकों से अपील करते हैं कि वे साक्षरता बढ़ाने और जनता के सांस्कृतिक धरातल को ऊँचा करने में सबसे आगे बढ़ कर हिस्सा लें। इसके बिना हमारा साहित्य सम्पूर्ण जनता का साहित्य नहीं बन सकता और वह देश के नवनिर्माण में अपनी महान ऐतिहासिक भूमिका भी पूरी नहीं कर सकता।

हमारी भाषा और साहित्य ने बड़े-बड़े कठिन संघर्षों का सामना किया है। उसमें उतनी जीवन-शक्ति है कि उसे आज की विषम परिस्थितियों पर भी विजय मिलेगी। स्वाधीनता की वेदी पर अनेक शहीदों के रक्त बहने से जो स्वाधीनता हमें मिली है, उसके फलों से हमें कोई वंचित नहीं रख सकता। देश में एकता और जनतंत्र स्थापित करने में हिन्दी के लेखक कभी पीछे नहीं रहेंगे और प्रगतिशील-लेखक-संघ सभी दलों, सभी पार्टियों का आह्वान करता है कि वे संघ में आयें और इस कार्य में हमारा हाथ बटायें।

हमें विश्वास है कि इस प्रकार सबके सम्मिलित प्रयत्न से हम हिन्दी के नये साहित्य को भी विश्व-बन्धु तुलसी और सूर की महान परम्परा के योग्य बना सकेंगे।"

पहला प्रस्ताव यही ऊपर उद्धृत घोषणा पत्र था। दूसरे प्रस्ताव द्वारा राजनीतिक दल से प्रगतिशील-लेखक-संघ की स्वतंत्रता घोषित की गयी, तीसरे द्वारा लेखकों के अधिकारों पर प्रकाश डाला गया।...सातवें प्रस्ताव में उर्दू गद्य-पद्य का हिन्दी में अनुवाद करने की योजना रखी गयी। आठवें में राष्ट्रीय सरकार का स्वागत हुआ। नवाँ प्रस्ताव बोलियों के सम्बन्ध में था, दसवाँ सेन्सर के सम्बन्ध में, ग्यारहवाँ दमन के सम्बन्ध में और बारहवाँ राजबन्दियों की रिहाई के सम्बन्ध में। इस प्रकार साम्प्रदायिक भ्रातृवध से लहू उगलती पंजाब की भूमि पर एक प्रतिनिधि-मंडल भेजने के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव पास हुआ। करीब पच्चीस प्रस्ताव इस प्रकार के जीवन से निकट सम्बन्ध रखने वाले मसलों पर स्वीकृत हुए।

और यह सम्मेलन इलाहाबाद में तब हुआ जब चारों ओर साम्प्रदायिक दंगों की ज्वाला धधक रही थी। रात में कर्फ्यू था, दिन में भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे, पर सम्मेलन ने अपना दायित्व पूरा किया और समय की आवश्यकताओं के अनुकूल उचित और साहसपूर्ण निर्णय लेकर भारतीय लेखकों को मानवीय-राष्ट्रीय दिशा दी।

इसी साम्प्रदायिक कठमुल्लेपन का अभी देश शिकार था कि लखनऊ में उससे लड़ने के लिए प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन सन् ४६ में हुआ। इधर हिन्दी प्रगतिशील-लेखक-संघ का अधिवेशन सन् ५२ में फिर प्रयाग में हुआ। उसके अध्यक्ष-मंडल में अब्दुल अलीम, यशपाल और भगवत शरण-उपाध्याय थे। स्वागताध्यक्ष उपेन्द्रनाथ अश्क थे! अनेक लेखक, पत्रकार,

यूनिवर्सिटियों के शिक्षक आदि लगन के साथ उसमें सम्मिलित हुए। जयचन्द्र-विद्यालंकार, सुमित्रानन्दन पन्त और सरदार जाफ़री ने अपनी शुभकामनाएँ दीं। बृहद् कवि सम्मेलन में हिन्दी और उर्दू के सभी प्रतिष्ठित और नये कवियों ने भाग लेकर अपनी अस्था प्रकट की। नरेन्द्र शर्मा और अब्दुल अलीम उसके प्रधान थे।

सम्मेलन में बदस्तूर बहसें हुईं, भाषण हुए, प्रस्ताव रखे गये, रिपोर्टें पढ़ी गयीं। रात में नाट्य-संघ ने अपने प्रदर्शन किये। उस सम्मेलन के सम्बन्ध में भी प्रगति-विरोधी और प्रतिक्रिया-पोषक तथा कुछ भटके हुए लेखकों ने झूठी अनुदार खबरें पत्र-पत्रिकाओं में छापीं और अपनी इच्छित भावनाओं को रूप देने के प्रयास किये। उनकी प्रतिक्रिया इतनी प्रखर हो चुकी है कि जब सारा संसार साम्राज्यवादी औपनिवेशीकरण के ख़िलाफ़ आवाज़ उठा रहा है, सारी उदार शक्तियाँ जन-जीवन के पक्ष में साधना कर रही हैं, हमारे वे प्रतिक्रियावादी लेखक साम्राज्यवादी शक्तियों के लेखकों से साझा कर इस देश की उदार स्वतंत्रचेता प्रगतिशीलता पर घिनौनी, फूहड़, ईर्ष्यालु और गन्दी चोटें किये जा रहे हैं। उनका अहंकार इस क़दर सीमा से बाहर निकल गया है कि वे यह भी कहते नहीं चूकते कि उन्होंने प्रगतिशील आन्दोलन को ख़त्म कर दिया है। वे इतना भी नहीं समझते कि प्रगतिशील आन्दोलन का सम्बन्ध प्रकाश और जीवन से है। धरा पर यदि प्रकाश और जीवन रहे तो निश्चय उदार और जन प्रवण साहित्य प्रस्तुत होता रहेगा। किसी से छिपा नहीं कि जहाँ उनके आलोचक ग़लत राहों पर चले गये और नित्य चले जा रहे हैं, वहाँ आज भी प्रगतिशील आलोचक साहित्य के संतरी बने, उचित की रक्षा और अनुचित का निवारण करने में सचेष्ट हैं और रहेंगे।

प्रगतिशील आन्दोलन का इतिहास इधर के भारतीय जीवन का इतिहास है। उसके सांस्कृतिक और साहित्यक पहलुओं के निर्माता आज भी अपनी लेखनी धुआँधार चलाये जा रहे हैं, नित्य नये उदीयमान साहित्यकार उनकी पंक्ति में खड़े हो रहे हैं और उस पंक्ति का कभी अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसका मूल्य जीवन के स्रोत से अभिसिक्त है।

रामविलास शर्मा

संस्कृति और जातीयता

संस्कृति एक व्यापक शब्द है। उसके अन्तर्गत मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान—ये सभी आ जाते हैं। ब्रह्म की तरह संस्कृति व्यक्त और अव्यक्त दोनों है। वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्य, अजन्ता और एल्लोरा का शिल्प, स्थापत्य और चित्रकारी, त्यागराय और तानसेन का संगीत, ये सब संस्कृति के अंग हैं और वह उल्लास जो दीपावली के प्रकाश में फूट पड़ता है, वह शूरता जो १८५७ और १९४६ के विद्रोहों में प्रकट हुई थी, शांति और न्याय का वह प्रेम जो आज कोटि-कोटि भारतीय जनता को सोवियत और चीन के साथ विश्व-शांति की रक्षा के लिए आगे बढ़ा रहा है, यह सब भी संस्कृति का अंग है।

अपने सुदीर्घ जीवन में मनुष्य ने ऐसी सांस्कृतिक निधि अर्जित की है जो मानव-मात्र की संपत्ति है। बच्चों से प्यार, नारी जाति का सम्मान, मनुष्य-मात्र की समानता का भाव आदि आज सम्पूर्ण मानव-संस्कृति की थाती हैं। इसके साथ पच्छिम और पूर्व की, यूरोप और एशिया की, भारत और ब्रिटेन की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं। अपनी प्राचीनता पर गर्व, पूर्व और एशिया की एक सांस्कृतिक विशेषता है। साहित्य में यथार्थवाद का विकास ब्रिटेन की एक सांस्कृतिक विशेषता है। अनेक विभिन्नताओं में एकता की अनुभूति—यह भारत की सांस्कृतिक विशेषता प्रसिद्ध है। देशों और महाद्वीपों के साथ वर्गों की अपनी संस्कृति भी होती है। विलासप्रियता, निष्क्रियता, अलंकार प्रेम, साहित्य में चमत्कारवाद—हर देश में सामन्तवर्ग की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ रही हैं।

मनुष्य का सांस्कृतिक विकास उसके सामाजिक जीवन से ही सम्भव हुआ है। मानव-संस्कृति मानव-जीवन से भिन्न नहीं है। मनुष्य ने अपना मानवत्व

सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त किया है। यह सामाजिक जीवन सदा एक रूप में संगठित नहीं हुआ। भारत में जिस व्यवस्था से लोग बहुत दिनों से परिचित हैं, वह वर्ण-व्यवस्था है। इसे धार्मिक ग्रंथों में ईश्वरकृत भी माना गया है। लेकिन आज भी देश में ऐसे अनेक जन रहते हैं जो पहाड़ों और जंगलों में कबीलों का संगठन बना कर जीवन बिताते हैं और जिनमें वर्ण-व्यवस्था नहीं है। समाज शास्त्र के अनुसार कबीलों का यह संगठन, विकास क्रम में वर्ण-व्यवस्था से पहले आता है। हम लोग समझते हैं कि वर्ण-व्यवस्था हमारे देश की विशेषता है। वास्तव में हर देश का सामन्ती समाज मोटे तौर से चार वर्णों जैसे चार वर्गों में बँटा हुआ मिलता है। मिसाल के लिए चौसर के समय और उसके पहले का इंग्लैण्ड पुरोहितों, (क्लर्जी) भूमि के स्वामियों, (नाइट) सौदागरों (मर्चेन्ट) और ज़मीन जोतने वाले किसानों (सर्फ़) में बँटा हुआ था। व्यापार और उद्योग-धन्धों की बढ़ती के साथ यह व्यवस्था हर जगह टूटी है। जो लोग इस व्यवस्था से पीड़ित थे, उन्होंने इसके टूटने में सहायता की, जो प्राचीनता-प्रेमी और रूढ़िवादी थे, उन्होंने इस विनाश को कलियुग का अनाचार कहा। आज भी अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो भारत की विपत्तियों का मूल कारण यह मानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था से जनता की आस्था उठ गयी है। वे बड़ा प्रयत्न करते हैं कि पुरानी व्यवस्था फिर लौट आये, जितनी बची है, उतनी ही कायम रहे लेकिन जैसे-जैसे ज़मीन से सामन्ती प्रभुत्व उठता जाता है, वैसे-वैसे भूपाल और उसके साथी पुरोहित पर से वह पुरानी श्रद्धा भी उठती जाती है और उसकी जगह नये वर्ग-सम्बन्ध कायम होते जाते हैं। यह क्रम भारत में जातियों (नैशनैलिटी) के संगठन और उनके दृढ़ होने का क्रम भी है।

भारत में वर्ण-व्यवस्था का विरोध और उस व्यवस्था के टूटने पर आपत्ति—ये दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। कबीर के समय से ही ये दोनों बातें साहित्य में ख़ूब उभर कर आयी हैं। हिन्दी, बंगला, मराठी, पंजाबी, काश्मीरी आदि भाषाओं में भक्ति-आन्दोलन मनुष्य मात्र की समानता घोषित करने वाला एक व्यापक और शक्तिशाली आन्दोलन था। यह आन्दोलन वर्णों और मतमतान्तरों में बँटे हुए सामन्ती समाज की व्यवस्था के विरुद्ध था, और इस व्यवस्था के कमज़ोर होने से वह उत्पन्न हुआ था। ग़रीब किसानों, कारीगरों, सौदागरों आदि की सक्रिय सहानुभूति से उसका प्रसार हुआ था। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ धार्मिक कर्मकांड को महत्व देता था, वहाँ यह आन्दोलन प्रेम को भक्ति और मुक्ति का आधार मानता था। कबीर, तुलसी, सूर और जायसी

में सामान्य भाव-धारा इस प्रेम की ही है। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ म्लेच्छ और काफ़िर, द्विज और शूद्र के भेद को महत्व देता था, वहाँ भक्ति-आन्दोलन का मूल स्वर था—'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।' भक्ति-आन्दोलन श्रद्धा के मानदंड बदल रहा था, भूमि के स्वामी होने से तुम श्रद्धास्पद नहीं हो, श्रद्धा की कसौटी है प्रेम! उस कसौटी पर साधारण किसान बड़े-बड़े भूपतियों से श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है।

> झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जरे मद-अंबु चुचाते।
> तीखे तुरंग मनो गति चंचल पौन के गौनहुतै बढ़ि जाते॥
> भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति,बाहर भूप खड़े न समाते।
> ऐसे भये तो कहा तुलसी जु पै जानकीनाथ के रंग न राते॥

इसी तरह ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से या पुरोहिताई करने से तुम श्रद्धास्पद नहीं हो। असली कसौटी है प्रेम की, जहाँ शबरी, निषाद और 'जायो कुलमंगन' तुमसे श्रेष्ठ सिद्ध हो सकते हैं।

> जप, जोग, बिराग, महा मखसाधन, दान, दया, दम कोटि करै।
> मुनि सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस से सेवत जन्म अनेक मरै।
> निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै, तपसानल में जुग पुंज जरै।
> मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै?

इस तरह श्रद्धा की कसौटी बदल कर भक्ति-आन्दोलन ने सामन्तों और पुरोहितों के प्रभुत्व को भारी धक्का लगाया।

सामन्ती व्यवस्था में जहाँ नारी को विलास और केलि का साधन बना दिया गया—जिसका प्रतिबिम्ब दरबारी कवियों का नायिका-भेद है—और रूढ़िवाद ने नारी को बहुपत्नी प्रेमी नर की दासी बना दिया था, वहाँ सूर, जायसी, मीरा और तुलसी ने उसके नारीत्व की फिर प्रतिष्ठा की, उसकी मानव सुलभ समानता और व्यक्तित्व की घोषणा की। रामराज्य में—'एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।' पतिव्रत पत्नीव्रत के साथ ही चलता है।

सामन्त व्यवस्था ने मनुष्य की सौन्दर्य-वृत्तियों को, उसके अनेक मानव-मूल्यों को जहाँ दबा रखा था, भक्ति-आन्दोलन ने इन सब को निखारा और विकसित किया।

सामन्ती व्यवस्था ने जहाँ मनुष्य को निष्क्रियता और भाग्यवाद का पाठ

पढ़ाया था, भक्ति-आन्दोलन ने राम और कृष्ण के चरित्रों द्वारा जनता को अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना सिखाया।

भक्ति-आन्दोलन से पहले जहाँ साहित्य रचने का काम मुख्यतः ब्राह्मणों ने किया था, वहाँ भक्ति-साहित्य में जुलाहे, अछूत, मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मण, नर-नारी सभी ने भाग लिया और वह वास्तव में एक लोकप्रिय जन-साहित्य बन गया। संस्कृति की ठेकेदारी किसी वर्ण-विशेष या धर्म-विशेष के हाथ में न रह गयी।

इन कारणों से भक्ति-आन्दोलन को मूलतः सामन्त विरोधी आन्दोलन कहना उचित है। वह सामन्ती व्यवस्था के विरोध में उठ खड़ा हुआ था, उस व्यवस्था के कमज़ोर होने से पैदा हुआ था। यह आन्दोलन हमारी जातीयता के अभ्युदयकाल का प्रगतिशील आन्दोलन था।

आज अपनी जातीय संस्कृति का विकास करने के लिए उसके महत्व को समझना आवश्यक है। वह इस बात का प्रमाण है कि उत्तर भारत में सामन्ती व्यवस्था नष्ट हो रही थी और साहित्य इस कार्य में सहायक था।

सामन्ती व्यवस्था के ह्रास के साथ भारत की आधुनिक भाषाओं का उत्थान जुड़ा हुआ है। ये भाषाएँ सामन्ती व्यवस्था के ह्रास के कारण पैदा नहीं हुईं, भाषाएँ पहले से थीं, उन्हें अब अपने प्रसार और विकास का अवसर मिला। संस्कृत जहाँ धर्म और साहित्य की भाषा थी, फ़ारसी जहाँ राज-भाषा थी, वहाँ उत्तर भारत के संत कवि बोलचाल की भाषाओं को माध्यम बना कर आगे बढ़े। संस्कृत या फ़ारसी की जगह अनेक भाषाओं के विकास से भारत की एकता टूटी नहीं, वह और दृढ़ हुई, क्योंकि जनता की शिक्षा और उसका सांस्कृतिक विकास उसकी भाषा द्वारा ही सम्भव है। सुशिक्षित और सुसंस्कृत जनता ही एकता का सब से दृढ़ आधार है। इसीलिए जो लोग अंग्रेज़ी या संस्कृत द्वारा भारत की एकता बनाये रखना चाहते हैं, वे एकता के दृढ़ आधार को नहीं समझते, वे जनता की शक्ति नहीं पहचानते। जो लोग बंगाल या महाराष्ट्र में बंगला या मराठी के बदले हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास का महत्व नहीं समझते, वे इन भाषाओं द्वारा जनता के शिक्षण और सांस्कृतिक विकास का मूल्य नहीं पहचानते। जिस समय संस्कृत द्वारा एकता की रक्षा करने वाले पराजित हो चुके थे, उस समय बोलचाल की भाषाओं द्वारा ही भक्त कवियों ने जनता के जातीय आत्म-सम्मान

को जगाया था और उसकी रक्षा की थी। इस ऐतिहासिक क्रम-विकास को रोकना आज किसी की सामर्थ्य में नहीं है।

भाषा और साहित्य का इतिहास यह बतलाता है कि १६वीं-१७वीं सदी में ब्रज, खड़ीबोली, अवधी आदि के क्षेत्र अपना अलगाव दूर करके एक दूसरे के निकट आ रहे थे। यही कारण है कि सूर के पद केवल ब्रज की सम्पत्ति न थे, वे ब्रज के बाहर भी गाये जाते थे। संगीत और कविता के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग सर्वमान्य-सा हो गया था। इससे पहले विभिन्न जनपदों के लेखक संस्कृत में लिखते थे, तब से अब में अंतर यह था कि संस्कृत के छन्द गाँवों के किसान वैसे न गाते थे जैसे अब वे सूर के पद गाते थे। ब्रजभाषा का साहित्य जन साधारण में प्रचलित हो रहा था और इस तरह विभिन्न जनपदों के लोगों को एक दूसरे के निकट ला रहा था। इसी तरह अवधी की रचनाएँ अवध तक सीमित न रहीं, विशेषरूप से रामचरितमानस का प्रचार अवध से बाहर दूर-दूर तक हुआ। इस तरह यह महान् ग्रंथ जनपदों का अलगाव दूर करने और उन्हें एक दूसरे के निकट लाने का बहुत बड़ा साधन बना। तुलसीदास ने ब्रज और अवधी दोनों में रचनाएँ कीं और यह बात अपने आप इस ऐतिहासिक सत्य की ओर संकेत करती है कि ब्रज और अवध जैसे जनपदों की जनता एक दूसरे के निकट आ रही थी। इस समय की काव्य-भाषा में एक से अधिक बोलियों के शब्द आना, यहाँ तक कि अनेक बोलियों के व्याकरण-रूपों का आना भी असाधारण बात नहीं है। इसका कारण यही है कि जनपदीय बोलियों का दुराव ख़त्म हो रहा था और वे एक दूसरे को प्रभावित कर रही थीं। आगे चल कर इन जनपदों की एक सामान्य जातीय भाषा न तो ब्रज हुई, न अवधी, जातीय भाषा के रूप में विकसित हुई खड़ी बोली। सूर और तुलसी जैसे समर्थ कवियों की सहायता पा कर भी ब्रज या अवधी यहाँ की जातीय भाषा क्यों न बनी और खड़ी बोली क्यों बनी, इसके ऐतिहासिक कारण हैं। ब्रज के बाहर ब्रजभाषा का प्रसार केवल साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ, बोलचाल की भाषा के रूप में नहीं। यही बात अवधी के साथ भी हुई। बोलचाल की भाषा के रूप में केवल खड़ी बोली अपने क्षेत्र से बाहर फैली। तभी तो १६वीं सदी में गद्य, शिक्षा और मासिक पत्रों आदि की भाषा खड़ी बोली स्वीकृत हो गयी और ब्रज, अवधी आदि को लेकर कोई संघर्ष न हुआ। काव्य में ब्रजभाषा को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया गया, वह असफल रहा। कारण यह कि खड़ी बोली हमारी जातीय भाषा के रूप में विकसित हो रही थी और काव्य में उसका उपयोग आगे-पीछे होना ही था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और रामचन्द्र शुक्ल ने खड़ी बोली के प्रसार का सम्बन्ध पच्छिम से पूर्व की ओर आने वाली व्यापारी जातियों से जोड़ा था। यह स्थापना सही है। आगरा, प्रयाग, काशी आदि में न जाने कितने व्यापारी पछाँह से आकर बसे थे। स्वयं दिल्ली और आगरा व्यापार के बहुत बड़े केन्द्र थे। ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे' से पता चलता है कि यूरोप के व्यापारी अपनी सुविधा के लिए खड़ी बोली सीखते से। व्यापार के प्रसार के साथ भारत के भीतर खड़ी बोली का महत्व बढ़ा। सर देसाई के अनुसार इटालियन यात्री मनुच्ची और शिवाजी की बातचीत खड़ी बोली में हुई थी। शेरशाह के समय से ही हिन्दी भाषी क्षेत्र में व्यापार का प्रसार आरम्भ हो गया था। अकबर ने एक तरह के सिक्के चला कर, यातायात के साधनों को सुरक्षित करके व्यापार की उन्नति में सहायता की। १६वीं सदी में व्यापार और औद्योगिक उन्नति का सब से बड़ा प्रमाण बड़े-बड़े शहरों का निर्माण और विकास था। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, पटना आदि व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्र थे, इन्हीं केन्द्रों से खड़ी बोली का प्रसार भी हुआ। उद्योग-धन्धों का मुख्य आधार दस्तकारी थी, लेकिन इस दस्तकारी का उद्योग राजाओं और नवाबों की विलासिता की चीज़ें तैयार करना ही न था, न यह दस्तकारी हर गाँव में सीमित रह कर उसी की ज़रूरतें पूरा करने के लिए थी। बनारस, लखनऊ और आगरा दस्तकारों के केन्द्र थे और यहाँ की बनी हुई चीज़ें विदेश में इतनी बिकती थीं कि वहाँ के अपने उत्पादन के लिए ख़तरा पैदा हो गया था। उद्योग-धन्धों का बढ़ाना, व्यापार की मंडियों के रूप में बड़े-बड़े शहरों का पनपना सामन्ती अलगाव कम करता था और जनता को एक सूत्र में बाँधता था। यह हिन्दी-भाषी जाति के निर्माण का सिलसिला था। यह सिलसिला सामन्ती ढाँचे के अन्दर चल रहा था। यह ढाँचा कमज़ोर था और दिन-पर-दिन अपने भीतर उभरती ताकतों से कमज़ोर होता जा रहा था लेकिन वह चरमरा कर बैठ न गया था, उसका नाश न हुआ था कि उसकी जगह नया पूँजीवादी ढाँचा आ कर जम जाता। व्यापार की मंडियाँ मुख्यतः गंगा-यमुना के किनारे क़ायम हुईं, इसलिए पूर्वी भोजपुरी और मैथिल प्रदेश व्यापारी सम्बन्धों की लपेट से प्रायः बचे रहे। यातायात के साधन हर जगह एक से विकसित न हुए थे, इसलिए मध्यभारत इस विकास से बहुत कुछ अलग रहा। बीसवीं सदी में नये उद्योग-धन्धों के कायम होने के साथ विकास का यह सिलसिला और बढ़ा और मध्यभारत तथा मिथिला, भोजपुर आदि एक सामान्य जातीय जीवन की

धारा के और निकट आये। यह विकास औपनिवेशिक भारत में हो रहा था, जहाँ अंग्रेज शासक वर्ग की नीति यह थी कि औद्योगिक उन्नति रोक कर भारत को अंग्रेज़ी माल की खपत के लिए बाज़ार बनाया जाय और यहाँ के सामन्ती अवशेषों को अपना सहायक बना कर उनकी रक्षा की जाय। इसलिए यह औद्योगिक विकास बहुत ही सीमित था और उस के साथ हमारे जातीय निर्माण और गठन का काम भी अधूरा रहा।

हमारे जातीय निर्माण की एक विशेषता यह थी कि यहाँ सैकड़ों साल तक फ़ारसी राज-भाषा रह चुकी थी। इसका फल यह हुआ कि उच्च वर्गों में फ़ारसी पढ़ी-पढ़ाई जाती थी और सुसंस्कृत शब्दावली वह समझी जाती थी जिसमें फ़ारसी के शब्द अधिक हों। इसलिए एक ओर नज़ीर और मीर जैसे सरल उर्दू लिखने वाले कवि हुए, दूसरी ओर फ़ारसी गर्भित उर्दू लिखने वालों की कमी न थी। अंग्रेज़ों ने इस भाषा-भेद को—जिसमें लिपि-भेद भी शामिल था—और आगे बढ़ाया और विशेष रूप से जब सन् १८५७ में उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को अपने विरुद्ध मिल कर लड़ते देखा, तब उन्होंने यह भेद-भाव बढ़ाने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। कचहरी और पुलिस के द्वारा उन्होंने वह अरबी प्रधान भाषा चलायी जो उनके जातीय उत्पीड़न की नीति का अंग बन गयी। इधर अनेक जनपदों में कुछ लोगों ने अलगाव का नारा दिया। जातीय विकास की धारा न समझ कर इन्होंने बोलियों को भाषा का दर्जा दिया, इन बोलियों के क्षेत्रों को जातीय प्रदेश माना, यहाँ तक कि हिन्दी-भाषी प्रदेश को तेरह क्षेत्रों में बाँटने की योजना भी सामने रखी। हिन्दी-भाषी क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था का अब भी ज़ोर है। यहाँ के शिक्षा केन्द्रों में कौन ब्राह्मण है, कौन कायस्थ है, यह प्रश्न बड़े महत्व का है। यही नहीं, बहुतों में अहीर, जाट, गूजर, राजपूत आदि के प्रति वफ़ादारी पहले है, समूची हिन्दी-भाषी जाति के लिए बाद को। इन्हीं कारणों से हिन्दी भाषी क्षेत्र में जिस जातीय चेतना का विकास होना चाहिए था, वह नहीं हुआ।

जातियों का विकास और निर्माण सामन्ती व्यवस्था के ह्रास और पतन से ही सम्भव होता है। इसलिए जातीय चेतना का विकास भी सामन्ती विचार धारा का खंडन करता है, अपना प्रगतिशील मूल्य रखता है। अंग्रेज शासकों ने यहाँ का औद्योगिक विकास रोका, यहाँ के सामन्ती अवशेषों की रक्षा की, नवाबों, राजाओं और ताल्लुकदारों की रियासतें बनाये रख कर जातीय एकता क़ायम होने में बाधा डाली। उदाहरण के लिए निज़ाम की रियासत के कारण तेलगू-भाषी

जाति एक न हो पायी। कन्नड़ और मराठी-भाषी जातियाँ भी इसी तरह एक न हो पायीं। एक ही जाति को उन्होंने कई प्रान्तों में बाँट दिया, जिसकी सब से बड़ी मिसाल हिन्दी-भाषी प्रदेश है। बोलियों का ध्यान भी रखा जाय तो भोजपुरी का आधा क्षेत्र बिहार में है, आधा उत्तर प्रदेश में। बिहार को उन्होंने कभी बंगाल के साथ रखा, कभी बंगाल का थोड़ा सा हिस्सा बिहार में मिला दिया। बंगाल का विभाजन करने की कोशिश की, जो पहले असफल रही और सन् ४७ में सफल हुई। कांग्रेस ने अपनी सूबा-कमेटियाँ मुख्य भाषाओं को ध्यान में रख कर बनायीं, अपवाद केवल हिन्दी-भाषी प्रदेश था। मुख्य भाषाओं के हिसाब से प्रान्तों का नया संगठन करने की माँग उचित थी, इस माँग के पूरा होने से भारत की प्रमुख जातियों का ऐतिहासिक विकास क्रम आगे बढ़ता था। इस विकास क्रम में सामन्ती अवशेषों के सिवा दूसरी बाधा थी—साम्राज्यवाद, जो अपनी कूटनीति से जातियों को संगठित न होने देता था। इसलिए जातीय गठन और जातीय चेतना के विकास का एक साम्राज्य विरोधी मूल्य भी है। जातीय विकास क्रम को पूरा करना देश-भक्ति का ही कार्य माना जायगा।

जातीय चेतना का सही मूल्यांकन करके ही भारतीय एकता दृढ़ की जा सकती है। भारतीय एकता जनता की एकता के सिवा, विभिन्न वर्गों की एकता के सिवा, विभिन्न भाषाएँ बोलने वाली जातियों की एकता भी है। विभिन्न जातियों की परस्पर एकता उनके उचित अधिकार मान कर ही की जा सकती है। तेलगू-भाषी जनता ने जातीय गठन का सवाल बहुत तीखे ढंग से देश के सामने रखा है। आन्ध्र राज्य के निर्माण के लिए पोत्ती श्री रामुलु जैसा अहिंसावादी शहीद हो गया। इससे अनुमान किया जा सकता है कि जातीय भावना कितनी दृढ़ है। कांग्रेसी नेताओं को बाध्य होकर राज्य पुनर्गठन समिति बनानी पड़ी। इस समिति ने केरल, तमिलनाड, कर्नाटक आदि राज्य बनाने का अनुमोदन किया। महाराष्ट्र और आन्ध्र के निर्माण में जो बाधाएँ थीं, उनसे फिर असन्तोष बढ़ा और कांग्रेसी नेतृत्व ने विशाल आन्ध्र के तुरत बनने की माँग स्वीकार की। महाराष्ट्र से बम्बई को अलग करने का विरोध अभी चल रहा है।

राज्य पुनर्गठन समिति मध्यभारत, उत्तर प्रदेश आदि की एक जातीय भाषा हिन्दी मानती है, यह संतोष की बात है। उसने यह स्थापना स्वीकार नहीं की कि यहाँ छत्तीसगढ़ी, बघेलखंडी, अवधी, ब्रज आदि भाषाएँ बोलने वाली जातियाँ रहती हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेज़ों में अर्से से इस विशाल

प्रदेश को 'हिन्दी-भाषी' की संज्ञा दी जाती रही है और यह संज्ञा उसके कार्यक्रम में भी प्रयुक्त हुई है। आशा है, राज्य पुनर्गठन समिति और कम्युनिस्ट पार्टी जैसी दो भिन्न संस्थाओं की इस सामान्य 'हिन्दी-भाषी' संज्ञा पर वे मित्र विचार करेंगे जो अवधी, व्रज, छत्तीसगढ़ी आदि को स्वतंत्र भाषाएँ मानते रहे हैं।

यहाँ भाषा और बोली के सम्बन्ध पर दो शब्द कह देना आवश्यक है। किसी भी देश में जातीय भाषा के विकास के साथ बोलियाँ ख़त्म नहीं हो जातीं। ब्रिटेन, फ्रांस जैसे उद्योग प्रधान देशों तक में वेल्श, प्रोवाँसाल आदि बोलियाँ कायम हैं जो व्याकरण की दृष्टि से भी जातीय भाषा—अंग्रेज़ी या फ्रांसीसी—से भिन्न हैं। हमारे देश में ही तेलंगाना की तैलगू और विजयवाड़ा की तैलगू, पूर्वी बंगला और कलकत्ते की बंगला में अंतर है। इसका अर्थ यह नहीं कि पूर्वी बंगाल या तैलंगाना के लोगों की जातीय भाषा बंगला या तैलगू नहीं है। इसी तरह हिन्दी की अनेक बोलियों का अस्तित्व यह साबित नहीं करता कि हिन्दी हमारी जातीय भाषा नहीं है। जिन लोगों की जातीय भाषा हिन्दी है, वे लोग चीनी जनता के बाद संसार की सबसे बड़ी जाति हैं। भारत की एक तिहाई जनता की भाषा हिन्दी है। इसलिए हिन्दी-भाषी जनता का अलगाव भारत की एक तिहाई जनता का अलगाव है। उसकी संगठित शक्ति एक तिहाई भारत की संगठित शक्ति होगी। हिन्दी-भाषी जनता का संगठन और उसकी जातीय एकता सारे देश की जनता के संगठन और एकता के लिए आवश्यक है।

फिर भी लोग इस एकता से डरते हैं। तमाम हिन्दी-भाषी जनता को एक राज्य में लाने के बदले वे उत्तर प्रदेश को भी दो हिस्सों में बाँटने की बात करते हैं। विभाजन के द्वारा संतुलन कायम रखना साम्राज्यवादियों की नीति रही है, देशभक्तों की नहीं। उत्तर प्रदेश का विभाजन किसी भी सैद्धान्तिक कसौटी पर सही नहीं उतरता। उसका आधार केवल भय या ईर्ष्या हो सकती है। इस भय के कारण हैं। भारत के संविधान में जातियों की समानता और उनके अधिकारों की रक्षा का विधान नहीं है। जनतन्त्र का अर्थ हर व्यक्ति को समान अधिकार देना ही नहीं है, उसका अर्थ प्रत्येक जाति को समान अधिकार देना भी है। जब तक भारत में लोकसभा के साथ एक जातीय परिषद् नहीं कायम होता, जिसमें हर जाति का समान प्रतिनिधित्व हो और जो लोक सभा के देशव्यापी कार्यों पर नियन्त्रण रख सके, तब तक छोटी-बड़ी जातियों में परस्पर

ईर्ष्या-द्वेष बना ही रहेगा। यह ईर्ष्या-द्वेष—भाषावार राज्य क़ायम हो जाने पर भी—भारतीय एकता में बाधक होगा। ईर्ष्या-द्वेष को दूर करने का उपाय जातियों की समानता और उनके अधिकारों की रक्षा है, न कि बड़ी जातियों को तोड़ कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देना।

शासन की सुविधा के लिए छोटे राज्य बनाना कोई अर्थ नहीं रखता। हिन्दी-भाषियों का एक राज्य बहुत बड़ा हो जायगा—या उत्तर प्रदेश ही बहुत बड़ा है—तर्कसंगत बात नहीं है। भारत की केन्द्रीय सरकार ने सारे भारत पर शासन करने के लिए न जाने कितने अधिकार ले रखे हैं, उनमें कुछ कमी हो जाय तो जातियों का भला ही होगा। शासन तन्त्र ऐसा होना चाहिए जिससे जातीय विकास में सहायता मिले, न कि उसमें बाधा पड़े। जनता का हित बड़े-बड़े राज्य क़ायम करने में है जहाँ वह सुविधापूर्वक सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति कर सके। इसीलिए यह आवश्यक नहीं है कि हर भाषा के लिए एक राज्य का निर्माण कर ही दिया जाय। सोवियत संघ में ६० से ऊपर भाषाएँ हैं, लेकिन वहाँ १६ राज्य ही स्थापित किये गये हैं। जिन भाषाओं के बोलने वाले बहुत बड़ी संख्या में नहीं हैं, उनके जातीय विकास के लिए मुख्य राज्यों के अन्तर्गत स्वायत्त प्रदेश कायम किये गये हैं।

'जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार' नाम की पुस्तक में लेनिन ने बड़े राज्यों का लाभ बतलाते हुए लिखा है, "जनता अपने दैनिक अनुभव से जानती है कि भौगोलिक और आर्थिक सम्बन्धों का मूल्य क्या है और एक बड़े बाज़ार और एक बड़े राज्य के लाभ क्या हैं। इसलिए लोग अलग होना तभी पसन्द करेंगे, जब जातीय उत्पीड़न और जातीय संघर्ष से सम्मिलित जीवन एकदम असम्भव हो गया हो और सभी तरह के आर्थिक आदान-प्रदान में अड़चन पड़ती हो।" लेनिन ने यह बात उन बड़े राज्यों के लिए कही थी, जिनमें विभिन्न जातियों के लोग रहते थे। हिन्दी-भाषी जनता का एक बड़ा राज्य क़ायम करने में तो विभिन्न जातियों का नहीं, एक ही जाति का सवाल है। वर्तमान काल में आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाने और उन्हें अमल में लाने के लिए हिन्दी-भाषी प्रदेश की एकता और भी आवश्यक है। बिहार का लोहा और कोयला, उत्तर-प्रदेश की मिलें, मध्यभारत के पठार में रुई का उत्पादन और इन सबका योजना-बद्ध उपयोग हिन्दी-प्रदेश को उन्नत और समृद्ध बना सकता है।

उक्रैनी, बेलोरूसी, ताजिक आदि जातियों पर ज़ारशाही के अत्याचारों का उल्लेख करते हुए १६२१ में स्तालिन ने रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं काँग्रेस में कहा था, "इन लोगों के प्रति ज़ारशाही की नीति—ज़मींदारों और पूँजीपतियों की नीति—यह थी कि उनमें राज्यसत्ता के हर जीवाणु को मिटा दिया जाय, उनकी संस्कृति की बाढ़ मार दी जाय, उन्हें अज्ञान की दशा में रखा जाय और अन्त में यह कि जहाँ तक हो सके, उनका रूसीकरण किया जाय।" भाषा और संस्कृति को दबाने के साथ जातीय उत्पीड़न का एक तरीका राज्यसत्ता के जीवाणुओं का नाश भी है। ज़ारशाही ने जिन जीवाणुओं का नाश किया था, वे समाजवादी व्यवस्था में पुष्ट हुए और उक्रैनी, बेलोरूसी, ताजिक आदि जातियों ने अपने प्रजातंत्र कायम किये, जिनके संघ का नाम सोवियत संघ है। जातीय समस्या के बारे में पार्टी के कर्त्तव्य बतलाते हुए स्तालिन ने उसी समय कहा था: "ग़ैर-रूसी जातियों की सामान्य विशेषता यह है कि राज्यों के रूप में उनका विकास केन्द्रीय रूस से पीछे है। हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए कि हम इन जातियों की—उनके सर्वहारा और मेहनत करने वाले लोगों की—भरसक मदद करें कि वे अपनी भाषा के माध्यम से अपना, सोवियत राज्यसत्ता का, जीवन विकसित कर सकें।"

जातियों की राजसत्ता की प्रतिष्ठा, उनकी भाषा में उनके राज्यगत जीवन का विकास, समाजवाद का उद्देश्य है। इसके विपरीत राज्यसत्ता के जीवाणुओं का नाश, जातियों का विभाजन और उनकी भाषाओं का दमन साम्राज्यवादियों, पूँजीपतियों और सामन्तों की नीति है। भारत की अन्य बड़ी जातियों के समान देश की सबसे बड़ी जाति, हिन्दी-भाषी जाति, का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह एक राज्य के अन्तर्गत संगठित होकर अपना औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास कर सके।

इस देश में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक जातियाँ हैं, इन जातियों की अपनी-अपनी संस्कृति है। इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का, उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है। भारत की जातियों से भिन्न भारतीय संस्कृति की सत्ता कहीं नहीं है। वर्गों की, जनसाधारण की संस्कृति की कुछ जातीय विशेषताएँ होती हैं। सामन्त वर्ग इंग्लैंड में भी था, यहाँ भी रहा है लेकिन नायिका भेद का प्रचार यहाँ की सामन्ती संस्कृति की जातीय विशेषता है। सामन्तकाल में जनसाहित्य यहाँ भी रचा गया है, यूरोप में भी, लेकिन सन्त साहित्य की कुछ अपनी जातीय विशेषताएँ हैं। आधुनिक युग में

साहित्य शरच्चन्द्र ने भी रचा है, वल्लथोल और भारती ने भी लेकिन बहुत सी बातों में इनके समान होते हुए भी प्रेमचन्द की अपनी जातीय विशेषताएँ हैं। इसलिए संस्कृति की जातीय विशेषताओं के विकास के लिए जातीय गठन ज़रूरी है।

सामाजिक संगठन के बाहर न संस्कृति का अस्तित्व है, न भाषा का। जब हिन्दी-भाषी जाति न थी, तब जातीय भाषा के रूप में हिन्दी भी न थी। वह खड़ी बोली के रूप में एक जनपद तक सीमित थी और वहाँ भी उसका एक टकसाली रूप न था वरन् मिलते-जुलते अनेक रूप थे। खड़ी बोली का प्रसार और निखार हिन्दी-भाषी जाति के गठन के साथ सम्भव हुआ है। यह प्रसार और निखार का काम अभी पूरा नहीं हुआ और तब तक पूरा न होगा, जब तक हमारे जातीय विकास और जातीय गठन का काम पूरा न होगा। इसके लिए जहाँ औद्योगिक विकास आवश्यक है, खेती की उन्नति आवश्यक है, शिक्षा का प्रसार आवश्यक है, वहाँ इन कार्यों का संगठन करने के लिए और समस्त जातीय जीवन का संचालन करने के लिए जातीय राज्यसत्ता भी आवश्यक है। जातीय-भाषा हिन्दी की पूर्ण समृद्धि के लिए जातीय गठन आवश्यक है।

जातीय आन्दोलनों में हर तरह के लोग शामिल होते हैं। इसलिए इन आन्दोलनों का दिग्भ्रान्त होना अचरज की बात नहीं। हम सबसे बड़े हैं, हमारे साहित्य के आगे सब तुच्छ हैं, इस तरह के भाव अक्सर देखने-सुनने को मिलते हैं। इसी तरह सीमाओं को लेकर झगड़े खड़े करना, एकता और मेलजोल के बदले ईर्ष्या-द्वेष का प्रचार आदि भी हैं। इस तरह की दुर्भावनाओं से हम तभी बच सकते हैं जब यह याद रखें कि इस देश में हर जाति दूसरी को प्रभावित करती है, हर जाति का विकास दूसरी जातियों की सहायता और विकास पर निर्भर है। जातीय गठन के साथ अन्तर्जातीय मैत्री पर ज़ोर देना भी आवश्यक है।

हिन्दी-भाषी प्रदेश में जातीय आन्दोलन पिछड़ा हुआ है। उत्तर प्रदेश के विभाजन की समस्या, हिन्दी बनाम भोजपुरी-मैथिली आदि की समस्या, हिन्दी-उर्दू की समस्या आदि हमारे जातीय जीवन के असंगठित होने के चिन्ह हैं। जितना ही प्रगतिशील विचारक इस जातीय आन्दोलन को अपने आप बढ़ने के लिए छोड़ देंगे, उतना ही इस तरह की समस्याएँ और भी उलझती जायँगी और नयी समस्याएँ खड़ी होती जायँगी। इस तथ्य पर ज़ोर देना आवश्यक है कि हिन्दी-भाषी जनता एक विशाल जाति है, उसके ऐतिहासिक विकास का

सिलसिला कई सदियों से चल रहा है, हमारी भाषा और संस्कृति की उन्नति के लिए इस जाति का एक राज्य में संगठित होना आवश्यक है, इसका विशाल आकार शासन के लिए असुविधाजनक होने के बदले योजनाबद्ध सामाजिक विकास के लिए हितकर है, यह जातीय गठन न केवल हिन्दी-भाषियों के लिए वरन् सारे देश के लिए हितकर है। आशा है, हिन्दी लेखक और हिन्दी प्रेमी पाठक इस समस्या की ओर उदासीन न रहेंगे।

जो लोग यह मानते हैं कि १६ वीं सदी के आरम्भ से पहले उत्तर भारत के समाज में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ, उनसे निवेदन है कि वे १६वीं-१७वीं सदी में नये शहरों के उत्थान पर ध्यान दें, इस उत्थान का कारण बतायें, भारत के आर्थिक जीवन में इन शहरों की भूमिका पर प्रकाश डालें, उस समय के ब्रिटेन के शहरों से इनकी तुलना करें और यह देखें कि इस समय यहाँ जो व्यापार बढ़ा, वह वैसा ही था जैसा पहले के सामन्ती समाज में था या उसका कुछ और महत्व था। जो लोग यह नहीं मानते कि हमारा जातीय निर्माण १६वीं सदी में आरम्भ हुआ था; वे इस बात की व्याख्या करें कि ब्रजभाषा की कविता अपने क्षेत्र से बाहर जनसाधारण में क्यों लोकप्रिय हो रही थी, रामचरित मानस अवध के बाहर क्यों लोकप्रिय हो रहा था, तुलसीदास ब्रज और अवधी दोनों में क्यों लिख रहे थे, इस समय के कवियों की रचनाओं में अनेक बोलियों के शब्द और व्याकरण-रूप क्यों मिलते हैं? ऐसे सज्जन साहित्य की भी साखी लें और देखें कि सन्त साहित्य के सामन्त विरोधी मूल्यों का सामाजिक आधार क्या है, वह साहित्य अनेक जनपदों की जनता का साहित्य बना था या नहीं और उसकी सामन्त विरोधी जातीय चेतना को प्रकट करता है या नहीं। इस तरह आर्थिक जीवन, साहित्य-निर्माण और भाषा-विज्ञान—तीनों की दृष्टि से १६वीं-१७वीं सदी का समय हमारे जातीय उत्थान और जातीय गठन का युग ठहरता है।

जो लोग इस जातीय विकास और जातीय गठन का कार्य पूरा नहीं होने देना चाहते, उनसे निवेदन है कि वे इस तथ्य पर विचार करें कि हर संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं, जातीय रूप होता है, हर भाषा की पूर्ण समृद्धि के लिए उसे बोलने वाली जाति का गठन आवश्यक होता है। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, भाषा और संस्कृति के विकास और समृद्धि को रोकना। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, किसी जाति के अन्दर विद्यमान राजसत्ता के जीवाणुओं को कुचलना। भारत का विकास इसकी विभिन्न जातियों के

विकास से ही सम्भव है। इसके लिए बड़ी संख्या वाली जातियों के राज्य बनाना; छोटी संख्या वाली जातियों के स्वायत्त प्रदेश कायम करना; प्रत्येक जाति को अपनी ही भाषा में शिक्षा पाने और अपना सांस्कृतिक जीवन संगठित करने का अधिकार देना आवश्यक है। एक जातीय प्रदेश के अन्दर दूसरी भाषा और जाति के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा भी आवश्यक है। इस तरह भारत सशक्त जातियों का संघ बन कर अजेय होगा। यदि जातियाँ असंतुष्ट होकर लड़ती रहेंगी तो देश कमज़ोर होगा। बड़ी जातियों से छोटी जातियों को भय न हो, इसके लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि सभी जातियों को समान प्रतिनिधित्व देने वाला ऐसा परिषद् कायम किया जाय जो लोकसभा के भारत व्यापी कार्यों पर नियंत्रण रख सके।

आज के भारत की एक अमिट सचाई है—विशाल हिन्दी-भाषी जाति। इससे आँख चुरा कर कोई समस्या हल नहीं की जा सकती। अब समय आ गया है कि अपनी जातीय एकता कायम करने के लिए हिन्दी-भाषी आगे बढ़ें।

नामवर सिंह

●●●

व्यापकता और गहराई

अक्सर देखते हैं कि पानी के सोते की तरह लेखक भी साफ़ होता है तो उथला कहा जाता है और गदला होता है तो गहरा। इसका ताज़ा नमूना यह है कि 'आलोचना' के सम्पादक अपने को गहरा बता रहे हैं और प्रेमचन्द को सतही। प्रेमचन्द का दोष यह है कि उन्होंने समस्याओं का 'सरल समाधान' दिया है। परन्तु इसी 'सरल समाधान' पर गहरे समझे जाने वाले उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार मुग्ध हैं। 'ग़बन' की आलोचना करते हुए 'प्रेमचन्द की कला' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं।—"बात को ऐसा सुलझाकर कहने की आदत मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है। बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर ऐसे सुलझाकर थोड़े से शब्दों में भर कर, कुछ इस तरह कह जाते हैं, जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिए नित्य-प्रति घरेलू व्यवहार की जानी

पहचानी चीज़ हो ।...उनकी कलम सब जगह पहुँचती है, लेकिन अँधेरे से अँधेरे में भी वह कभी धोखा नहीं देती। वह वहाँ भी सरलता से अपना मार्ग बनाती चली जाती है। स्पष्टता के मैदान में प्रेमचन्द अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली, निश्चित होती है।"

आलोचना-सम्पादक जिस समाधान को 'सरल' कहते हैं, वह जैनेन्द्र कुमार के अनुसार 'बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर सुलझाना' है! वह 'सरल' इसलिए मालूम होती है कि स्पष्ट है, निर्णीत है, खुली है और निश्चित है। ऐसी सरलता तक पहुँचने में कितनी कठिनाइयों को पार करना पड़ता है, इसे जो नहीं जानते उनके लिए यह 'शार्टकट' है। जंगल में भटकने वालों की यह पुरानी शिकायत है। क़दम-क़दम पर संघर्ष करते हुए जिस 'होरी' ने ज़िंदगी का लम्बा रास्ता तय किया, उसने तो अपनाया 'शार्टकट' और जिसने बैठे-बिठाये आसमान में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' दौड़ाया, उसका रास्ता हुआ लम्बा! क्यों न हो? आसमान से धरती तक की लम्बी दूरी, सपनों का भारी बोझ और टाँगें बेकार! नौ दिन चले अढ़ाई कोस!

'शार्टकट' की शिकायत केवल 'सातवें घोड़े' ही को हो, ऐसी बात नहीं है। शिकायतें औरों को भी हैं। इनका विरोध 'सीधी रेखा' से है। 'सीधी रेखा' से उनका मतलब है सोद्देश्यता। साहित्य में जहाँ सोद्देश्यता होती है, उसे वे समाज की 'सीधी छाया' या सत्य की 'सीधी रेखा' कहते हैं। यह 'सीधी रेखा' वही 'शार्टकट' है, जिसका निशेध करके 'वर्तुल अथवा वक्र रेखा' पर चलने की सलाह दी जाती है। 'चलइ जोंक जल वक्रगति जद्यपि सलिल समान!'

मतलब यह कि सोद्देश्यता 'शॉर्टकट' है, इसलिए सतही साहित्य-रचना से बचने के लिए लम्बे अर्थात् अनन्त रास्ते पर निरुद्देश्य यात्रा करनी चाहिए। लेकिन ये निरुद्देश्य पथिक इतने सरल नहीं हैं कि अपने को स्पष्ट शब्दों में निरुद्देश्य कह दें। इनका भी उद्देश्य है और वह उद्देश्य है—आत्मान्वेषण! यह आत्मान्वेषण वैसा ही है, जैसे बच्चे कभी-कभी अपनी ही आँखें मूँद कर माँ से पूछते हैं कि बताओ मैं कहाँ हूँ? फ़र्क इतना ही है कि ये बच्चे नहीं हैं। इस प्रकार निरुद्देश्यता को ही इन्होंने अपना उद्देश्य बना लिया है और भरसक इसी का प्रचार करते रहते हैं।

निरुद्देश्यता के कार्यक्रम का पहला सूत्र यह है कि साहित्य का सम्बन्ध समाज से काट दिया जाय, क्योंकि समाज के साथ बँधे रहने से कुछ-न-कुछ सामाजिक कर्तव्य का बन्धन रहेगा ही। फलतः 'वक्र रेखा' के अन्वेषक ने

स्थापित किया कि "जिन कारणों से साहित्यिक प्रतिच्छाया में विकृति उत्पन्न होती है, उनके पीछे साहित्य और सौन्दर्य के अपने नियम हैं जो सामाजिक आवश्यकता के 'बावजूद' काम करते हैं। इन नियमों की क्रियाशीलता के कारण ही साहित्य ऊँची उड़ानें भरता है और उसमें सार्वभौमिकता एवं श्रेष्ठता उत्पन्न होती है।" (आलोचना ९, पृ० १४७)

साहित्य को श्रेष्ठ और सार्वभौम बनाने वाले वे 'अपने' नियम कौन से हैं, इसे बताने की क्या ज़रूरत ? यह तो सभी जानते हैं। बताने की बात तो वह है जो सबको न मालूम हो। इसलिए लोगों का भ्रम दूर करने के लिए ज़ोर देकर कहा गया कि साहित्य के सौन्दर्य का कारण समाज नहीं है। इस विषय में फिर कोई भ्रम न रह जाय, इसलिए आगे यह भी कह दिया गया है, "आलोचना के सामने असली सवाल सामाजिक-यथार्थ का नहीं है, बल्कि उस 'यथार्थ की विकृतियों' के अध्ययन का है।"

इतना कहने के बाद भ्रम की गुँजाइश के लिए कहाँ जगह है। बेशक, 'आलोचना' 'यथार्थ की विकृतियों' का ही अध्ययन प्रस्तुत कर रही है ! और ऐसे अध्ययन के लिए सामाजिक यथार्थ से जितना ही दूर रहा जाय, उतना ही अच्छा है। साहित्य-सौन्दर्य के 'अपने' नियम समाज से दूर रह कर ही गढ़े जा सकते हैं और वे गढ़े हुए नियम कैसे होते हैं, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण उपर्युक्त उद्धरण है।

आश्चर्य की बात नहीं है। यह 'वक्र रेखा' लेखक को इसी तरह अपने समाज से दूर ले जाती है और इसके बाद तो वह 'सार्वभौम' हो जाता है; अपने देश-काल से जड़ कट जाने पर वह स्वभावतः सारी दुनिया का हो जाता है। इस ऊँचाई पर पहुँच कर वह व्यापक दृष्टिकोण से सभी देशों के लिए समान-भाव से साहित्य रचने लगता है। इस 'सार्वभौमिकता' की झलक इन लेखकों के उपन्यासों के सार्वभौमिक चरित्रों और विविध भाषाओं के उद्धरणों में मिल सकती है। पतनोन्मुख पश्चिमी लेखकों के विचारों से अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों को अलंकृत करके 'आलोचना' में इसी सार्वभौमिकता का ऊँचा आदर्श उपस्थित किया जाता है। इस सार्वभौमिकता का आदर्श यह है कि साहित्य में समाज की छाया को किस प्रकार अधिक से अधिक बिगाड़ कर प्रस्तुत किया जाय। साहित्यिक छाया में जितना ही बिगाड़ होगा, रचना में उतनी ही गहराई होगी। इस प्रकार 'वक्र रेखा' से चलकर 'सार्वभौमिकता' तक और 'सार्वभौमिकता' से चलकर 'गहराई' तक की यात्रा पूरी होती है।

गहराई सार्वभौमिकता का ही दूसरा आयाम (!) है, जो आलोचना के सम्पादकों का तकिया-कलाम बन गया है। कभी ऊँचाई की ओर तो कभी गहराई की ओर! दोनों आयामों के इस व्यायाम में यदि कोई चीज़ नहीं आने पाती तो वह है सतह! शायद ऊभ-चूभ करने वालों के लिए सतह वाले आयाम का अस्तित्व नहीं होता। विचारों की गहराई का नमूना है व्यक्ति-स्वातंत्र्य का घोषणापत्र, तो अनुभूतियों की गहराई के नमूने दर्जनों व्यक्तिवादी कविताएँ और उपन्यास! इस प्रकार हम देखते हैं कि सतह के खिलाफ़ गहराई की आवाज़ उठाने वाले दरअसल समाज के ख़िलाफ़ व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ही बात कहते हैं। यही उनकी गहराई भी है और सतह भी। और जिस तरह उनकी गहराई और सतह में कोई विरोध नहीं है, उसी तरह सभी लेखकों की गहराई और सतह में अविरोध है।

लेकिन जिन लोगों का दिल उनसे अलग जा पड़ा है और दिमाग़ के छिलके उतर गये हैं, उनके लिए एक-दूसरे से जुड़ी हुई चीज़ें भी अलग-अलग और विरोधी दिखायी पड़ती हैं। जहाँ उन्हें व्यापकता दिखायी पड़ती है, वहाँ गहराई नहीं मिलती; और गहराई मिलती है तो व्यापकता नहीं मिलती। प्रेमचन्द में व्यापकता है तो गहराई नहीं है, जैनेन्द्र में गहराई है तो व्यापकता नहीं है। इसी तरह तुलसीदास में व्यापकता है तो गहराई गायब है और सूरदास में गहराई है तो व्यापकता नदारद है। व्यापकता और गहराई के इस विरोध में कुछ लोग तो 'अपने आप में' दोनों को महान कह कर जान छुड़ाते हैं। लेकिन जिन्होंने आलोचना के मूल्य-मान-मर्यादा का दायित्व लिया है वे व्यापकता के ऊपर गहराई को तरजीह देते हैं। इस कसौटी पर सूर श्रेष्ठ हो जाते हैं तुलसी से और शरच्चन्द्र श्रेष्ठ हो जाते हैं प्रेमचन्द से (क्योंकि जैनेन्द्र या अज्ञेय को खुलकर प्रेमचन्द से श्रेष्ठ कहने का साहस अभी लोगों में नहीं आया है।)

देखना यह है कि किसी लेखक में व्यापकता के होते हुए भी जब हम गहराई की कमी पाते हैं तो वस्तुतः वह गहराई की कमी व्यापकता की ही कमी तो नहीं है? इसी तरह यदि कोई लेखक संकीर्ण होते हुए भी गहरा मालूम हो तो विचारने की ज़रूरत है कि कहीं हमारी उस गहराई में ही तो कमी नहीं है?

सब का कहना है कि जैनेन्द्र और अज्ञेय प्रेमचन्द की अपेक्षा बहुत कम व्यापक जीवन का कैनवस लेते हैं, फिर भी कुछ लोगों को उनमें प्रेमचन्द से अधिक गहराई मिलती है। यह गहराई क्या है? कहते हैं यह अनुभूति की

गहराई है। अनुभूति किसकी? दर्द की। दर्द किसका? प्रेम का। 'पेन आफ़ लविंग' और 'पेनफ़ुल ट्रुथ'। प्रेम का दर्द और दर्द की अनुभूति, क्योंकि कोई भी अनुभूति दर्द से रहित नहीं होती। प्रेमानुभूति का यही दर्द शेखर और भुवन को है तथा शशि और रेखा को है—शशि और रेखा को शायद अधिक! दर्द की परिसमाप्ति मृत्यु या निराशा। यह अनुभूति हमारे जीवन को कितनी गहराई तक जाकर आन्दोलित करती है? यह दर्द हमें दबोचता है, अवसन्न करता है, निष्क्रिय बनाता है या हमें अपने सम्पूर्ण जीवन पर फिर से विचार करके नये सिरे से जीने के लिए प्रेरित करता है?

इस प्रकार इस अनुभूति की गहराई की परीक्षा करते हुए हम अनिवार्य रूप से इसकी व्याप्ति में जा पड़ेंगे। किसी को गहराई तक प्रभावित करने का अर्थ है—उसके सम्पूर्ण अस्तित्व, व्यक्तित्व और भावसत्ता को प्रभावित करना, और बहुत देर तक प्रभावित किये रहना। अनुभूति की गहराई का निर्णय एक व्यक्ति और एक क्षण से नहीं किया जा सकता। गहराई का निर्णय दिक् और काल-सापेक्ष है। इस अनुभूति की गहराई पर विचार करते समय हमें साधारणीकरण के प्रश्न का सामना करना पड़ेगा। तब सवाल उठेगा कि उस विशेष चरित्र तथा अनुभूति में अधिक से अधिक लोगों और युगों तक पहुँचने की क्षमता है या नहीं? अनुभूति की गहराई को इस तरह तीव्रता के साथ सामान्यता का भी निर्वाह करना होगा। अनुभूति की शक्ति केवल तीव्रता में नहीं, बल्कि स्थायित्व में होती है और स्थायित्व का आधार वस्तुतः व्यापक मानवीयता ही है। जब किसी अनुभूति को हम गहरी कहते हैं तो उसे मानवीय कहते हैं। और मानवीयता से व्यापकता ख़ारिज नहीं है। मतलब यह कि मानवीयता की व्यापक भूमि पर ही कोई अनुभूति गहरी हो सकती है।

इस दृष्टि से देखने पर तथाकथित गहरी अनुभूति वाले सुनीता, त्यागपत्र, शेखर, नदी के द्वीप जैसे उपन्यासों की गहराई की सीमाएँ प्रकट होने लगती हैं। व्यापकता की कमी से उनमें गहराई की कमी आ गयी है। उनमें व्यापकता की कमी इस बात में नहीं कि राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक जीवन के चित्रण की उपेक्षा की गयी है। केवल नारी-पुरुष के प्रणय पर लिखने से ही कोई उपन्यास संकुचित नहीं हो जाता; संकुचित वह तब होता है जब प्रणय को सम्पूर्ण जीवन से काट कर चित्रित किया जाता है। और वे उपन्यास इसी अर्थ में संकुचित हैं। समस्या चाहे जितनी छोटी हो, परन्तु व्यापक रूप से उपस्थित की जाने पर बड़ी हो जाती है। किसी उपन्यास की व्यापकता इस बात में है कि

वह जीवन की छोटी समस्या को कितने बड़े परिवेश में और किस स्तर पर उपस्थित करता है।

व्यापक परिवेश में और ऊँचे स्तर पर किसी समस्या को रखने का कार्य वही लेखक कर सकता है जिसका सम्बन्ध अधिक से अधिक व्यापक सामाजिक परिवेश से हो और इस सम्बन्ध के विषय में जिसकी समझ का स्तर भी काफ़ी ऊँचा हो। बड़ी मोटी बात है कि अपने बारे में ठीक से जानने के लिए अपने से सम्बन्धित दूसरे लोगों के बारे में भी जानना ज़रूरी है। लेकिन जो लेखक अपने को उस ग्रंथि की तरह समझता है जिसके सभी सूत्र खो गये हैं, वह इन सम्बन्ध-सूत्रों को न तो जान सकता है और न पा सकता है। 'जीवन की बढ़ती हुई जटिलता के परिणाम-रूप' जिनकी 'व्यापकता का घेरा क्रमशः अधिकाधिक सीमित होना चाहता है', उनकी हीनता-ग्रंथि ने अपनी संकीर्णता को ही गहराई का गौरव दे डाला है।

वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जीवन की जटिलता बढ़ रही है तो इसका मतलब है कि हमारे सामाजिक सम्बन्धों के सूत्र और भी व्यापक और घने हो रहे हैं। ज़रूरत इससे घबड़ाने की नहीं, बल्कि समझने की है। इन जटिल सम्बन्ध-सूत्रों को समझने और सुलझाने से ही हमारे व्यक्तित्व में समृद्धि आ सकती है और फिर ऐसे ही समृद्ध व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति साहित्य में श्रेष्ठता ला सकती है। मतलब यह कि किसी अनुभूति की गहराई व्यापक परिवेश पर निर्भर है।

ताल्सताय के 'पियरे' की नितान्त निजी चिन्ताओं में अनुभूति की इतनी गहराई इसीलिए है कि उसके पीछे सारे रूस की राष्ट्रीय स्वाधीनता का संघर्ष है। 'अन्ना' का अन्तर्द्वन्द्व इसीलिए इतना मार्मिक है कि उसके पीछे रूस के कुलीन घरानों के व्यापक नैतिक ह्रास की छाया है। प्रेम के साथ यहाँ सम्पूर्ण सामाजिक जीवन लिपटा चला आया है।

इस तरह सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने के लिए लेखक को व्यक्ति-व्यक्ति और क्षण-क्षण की अनुभूतियों का सम्बन्ध मिलाना पड़ता है। लेकिन गहराई का दम भरने वाले लेखक अलग-अलग क्षणों में जीते हैं। उनका हर क्षण अपने में पूर्ण और एक दूसरे से अलग है। इसलिए वे क्षण-सुख और क्षण की अनुभूति का चित्रण करते हैं। क्षण की अनुभूति अर्थात् इन्द्रिय-बोध और क्षण-सुख-अर्थात् इन्द्रिय-सुख। निःसन्देह इन इन्द्रिय-बोधों के चित्रण में अत्यन्त तीव्रता होती है और इसीलिए कुछ पाठक इन्हीं को अनुभूति की गहराई मान बैठते हैं।

शशि की सप्तपर्णी छाँह में सोते की तरह सोने वाले शेखर के ऐन्द्रिय-बोध, तुलियन में रेखा के हिम-पिण्डों पर जमते और पिघलते हुए भुवन का ऐन्द्रिय-सुख और सुनीता द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों की खुली दावत या गार्डन-पार्टी प्रायः अनुभूति की गहराई के रूप में स्मरण किये जाते हैं। कुछ आलोचकों ने इन स्थलों को अश्लील बता कर निन्दा भी की है। लेकिन जो साहित्य के मूल्यांकन का नैतिक मानदंड स्वीकार ही नहीं करते उन की 'गहराई' तो इस अश्लीलता से खंडित नहीं होती। इसलिए उनसे तो अनुभूति के उसी अखाड़े में मिलना होगा।

उन ऐन्द्रिय वर्णनों की दुर्बलता इस बात में है कि वे अनुभूति के प्रथम चरण तक ही रुक गये हैं। इन्द्रिय-बोध अनुभूति की केवल पहली अवस्था है, इसके बाद उसकी मानसिक प्रतिक्रिया भावानुभूति की सृष्टि करती है जो अन्त में चिन्तन के आलोक से आलोकित हो उठती है। परन्तु इन्द्रिय-बोध को भाव और चिन्तन की अवस्थाओं तक ले जाने के लिए क्षणों के प्रवाह से गुज़रना होता है और क्षण-जीवी लेखक ऐन्द्रिय-सुख के क्षण से आगे बढ़ते ही नहीं, और बढ़ते भी हैं तो मन ही मन उसी क्षण को जीते रहते हैं। इस तरह काल-प्रवाह में बहने से इनकार करके ये लेखक अपनी अनुभूति का सहज आवेग और विकास-क्रम भी ख़त्म कर देते हैं। बँधे हुए क्षणों की बँधी हुई उन अनुभूतियों में इसीलिए स्वास्थ्य और उल्लास का अभाव मिलता है। चिन्तन की प्रौढ़ता और भाव की तरलता में व्यक्त हुए सशक्त ऐन्द्रिय-बोधों का वर्णन देखना हो तो गेटे का 'फ़ाउस्ट' और ताल्सताय का 'युद्ध और शांति' अथवा 'अन्नाकैरेनिना' देखें। भाव और चिन्तन के कारण ऐन्द्रिय बोध में गहराई इसीलिए आती है कि इनमें क्रमशः साधारणीकरण की शक्ति अधिक होती है। विशेष ऐन्द्रिय-बोध, भाव और चिन्तन की सामान्यता के सहारे, व्यापकता प्राप्त करता है। उपन्यास के किसी विशेष चरित्र के निजी कार्य-कलाप ऐसे ही सामान्य तत्वों के सहारे बहुतों की दिलचस्पी के हेतु बन जाते हैं और इस तरह वह चरित्र किसी विचार का प्रतिनिधि बन जाता है। लेखक अपने चरित्र के व्यक्तित्व को भावों और विचारों की जितनी भूमियों पर उद्‌घाटित करता है, उसमें उतनी ही शक्ति आती है।

मतलब यह कि अनुभूति की गहराई हर हालत में अनुभूति की व्यापकता से निर्धारित होती है। व्यापकता का तिरस्कार करके जो लेखक गहराई लाने का दम भरता है, वह दरअसल संकीर्णता के अंध कूप में पड़ता है। उसकी अनुभूति

का अर्थ संकुचित होता है और गहराई उथली होती है। 'तुलसीदास की भावुकता' पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने काफ़ी पहले लिखा था —"जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह का ही चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें।" और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। इसके बाद विस्तार और गहराई का प्रश्न उठाते हुए शुक्ल जी फिर कहते हैं—"गोस्वामी जी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है? यदि तीव्रता न होती, भावों का पूर्ण उद्रेक उनके वचनों में न होता, तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते?" इससे गहराई और व्यापकता का सम्बन्ध स्पष्ट है। ताल के सूखने पर उसकी व्यापकता ही नहीं, गहराई भी कम होती है। इसलिए जो लेखक अपनी गहराई बढ़ाना चाहते हैं, उन्हें अपनी व्यापकता भी बढ़ानी होगी। क्योंकि व्यापकता का चित्रण करने से लेखक सतही नहीं होता, सतही होता है सतह न तोड़ने से! इसलिए जो गहराई के अभिलाषी हैं उनके लिए जरूरी है कि पहले अपनी-अपनी सतह तोड़ें!

शिवदान सिंह चौहान

●●●

नये भारत में साहित्य के मान-मूल्यों का प्रश्न

नये भारत से मुराद स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारत से है। यों तो नये भारत की रूपरेखा बनना उस दिन से ही शुरू हो गयी थी जिस दिन किसी हिन्दुस्तानी को अपनी गुलामी के बन्धन असह्य मालूम पड़े और उसके मन में आज़ादी की तमन्ना पैदा हुई। उस दिन से ही नये भारत का निर्माण करने के लिए हमारी संघर्ष-यात्रा का आरम्भ हुआ। उस दिन से ही हमारी जीवन-दृष्टि और जीवन-मूल्य बदलने लगे। साहित्य का स्वर भी 'कोऊ नृप होय, हमहिं का हानी' की तटस्थता छोड़ कर 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' के उद्घोष में परिणत हो

गया। एक शताब्दी बीत गयी हमें नये भारत के निर्माण की आकांक्षा ले अपनी संघर्ष-यात्रा में निकले। इस संघर्ष के बीच नये भारत की रूपरेखा हमारे हृदयों में बनती-उभरती आयी है। इसीलिए जब स्वतंत्रता मिली तो उसने नये मूल्यों और नयी दृष्टि को जन्म नहीं दिया, बल्कि इससे हमारे बुद्धिजीवी वर्ग में एक विचित्र भ्रम ही पैदा हुआ। मन की गति सदा बाह्य घटनाओं के समानान्तर नहीं चलती, न हर नयी घटना का तत्काल मर्म-बोध करने में ही समर्थ होती है। अधिकतर लोगों ने समझा कि हम आख़िरी मंज़िल पर पहुँच गये। आख़िरी मंज़िल पर पहुँचना गति का अवसान है। जीवन चिरन्तन गति है। उसे अगर आगे बढ़ने का मौक़ा न मिले तो वह पीछे लौटेगा ही। मन की गति भी इस नियम का अपवाद नहीं है। स्वतंत्रता के बाद, दुर्भाग्य से, मन और जीवन की गतियाँ विपरीत दिशा में चलने लगीं। जीवन तो आगे बढ़ा, क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता ही जीवन का लक्ष्य नहीं था। लेकिन मन और बुद्धि धोखा खा गये। कुछ लोग 'स्वतंत्रता' को ही अन्तिम मंज़िल समझ कर आगे बढ़ने से रुक गये। पुरानी पीढ़ी के साहित्यकार, जिन्होंने गहरी आत्मवेदना से संघर्ष-काल की आकांक्षाओं को वाणी दी थी, स्वतंत्रता मिलते ही उन आकांक्षाओं के प्रति असंवेदनशील-से हो गये। उन्होंने समझा कि बस यही नया भारत है, जिसके गीत वे अब तक गाते आये थे। संघर्ष का अब अंत हो गया, जीवन के अभाव पूरे हो गये और सत्ता के उपयोग का समय आ गया। नयी पीढ़ी के कुछ साहित्यकारों ने, जो कभी संघर्ष में तप कर कंचन नहीं बने थे, न जिन्हें दूसरों के दुख-दर्द का अनुभव ही था, स्वतंत्रता का अर्थ उच्छृंखलता लगाया और वे सब प्रकार के सामाजिक दायित्वों को व्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगे अनावश्यक प्रतिबन्धों के रूप में देखने लगे। पुरानों की असंवेदनशीलता का ही यह दूसरा पहलू था। इन सब से अलग हमारे कुछ 'साथी' ऐसे भी थे, जिन्होंने अपने मन में नये भारत की एक आदर्श कल्पना बना रखी थी। स्वतंत्रता के बाद भी उस कल्पना से भारत का मेल न देख कर उनकी निराशा दुर्वासा का अनियंत्रित आक्रोश बन कर फूट निकली। उन्होंने कहा कि यह स्वतंत्रता एक धोखा है, क्योंकि इसमें सब कुछ अभी पुराना ही है, नया कुछ भी नहीं, केवल शासक बदल गये हैं। वर्ग-शोषण से मुक्ति, न्याय और समानता इसमें आज भी दुर्लभ है।

इस मति-भ्रम के वातावरण में, स्वतंत्रता के बाद भारतीय जीवन में, विशेषकर बुद्धिजीवियों में मूल्यों का विघटन शुरू हुआ। इस विघटन में और

भी अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने योग दिया। उनका उल्लेख करना व्यर्थ है। तीसरे महायुद्ध की आशंका से लेकर फ़िल्म-व्यवसायियों की स्वार्थपरता तक का छिद्रान्वेषी विवेचन करते हुए, इन कारणों की एक लम्बी सूची गिनाने की प्रथा-सी चल पड़ी है। हर लेखक इन कारणों को गिनाता है—वह भी जो मूल्यों के विघटन से क्षुब्ध है और वह भी जो मूल्यों के विघटन के नाम पर व्यक्ति की आत्मविलासी क्रीड़ाओं के लिए सामाजिक दायित्वों की चेतना से साहित्य के दामन को अछूता रखना चाहता है। लगता है जैसे ये सभी लोग क्षणवादी हैं, वर्तमान को ही चिरन्तन मानते हैं। वस्तुतः वे वर्तमान के बाह्य रूप को ही देखते हैं, उसके आन्तरिक सत्य तक उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती, क्योंकि उनकी दृष्टि ऐतिहासिक नहीं है। स्वतंत्रता ने हमें मंज़िल पर नहीं पहुँचाया, बल्कि अपनी कल्पना के भारत का निर्माण करने का दायित्व भर सौंपा है। स्वतंत्रता वास्तव में दायित्व है, सत्ता का उपभोग करने का अधिकार नहीं, न मंज़िल की प्राप्ति ही। लेकिन इस बात को अधिकांश बुद्धिजीवी नहीं देख पाये। इसीलिए स्वतंत्रता से बाद स्वार्थों का संघर्ष चला, उसको औचित्य प्रदान करने के लिए सिद्धान्तों का आधार चाहे जो दिया गया हो, स्वार्थों का यह संघर्ष अवास्तविक है, भारतीय जीवन की वास्तविकता से उसका ऊपर का ही नाता है, क्योंकि भारतीय जीवन चन्द बुद्धिजीवियों की विकृत चेतना के बावजूद एक सर्वव्यापी क्रांति के मध्य से गुज़र रहा है। इसलिए मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया भी एक सामयिक विकृति है। स्वार्थों का संघर्ष क्षण-स्थायी है, अधिक दिन नहीं चलेगा। बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों को अपना भ्रम छोड़ कर वास्तविकता से आँखें दो-चार करनी ही पड़ेंगी और युग की केन्द्रीय समस्याओं को प्रतिबिम्बित करने के लिए जीवन-सत्य से जूझना पड़ेगा। इसलिए नये भारत में साहित्य के मान-मूल्यों का प्रश्न उठाना अब अनिवार्य हो गया है।

इस नये भारत के निर्माण की सजग चेष्टाएँ स्वतंत्रता के बाद ही शुरू हो सकती थीं। स्वतंत्रता-संग्राम इसके लिए ही लड़ा गया और असंख्य देश-भक्तों ने इसकी ख़ातिर ही स्वतंत्रता की वेदी पर अपने जीवन होम दिये। लेकिन जो आज है वही नया भारत नहीं है। हम स्वतंत्र हुए, लेकिन भारत अभी पुराना ही है। पुराना इस अर्थ में कि पुराने के अवशेष नये के मुक़ाबले में कहीं ज़्यादा हैं। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने उस दिन कहा कि हम अभी गोबर-युग में हैं, यानी हमारी जन-संख्या का अधिकांश भाग अपना काम-काज चलाने के

लिए जिस 'शक्ति' का इस्तेमाल करता है, वह उपले या कंडे जला कर प्राप्त की जाती है। कोयला, भाप या बिजली की शक्ति बहुत थोड़े लोगों को ही उपलब्ध है। एटम-शक्ति का तो अभी स्वप्न ही देखा जा रहा है। नये और पुराने या उन्नत और पिछड़े जीवन को नापने का यह भी एक मानदंड है कि किसी देश के निवासी प्रकृति के गर्भ से निकाल कर अपने जीवन को सभ्य और सुखमय बनाने के लिए औसतन कितनी मात्रा में 'शक्ति' का इस्तेमाल करते हैं। निश्चय ही मनुष्य की प्रगति को नापने का केवल मात्र यही मानदंड नहीं है। और भी अनेक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मानदंडों का प्रयोग होता है। लेकिन यह मानदंड काफ़ी बुनियादी है, क्योंकि कल हमारे देश में समाजवादी विधान लागू हो जाय और एक दर्जन शेक्सपियर, तालसताय, रवीन्द्र जैसी प्रतिभाएँ भी पैदा हो जायँ, तो भी 'शक्ति' प्राप्त करने के आधुनिक साधनों और माध्यमों का विकास किये बिना हमारा देश 'आधुनिक' या 'उन्नत' नहीं कहा जा सकेगा। हमारी जनता की ग़रीबी और उसका पिछड़ापन पूर्ववतः बना रहेगा। गोबर-युग से विकास करके एटम युग में पहुँचने की समस्या बनी ही रहेगी और देश को इस दिशा में विकास करना ही पड़ेगा। स्वतंत्रता के बाद हम योजना बना कर सजग और संगठित रूप से इस दिशा में कदम बढ़ाने लगे हैं, यह इस बात का प्रमाण है कि नये भारत के निर्माण का क्रम तेज़ी से शुरू हो गया है। इसका अर्थ आप समझते हैं?

इसका अर्थ है कि राजनीतिक पार्टियाँ या सरकारें बदल सकती हैं, लेकिन नये भारत के बनने के क्रम में फ़र्क नहीं आ सकता—हर पार्टी को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए नये भारत के निर्माण का बीड़ा उठाना होगा, और ईमानदारी से उसके निर्माण में भाग लेना होगा, नहीं तो इतिहास उसे मिटा देगा। भगवान चाहे धनिकों और शक्तिमानों का ही साथ देता हो, लेकिन इतिहास इतना अंधा और पक्षपाती नहीं है, क्योंकि इतिहास का निर्माण मनुष्य करते हैं। इतिहास की प्रक्रिया मानव-प्रगति की प्रक्रिया है, इसलिए उसकी कसौटी भी मानव-प्रगति ही है। इस कसौटी पर जो पार्टी, राज्य, वर्ग, सभ्यता, व्यक्ति या विचार खोटा सिद्ध होगा, उसे इतिहास अन्ततः मिटा देगा, इसमें सन्देह नहीं। हमारा मानव-समाज के दीर्घकालीन इतिहास का अनुभव यही बताता है। आज कोई पार्टी, वर्ग या व्यक्ति कितना ताकतवर है, इतिहास के लिए इस प्रमाण का कोई मूल्य नहीं है। मानव-समाज की प्रगति में वह कितना योग दे सकता है, उसके भावी अस्तित्व की सार्थकता केवल इससे ही

सिद्ध होगी। इसलिए राजनीति के झगड़े, जहाँ तक पार्टियों के झगड़े हैं, निम्न-स्तर के झगड़े हैं या अधिक से अधिक नये भारत के निर्माण-कार्य को अधिक वेग और सुचारु रूप से चलाने के बारे में अपनी-अपनी योग्यता प्रमाणित करने का अवसर पाने के झगड़े हैं। तो इस विवेचन से दो बातें स्पष्ट हैं—पहली यह कि हम आज़ाद हुए हैं तो अब फिर कभी गुलाम नहीं बनना चाहेंगे। दूसरी यह कि हम आज़ाद हुए हैं तो अब पुराना भारत नहीं रहेगा, क्योंकि नये भारत के निर्माण का क्रम लगातार जारी रहेगा। यहाँ पुराने भारत का अर्थ अजंता, एलोरा, ताज या प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की महान उपलब्धियाँ नहीं हैं, बल्कि भारतीय जनता की ग़रीबी, पिछड़ापन, अशिक्षा, मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव करने वाले रीति-रिवाज, सामन्तवादी और पूँजीवादी शोषण है। नये भारत के निर्माण से मनुष्य-जीवन को विकृत और अभावग्रस्त बनाने वाली ये पुरानी व्याधियाँ मिटती जायेंगी। इस निर्माण की गति तत्कालीन परिस्थितियों के संघात से कभी मंद या तीव्र हो जाय, यह अलग बात है, यद्यपि मंद होना भी सम्भव नहीं दीखता। एक महान् विप्लव, क्रांति या परिवर्तन सामने है—हम उसके भँवर में हैं। यह शांतिपूर्ण निर्माण का विप्लव है, निर्माण की क्रांति है, निर्माण, का परिवर्तन है। धरती के जिस बंजर चप्पे पर हल चलता है, वह उसके लिए विप्लव, निर्माण, परिवर्तन सब कुछ होता है। लेकिन वह अन्ततः निर्माण की प्रक्रिया का ही अंग है। उसकी उधेड़ी हुई मिट्टी की ताज़ी गंध में भी अन्न के भावी अंकुरों की सम्भावना छिपी होती है। यह सब हल जोतने वाले को दीखता है। उसका लक्ष्य स्पष्ट होता है और यह लक्ष्य उसे अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयों और अभावों से ऊपर उठ कर भूमि को उर्वर बनाने में अपनी समस्त शक्ति लगा देने की प्रेरणा देता है।

तो क्या आज़ादी और नये भारत के निर्माण से साहित्य के मूल्यों का सम्बन्ध इतना सीधा है? क्या साहित्य के मूल्य बदल जाने चाहिए? हमारा दावा यह नहीं है। एक शताब्दी के विकास को दृष्टि में रख कर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जब से आज़ादी की भावना पैदा हुई है, तब से हमारे साहित्य के मूल्यों में भी परिवर्तन आया है और कुछ मूल्य हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए हम जान-अनजान में संघर्ष करते आये हैं। रीतिकालीन कविता से भारतेन्दुकालीन साहित्य की तुलना करते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। एक नये परिवर्तन और विकास के चिन्ह हमें दृष्टिगोचर होते हैं।

साहित्यकार एक व्यापक प्रवृत्ति को त्याग कर, एक दूसरी और उतनी ही व्यापक प्रवृत्ति को अपनाते हुए नज़र आते हैं। दोनों युग के साहित्यकारों के विश्व-बोध में काफ़ी बड़ा फ़र्क है। इस नयी प्रवृत्ति और विश्व-बोध में जिन मूल्यों को अधिक मान्यता दी गयी, उनका आज़ादी और प्रगति की भावना से सीधा सम्बन्ध भी दिखायी देता है। इसके बाद इतिवृत्तात्मक, छायावादी या प्रगतिवादी आदि जो भी काव्य-प्रवृत्तियाँ सामने आयीं और कथा साहित्य में आदर्शवाद, यथार्थवाद या प्रकृतिवाद की जो भी प्रवृत्तियाँ मुखर हुईं, उन सब में इन मूल्यों को ही युग की बढ़ती चेतना के साथ, सूक्ष्म अथवा स्थूल अभिव्यक्ति देने की चेष्टा दिखायी देती है। आज़ादी पाने से पहले के काव्य और साहित्य में अभिव्यक्ति की प्रणाली चाहे वैयक्तिक रही हो या निर्वैयक्तिक, इतना तो स्पष्ट है कि उसका सम्बन्ध सामाजिक कुरीतियों, क्रूर प्रतिबंधों, आर्थिक-राजनीतिक ग़ुलामी, अन्याय, शोषण और असमानता से मुक्ति पाने की आकांक्षा से अवश्य रहा। यह कहना ग़लत है कि पुराने साहित्यकार इन भावनाओं, प्रवृत्तियों और विचारों के प्रति सचेत नहीं थे या स्वयं अपनी अभिव्यक्तियों के अर्थ-संकेतों को पूरी तरह नहीं समझते थे और अनजाने में ही उन्होंने इन मूल्यों को व्यक्त किया। हाँ, इतना अवश्य सम्भव है कि उन्होंने सदा जानबूझ कर या पूर्व-निश्चय द्वारा इन मूल्यों को अभिव्यक्ति देने के लिए साहित्य की रचना न की हो और किसी व्यक्तिगत अनुभव को मूर्त अभिव्यक्ति देते समय ये मूल्य अनिवार्यतः प्रतिबिम्बित हो गये हों। यह सब सम्भव है, क्योंकि लेखक का विश्व-बोध भी देश-काल सीमित ही होता है और जो भावनाएँ और विचार युग-मानस को आलोड़ित करते हैं उनसे कोई भी रचनाकार अप्रभावित नहीं रहता। साथ ही यह भी सत्य है कि हर देश और काल में नये-पुराने का संघर्ष निरन्तर जारी रहता है और जन-मानस में नये या पुराने का समर्थन करने वाले परस्पर-विरोधी विचार प्रचलित रहते हैं। इस विचार-संघर्ष के पूरे ऐतिहासिक मर्म को बुद्धि-तल पर न समझने वाले लेखकों ने भी यदि नये और प्रगतिशील विचारों को अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित किया तो इसका अर्थ है कि उनका हृदय पुराने के आकर्षण के बावजूद युग-जीवन की प्रगतिशील आकांक्षाओं के प्रति सहज संवेदनशील था और वे अपनी रचनाओं में उन मूल्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे जो जीवन-वास्तव की माँग बन चुके थे। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले के आधुनिक भारतीय साहित्य में कुछ ऐसा ही हुआ। इसलिए एक शताब्दी से हमारे श्रेष्ठ रचनाकार भारतीय जनता

की प्रगतिशील आकांक्षाओं को मूर्त्त अभिव्यक्ति दे कर जिन मूल्यों की प्राप्ति के लिए जान-अनजान में संघर्ष करते आये हैं, आज उन्हें स्वीकार भर कर लेना ज़रूरी है। दिमाग़ को खरोंच कर या कल्पना से मूल्यों की सृष्टि नहीं होती। ये मूल्य एक दीर्घकालीन संघर्ष, आज़ादी की प्राप्ति और नये भारत के निर्माण की समस्या से पैदा हुए हैं, उन्हें स्वीकार करने का अर्थ है कि हम अपने दायित्वों के प्रति सचेत हैं और किसी भी आकर्षक सामयिक फ़ैशन या विदेशों से आयी मानवद्रोही प्रवृत्ति के पीछे पागल होकर अपना दिशा-ज्ञान खोने के लिए तैयार नहीं हैं, जैसा कि कुछ लोग कर रहे हैं। अन्ततः यह साहित्यकार के अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा का भी प्रश्न है, जो ग़लत प्रवृत्तियों के प्रभाव में पड़ कर अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करके स्वयं अपना गला घोंट डालता है। ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद की विकृतियों से आक्रान्त पाश्चात्य देशों में मूल्यों का तेज़ी से विघटन हो रहा है और वहाँ के साहित्यकारों और कलाकारों में वैयक्तिक स्वतंत्रता और रचनाकार की ईमानदारी के नाम पर नैतिक दृष्टि से मानवद्रोही, राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी तथा न्यस्त स्वार्थों की पोषक प्रवृत्तियाँ ज़ोर पकड़ रही हैं। साहित्य में मूल्यों का विघटन समाज-जीवन से रोग-ग्रस्त तथा ह्रासोन्मुखी होने की ही निशानी है। स्वतंत्रता के बाद हमारे बहुत से तरुण लेखकों और कलाकारों को पथभ्रष्ट करने में पाश्चात्य साहित्य की इन प्रवृत्तियों का बड़ा हाथ रहा है, यद्यपि हमारे यहाँ का समाज-जीवन ह्रासोन्मुखी नहीं है, विकासशील है और जो वैषम्य और रुग्णता उसमें है, वह ग़ुलामी की देन है, जिसे मिटाने के लिए हम कृत-संकल्प हैं। समग्र रूप से इस वैषम्य और रुग्णता में वृद्धि नहीं हो रही, बल्कि धीरे-धीरे कमी हो रही है, क्योंकि हम नये भारत के निर्माण की ओर बढ़ रहे हैं। किन्तु फिर भी तत्कालीन परिस्थिति को ही चिरन्तन सत्य मान लेने से इस बात का भ्रम तो पैदा होता ही है कि भारतीय समाज खोखला है और असाध्य रोगों से पीड़ित है और इसे सम्पन्न और स्वस्थ बनाने के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, वे स्वार्थ प्रेरित राजनीतिज्ञों द्वारा रचे गये ढकोसलों से अधिक कुछ नहीं हैं। पाश्चात्य देशों में प्रचलित विचारधाराएँ इन भ्रमों को पक्का करने में मदद करती हैं और वे रूस-चीन के विकासोन्मुखी समाजों के प्रति आँखें मूँद लेते हैं, क्योंकि मानवद्रोह की घुटी बेचने वाले विचारकों और साहित्यकारों से उन्होंने अपने साहित्यिक शैशवकाल में ही रूस-चीन के बारे में बहुत-सी बे सिर-पैर की बातें सुन रखी हैं। रूस और चीन में चाहे पुश्किन, तालस्ताय, गोर्की या लू सुन की प्रतिभा के लेखक अभी

पैदा न हुए हों, लेकिन इतना तो निश्चित है कि वहाँ मूल्यों का विघटन नहीं हुआ है, जो स्वयं अपने में इस बात का प्रमाण है कि वहाँ का मानव समाज पश्चिम के पूँजीवादी समाज की तरह ह्रासोन्मुखी या रोग-ग्रस्त नहीं है। विज्ञान और ऐटम बम के युग में भी यदि रूस-चीन के साहित्यों में मूल्यों का विघटन नहीं हुआ है, तो अक़्ल पर ज़्यादा ज़ोर दिये बिना भी यह बात समझ में आ सकती है कि मूल्यों का विघटन, मानवद्रोही भावना और कुंठा-अनास्था की प्रवृत्तियाँ कोई ऐसी विश्व-व्यापी वास्तविकताएँ नहीं हैं कि हम उन्हें युग की अनिवार्यता मान कर अपना लें या चुपचाप स्वीकार कर लें। पूँजीवादी समाज के अन्ततः ह्रास से त्रस्त विचारकों और साहित्यकारों द्वारा फैलाया हुआ यह भ्रम है, और चूँकि भारतीय-समाज पूँजीवाद के मार्ग से नहीं, बल्कि समाजवाद के मार्ग से विकास करने के लिए कटिबद्ध है, इसलिए मानवद्रोही भावनाओं का हमारे देश में कोई औचित्य नहीं है। जो लोग इस पाश्चात्य पौधे को यहाँ उगाना चाहते हैं, उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि उसके लिए यहाँ अधिक दिनों तक अनुकूल वातावरण नहीं मिलेगा। संक्रान्ति-काल की सामयिक अराजकता का लाभ उठा कर यह पौधा दो-चार कोंपलें चाहे फोड़ ले, लेकिन वृक्ष नहीं बन सकता। फिर भी, पिछली एक शताब्दी के संघर्ष-काल में कतिपय मूल्यों के रूप में हमारे साहित्य की जो उपलब्धियाँ हैं, उनको नये भारत के निर्माण की समस्या के सन्दर्भ में रख कर व्यापक जीवन-दृष्टि के रूप में स्वीकार करने की आज ज़रूरत है।

भारतीय जनता ने आज़ादी के लिए संघर्ष किया—क्यों? क्योंकि 'आज़ादी' स्वयं एक मूल्य है, शायद सबसे बड़ा मूल्य। आज़ादी के बिना नये भारत के निर्माण की आकांक्षा एक स्वप्न ही बनी रहती। आज़ादी की बुनियाद पर ही 'नये भारत' की इमारत खड़ी हो सकती थी। 'जनवाद' दूसरा मूल्य है, जिसके लिए हमारी जनता ने संघर्ष किया, क्योंकि जनवाद में ही आज़ादी के बाद के भारत की आकांक्षाएँ ठोस मानवीय आधार पा सकती थीं। जनवाद या डिमोक्रेसी पूँजीवाद का पर्याय नहीं है, न दोनों में कोई अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जनवाद समाजवाद का विरोधी भी नहीं, जैसा कि ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद के विचारकों ने प्रचारित कर रखा है। जनवाद सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्रों में व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों का समानता, त्याग और सहयोग के आधार पर नियमन करनेवाली व्यवस्था भी है और विश्व-बंधुत्व की एक उज्ज्वल

नैतिक भावना भी। 'शांति' तीसरा मूल्य है जिसके प्रति हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का सहज आकर्षण रहा है, क्योंकि शांति—विश्व शांति—ही आज़ादी और जनवाद की सुरक्षा की गारंटी है और शांति के वातावरण में ही किसान की कुदाली धरती से सोना उगलवा सकती है और मज़दूर का हथौड़ा नये कारखानों, विद्युत-शक्ति पैदा करने वाले बाँधों और राजपथों का निर्माण करके ज़रूरत की चीज़ें पैदा कर सकता है। ये तीन मूल्य हैं जो हमारी सभी प्रगति-चेष्टाओं के मूलमंत्र रहे हैं। ये मूल्य ही हमारी राष्ट्रनीति की आधार-शिला हैं— गांधी के सत्य-अहिंसा के सिद्धान्त, समाजवादियों-साम्यवादियों के शोषण-मुक्त वर्गहीन समाज-व्यवस्था के सिद्धान्त तथा राष्ट्रों के सह-अस्तित्व के लिए पंचशील के सिद्धान्त इन मूल्यों की ही पुष्टि करते हैं, क्योंकि भारतीय जीवन ही नहीं, विश्व-जीवन के विकास की सम्भावनाएँ भी इन मूल्यों की स्वीकृति पर निर्भर करती हैं।

भारतीय जनता ने अपने जीवन में इन मूल्यों को पाने के लिए संघर्ष किया है और हमारे सत्यान्वेषी साहित्यकारों ने व्यक्ति-पात्रों के माध्यम से मानव सम्बन्धों में एक उच्चतर सामंजस्य स्थापित करने की समस्या के रूप में इन मूल्यों को मूर्त्त अभिव्यक्ति दी है। इस परम्परा को स्वीकारने की ज़रूरत है, क्योंकि आज भी हमारे जीवन की वास्तविकता इस परम्परा के उत्तरोतर विकास का ही तकाज़ा कर रही है, न कि इसे त्यागने का। इसका अर्थ है कि साहित्यकारों की जीवन-दृष्टि व्यक्तिवादी या विज्ञान-विद्रोही नहीं हो सकती। व्यक्तिवाद और विज्ञान-विरोध के रूप में व्यक्त अबुद्धिवाद, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जो हमें अनास्था, कुंठा और मानव-द्रोह की ओर ले जाते हैं। व्यक्तिवाद को व्यक्तित्व से नहीं मिलाना चाहिए। इस बात को ठीक से समझने की ज़रूरत है। व्यक्तिवाद और व्यक्तित्व एक ही चीज़ नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व अकुंठित रूप से विकास करे, यह सामाजिक प्रगति का लक्ष्य माना जा सकता है, क्योंकि जिस नये भारत का निर्माण हम करना चाहते हैं, उसमें व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण हों, इससे किसी को विरोध नहीं हो सकता। लेकिन व्यक्तिवाद के मार्ग से व्यक्तित्व का विकास निश्चय ही सम्भव नहीं है, उससे व्यक्तित्व का हनन अवश्य होता है। समाज व्यक्तियों से ही मिल कर बनता है। हम जो कुछ भी हों, मजदूर, किसान, डाक्टर, वैज्ञानिक, शिक्षक, लेखक कलाकार—सभी समाज के अंग हैं। हम सबके विभिन्न व्यवसायों और कार्यों की सार्थकता समाज के कारण ही है। अपने कार्यों से हम समाज को आगे ले जाते

हैं, क्योंकि हमीं समाज हैं। यदि व्यक्ति व्यक्तित्वहीन होंगे, उनमें प्रौढ़ता, शिक्षा, योग्यता और भले-बुरे का निर्णय करने की क्षमता नहीं होगी तो उनका सामाजिक जीवन भी कमज़ोर और विशृंखल होगा। इसलिए समाज जिन व्यक्तियों से मिल कर बना है, उनको व्यक्तित्व का विकास करने की पूरी सुविधाएँ दे कर ही वह उन्नति की आशा कर सकता है। व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति इसके विपरीत है। व्यक्तिवाद पूँजीवादी समाज-सम्बन्धों की अराजकता को प्रतिबिम्बित करनेवाली प्रवृत्ति है, जिसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच सामान्य सम्बन्ध सूत्रों की चेतना कुंठित और मलिन हो जाती है। जिस समाज की सत्ता मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर अवलंबित हो, उसका विश्व-बोध सामान्य सम्बन्ध-सूत्रों को अधिक महत्व नहीं दे सकता। आपने बच्चों के मनोविज्ञान पर ध्यान दिया है? बच्चों में अभी व्यक्तित्व का विकास नहीं होता, इसलिए वे घोर व्यक्तिवादी होते हैं—आत्मकेन्द्रित, स्वार्थ-सीमित, संकीर्ण और अवसरवादी भी! दूसरे के खिलौनों पर अपना दावा करना, मिठाई के लालच में अपरिचित की गोद में जाना और मिठाई पाते ही माँ की गोद में लौटने के लिए मचलना, चीज़ों को तोड़ने में आनन्द लेते समय यह न सोचना कि यह ऐनक है या मिट्टी का खिलौना! और माँ-बाप की आँखों में उँगली कोंचने से रोकने पर बिलख-बिलख कर रोना—उनकी ऐसी असंख्य हरकतें हमें प्रिय लगती हैं, क्योंकि वे अभी अबोध हैं। हम उनसे अभी अपने सामाजिक दायित्वों की चेतना की अपेक्षा नहीं रखते। जिन लेखकों के दिमाग़ इन बच्चों से ज़्यादा विकसित नहीं होते—लेखक बनने से पहले दिमाग़ विकसित ही हो जाय, ऐसी कोई शर्त नहीं है कहीं—उन्हें यह संघर्षमय-परिवर्तनशील दुनिया कुछ अजब-सी दीखती है। उन्हें लगता है कि यह सामाजिकता ही उनके व्यक्तित्व को चारों ओर से जकड़े हुए है। और 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' के नाम पर वे सामाजिकता से ही द्रोह करने लगते हैं। समाज की कुरीतियों का विरोध, समाज से विरोध करना नहीं है—सभी महान लेखक सामाजिक कुरीतियों, अन्याय और शोषण को मान्यता प्रदान करनेवाली विचारधाराओं पर आक्रमण करते आये हैं। समाज से विरोध तो उस समय व्यक्त होता है जब इस प्रकार के सामाजिक दायित्व को नकारने की चेष्टा की जाती है। जब अपने व्यक्तित्व को विशिष्ट और अभिजात सिद्ध करने के लिए अन्य मनुष्यों को हीन और निकृष्ट समझा जाता है। यह व्यक्तिवाद है, जो अधकच्चरे दिमाग़ के लोगों में पनपता है और एक कैशोर-औद्धत्य के रूप में प्रकट होता है।

उसमें अच्छे-बुरे का भेद करने वाला विवेक नहीं होता। व्यक्तिवाद के मार्ग से व्यक्तितत्व का विकास असम्भव है। इब्सन के 'पियर जायन्ट' को न भूलें। उसने आत्म-सिद्धि के लिए सब से अलग, सामाजिक दायित्वों को ठोकर मार कर, बस 'स्वयं' बन कर रहने की चेष्टा की थी, लेकिन इस आत्म-केन्द्रित मार्ग से चल कर न वह 'स्वयं' बन सका, न व्यक्तित्व का विकास ही कर पाया। व्यक्तित्व का विकास आत्म-केन्द्रित, स्वार्थ-सीमित और मानवद्रोही दृष्टिकोण या कार्यों से नहीं होता, बल्कि दूसरों के प्रति सच्चे अर्थों में सहानुभूतिशील होने और दूसरों की निःस्वार्थ मंगल-साधना करने से होता है। सामाजिक दायित्वों को सहर्ष अपनाने से ही व्यक्तित्व विकास पाता है। जो अपने में ही रमा रहा, उसमें 'व्यक्तित्व' कैसा? इसलिए 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' को जिस निरपेक्ष अर्थ में व्यक्तिवादी पेश करते हैं, उस अर्थ में वह साहित्य का मूल्य नहीं बन सकता। यह एक सापेक्ष्य मूल्य है और जनवाद के अन्तर्गत ही इसका स्थान है, उससे बाहर या उसके ऊपर नहीं।

व्यष्टि और समष्टि के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या जनवाद की समस्या है, क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास और सामाजिक जीवन का विकास परस्पर सम्बद्ध हैं। आज यदि दोनों में सामंजस्य नहीं दीखता या यह कि व्यक्ति के जीवन में समाज का हस्तक्षेप बढ़ रहा है, जिससे व्यक्तित्व का विकास प्रायः कुंठित हो जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे साहित्यकार अपने साहित्य को ऐण्डरसन की कहानी 'बरफ़ की रानी' (स्नो क्वीन) के प्रेत द्वारा निर्मित दर्पण जैसा बना लें, जिसमें सुन्दर मनुष्य की आकृति और सुन्दर विचार भी हमेशा विकृत हो कर कुत्सित और कुरूप ही दीखते थे और फिर 'व्यक्तिवाद' या 'व्यक्तिस्वातंत्र्य' के नाम पर प्रचारित करें कि उनके चमत्कारी साहित्य में मनुष्य या उसकी भावना की शक्ल जैसी कुरूप दीखती है, वही उसका असली रूप है। व्यक्तिवादियों का साहित्य कुछ ऐसा दर्पण ही बनता जा रहा है, जिसमें मनुष्य और समाज की विकृति, कुत्सा, कुंठा, कुरूपता ही प्रतिबिम्बित होती है और जो सुन्दर है, भव्य है, पुनीत है, मंगलकारी है, वह भी बीभत्स, स्वार्थ-प्रेरित, अपवित्र और अमंगलकारी बन जाता है। लेखक के अपने या पाठकों के व्यक्तित्व के विकास में ऐसे साहित्य से कोई मदद नहीं मिलती। जनवाद के मूल्य को त्याग कर व्यक्तित्व के विकास की कल्पना एक थोथा आत्मविलास है। जनवाद के बिना व्यक्ति-स्वातंत्र्य का स्वप्न शोषक-वर्ग ही देख सकता है,

जनसाधारण नहीं देख सकते। इसलिए व्यक्तित्व के विकास और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की समस्या जनवाद के अंतर्गत मानव-सम्बन्धों के नियमन की समस्या है, लेखक के विशेषाधिकारों या आभिजात्य की समस्या नहीं है। व्यक्ति के जीवन में समाज का हस्तक्षेप किस सीमा तक हो और सामाजिक रूढ़ियों, नियमों या संस्थाओं से व्यक्ति किस सीमा तक स्वतंत्र हो—विचार और कर्म के क्षेत्र में—जनवादी दृष्टिकोण से ही इस समस्या का समाधान पाया जा सकता है। व्यक्ति की निरपेक्ष स्वतंत्रता या समाज की निरपेक्ष सत्ता का कोई अर्थ नहीं है। ऐसी चीज़ कभी नहीं रही—कबीलों के संगठन में भी नहीं—भविष्य में तो और भी सम्भव नहीं है, क्योंकि आज का व्यक्ति एक आत्मचेतन प्राणी है। फिर भी असामंजस्य और वैषम्य हमेशा रहा है, दोनों के अधिकारों और दायित्वों के बीच वर्ग-समाज के कारण, अभी तक सही संतुलन नहीं स्थापित हो पाया। इस कारण ही तो 'जनवाद' को अपनी जीवन-दृष्टि बनाने की आज अनिवार्यता है। व्यष्टि और समष्टि की समस्या के असंख्य रूप हैं, जीवन के हर क्षेत्र में इस समस्या का नया समाधान ज़रूरी है। उदाहरण के लिए आज नारी घर की चहारदीवारी को तोड़ कर बाहर आ रही है, जिससे मानव-सम्बन्धों में एक महान क्रांति का सूत्रपात हुआ है। मज़दूर-किसान अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत हो रहे हैं। जनवादी मूल्यों को जीवन दृष्टि के रूप में अपनाने वाला लेखक इस व्यापक जागृति और इसके फलस्वरूप मानव-सम्बन्धों में होनेवाले अभूतपूर्व परिवर्तनों को सहानुभूति पूर्वक समझ सकता है और उनमें मानव-प्रगति की झाँकी देख सकता है, किन्तु व्यक्तिवादी अपने आभिजात्य के चश्मे से इन सब युगान्तरकारी परिवर्तनों को मनुष्य की दमित वासनाओं और हिंस्र वृत्तियों के उच्छृंखल विस्फोट के रूप में ही देखने की क्षमता रखते हैं। वस्तुतः जनसाधारण की जागृति उन्हें अपने आभिजात्य पर एक आक्रमण-सा दीखता है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चीख़-पुकार का यही रहस्य है।

नये भारत के निर्माण को दृष्टि में रख कर आज़ादी, जनवाद और शांति को जीवन के सर्वोच्च मूल्य स्वीकार करने वाले साहित्यकार उस अबुद्धिवाद को भी प्रश्रय नहीं दे सकते थे जो विज्ञान-विरोध के रूप में प्रकट होता है और जो यथार्थ में व्यक्तिवाद का ही हमजोली है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही विज्ञान से द्रोह शुरू हो गया था, जब व्यक्तिवाद ने ज़ोर पकड़ा। कुछ साहित्यकारों ने सोचा कि विज्ञान मनुष्य को भौतिक रूप से तो सम्पन्न बना रहा है, लेकिन

आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य विपन्न होता जा रहा है। भौतिक समृद्धि को राष्ट्रों और व्यक्तियों की बढ़ती हुई स्वार्थपरता का मूल कारण समझा गया। उन्हें भय हुआ कि विज्ञान बुद्धि का साम्राज्य बढ़ा रहा है और हृदय की सत्ता को संकुचित कर रहा है, जिससे साहित्य-कला के प्रेरणा-स्रोत ही नहीं सूखते जा रहे, बल्कि मनुष्यमात्र में अनास्था, अनात्मीयता और असंवेदनशीलता बढ़ती जा रही है। इसलिए विज्ञानवाद के विरोध में अबुद्धिवाद ने सिर उठाया। नये भारत का निर्माण हम विज्ञान की ईजादों और सफलताओं की मदद से, वैज्ञानिक प्रणाली को अपना कर ही कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। अबुद्धिवाद और विज्ञान-विरोध के मार्ग से नये भारत का निर्माण नहीं हो सकता, इतना तो शायद अबुद्धिवादी भी समझते हैं। किन्तु फिर भी वे विज्ञान को दिन-रात कोसते रहने में कोई कसर नहीं उठा रखते।

साहित्य और कला सर्जन की प्रेरणा को धक्का विज्ञान ने नहीं लगाया है, बल्कि उस वर्ग की व्यावसायिक वृत्ति ने, जिसने विज्ञान की भी सफलताओं का दुरुपयोग किया है—अणु-अस्त्रों का निर्माण करके! इसलिए विज्ञान को दोष देना व्यर्थ है। विज्ञान के इस युग में भी तो महान लेखक हुए हैं, यद्यपि यह सच है कि विज्ञान में योग्यतम पुरुष खप रहे हैं, क्योंकि विज्ञान को अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कला-साहित्य के निर्माण और उसके व्यापक प्रसार के लिए उसे भी समान रूप से प्रोत्साहन देने की जरूरत है। क्योंकि अकेला विज्ञान कला और साहित्य के स्थान की पूर्ति नहीं कर सकता। मनुष्य की चेतना को बढ़ाने वाले यह दोनों कार्य एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों के लक्ष्य एक ही हैं, यद्यपि साधन और माध्यम भिन्न हैं। दोनों सत्य का अनुसंधान करते हैं, और दोनों मनुष्य के जीवन और जगत सम्बन्धी अनुभव और ज्ञान में अपने-अपने ढंग से वृद्धि करके मनुष्य की क्षमताओं का विकास करते हैं और उसके भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध बनाते हैं। अबुद्धिवादी आरोप लगाते हैं कि विज्ञान ने मनुष्य से उसकी आस्था छीन ली है, दुख-दर्द के क्षणों में सान्त्वना और धैर्य देने वाला सम्बल मनुष्य के पास नहीं रहा। लेकिन आस्था के लिए अंधविश्वास का आश्रय ही क्यों जरूरी है! विज्ञान ने अंधविश्वासों का उन्मूलन किया है तो सत्य की उपलब्धि के मार्ग से मानव-प्रगति की अपरिसीमित सम्भावना का दरस भी तो दिखाया है। मानव-प्रगति में विश्वास ही विज्ञान-युग की आस्था का आधार है—प्रगति, भौतिक ही नहीं, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक सभी प्रकार की। यदि हम मानव

२८

समाज का निर्माण बुद्धि-संगत आधार पर कर सकें, यदि शोषण और अन्याय को मिटा कर प्रत्येक व्यक्ति को विकास की समान सुविधाएँ दे सकें, यदि स्थायी शांति की स्थापना करके विश्व-मानव को सर्वनाश के त्रास से मुक्ति दिला सकें तो विज्ञान, कला और साहित्य मिल कर मानव-जीवन को समृद्ध और सुखमय बना सकते हैं, इसकी कल्पना आपने की है ?

बीसवीं शताब्दी विज्ञान की शताब्दी है, लेकिन इक्कीसवीं शताब्दी साहित्य और कला की शताब्दी होगी। इसे आप एक भविष्यवाणी भी समझ सकते हैं! नये भारत के निर्माण का संघर्ष हमारे सामने है, इसलिए इस शताब्दी के महत्व को समझिए! जब तक हम गुलाम थे, तब तक इसके पूरे महत्व को समझना हमारे लिए सम्भव न था, क्योंकि विज्ञान की सहायता से अन्य उन्नत देशों ने मनुष्य का जीवन स्तर कितना ऊँचा उठा दिया है, अनेक घातक बीमारियों-महामारियों पर विजय प्राप्त करके उसकी औसत आयु में कितनी वृद्धि कर दी है, इन सब बातों का वास्तविक अर्थ हम नहीं समझ सकते थे, क्योंकि यह सब हमारे जीवन की व्यावहारिक सम्भावनाओं से बाहर की बातें थीं। लगभग आधी शताब्दी इस तरह ही गुज़र गयी। किन्तु आज़ादी के बाद से सम्भावनाओं के नये क्षितिज खुलने लगे हैं। रूस, अमरीका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, जापान आदि देशों में जो समस्या पच्चीस वर्ष बाद उठेगी, इस शताब्दी के अन्त तक वह समस्या हमारे यहाँ भी उठेगी—अर्थात् विज्ञान के इस युग में अब हम अन्य उन्नत राष्ट्रों से पीछे नहीं रह सकते। तीन-चार पंचवर्षीय योजनाओं के बाद हमारे देश में भी वह विकास बिन्दु आयेगा, जिसके बाद निर्माण और उत्पादन का कार्य इस वेग से चल पड़ेगा कि जो उन्नति शताब्दियों में नहीं हुई थी, वह दो-चार वर्षों में ही हो सकेगी। हम इस शताब्दी के अन्त तक—भौतिक साधनों और सुविधाओं की दृष्टि से—वहाँ होंगे जहाँ हम अपने पाँच हज़ार वर्ष के इतिहास काल में कभी नहीं पहुँचे, क्योंकि हम आज पिछड़े हो कर भी विश्व की वैज्ञानिक प्रगति के वारिस हैं। बीसवीं शताब्दी के अन्त तक नये भारत का निर्माण इस सीमा तक हो चुकेगा कि जहाँ आज रेगिस्तान हैं वहाँ हरी-भरी खेती लहराती होगी, और हम गोबर के स्थान पर ऐटम, हवा, सूरज और समुद्र के ज्वार की शक्ति का इस्तेमाल करते होंगे। तब तक हमारे देश में भी प्लेग, हैज़ा, मलेरिया, चेचक, तपेदिक, कैंसर और पोलियो जैसी महामारियाँ एक बीते युग की स्मृतियाँ बन जायेंगी। हर मनुष्य स्वस्थ, सुशिक्षित और सुसंस्कृत होगा। हर मनुष्य को अपनी क्षमताओं के विकास के अवसर और

साधन उपलब्ध होंगे। समाज-व्यवस्था में वह वर्ग वैषम्य न होगा, जिसमें शोषण और अन्याय पनपता है। यह सब कोरी कल्पनाएँ नहीं हैं, बल्कि विज्ञान द्वारा पैदा की हुई ऐसी सम्भावनाएँ हैं, जो व्यावहारिक और यथार्थ हैं। नये भारत का निर्माण विज्ञान की मदद से ही सम्भव है और हम सब भारतवासियों को इस शताब्दी के अन्त तक कठोर श्रम, त्याग और साधना करनी पड़ेगी। तब तक भारतीय मानस में श्रम और साधना का आत्यन्तिक महत्व रहेगा, और विज्ञान छत्तीस करोड़ जनता के अतुल परिश्रम का रचनात्मक कार्यों के लिए संगठन, नियमन, संचालन करेगा। वैज्ञानिक सफलताएँ और वैज्ञानिक प्रणाली ही युग-भावना की प्रेरणा बनेगी। साहित्य को यह युग-भावना प्रत्येक व्यक्ति की चेतना और अनुभव का अंग बनानी पड़ेगी। यदि ऐसा न करके साहित्य ने विज्ञान-विरोधी अबुद्धिवाद का मार्ग पकड़ा तो वह पिछड़ जायगा, वह युग का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेगा। इतना ही नहीं, इस शताब्दी के अन्त तक जो समस्या हमारे देश में पैदा होगी और जिसका समाधान करके ही इक्कीसवीं शताब्दी कला और साहित्य की शताब्दी बन सकेगी, उसका समाधान साहित्य-कला के बस में नहीं रहेगा और अगली शताब्दी में भी साहित्य ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों से ही ग्रस्त बना रहेगा। मुझे ऐसी सम्भावना नहीं दीखती, क्योंकि वर्तमान पीढ़ी के साहित्यकारों के मन में विश्व में छाये हुए युद्ध के त्रास के कारण विज्ञान विरोधी अबुद्धिवाद के प्रति चाहे आकर्षण हो, लेकिन नये भारत के निर्माण की प्रगति अगली पीढ़ी के साहित्यकारों को इस भ्रमजाल से मुक्त करने में समर्थ होगी, इसमें सन्देह नहीं है। वे अपने वर्तमान और भविष्य को अधिक आश्वस्त नेत्रों से देख सकेंगे। फिर भी वर्तमान पीढ़ी के काफ़ी साहित्यकारों की प्रतिभा ग़लत रास्तों पर भटकती रहे, यह कोई अच्छी बात नहीं है। विज्ञान नये भारत के निर्माण और मनुष्य की भौतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति में योग दे और साहित्य चाहे अभी कुछ काल के लिए ही सही—इस निर्माण और प्रगति के बारे में मनुष्य के अन्दर सन्देह पैदा करे, भविष्य के बारे में आशंकाएँ उत्पन्न करे और मनुष्य के मानवीय गुणों और क्षमताओं के प्रति अविश्वास जगाये तो यह अनदेखा करनेवाली स्थिति नहीं है।

विज्ञान मनुष्य का दुश्मन नहीं है और न वह मनुष्य को अधोगति की ओर ले जा रहा है। विज्ञान और उसकी प्रणाली सत्य की खोज में लगी मनुष्य की उस बौद्धिक और आध्यात्मिक चेष्टा का ही एक विशिष्ट रूप है, जिसका दूसरा विशिष्ट रूप कला और साहित्य हैं। दोनों में यदि स्पर्धा का प्रश्न

उठता है तो इस बात के लिए कि देखें मनुष्य के भौतिक, आध्यात्मिक जीवन को भरापूरा बनाने में कौन अधिक योग देता है। साहित्यकार वैज्ञानिकों से ऐसी होड़ करें तो मनुष्य मात्र के लिए शुभकर बात हो सकती है, लेकिन विज्ञान का विरोध मनुष्य को गुमराह ही कर सकता है। विज्ञान की ईजादों का दुरुपयोग करने वाले लोगों और अबुद्धिवाद का प्रचार करने वाले साहित्यकारों तथा विचारकों के बावजूद विज्ञान पथभ्रष्ट नहीं हुआ, क्योंकि विज्ञान में प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ नहीं पनप सकतीं। इसलिए कुछ साहित्यकार चाहे व्यक्तिवाद और अबुद्धिवाद के झंडे फहराते रहें, लेकिन विज्ञान नये भारत के निर्माण में सतत् लगा रहेगा और इस शताब्दी के अन्त तक कला-साहित्य के भावी युग का सूत्रपात करने के लिए मनुष्य को हर प्रकार की भौतिक आवश्कताओं से सम्पन्न कर देगा। आगे चल कर जिस समस्या के उठने का मैं बार-बार संकेत करता आया हूँ, वह समस्या अवकाश के सदुपयोग की समस्या होगी, जैसे इस समय नये भारत के निर्माण की समस्या परिश्रम, त्याग और साधना की समस्या है। इस परिश्रम-काल के बाद मनुष्य के जीवन में अवकाश-काल आयेगा, सम्भवतः इस शताब्दी के अन्त तक ही, जब किसी भी मनुष्य को जीविका उपार्जन के लिए तीन-चार घंटों से ज़्यादा काम नहीं करना पड़ेगा। आजकल अभिजात वर्ग ही अवकाश-भोगी है, इस वर्ग के सदस्यों को ही अधिकतर पढ़ने-लिखने की सुविधाएँ प्राप्त हैं, जिसके कारण यह भ्रम उत्पन्न हुआ है कि कला अभिजातवर्ग की चीज़ है और अभिजात वर्ग के लोग ही कला और साहित्य के निर्माता, पोषक और पारखी हो सकते हैं। अभिजात वर्ग के अन्दर यह क्षमता उसके पास पर्याप्त अवकाश होने के कारण ही उत्पन्न हो सकी है। लेकिन पचास वर्ष के अन्दर सारा समाज ही आज के अभिजात वर्ग के समान अवकाश-भोगी हो जायेगा। तब अभिजात वर्ग की कला या कलाकार के आभिजात्य का कोई अर्थ नहीं रहेगा, क्योंकि तब कला-साहित्य की सर्जना या उसके सूक्ष्म सौन्दर्य को परख सकने का एकाधिकार किसी वर्ग-विशेष के पास नहीं रहेगा। हर मनुष्य तब श्रेष्ठतर कला और सूक्ष्मतर ज्ञान की माँग करेगा। तब अवकाश के सदुपयोग की समस्या मानव-सम्बन्धों के बीच एक उच्चतर सामंजस्य की समस्या के रूप में भी प्रकट होगी, ताकि मनुष्य अपने फालतू समय को सहयोग की रीति से अपने आध्यात्मिक विकास के लिए सांस्कृतिक मनोरंजन द्वारा बिता सकें।

प्राचीन काल में कर्म-जीवन के कोलाहल से दूर उपवनों में ऋषि

आश्रम जहाँ होते थे, उस ज़माने के मनीषी जीवन और जगत के रहस्यों की गाँठ खोलने के लिए अध्ययन-चिन्तन-परीक्षा करते थे। लेकिन अब समय आने वाला है, जब हर ग्राम और नगर एक विशाल सांस्कृतिक उपवन होगा, जिसमें अपरिग्रह और कठोर तप-साधना के मार्ग से नहीं बल्कि विज्ञान और कला-साहित्य की उपलब्धियों से प्रत्येक मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन को परिपूर्ण बनाने की कोशिश करेगा। व्यक्तिवाद और अबुद्धिवाद का विज्ञान-विरोध न हमें आज निर्माण की प्रेरणा दे सकता है, न कल हमें अपने अवकाश का रचनात्मक उपयोग करने की क्षमता ही दे सकेगा। इसलिए नये भारत के निर्माण के लिए आज़ादी, जनवाद और शांति को सबसे मूल्यवान मानने वाली जीवन-दृष्टि में व्यक्तिवाद और अबुद्धिवाद का कोई स्थान नहीं हो सकता।

आज़ादी, जनवाद और शांति को सबसे बड़े मूल्य मानने का यह मतलब क़तई नहीं है कि लेखक कांग्रेस या कम्युनिस्ट पार्टी के प्रस्तावों को सामने रख कर साहित्य के नाम पर प्रचार-पोस्टर लिखें या पंचवर्षीय-योजना की प्रशस्तियाँ गाने वाला साहित्य तैयार करें। इसका यह मतलब भी नहीं है कि साहित्यकार रूपगत प्रयोग बंद कर दें या यह कि रूपगत प्रयोग साहित्य के विकास के लिए अनावश्यक समझे जायँ। इसका यह मतलब भी नहीं कि किन्हीं ख़ास विषयों पर ही साहित्य रचा जाये। इन मूल्यों की स्वीकृत महान साहित्य की रचना का कोई चमत्कारी नुस्ख़ा भी नहीं है। ऐसा कोई संकीर्ण अर्थ निकालना अनर्थकारी होगा। मैंने जो प्रश्न उठाया है, उसका सम्बन्ध लेखक के विश्व-बोध तथा उसकी जीवन-दृष्टि से है, इन ऊपरी बातों से नहीं।

हम लेखक विप्लवकारी घटनाओं और विश्व-व्यापी संघर्ष और परिवर्तन के द्रष्टा हैं। ह्रास और प्रगति की प्रक्रियाएँ तेज़ी से चालू हैं। जीवन के हर क्षेत्र में मानव-सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसे में आज़ादी, जनवाद और शांति यदि हमारी जीवन-दृष्टि में सबसे मूल्यवान वस्तुएँ नहीं रहीं तो हमारी सहानुभूतियाँ व्यक्तिवाद या अबुद्धिवाद के ग़लत मार्गों पर भटक जायेंगी और हम ग़लत बातों के प्रति संवेदनशील और सही बातों के प्रति असंवेदनशील हो उठेंगे—जैसा कि हमारे कतिपय प्रयोगवादी कवियों के साथ हुआ है—और हम जीवन के सत्य को वाणी देने में असमर्थ रहेंगे। जीवन में दुख-दर्द भी है और ख़ुशी भी और दोनों को समग्र रूप में चित्रित करना साहित्यकार का दायित्व है। लेकिन ऐसा न हो कि हम जीवन का जो असत्य

है उसे सत्य और चिरन्तन मान लें और सत्य को क्षणिक और सामयिक। आज़ादी, जनवाद और शांति जीवन को उसकी असीम सम्भावनाओं की दृष्टि से देखने के मूल्य हैं। सत्य का आग्रह है कि हम इस युग के ऐतिहासिक परिवर्तनों को समझें और युग की भावना को नयी प्रेरणा और नयी दृष्टि दें। तभी हम नये भारत के निर्माण में अपने साहित्य द्वारा रचनात्मक योग दे सकेंगे।
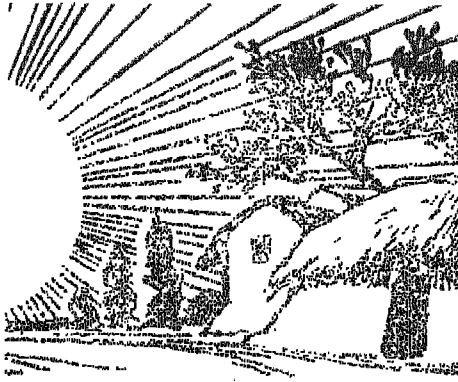
गीतिका

आयरलैंड के एक समुद्र तट पर ● बच्चन

सिंधु का छिछला-छिछला तीर,
अकम्पित नील मुकुर-सा नीर,
यहाँ लगता है कोई छोड़
गया है उर की गहरी पीर!

बहुत सूना लगता है ● नरेन्द्र शर्मा

तुम लोगों के बिना बहुत सूना लगता है,
तारों के संग रातों मेरा मन जगता है!
सत्य चिरंतन! हे अक्षय सौन्दर्य! प्रेमघन!
बिना तुम्हारे लगता है मैं निपट अकिंचन!
कब हम सब हों साथ, देखता हूँ मैं सपने,
आते याद बिरानों की बस्ती में अपने!

भाव-शून्य कर्त्तव्य-निष्ठ हैं यहाँ तंत्रधर,
पीठ फेर कमंठ बैठे हैं मूल-मंत्र पर!
भाव-तत्त्व से यहाँ वितृष्णा है लोगों को,
भोग रहे हैं तन से ये मन के भोगों को!
अपने-अपने स्वार्थ सभी के अपने आशय!
यह जिसकी देहली, नहीं है वह देवालय!

अहम्मन्यता का दीपक कर रहा अँधेरा,
तंत्र-शक्ति का केन्द्र लाल पत्थर का डेरा!
यह काया का आलय, मायामय अधिकारी!
देव नहीं, खा रहा पुजापा स्वयम् पुजारी!
छोटे लिफ़ाफ़े, छोटे लोगों की यह बस्ती,
मंत्र-लुब्ध नयनों की इसमें है क्या हस्ती?

श्रम-विमुख मार्टा का पोषण तो अनिष्ट है,
ध्यान-धारणा-युक्त शिल्प-साधना इष्ट है!
भाव, स्वप्न, कल्पना स्वजन हैं, मेरे मन के,
कहीं न ये भी छूट जायँ साथी जीवन के!
इन अपनों के बिना बहुत सूना लगता है,
तारों के संग रातों मेरा मन जगता है!

संध्या की लाली ● शिवमंगल सिंह 'सुमन'

संध्या की लाली मुझको पी लेने दो,
जीवन का यह क्षण जी भर जी लेने दो,

यह सूरज का सार-प्यार जी भर चक्खो,
आँखों के अधरों पर उँगली मत रक्खो,

अभी अँधेरे को कुछ ज्योति बाँटनी है,
इसके बल पर सारी रात काटनी है,

भर लो इसका राग पिया की पाती में,
भर लो इसकी आग दिया की बाती में,

भर लो इसका मद तारों की आँखों में,
छींटो कुछ छींटे जुगनू की पाँखों में,

भर लो शीतल-ज्वाला शशि के अंचल में,
परछाईं भर लो सरिता की कल-कल में;

वीणा के तारों में राग-विहाग भरो,
मण्डप के नीचे सपनों की माँग भरो;

तम के सागर में तम नौका खेना है,
संध्या का संदेश उषा को देना है!

उस समय भी ● रमानाथ अवस्थी

'जब हमारे संगी-साथी हमसे छूट जायँ,
जब हमारे हौसलों को दर्द लूट जायँ,
जब हमारे आँसुओं के मेघ टूट जायँ,
उस समय भी रुकना नहीं, चलना चाहिए !'
टूटे पङ्ख से नदी की धार ने कहा।
'जब दुनिया तिमिर के लिफ़ाफ़े में बन्द हो,
जब तम में भटक रही फूलों की गन्ध हो,
जब भूखे-आदमियों औ' कुत्तों में द्वन्द्व हो,
उस समय भी बुझना नहीं, जलना चाहिए !'
बुझते हुए दीप से, तूफ़ान ने कहा।

चाँद उगो ● सुमित्रा कुमारी सिन्हा

जग की साँझ उदास आज तुम पतले चाँद उगो !

अपनी पैनी धार कटारी-सी तुम तनिक छुआ दो,
काट कालिमा अमृत-हँसी की ज्योत्सना-बूंद चुआ दो,
गहरी साँझ घिरी मन की तुम केसर-चाँद उगो !

दिन भर तो जीवन-हलचल में मैंने सिर न उठाया,
मन में उठी हिलोर अधर तक पर स्वर एक न आया,
घुट कर उठी उसाँसों में से झनकार जगो !

भले रहें लिपटी संघर्षों के विषधर की बाँहें,
चन्दन-वन-सी उगा चाँदनी की फैला दो छाँहें,
अक्षत-फूल सहित तारों को पूजा माल लगो !

जग की साँझ उदास आज तुम पतले चाँद उगो !

सौगंध ● बलबीर सिंह 'रंग'

बीत न जाय बहार मालियो मधुवन की सौगंध !

व्यर्थ की सीमाओं में बन्द करो मत सुख की सुलभ बयार,
करेंगे सुमन किस तरह सहन तुम्हारा यह अनुचित व्यवहार !
दबे न क्षीण पुकार, मधुकरो, गुंजन की सौगंध,
विहंगो, क्रन्दन की सौगंध !

पराजित बल के बल से कभी न होगा अपराजित इंसान,
करेगी भूखी-प्यासी धरा शांति की सौम्य सुरा का पान !
उतर न जाय ख़ुमार साथियो यौवन की सौगंध,
सृजन-संजीवन की सौगंध !

वाटिका को कर सकती ध्वस्त तुम्हारी तनिक भयानक भूल,
देखती नन्दन वन के स्वप्न कंटकाकीर्ण पंथ की धूल !
पथ के बनो न भार, पंथियो, कण-कण की सौगंध,
आज के क्षण-क्षण की सौगंध !

जैसे दूर कहीं जाना है ! ● विद्यावती कोकिल

जैसे दूर कहीं जाना है !
मुझे सुहाते नहीं वस्त्र ये सुन्दरतर आभूषण,
फीके लगते पूर्ण-चन्द्रमा फीके लगते पूषण,
सखि ! उस पार मेरा, मन-मानिक जैसे कि हेराना है ।

दिन भर मैं करती तैयारी निशि भर बुनती सपने,
कर्त्तव्यों से समय पूछती सपनों से बल अपने,
क्या बतलाऊँ कहाँ चली कुछ कहना फुसलाना है ।

कैसे बाँधूँ सगे-सम्बन्धी कैसे कुटुम्ब-कबीला,
कैसे बाँधूँ तीर-पड़ोसी अब चलने की बेला,
कैसे बाँधूँ आत्मज-भार्या अब तो बिलगाना है ।

सुधि-सुधियाये देश मिलेंगे अन्तर परिचित प्राणी,
उलट जायगी अब तक की सब अपनी करुण-कहानी,
सोच-सोच कर पिछली गाथा फिर क्या पछताना है।

जिसकी आँखों में भीना उस बाँकी छवि का पानी,
जिसने वह बाँसुरी सुनी है औ' वह धुन मस्तानी,
उसको निपट अकेले पथ पर केवल पतियाना है।

जिस पथ पर सब प्रात लुटे-से खोये-से अकुलाते,
मैं इक आहट पा जाती हूँ पग आगे बढ़ जाते,
मौन इसी से हूँ कि शोर में दुष्कर सुन पाना है।

कुटुम्ब-कबीला पूछ रहा है कब तक फिर आना है?
पर मेरा तो उत्तर सखि तारों में भरमाना है!
सगे जनों से कैसे कह दूँ, मुझे न पहिचाना है।

जब रुकने का प्रश्न नहीं है चलना ही मजबूरी,
चाहे जितनी तेज़ लहर हो चाहे जितनी दूरी,
पाल सिंधु में डाल दिया अब, फिर क्या सुस्ताना है।

कौन किसी के पथ की खाई भला पाटने वाला,
अपना पथ भी आप बनाता अपनेइ चलने वाला,
उतना-उतना चलना जिससे लौट नहीं आना है।

ना पथ का कोई नाम-रूप है, न कोई ख़ास निशानी,
ना कोई ध्वज और पताका, ना कोई चीन्ह-चिन्हानी,
ज्ञान अधपका दीठि अधखुली भटक टोह पाना है।

प्रबल आँधियाँ, घना अँधेरा चलना ही बल मेरा,
झोपड़ियों से औ' महलों से लगा, किसी न डेरा,
'वही एक पथ, एक वही पथ हमने भी जाना है!'

बदलता अन्दाज़ ● जमील मलिक

अब तज़करा-ए-गुल छोड़ भी दे,
अब ज़िक्र न कर पैमानों का !
संगीन हक़ायक़ कहते हैं,
यह दौर नहीं अफ़सानों का !
इशरतख़ानों के साये में
दुनिया को भुला कर बैठे हो,
ऐ, ऐश-ो-तरब के मतवालो
अहसास भी है ग़मख़ानों का ?
यह दैरो-हरम की क़ैद भी क्या,
इन ज़िन्दानों से बाहर आ !
मैदाँ ही ठिकाना है प्यारे,
आज़ाद-मनश इंसानों का !
इन पर भी बहारें आयेंगी
यह दौरे-ख़ज़ाँ तो जाने दो,
इक रोज़ सितारा चमकेगा
धुँधलाये हुए वीरानों का !
देखो कि वो सारे मेहनतकश
बरसों की नींद से जाग उठे,
समझो की ज़माना बीत गया,
संसार था जब धनवानों का !
वो दिन भी कभी आ जायगा,
जिस दिन के तसव्वुर में साथी,
हर दिल में मचलता रहता है
तूफ़ान नये अरमानों का !
जो पी के बहक जाते हैं 'जमील'
अब इनकी कोई सुनता ही नहीं,
अन्दाज़ बदलता जाता है
मयख़्वारों का, मयख़ानों का !

एक संथाली ऋतु-चित्र ● ठाकुर प्रसाद सिंह

पात झरे फिर-फिर होंगे हरे!
साखू की डाल पर उदासे मन
उन्मन का क्या होगा?
पात-पात पर अंकित चुम्बन
चुम्बन का क्या होगा?
मन-मन पर डाल लिये बन्धन
बन्धन का क्या होगा?
हासों के मोल लिये क्रन्दन
क्रन्दन का क्या होगा?
पात झरे गलियों-गलियों बिखरे
कोयलें उदास मगर फिर-फिर वे गायेंगी
नये-नये चिन्हों से राहें भर जायेंगी,
खुलने दो कलियों की ठिठुरी ये मुट्ठियाँ —
माथे पर नयी-नयी सुबहें मुसकायेंगी!
गगन-नयन फिर-फिर होंगे भरे,
पात झरे फिर-फिर होंगे हरे!

पूनम का गीत ● विनोद शर्मा

आज पूनम की सलोनी रात,
मेरे पास हो तुम!
बह रही पुरवाई भावों से भरी,
कह रही, ये क्षण नहीं फिर आयेंगे!
व्यर्थ है यह सोच कल की बात का,
क्या पता हम फिर कभी मिल पायेंगे!
आज कुछ संजोग की है बात,
मेरे पास हो तुम!

जिस तरह नभ की भुजाओं में सलज ,
चाँदनी यह रात फागुन की खिली !
ज़िन्दगी की मधुरता से धड़कती ,
मदिरता है बाहुपाशों को मिली !
कामनाओं के खिले जलजात ,
मेरे पास हो तुम !
आज पूनम की सलोनी रात ,
मेरे पास हो तुम !

प्रथम किरण प्यार की ● राजेन्द्र किशोर

प्रथम किरण प्यार की
नदिया पर टूट गयी,
अलबेले माँझी को
साहिल पर लूट गयी,
नैया के पैयाँ हुए डगमग, लहरों की चुनरी फिसल गयी !

प्रथम किरण प्यार की
मधुबन पर छा गयी,
अलबेले माली को
गजब हँसी आ गयी,
हो गया सारा जग जगमग, तितली की चोली मचल गयी !

प्रथम किरण प्यार की
खेतों पर झुक गयी,
मौजी हलवाहे की
दो पल गति रुक गयी,
ज़माना अनजाना हुआ जगमग, भावों की बोली बदल गयी !

संघर्ष में डूबे हुए का गीत ● सुरेन्द्र तिवारी

आज राह में देख किसी को मुझे तुम्हारी याद आ गयी !

तुम तो न थे लेकिन लगता था—
जाती है तसवीर तुम्हारी,
सब कुछ था वैसा ही केवल
पास न आने की लाचारी,

उभरे मन की नदिया में डूबे कुछ भारी स्वर बंशी के,
फिर जैसे चाँदनी-भरी राहों को काली आग खा गयी !

बहुत दिनों से जीने की उलझन
में भुला दिया था तुमको,
संघर्षों की चट्टानों के नीचे
सुला दिया था तुम को,

तुमसे कितनी दूर चला आया हूँ जीने की उलझन में,
कोई एक अपरिचित छाया मुझे अचानक आ बता गयी !

बड़े पहाड़ों के नीचे सुधियों
की कोमल कलियाँ पनपीं,
लगा कि जैसे एक दूसरी
दृष्टि और भी है जीवन की,

जिसे व्यस्तता की जंजीरों से बाँधा था संघर्षों ने,
बुझी-अनबुझि भूल-भरी मन की चिनगारी आग पा गयी !

नयी तामीर ● तेग़ इलाहाबादी

अब से पहले भी इस महफ़ले-रक्स में
घुँघरुओं के झनाके बिखरते रहे;
शाम के सुरमयी आँचलों के तले
रंग बनते रहे, दिल सँवरते रहे,
मन्दिरों में खनकती रही घंटियाँ,
मसजिदों के मिनारे उभरते रहे!
मन्दिरों में... ... ...

अब से पहले भी आसूदगी के लिए
आसमाँ की तरफ़ आँख उठती रही;
अब से पहले भी हुस्ने-सफ़र के लिए
कहकशाँ की तरफ़ आँख उठती रही;
अब से पहले भी अलहाद के नुक़ताचीं
ऐतक़ादात की बात करते रहे
मन्दिरों में... ... ...

बारगाहे-ख़ुदावन्द में आज तक
भीख के वास्ते हाथ फैले रहे,
एक-जानिब उजाले की ख़्वाहिश लिये
कितने दिल आदमीयत से मैले रहे!
दूसरी सिम्त इंसान के ख़ून से
ज़ीस्त के जाम पर जाम भरते रहे!
मन्दिरों में... ... ...

कितने पैग़म्बरों ने हर इक राह पर
इक फ़रेबे-मुसलसल में उलझा दिया!
मोतबिर रहनुमाओं ने धोके दिये
ख़िज़्र-सूरत बुज़ुर्गों ने बहका दिया!
वेदो-क़ुरान की चक्कियों के तले
इश्क़ के सच्चे परिस्तार मरते रहे
मन्दिरों में... ... ...

मौत का सट्टा

ओंकार शरद

सेठ जी ने जन्म भर सट्टा खेला है । सट्टेबाज़ी उनकी प्रत्येक साँस में समा गयी है, इसीलिए अब जैसे मृत्यु से भी सेठ जी सट्टा लगाये हैं । पूरे चार महीने से वे जिस हालत में खाट से लगे हैं उस से तो मौत ही अच्छी ! सारी देह डाक्टरों की सुइयों से छिद गयी है । तरह-तरह की जाने कितनी सुइयाँ रोज़ लगती हैं । कोई और होता तो निश्चय ही कब का दूसरे लोक की यात्रा कर चुका होता, लेकिन सेठ जी को डाक्टरों ने ज़िन्दा रख छोड़ा है । सेठ जी की साँस चलती रहेगी तो चार डाक्टरों की रोज़ाना की आमदनी बनी रहेगी । इसीलिए हर प्रकार की सुइयों का प्रयोग कर के किसी तरह सेठ के प्राण निकलने से रोक रखे गये हैं ।

सच तो यह है कि डाक्टर भी समझते हैं कि यह कागज़ की नाव जाने कब गल जाय । दूसरे दिन सेठ जिन्दा रह पायेंगे इस का विश्वास नहीं । अक्सर जब बहुत कष्ट बढ़ने पर सेठ जी आँखें मूँद लेते और तनिक भी नब्ज़ अपनी पटरी से उतर जाती तो शहर भर में शोर होने लगता—सेठ की हालत बिगड़ गयी है, किसी भी क्षण प्राणान्त हो सकता है । डाक्टर उदास हो जाते । घर में उनकी अन्तिम क्रिया की तैयारी होने लगती । सेठ के बड़े लड़के दैनिक पत्र के 'रिपोर्टर' को टेलीफ़ोन करते कि वह थोड़ी देर में कैमरे के साथ आ जाय ! लेकिन सेठ यों भला कैसे मर जाते । इतनी बड़ी सम्पत्ति, जिसे एक-एक पाई जोड़ कर एकत्रित किया है, उससे इतनी आसानी से माया-मोह तोड़ लेना आसान नहीं था । सेठ के हाथ-पाँव बेकार हो चुके थे, वाणी भी 'फ़ेल' हो चुकी थी, केवल आँखें काम की थीं और जब वे हल्की-सी कराह के साथ आँखें खोल देते तो लोग फिर उनके सूखे जीवन के प्रति आशावान हो उठते । अखबार का प्रतिनिधि वापस चला जाता ।

डाक्टर फ़ौरन कोई सुई लगाते और सेठ जी की जीवन-डोर थोड़ी और खिंच जाती।

इसे मौत के साथ रस्साकशी ही तो कहेंगे न !

सेठ जी की सेवा-शुश्रूषा के लिए तीन नर्सें आती हैं। आठ-आठ घंटे की पारी है। कोई भी क्षण अकेला नहीं होना चाहिए। एक नर्स की पारी होती है रात दस बजे से सुबह छः बजे तक। रोज़ ही छः बजे के लगभग दूसरी नर्स आ जाती है। तब वह सेठ जी को, उन के रोग-व्याधि को, उसे सौंप कर चली जाती है।

रोज़ ही प्रातः कोठी से निकलने पर उसे रास्ते में दो-चार ऐसे व्यक्ति मिलते, जो उस से सेठ जी का हाल पूछ लेते तो वह साधारण सा उत्तर दे देती—'आज तो ठीक है !' नर्स समझती थी—इतना बड़ा सेठ है। शहर में अगर उन के इतने हितचिन्तक हैं तो इस में आश्चर्य क्या ? सेठ जी के प्रति लोगों की इस प्रकार चिन्ता देख कर उसे तनिक प्रसन्नता ही होती।

दो व्यक्ति चौराहे के पास वाले मंदिर के चौतरे पर बैठे प्रतिदिन नर्स की प्रतीक्षा करते रहते। पहले तो नहीं, परन्तु बाद में धीरे-धीरे नर्स को उन पर खीझ आने लगी। प्रतिदिन ही वे बैठे मिलते। देखने में साधारण वेश-भूषा वाले ये लोग नर्स को देखते ही आदर से झुक कर खड़े हो जाते। उन में से एक आगे बढ़ कर पूछता, मेम साहब, कैसा हाल है सेठ जी का ?"

"वैसा ही है। आज तो ठीक है, देखो कल क्या होता है !" यही रोज़ का रटा-रटाया नर्स का उत्तर होता।

और नर्स अपने रास्ते बढ़ती, वे दोनों व्यक्ति हाथ जोड़ कर जैसे कुछ प्रार्थना करने लगते। नर्स एक बार उलट कर देखती और मुस्कुरा कर आगे बढ़ जाती।

उस दिन थोड़ी बूँदाबाँदी हो रही थी। सर्दी भी कुछ ज़्यादा थी। इसलिए पारी समाप्त होने पर नर्स ने रिक्शा मँगवाया और उस पर सवार हो कर जाने लगी कि जाने किधर से वे ही दोनों सेठ के हितचिन्तक प्रकट हो गये। रोज़ की तरह ही पूछा, "मेम साहब, कैसा हाल है सेठ जी का ?"

जाने क्यों आज उनका रिक्शे के दोनों ओर दैत्य की तरह खड़ा हो जाना नर्स को अच्छा न लगा। उसे तनिक झुँझलाहट-सी हुई। लेकिन अपने को रोक कर उसने कह दिया, "आज भी वैसा ही है !"

सुन कर वे दोनों कुछ बुदबुदाने लगे, जिसे आज नर्स सुन पायी। एक बहुत ही दीन बन कर भगवान से प्रार्थना कर रहा था—"हे प्रभू! सेठ जी जैसे आज ठीक हैं तो कल भी ठीक ही रहें। यदि कुछ होना है तो परसों ही हो!"

और दूसरा कह रहा था, "भगवान मेरी सुन ले, जो करना हो कल कर या परसों के बाद!"

नर्स की समझ में कोई बात न आयी। उस ने चिढ़ कर पूछा—"क्या बात है जी!"

"कुछ नहीं मेम साहब! ईश्वर सब का ख़याल रखता है। गंगा माई किसी का बुरा नहीं करतीं!" एक ने कहा और दोनों साथ-साथ दूसरी ओर चले गये।

नासमझ की हँसी हँस कर नर्स ने रिक्शा बढ़ाने को कहा। नर्स को प्रतिदिन मिलने वाले ये दोनों व्यक्ति शहर के काफ़ी परिचित गंगा किनारे के महाब्राह्मण हैं। गंगई और मुसई। इन दोनों का ही यहाँ ठीका है। पारी-पारी से। एक दिन का ठीका गंगई का, दूसरे दिन का मुसई का, तीसरे दिन का गंगई का, फिर मुसई का, फिर गंगई का......और इसी क्रम से एक दिन गंगई का एक दिन मुसई का होता है। दोनों ही अपनी-अपनी किस्मत की बाजी लगाये हैं। दोनों ही कामना करते हैं कि सेठ की मृत्यु उन की पारी में हो। क्योंकि सेठ की मृत्यु उनके लिए बहुत महत्व की है। सेठ के पार्थिव शरीर के साथ उनकी किस्मत खुलेगी। सेठ जी पर उढ़ाया हुआ क़ीमती शाल, गले में सोने की ज़ंजीर, हाथ में एक या दो कीमती नगों की अँगूठियाँ और जो मिल जाय! हज़ार के आसपास की बात है। इसीलिए दोनों में से प्रत्येक चाहता कि उस की ही पारी में सेठ जी मरें तो इतनी आमदनी तो होगी।

यों तो रोज़ ही जाने कितने मरते रहते हैं और उनके मरने में कहीं पाँच, कहीं सात रुपये, बस! परन्तु सेठ जी की मौत माने रखती है। बीसियों बरस बाद कहीं ऐसी कोई हस्ती मरती है।

गंगई और मुसई लगातार चार महीने से रोज़ सेठ की पूछताछ कर रहे हैं। अभी और जाने कितने दिन सेठ जी खींच ले जायँ! यहाँ इन दोनों ने जाने कितने 'प्रोग्राम' सेठ जी खींचें ले जा रहे हैं।

गंगई की बेटी जवान हो गयी है। सेठ जी कृपा करेंगे तो इसी साल उसका ब्याह हो जायगा। सेठ जी की कृपा गंगई पर ही हो, इसके लिए प्रतिदिन गंगई की पत्नी पूजा पाठ करके भगवान को फुसला रही है।

मुसई ने भी सेठ जी की कृपा पर अपने गाँव वाले मकान की मरम्मत का 'प्रोग्राम' बना रखा है। मुसई के पर-बाबा का बनवाया यह मकान है। तब से आज तक तीन पीढ़ियों में कोई भी ऐसा लायक मुसई के परिवार में नहीं निकला, जो एक पाई भी उस घर की मरम्मत में खर्च करता। घर अब खण्डहर हो गया है, सो अगर सेठ जी की कृपा मुसई पर हो जाय तो वह उस घर की मरम्मत नये सिरे से करवा कर कुल का सपूत कहलाये।

लेकिन सब्र की भी हद होती है। रोज़-रोज़, नयी-नयी दवाइयाँ निकलती हैं और डाक्टर लोग उन का प्रयोग सेठ जी पर करके सफलता प्राप्त करते जाते हैं।

आधा जाड़ा समाप्त हो रहा है। शहर में जाने कितनी शादियाँ हो गयीं, लेकिन गंगई की बेटी जैसी ही की तैसी रह गयी। उसके घर के आसपास से शहनाइयाँ बजती हुई निकल जाती हैं, जिन्हें सुन कर गंगई की बेटी कानों में उँगली डाल लेती है और गंगई की पत्नी दूने उत्साह और प्रेम से गंगा जी से मनाने लगती है—'सेठ जी पर कृपा करो, हमारा उद्धार हो!'

लेकिन भगवान ने किसी जरूरतमन्द की कभी नहीं सुनी।

एक दिन दोनों ही घाट पर फ़ुरसत से बैठे थे। गंगई को कई दिनों से उदास देख मुसई ने कहा, "देख भाई, इतना मातम मनाने से क्या होगा। सेठ तो अपने समय से ही मरेगा। लेकिन अगर तेरी यही हालत रही तो तू तो उन से पहले ही मर जायेगा।"

"क्या करूँ भाई! घर में जवान बेटी का रखना, छाती पर पहाड़ रखना होता है।"

"तो क्या करोगे। सेठ को मार नहीं सकते। हाँ बेटी को मार सको तो मार डालो।"

"तो मैं कुछ कहता हूँ!"

"नहीं कहते तो क्या हुआ? कोई रास्ता निकालो।"

"तुम्हीं बताओ न रास्ता।"

"मेरा रास्ता तुम्हें मंज़ूर होगा?" मुसई ने शरारती निगाह से देखा।

"जो कहोगे मंज़ूर होगा। रानीगंज में एक लड़का देखा है, अगर इसी लगन में कर सको तो ठीक है नहीं तो कहीं वह भी न हाथ से निकल जाय। इसलिए तुम जो भी राय दोगे करूँगा।"

"तो एक काम करो। मैं तुम्हें अढाई सौ रुपया नकद देने को तैयार हूँ। पैसा मेरे पास भी नहीं ! न जाने कैसे प्रबन्ध करूँगा। लेकिन बेटी जैसी तुम्हारी वैसी मेरी। हाथ तो उसके पीले होने ही चाहिएँ। मैं रुपये का प्रबन्ध करता हूँ। तुम इतना करो कि अपना हक सेठ पर से हटा लो।" बाज़ी फेंकने की तरह मुसई ने यह अन्तिम वाक्य कहा।

"हक हटा लूँ ! क्या मतलब ?"

"यानी अढाई सौ मुझसे लो और बाकी का इन्तज़ाम करके बेटी का ब्याह कर डालो। और बदले में तुम्हारी हमारी लिखा-पढ़ी हो जायगी कि अगर सेठ तुम्हारी पारी में मरा तो भी हमारा ही हक होगा। सिर्फ़ एक सेठ का हक छोड़ दो, अढाई सौ कम नहीं होते। फिर क्या ठिकाना, शायद मेरी ही पारी में वह मरे, तब तो ये ढाई सौ तुम्हें मुफ़्त के पड़े न ! जुआ ही समझ लो। सब काम ऐसे ही होता है ज़िन्दगी में !

गंगई ने कागज़ लिख दिया। लेकिन इसे भी तीन महीने हो गये। डाक्टरों की तदबीरें कारगर हुईं और मुसई के सुख-सपने चौपट होते दिखायी दिये। सेठ अच्छे होने लगे। चार रुपये के टिकेट पर गंगई द्वारा लिखा गया कागज़ मुसई के पास था, पर उसका कोई मोल न था और उधर तीन ही महीने में अढ़ाई सौ के साढ़े तीन सौ हो गये थे। ऊपर से कर्ज़दार जान खाये था। इस लिए जिस दिन नर्स ने उसे बताया कि सेठ की बीमारी ने पलटा खाया है, आज तबीयत उन की बहुत अच्छी है तो मुसई ने सिर पीट लिया। लेकिन आदमी वह काइयाँ था। दोपहर होते न होते उस ने एक दूसरे घाट वाले को फाँस लिया और तीन सौ रुपये में अपना हक उसी चार रुपये के कागज़ पर उसे लिख दिया।

लेकिन सट्टा ज़िन्दगी का हो या मौत का एक दम सट्टा है। बुद्धि का या नैतिकता का उसमें कोई दख़ल नहीं। उस शाम जब वह उस घाट वाले को नर्स से मिलाने ले गया तो नर्स ने मुस्कराकर बताया कि उसकी मुराद बर आयी है और सेठ साहब चल बसे हैं।

लेकिन यह सुनते ही मुसई माथे पर दोहत्थड़ मार कर वहीं गली में क्यों बैठ गया, इसे नर्स नहीं समझ सकी।

सूखी बेल

तेजबहादुर चौधरी

भगवत डेढ़ वर्ष का छोकरा, दुबला-पतला सींक से हाथ-पाँव, जिसके पटके हुए चूतड़ पर खाल की झुर्रियाँ, उसे जैसे मसान हो गया हो। सुस्त और उदास-सा, हरदम रोता रहता, उस की माता पुनिया अपने भगवत के लिए कभी मथुरा की जन्मघुट्टी, कभी बालसुधा, कभी अलीगढ़ की बाल-जीवन-घुट्टी, दो-एक शीशी ग्राइप मिक्स्चर की मँगा कर पिला चुकी थी। पर उसके हरे दस्तों में कमी नहीं हुई, वह और सूखता जा रहा था। हल्का सा बुख़ार लिये उस की देह गर्म रहती। पुनिया, जब ऐसे के लिए ही लाड़ में आ जाती तो उस का मुँह धोती, सिर पर तेल मसल कर बाल काढ़ती, मुँह पर तेल का हाथ फेरती और वह रोता रहता, बीच-बीच में कई बार उसकी नाक भी पोंछनी पड़ती, फिर आँखों में काजल लगाने के लिए उसके दोनों हाथ एक हाथ के पीछे दबा कर दूसरे हाथ से, उस की कस कर मिची आँखों में उँगलियाँ इस ज़ोर से रगड़ कर काजल आँजती कि बच्चा बिलबिला कर घिघिया उठता। फिर ओढ़नी के छोर को जीभ के थूक से तर कर फ़ालतू लगा काजल आँखों के छोर से पोंछ देती। बच्चे को नज़र से बचाने के लिए काजल की एक लकीर उसके उभरे हुए माथे पर लगाना न भूलती।

प्रातःकाल जब पुनिया उठती, तो रात भर के दो-चार गन्दे पोतड़े उस की खटिया के नीचे पड़े होते, भगवत कल से भी अधिक निढाल और हल्का लगता, यह नित्य की बात हो गयी थी। पुनिया उसे लिये-लिये ही चक्की पर जा बैठती, और अपनी एक छाती उसके मुँह में दे कर चक्की में गल्ला डाल देती, दड़दड़ा कर चक्की चल पड़ती, अँधेरे में उस के घोर का शब्द होता, उस की झोंपड़ी कराहने लगती, चक्की के घोर से बच्चा फिर सो जाता। कभी दाहिने हाथ से कभी बायें हाथ से चक्की को पौने दो घंटे ठेल कर वह पीसने में तर, सूखे से भगवत को फिर उन्हीं चीथड़ों पर सुला कर बाहर आती, सुबह का उजाला हर चीज़ पर छाया हुआ रहता, सूरज की किरणों का स्वागत करने से पूर्व प्रत्येक

वस्तु स्तब्ध एवं मौन धारण किये हुए रहती। सामने की सफ़ेद ऊँची हवेली जिस में वहाँ के सब से बड़े रईस रहते थे, प्रथम किरण के पड़ते ही झकझका उठती—एक उस की झोंपड़ी, जिस के पुराने बाँसों पर से गला हुआ फूस कहीं-कहीं से हट चुका था, और जिस पर लौकी की सूखी बेल की नसें-सी अब भी फैली पड़ी थीं। उसका भगवत भी इसी बेल की तरह सूख गया था।

दिन में भगवत को अपने पति शंकर की गोद में थमाती हुई वह कहती, "का तुम्हारो ना है यो छोरा, अकि मेरेई मत्थे या को गू-मूत कबो है," फिर भगवत से कहती, "जा रे! अपने आप के ढिंगानी।" और शंकर उसे लेते हुए कहता, "जाने सुसरो किनको है, मेरो होतो तो ऐसो होतो? मर-मुराय के एक लंग (तरफ़) होय! एक हत्या ठाढ़ी कर राखी है याने!" बच्चा उसकी ओर देख कर फिर सुस्त हो कर सिर लटका लेता। कहने को तो शंकर इतनी बातें कह जाता पर कहता ऊपरी मन से, फिर बड़े प्यार में आ कर उस के सिर पर हाथ फेरता और उस की माँ से कहता, "चौं री। या को घुट्टी पिवाई कि ना?" और उसे ले कर वैद्य को दिखाने चल देता।

जब वह उसे लेकर दो-चार अपने जैसे लोगों के बीच हुक्का पीने बैठ जाता या दो-चार उसके यहाँ आ जाते और भगवत उसकी गोद में होता तो उन में से एक कहता, "अब तो यार ये औरऊ सूख गयो, पहिले तो कुछ दीखत भी हो, अब तो हाड़ी-हाड़ चमकत हैं याके।"

कोई उस की टाँगों को देखता, कोई कमीज़ उठा कर पसलियों को, कोई सिर छू कर गरमाई देखता, पेट टटोलता। शंकर को एक तसल्ली-सी हो जाती कि उस के बच्चे के साथ उन की हमदर्दी तो है ही, चाहे और कुछ न हो।

शाम होते ही भगवत रोने लगता, उधर पुनिया पानी-पत्ते में लगी होती, शंकर कमाने-धमाने गया होता, अजीब परेशानी होती, घर के सामने लगी बेरी की तुड़ी-मुड़ी शाखा में रस्सी के सहारे एक टोकरे का झूलना डाल कर वह भगवत को उसी पर झूलने डाल देती।

एक दिन किसी की गाय का बछड़ा खुल गया और वह चौकड़ियाँ भरता हुआ उस बेरी के पेड़ के नीचे भागा हुआ आया। पुनिया ने झट दौड़ कर झूले में से भगवत को उठा कर अपनी छाती से लगा लिया और बछड़े को पकड़ने आने वाले नन्दा कहार से बोली, "तुमें ना लगती ये बातें अच्छी कि लबारे जानवर का बच्चा को ऐसेई छोड़ देओ हो, बालक-बच्चन को चोट-चपेट लाग जाय, तुम्हारो का बिगरेगो, हियाँ बालकन की हत्या ह्वै जायगी।"

"अरी बोली रह। तेरेई बालक दुनिया से न्यारे ना हैं, तूई बड़ी बालक वारी बनी है!" वह हँसी में कहता हुआ निकल जाता, पर पुनिया फिर उसे कोसती रहती, "और हैना, मेरे-से बालक तो तेरे बाप के भी सात जनम न होयँगे, कहते उत्तन को सरम ना आती, बालक देखे ना होयँ चाहे याने......"

पुनिया को ज़ोर से बोलती हुई देख कर पड़ोस की नायन निकल आती और पूछती, "अरी का बात भई?"

"भई का, इन को नास जाय, अपने डंगरा-ढोर खुले छोड़ देत हैं, इन के जाने कोई मरो चाहे दबो, बीरन-बालक तो सभी के हैंगे, लाग जाय चोट निकल जाय दम, का करि लेओगे इन को?" नायन सिर हिलाती हुई जब चली जाती तब अपने भगवत को और भी अधिक ज़ोर से छाती से चिपटा कर उससे कहती, "मैं न मरन दूँगी अपने लाल कूँ!"

फिर बैरन रात आ जाती। इधर भगवत का टिटियाना शुरू होता, उधर दिन भर की थकी-माँदी पुनिया की आँखों में नींद के मारे काँटे-से गड़ते, बार-बार उस छोकरे को हिलोरें देती रहती, उस के मुँह में छाती देती, कभी थपथोरती, फिर औंघती हुई बेकार उसे चुप कराने की कोशिश करती और वह चुप न होता। उधर शंकर बाहर पड़ा ख़र्राटे भरता होता, उसे तब अपने शंकर पर भी क्रोध आता और रोते भगवत को छोड़ कर वह चुपके से शंकर के पास जा कर उसे जगाने को होती, फिर सोचती दिन भर इस ने अपने हाड़-गोड़ तोड़े हैं, पसीना बहाया है, क्यों जगाऊँ? और वह लौट कर भगवत को थपथोरने लगती। अंत में बड़ी मुश्किल से उसे नींद आती।

रात को जब शंकर की आँखें खुलतीं, भगवत सोता हुआ होता, उधर थकी-माँदी पुनिया भी बेसुध होती, दीये की हलकी रोशनी झोंपड़ी को उजाला देती, वह उठता और पुनिया के पास आ खड़ा होता—अलसाया और प्यासा। पुनिया सोयी हुई होती, पुनिया की पसलियों पर दोनों स्तन प्रत्येक साँस के साथ ऊपर-नीचे होते, बालों की लटें इधर-उधर बिखरी रहतीं, गले में मूँगे की माला, चाँदी की पतली हँसली भी स्तनों के साथ-साथ थोड़ी-थोड़ी ऊपर-नीचे उठती-बैठती। बच्चे की एक टाँग उसकी टाँग पर धरी होती। शंकर चाहता कि पुनिया के हाथ पकड़ कर उसे उठा दे, पर सोचता बच्चा फिर जग जायगा, सारी रात रोता है और वह बाहर लौट आता, उस का शरीर भारी भारी हो उठता।

सामने चाँदनी में रईस की हवेली झकझका रही होती और उसकी अपनी झोंपड़ी पर सूखी लौकी की बेल, गले फंदे पर उसी तरह फैली होती।

नरोत्तम बाबू

कौशल्या अश्क

नरोत्तम बाबू अपने नये मकान में आकर बड़े प्रसन्न हुए। पहले वे साठ रुपया माहवार देते थे, यह मकान तीस ही में हाथ आ गया। फिर वह उन के मित्र शर्मा के मकान के एकदम निकट था। शर्मा की बीवी शान्ता सलीके वाली और सुघड़ थी। काम-काज में चुस्त और रख-रखाव में निपुण। नरोत्तम बाबू को 'भाई' कहती थी। यह मकान भी उसी ने ढूँढ़ कर ले दिया था। नौकर ढूँढ़ने में भी नरोत्तम बाबू ने उसी की मदद चाही। शान्ता ने उन्हें तसल्ली दी कि फ़िक्र की कोई बात नहीं, नौकर मिल जायगा। जब तक न मिले, हमारे यहाँ खाना खाइए।

शान्ता कोशिश करे और कुछ नतीजा न निकले, यह कैसे हो सकता था? जल्दी ही नरोत्तम बाबू को एक अच्छी महाराजिन मिल गयी—साफ़-सुथरी और खुश शक्ल। खाना भी अच्छा पकाती, लेकिन बर्तन मलने से उस ने इनकार कर दिया। लिहाज़ा बर्तन और झाड़ू-बुहारी के लिए महरी रखनी पड़ी। बीस रुपये महाराजिन लेती और तीन महरी और इस तरह तेईस रुपये में उन्हें दो नौकर मिल गये। कुछ दिन अच्छे गुज़रे, पर धीरे-धीरे नरोत्तम बाबू को उस महाराजिन से शिकायत रहने लगी। एक-दो बार उन्होंने शान्ता से भी महाराजिन को बदलने का ज़िक्र किया। शान्ता ने उन्हें समझाया कि आज कल नौकरों का मिलना मुश्किल है, फिर साफ़-सुथरे और होशियार नौकर किस्मत से मिलते हैं। और उसने पूछा कि नरोत्तम बाबू को महाराजिन से आख़िर शिकायत क्या है?

"अरे मुझे रोज़ एकाध रोटी ज़्यादा खिला देती है!" नरोत्तम बाबू ने शान्ता के बार-बार पूछने पर कहा।

इस पर एक ज़ोर का ठहाका पड़ा। शान्ता ने कहा, "अरे भाई, आप ही को खिलाती है या किसी और को!"

"यों भी परेशान करती है। आप नहीं जानतीं, बड़ी तुनक-मिज़ाज है।"

"मुझे तो अच्छी लगती है। ख़ैर, आप जानिए।"

आख़िर एक दिन किसी छोटी-सी बात पर नाराज़ होकर नरोत्तम बाबू ने महाराजिन को छुट्टी दे दी। नौकर अनुपस्थिति में वे दूध-डबलरोटी पर गुज़ारा करते। शाम को शर्मा उन्हें पकड़ ले जाते और दोनों दोस्त इकट्ठे खाना खाते।

शान्ता ने अपने सभी परिचितों को नरोत्तम बाबू के लिए नौकर देखने को कह दिया। अपनी महरी और महाराजिन से भी नौकर ढूँढ़ लाने को कहा। एक दिन एक बूढ़ा आ हाज़िर हुआ।

"सलाम हुज़ूर!"......नरोत्तम बाबू चौंके।

"क्या बात है?"

"हुज़ूर आप के यहाँ बावर्ची की ज़रूरत है?"

"है तो!"

और बातचीत शुरू हुई। बूढ़ा पहले रेलवे में काम करता था, अब रिटायर हो गया था। दो-तीन जवान लड़कियाँ थीं उस की, जिनकी शादी उसे करनी थी, इसलिए इस बुढ़ापे में नौकरी करने को मजबूर था। बात-चीत से सभ्य और समझदार लगा। पगार की बात हुई तो उस ने कहा, "हुज़ूर, जो आप पहले देते थे, वही मुझे दे दीजिएगा। सारा काम करूँगा। काम आप देख सकते हैं।"

"देखो बाबा," नरोत्तम बाबू बोले, "क्या देते थे, उस की बात छोड़ो, तुम क्या लोगे, यह बात करो।"

"हुज़ूर बीस रुपया दे दीजिएगा!"

"देखो बाबा, तुम सब काम करोगे—खाना पकाना, झाड़ू देना और बर्तन मलना, हम तुम्हें अठारह रुपया दे देंगे। एक ही बात करते हैं, ज़्यादा बात करने की हमारी आदत नहीं।"

बूढ़े को ज़रूरत थी, वह मान गया।

नरोत्तम बाबू को साठ रुपये किराये के बदले तीस का मकान पा कर इतनी खुशी न हुई थी, जितनी तेईस रुपये के दो नौकरों के बदले अठारह रुपये का एक ही नौकर पाकर हुई। बिना कुछ परेशानी के दूसरा नौकर मिल गया और वह भी पहले से सस्ता। अपनी व्यवहार-कुशलता पर उन्होंने स्वयं ही मन ही मन अपनी पीठ ठोक ली।

बाबा अच्छा खाना पकाता था। सफ़ाई भी रखता था और बुलाने पर हमेशा 'जी हुज़ूर' 'आया हुज़ूर' कहता था। उसके इस तरह आदर से बोलने से नरोत्तम बाबू के अहम् को भी संतोष मिलता था खुशी भी होती थी।

उनका काम फिर नारमल तरीके से चलने लगा। इस बीच नरोत्तम बाबू उस इलाक़े से काफी परिचित हो गये थे। आस-पास अधिकतर ग़रीब लोग रहते थे और थोड़े पैसों पर भी काम करने को तैयार हो जाते थे। कुछ ने कम पैसों पर काम करने वालों के नाम भी बताये।

अचानक बाबा बीमार हो गया और उसकी लड़की दो दिन के लिए छुट्टी की प्रार्थना कर गयी। नरोत्तम बाबू जैसे इसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। यों वे दिनों छोड़, हफ़्तों नौकर का इन्तज़ार कर सकते हैं। उन की जरूरतें कोई वैसी लम्बी-चौड़ी नहीं हैं—नौकर के न होने पर सुबह आधा सेर दूध और डबल रोटी को वे काफ़ी भारी गिज़ा गिनते हैं। शाम को दफ़्तर से छुट्टी पा कर एक सालन और चार रोटियाँ ख़ुद सेंक लेने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं। उनका ख़याल है कि दफ़्तर में दिन भर पढ़ने-लिखने के काम के बाद अगर शाम को खाना ख़ुद ही पका लिया जाय तो यह किसी तफ़रीह से कम नहीं, पर बाबा के बीमार होते ही उन्हें तत्काल नौकर की जरूरत महसूस हुई। पास-पड़ोस में लगभग सभी से उन्होंने नौकर के लिए कह दिया। यह मुहिम इस ज़ोर से उन्होंने शुरू की कि शाम होते-न-होते उन्हें एक नौकरानी मिल गयी—अधेड़ उम्र की एक विधवा नजदीक ही रहती थी। दो-तीन उसके बच्चे थे। पहली महाराजिन और बाबा के मुकाबले में सलीके और सभ्यता की तो उस में कमी थी, पर वह चौदह रुपया ही में सारा काम करने को राज़ी हो गयी। पहली नौकरानी से तीसरी तक आते-आते नौ रुपये की बचत से नरोत्तम बाबू इतने ख़ुश हुए कि उसी शाम अगले इतवार के लिए वे शर्मा और शान्ता को दवात दे आये।

तीसरे-चौथे दिन बाबा आया तो उन्होंने उसे टाल दिया—"बाबा तुम बूढ़े आदमी हो, बीमारी से उठे हो, कुछ आराम करो"—और फिर बातों ही बातों में उसे यह भी जता दिया कि यह नौकरानी तुम से चार रुपया कम पर सारा काम करती है।

कुछ दिन बाद शान्ता मायके चली गयी। लौटी तो अपने पति के साथ नरोत्तम बाबू के हाल-चाल जानने उधर गयी। देखा नरोत्तम बाबू बरामदे में

चारपाई पर बैठे किसी नये नौकर से बात-चीत कर रहे हैं। चुस्त, गोरा-सा नौजवान था, काफ़ी समझदार लगता था। साफ़-सुथरे कपड़े पहने हुए था। नरोत्तम बाबू के पहले नौकरों और उनके वेतन में जो 'तरक्की' होती रही, उस का इतिहास भी वह आस-पास से जान चुका लगता था, क्योंकि जब नरोत्तम बाबू ने वेतन की बात चलायी तो बड़े आदर से (जिस में शरारत और हल्का सा व्यंग्य भी शामिल था) कहने लगा—

"साब, आप अकेला आदमी है, आपका काम भी ज़्यादा नहीं। हम आप को एक ऐसा छोकरा ला देगा जो काम भी अच्छा करेगा और पगार भी कम लेगा।"

जब नरोत्तम बाबू ने पूछा कि कितनी कम पगार पर वह छोकरा काम करेगा तो उस ने कहा, "कुछ दे देना साब—पाँच, सात!" और वह चला गया।

शान्ता ने पति की ओर मुड़ कर कहा, "यदि नया छोकरा काम भी करे और पाँच-सात अपने पास से दे तब नरोत्तम भाई को तसल्ली हो, नहीं चार-छः दिन बाद वह भी चला जायगा।"

इस पर शर्मा ने एक ज़ोर का ठहाका लगाया, पर नरोत्तम बाबू के आशावाद में कोई फ़र्क नहीं पड़ा।

तब से नरोत्तम बाबू उस छोकरे के इन्तज़ार में हैं। डेढ़ महीने से ऊपर हो गया है, वह नौकर उन्हें तसल्ली दे जाता है कि बस अब वह छोकरा आया ही चाहता है। उस के न आने के लिए कभी कोई बहाना बना देता है, कभी कोई। नरोत्तम बाबू उसी के चक्कर में कई नौकरों को इनकार कर चुके हैं। सुबह दूध-डबल रोटी और शाम को कभी स्वयं रोटियाँ सेकते हैं और कभी शर्मा पकड़ ले जाते हैं।

वे अपने दिल को यह कह कर तसल्ली दे लेते हैं और निराश नहीं होते कि हर अच्छी चीज़ पाने के लिए तपस्या तो करनी ही पड़ती है।

कोरे पृष्ठों को अंकित होने दो !

●●

अजित कुमार

३१ जनवरी १९५५

नया साल तीस दीन पुराना पड़ गया। नया दिन भी रात के इस दस बजे तक पहुँच कर बाईस घंटे पुराना हो गया है। और पेशानी पर हल्की-गहरी रेखाओं वाला यह व्यक्ति? यह भी तो इस संसार में लगभग बाईस वर्ष पुराना हो चुका है !

यह कमरा, यह मेज़, रोशनी और दीवारें—यह सभी कुछ पुराना है और प्रतिक्षण तेज़ी से पुराना होता जा रहा है।

तो क्या प्रत्येक वस्तु की समस्या यही है कि वह नयी से पुरानी होती चलती है? तो क्या इस समस्या का हल यह है कि पुराना पड़ने से बचो, नया बने रहने का यत्न करो।

ऊपर से देखने पर तो समाधान ठीक जान पड़ता है। सच ही लगता है—'नये बने रहो !'

लेकिन इस अछूती और कुँवारी कापी को तो देखो। अभी इसका एक भी पृष्ठ पूरा रँगा नहीं गया। अभी तो यह सारी की सारी कोरी पड़ी है। कापी और उसके पृष्ठ बोल सकते तो क्या वे कोरा पड़े रहना पसन्द करते? कभी नहीं ! ये पृष्ठ तो चाहते हैं कि रँगे जायँ और खूब रंगे जायँ? आगे के नये पृष्ठ धड़कते हुए दिल से अनजान और अप्रत्याशित 'लिखावट' की प्रतीक्षा करें !

'प्रतीक्षा' का स्पंदन और 'रंजित' होने का पुलक !

इसलिए ! माथे पर चिन्ताओं और बढ़ती हुई वय की छाप लिये हुए नवयुवक ! इस बात से क्यों व्यग्र हो कि अब प्रतिपल पुराने पड़ते जाओगे ! जीवन और समय की लिपि को अपने बचे हुए कोरे पृष्ठों पर क्यों न अंकित होने दो ! और इस सारे बीच वर्तमान का यह स्पंदन सुनते रहो जो कानों में

निरंतर मन्त्र-सा फूँकता है—'ग्रो ओल्ड एलांग विद मी । द बेस्ट इज़ यट टु बी । द लास्ट आफ़ लाइफ़ फ़ार व्हिच द फ़र्स्ट वाज़ मेड !'

मित्र ! आनेवाले प्रत्येक क्षण के साथ वयस्क होते चलो । पुराने होते चलो ! जो 'सर्वश्रेष्ठ' है—वह अब भी 'होने को' है । झिझको मत कि 'सब कुछ' तुममें से व्यक्त होकर तुम्हें रिक्त किये जा रहा है । डरो मत कि 'बहुत कुछ' वर्तमान होकर तुम्हें अतीत बनाये देता है । याद करो, याद करो—'अंतिम...जिसके हेतु प्रथम का निर्माण हुआ था...'

कोरे पृष्ठों को अंकित होने दो ।

२० फरवरी १९५५

यों दूसरों की तो मैं जानता नहीं, जानता भी होऊँ तो बहुत ज़ोर देकर कहने का अधिकार मुझे नहीं है । अपनी बताता हूँ कि 'ज़बान पर चढ़ गयी और दिल में समा गयी' कविताओं ने अक्सर मुझे बड़े संकट से उबारा है । जब-जब दुख का सागर मुझ पर उमड़ा है और मैं असहाय होकर छटपटाया हूँ, इन कविताओं ने मेरे ओंठों पर उभर कर मुझे सान्त्वना दी है । ऐसे क्षणों में अनुभव किया है कि ये कविताएँ मेरी अपनी हो गयी हैं, क्योंकि इनमें मेरी अपनी वेदना ने अभिव्यक्ति पायी है, मेरी निजी पीड़ा इनमें झलक सकी है । ऐसे क्षणों में इन बहुत-सी कविताओं को मैंने बहुतेरे अर्थ दिये हैं, इन्हें तरह-तरह से समझा है ।

और दूसरी ओर, इन कविताओं ने मुझमें अजब भाव भरे हैं, अनुभूतियों के वे जादू-द्वार मेरे सम्मुख खोले हैं जिनसे मैं शायद अपरिचित ही रह जाता यदि मैं इनके सम्पर्क में न आता । बहुत सी कविताएँ, बहुत से मधुर स्वर, अनगिनती काव्य-पंक्तियाँ जब-तब मेरी चेतना को समृद्ध करती रही हैं । उन सबका लेखा-जोखा क्या कभी सम्भव है ?

हाँ, दो-एक चित्र आज भी बड़े स्पष्ट हैं । यह बात दूसरी है कि उन्हें याद करके व्याकुलता बढ़ जाती है । लेकिन ख़ैर इसको कोई क्या करे !

तीन व्यक्ति हैं—सतीश, ओंकार और अजित । साइकिलों पर पैडिल मारते हुए, काफ़ी रात गये कभी जमुना ब्रिज, कभी सिविल लाइंस से लौटते में गा रहे हैं, सतीश ख़ास तौर से—

छिटक रही है चाँदनी
मदमाती उन्मादिनी

कँलगी मोर सजाय लें
काले हुए हैं बादल
पकी ज्वार से निकल शशों का जोड़ा गया फलाँगती ।
कछारे से बाँक नदी को जगा चमक कर चौंकती ।।

यों ही, जुलाई अगस्त या नवम्बर-दिसम्बर या साल के किन्हीं दूसरे महीनों में, हॉस्टेल के कमरे में सुबह-शाम स्टोव पर पानी गर्म हो रहा है, बहुत से लोग हैं, बहसें करते हैं, झगड़ते हैं, मन में मैल ले आते हैं—फिर साथ-साथ चाय पीते हैं, हँसते-बोलते और कहकहे लगाते हैं। बार बार पंक्तियाँ याद की जाती हैं—

बहुत दिनों बाद खुला आसमान,
निकली है धूप हुआ खुश जहान !
दिखीं दिशाएँ, झलके पेड़,
चरने को चले ढोर, गाय, भैंस, भेड़,
खेलने लगे लड़के छेड़-छेड़,
लड़कियाँ घरों को कर भासमान !

और...और यह क्रम बरसों चला किया है, लेकिन अब...

आह ! वे दिन क्या सचमुच बीत गये ! अब क्या वे रातें कभी न लौटेंगी ? अब क्या कविता सुनकर दिल कभी ज़ोर से न धड़केगा। कविताएँ पढ़कर क्या तकियों के गिलाफ़ कभी आँसुओं से तर न होंगे ?

कौन...कौन देगा उत्तर इन प्रश्नों का ! ओ मेरे पहले के स्पर्श-संवेद्य हृदय ! बोलो, कुछ तो कहो ! क्या अब केवल इतना ही शेष रह गया कि :

तट पर रख कर शंख-सीपियाँ चला गया हो ज्वार हमारा
मन पर मुद्रित छोड़ गया हो सुख के चिह्न विकार हमारा !

२८ फरवरी १९५५

यह लड़की भी खूब है। बी० ए० का इम्तहान देने को कहती है; घुँघराले बाल हैं—ऐसी भी क्या छोटी होगी ! अरे, तीस न सही, पच्चीस साल की उम्र होने में तो कोई सन्देह नहीं है। अतुल को क्या पड़ी थी, लेकिन मित्र ने कहा "भई, हिन्दी-विन्दी बतादो। बेचारी बड़ी दुखी है, कुछ आता ही नहीं इसे।"

यों अतुल हिन्दी-विन्दी बताने लगा, बल्कि उलटे खुद वही उसे ऊटपटाँग बातें बताने लगी। एक दिन पूछने लगी कि अतुल उन्नाव में क्यों रहता है, उसे

डर नहीं लगता वहाँ ? हाय, कितना सुनसान है, शेर वगैरा आ जाते होंगे वहाँ पर ! वह एक-दो बार, लखनऊ जाते में, उन्नाव से गुजरी है तो उसे बड़ा भय लगा है ।

अतुल ने मुस्करा कर पूछा, "शेर देखा भी है आपने ?"

उसने प्रतिवाद किया, "वाह ! देखा क्यों नहीं ! सरकस में कई बार देखा है ।"

इस पर अतुल बाबू को कोई बात सूझी ही नहीं । ओंठों में ही कुछ भुनभुना कर उन्होंने कहा, "अच्छा जी, पुस्तक खोलिए, आज 'सच्ची वीरता' वाला निबन्ध पढ़ डाला जाय ।"

मुझसे ऊपर लिखी सारी कहानी उन्होंने बतायी तो मैंने पूछा, "क्यों जी ! तुम तो बड़े सरकश बनते हो । चुप कैसे रह गये ?"

अतुल बाबू ने बताया कि उन्होंने कहना ज़रूर चाहा था कि उन्नाव में रहते तो सचमुच जंगली शेर हैं, लेकिन घुँघराले बाल वाली लड़कियों के सामने आते ही वे सरकस के पालतू शेर हो जाते हैं ।"

मुझे बेइख्तियार हँसी आ गयी—"ब्रेवो अतुल ! बबर शेर और भावुकता ! यानी तुम और प्रेम ! कल्पनातीत है भाई, कल्पनातीत !"

अतुल बाबू ओंठों में भुनभुना कर या तो अपनी सहमति जताते रहे या शायद प्रतिवाद करते रहे हों, मैं जान नहीं पाया ।

२३ मार्च १९५५

"घर में लोग कहते हैं कि यह सुसरा ग्यारह-ग्यारह बजे रात तक कहाँ गायब रहता है । मैं, भाईसाहब ! आपको क्या बताऊँ कि बेकारी में इंसान कहाँ-कहाँ घूमता है, क्या करता है ! वह तो ऐसी जगह खोजता है, जहाँ उसको जानने वाला कोई न हो, दोस्त-अहबाब न हों । बस, अकेले गये, चुपचाप बैठे रहे, खुद ही कुछ सोचा किये, हँसे, गुनगुनाते रहे और जब लौटने का समय हो गया तो उठकर आये, सो रहे ।"

लल्लन बाबू ने इस तरह की बातें कहीं तो मुझे लगा कि आँखों में आँसू भर आयेंगे । मेरे सम्मुख मानो पहली बार बेकारी का स्वरूप स्पष्ट हुआ । बेकार का दोस्त कौन है, बेकार के लिए सान्त्वना क्या है, बेकार व्यक्ति का मन आखिर काहे में रमे ?—यही तो पूछा था उन्होंने । फिर अपने आप हँसकर कहने लगे "आपसे क्या पूछना ! इन सब बातों का भला कोई उत्तर है !"

लल्लन बाबू जानते नहीं थे, उत्तर था। और मैंने दे भी दिया।

उन के प्रश्न का एक ही उत्तर आजकल हम सब के पास है : 'मौन !'

६ जून १९५५

"जब कभी ऐसा सुयोग आयेगा कि पेड़-पौधों से अपने घर को शोभित कर सकूं तो मैंने सोच रखा है कि अमलतास और गुलमुहर ज़रूर लगाऊँगा"—धीरे से मुझे वनस्पतिशास्त्र के एक विद्यार्थी मित्र ने बताया।

मैंने पूछा, "क्यों भाई, क्या ? दुनिया में तमाम पेड़-पौधे हैं। तुम से अधिक परिचय और किसका होगा। इन सहस्रों में से भला तुम ने ये दो क्यों चुने ?"

वनस्पतिशास्त्र के विद्यार्थी, मेरे मित्र, बोले—"इन दोनों की बहार कुछ और ही है। एक गहरा पीला, दूसरा सुर्ख। इन फूलों के गुलदस्ते ड्राइंग-रूम में सजाऊँगा। एक कमरे में वसंती पर्दे, पीले रंग से पुती दीवारें, वसंतागमन के चित्र—हाँ, ये सब होंगे।" एक अजब अंदाज़ से मुस्करा कर मित्र ने गुनगुनाया 'पीले फूल कनेर के।'

उत्तर में मैं भी मुस्कराया। पूछा उन से—"और प्यारेलाल! दूसरे कमरे में ?"

स्वप्नाविष्ट से इन मित्र ने बताया, "पिंक दीवारें ! यू अंडरस्टैंड पिंक !—गुलाबी, गुलाबी ! ओह ! लाल टैपेस्ट्री ! और रंगीन सोफ़े के बीचो-बीच वाली गोल मेज़ पर सुर्ख फूल ! जादू, महज़ जादू !"

"ऐसा !" मैंने अचरज किया।

"और क्या ! वे फूट पड़े, "सुधि में संचित...' क्यों भाई अजित, सुधि में संचित क्या ?

'वह साँझ की जब...' मैंने सुझा दिया।

"हाँ, हाँ ! 'सुधि में संचित वह साँझ कि जब रतनारी प्यारी सारी में तुम प्राण मिलीं गुलमुहर तले।..." गाने का प्रयत्न करने के पश्चात् दोस्त ने एक सर्द आह भरी।

"हैं ! यह क्या !"—मैं घबराया। इधर-उधर दृष्टि डाली। कहीं कुछ न था। बस, हमलोग टहलते हुए पार्क के भीतर जाने वाली सुनसान सड़क पर आ पहुँचे थे।

उन्होंने बड़ी आत्मीयता से मेरा हाथ दबाया, "देखो अजित ! तुम तो मेरे सच्चे दोस्त हो। वह अमलतास देख रहे हो न।"

"कहाँ ?" मैंने अचकचायी निगाह घुमायी।

"वो...साहब के बँगले में! अजित! उन की लड़की रोज शाम को कुर्सी डाल कर अमलतास के नीचे बैठती है। अजित, मैं उसी से शादी करूँगा। और सुनो, शादी के बाद सुबह वह बासंती साड़ी पहनेगी और शाम को लाल... 'रतनारी प्यारी सारी में'..." मित्र भावावेश में आ गये।

"और मान लो, वह तुम्हारे कहे के अनुसार कपड़े पहनने से इनकार कर दे तो ?" मैंने विनोदपूर्वक पूछा।

इस पर मित्र मचल गये और देर तक मचले रहे।

११ जुलाई १९५५

एक आलीशान कोठी है।

उस तक पहुँचने वाली सड़क के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे पेड़ खड़े हैं। कोठी के सामने इधर-उधर टहल कर पहरा देती हुई बन्दूक है—हाँ, उसे बन्दूक ही कहिए। दरवाज़े से भीतर जाने के पहले लम्बा-चौड़ा पाँवपोश पड़ता है और हैट टाँगने का प्रभावशाली स्टैंड।

कोठी के भीतर घुसते ही ऊँची दीवारों पर नीचे की ओर लगी कलाकृतियाँ और चमकदार-सुनहरे छल्लों पर टँगे हुए भारी-ख़ूबसूरत पर्दे मिलते हैं। तत्पश्चात लम्बे चौड़े कमरे, दमकती हुई रोशनियाँ, गूँजते हुए कूलर और भर्राते हुए पंखे। फूलों-सजे गुलदस्ते, मंहगे क़ालीनों से ढंके फ़र्श। सुरुचि के साथ सँवारे गये ड्राइंग, डाइनिंग और स्लीपिंग-रूम। अतिथि-कक्ष। आधुनिक फ़र्नीचर, आधुनिक स्नान गृह। पालिशयुक्त दरवाज़ों में क़ीमती शीशे। एक पर्दा, दूसरा पर्दा। सब ओर पर्दे, झूमते, बलखाते लहरों सरीखे लहराते पर्दे। पर्दे ही पर्दे।

इस कोठी में मुझे डर लगता है। इस में रहने वाले मुझे प्रिय हैं, पर इसे देखते, इस में जाते, इसमें चलते-फिरते मुझ में भय जागता है। तभी तो मैं यहाँ की प्रत्येक वस्तु से झिझकता-सहमता हूँ। इसलिए नहीं कि यहाँ के रहने वाले डरावने हैं, बल्कि इसलिए कि यह कोठी मुझे डराती है—इस की भव्यता, विशालता, इस के वसन-आवरण, इस का आडम्बर—यह सब मुझे कुंठित करते हैं। और शायद इसीलिए मुझे कभी कभी लगता है कि यहाँ वस्तुएँ ही वस्तुएँ हैं, व्यक्ति नहीं।

२० अक्टूबर १९५५

गार्ड की तीखी सीटी और इंजन के कर्कश भोंपू की औपचारिकता के बाद गाड़ी धीरे-धीरे खिसकी। हाथ में कड़ुए तेल का आधा भरा अद्धा लिये एक दुबला-पतला व्यक्ति पायदान पर पैर रख कर डिब्बे में दाखिल हुआ। पानी से तरबतर, मैला कुरता-पायजामा, सिर पर चिपकी मैली दुपल्ली टोपी।

ये महाशय डिब्बे में आ कर सीट पर पैर रख कर, घुटने मोड़, मुड़े हुए घुटनों को हाथों से बाँध, सर्दी से बचने का यत्न करते हुए-से बैठ गये।

गाड़ी प्लेटफ़ार्म को पार कर आगे बढ़ी ही थी कि उन्होंने आस-पास बैठे लोगों को सम्बोधित कर किस्सा सुनाना शुरू कर दिया। दो-तीन-चार, आस-पास बैठे लोग दत्तचित्त हो कर सुनने लगे।

डिब्बे के बाहर मूसलाधार पानी बरस रहा था, भीतर ये महाशय अपनी बग़ल में कड़ुए तेल का अद्धा रखे न जाने कहाँ का किस्सा सुना रहे थे—

"कान का मैल निकालने वाला आया। बोला—'आपके कान में बड़ा मैल है। मैल ही नहीं, गोलियाँ हैं।' बेचारे सीधे-साधे आदमी थे। बोले—'अच्छा निकालो भाई, हम भी देखें कैसे दाने हैं हमारे कान में।'

अरे भैया, उस ने निकालने शुरू कर दिये तो सरसों के बराबर पच्चीस-तीस दाने निकाल कर रख दिये।"

(एक सज्जन ने जो अब तक तटस्थ थे, अचानक किस्से में दिलचस्पी ले कर सूत्र जोड़ा—"काले-काले होंगे, सख़्त।")

तेल के अद्धे वाले ने दूने उत्साह के साथ बताया—"हाँ भैया, सुनो तो। अब झगड़ा पड़ा। मैल वाला कहता—'हमारे तीन रुपये नौ आने हुए। कान से पचीस गोलियाँ निकलीं हैं, हाँ। बेचारे बड़े बुरे फँसे। काफ़ी तकरार के बाद दो रुपये दे कर पिंड छुड़ाया।

"ऐसे ही ये जूते वाले हैं। 'तल्ला लगवालो, तल्ला लगवालो। दो आने में तल्ला लगवालो।' मैंने कहा—'चलो भाई, दो आने में तल्ला लगा जाता है, हम भी घिसे हुए जूते में लगवा लें।'

"अरे, वह तो इधर-उधर ठोंक-ठाक कर रुपया दो रुपये माँग बैठा। हम बोले—धत्तेरे की। अढ़ाई आने का जूता और अब दो रुपया तल्ला लगवायीं। हम तो न देंगे।...मगर लड़-झगड़ कर उस ने एक रुपया ले ही लिया।

"ऐसे ही ये ससुरे कानपुर के क़ुली हैं। उस दिन बम्बई से एक धोबी आया

कहीं और जा रहा था। कुली से बोला—'यह गठरी गाड़ी में रख दो।' कुली ने चुपचाप गठरी तो डिब्बे में रख दी, लेकिन जब धोबी ने चवन्नी निकाल कर हथेली पर रखी तो त्यौरी चढ़ा कर बोला—'दो रुपये होंगे बरेठे !'

लो, बात ही बात में गाली-गलौज होने लगी। पुलिस वाला आया। उस बेईमान ने भी कुली के ही पच्छ की बात कही।

गाड़ी रेंग गयी, मगर मसला न सुलझा। कुली ने बढ़ कर धोबीराम की गरदन नापी—'जाते कहाँ हो? मज़दूरी दिये जाओ चुपके से।' हार कर एक रुपया निकालना ही पड़ा। चवन्नी मूज़ी कुली पहले ही ले चुका था।" (कहानी का यह हिस्सा मौलाना ने यों सुनाया मानो वे ख़ुद धोबी हों और कुली को बीस आने उन्होंने ही अपनी गाँठ से दिये हों।)

इस बीच मौलाना के श्रोतागण दूसरी-दूसरी बातों में लग गये थे। मौसम, बरसात, बाढ़ और घरबार की फुटकर चर्चा होने लगी थी। अपनी ओर किसी को भी आकृष्ट न पा कर मौलाना किंचित हतप्रभ हो थम गये। कुली वाला किस्सा उन्होंने ज्यों-त्यों पूरा किया। फिर चुप हो रहे।

दो मिनट बाद वे आँखें मूँद कर विचारों में डूबे से दिखे।.......

वर्षा-भीगे रेल-पथ पर फिसलती-सी ट्रेन कूकती और शोर मचाती हुई बढ़ी जा रही थी। निकट और दूर के दृश्यों को झरती हुई बूँदों ने धुँधला बना दिया था।

डिब्बे के भीतर बैठे मौलाना ने उस टोपी को सुधारा जो भीग कर उन के सिर पर पहले ही चस्पाँ हो चुकी थी। फिर उन के ओठों में हल्की-सी हरकत हुई, फिर तनिक-सी मुस्कान फैल गयी। मैं ने बिलकुल जान लिया कि मौलाना ऊँघ नहीं गये हैं, बल्कि इस समय अपने आपको, वे ही दिलकश कहानियाँ सुना रहे हैं, जिन्हें डिब्बे वालों ने नहीं सुना। मेरे मन में तीव्र इच्छा जगी कि मौलाना के पास जा कर बैठूँ और उन से कहूँ कि मैं...मैं तो उत्सुक हूँ उन ताँगे वालों, गवैयों और कुँजड़िनों की बातें सुनने के लिए, जिन का किस्सा आप इस समय अपने मन में छेड़े हुए हैं।....

पर, इसी सोच-विचार में, झमाके से बरसते हुए पानी के बीच गाड़ी स्टेशन पर रुक गयी और उस 'बुलबुल-हज़ार दास्तान' को हसरत भरी निगाह से देखते हुए मुझ को प्लेटफ़ार्म पर उतरना पड़ा।

मामा वरेरकर

कृष्ण ग्वालियर महाराज की भूषा में

मेरा पहला नाटक 'कुंज विहारी' है जो रंगमंच पर खेला गया। मैं तब रत्नागिरी के पोस्ट आफिस में २० रुपये का सिगनेलर था। यह नाटक पहले किरलोस्कर नाटक मंडली ने लिया था। पर जब किरलोस्कर साहब को मालूम हुआ कि नाटककार २०) मासिक पाने वाला सिगनेलर है तो इसी बिना पर उन्होंने नाटक रद्द कर दिया। फिर जब 'स्वदेश हित नाटक मंडली' रत्नागिरी आयी तो वह उस बिल्डिंग में ठहरी जहां मेरा एक मित्र भी रहता था। उस के पास मेरे नाटक की पाण्डुलिपि थी। वहीं वह नाटक पढ़ा और पसन्द किया गया।

इस बात को छै महीने बीत गये। नाटक मंडली धूलिया (खानदेश) में थी जब अचानक मुझे बुलावा आया और मैं छै महीने की छुट्टी ले कर वहाँ गया। पर नाटक खेलने की नौबत नहीं आयी। मेरा झगड़ा हो गया और मैं वापस चला आया।

यह १६०८ की बात है। उस ज़माने में नाटकों में खूब गाने और नाच होते थे, मैंने अपने नाटक में गाने कम किये तो गाने वाले नाराज़ हो गये। मैं पर्दों के बदले सेट देना चाहता था, इस पर भी मालिक तैयार नहीं हुए। ख़ैर मेरा पहला नाटक था, इन सब बातों पर मैंने समझौता कर लिया पर एक जगह आ कर गाड़ी अटक गयी।

बात यह थी कि उस ज़माने में महाराष्ट्र के स्टेज पर कृष्ण और बलराम को जिस वेश-भूषा में उतारा जाता था, वह वृन्दावन के कृष्ण की नहीं, ग्वालियर के महाराज की थी। वही बड़ी पगड़ी वही तंग पायजामा और वही घुटनों के नीचे आता अँगरखा। स्त्रियों की पोशाक भी उच्चकुल की ब्राह्मण महिलाओं ऐसी होती। मैं लड़कपन ही से इस पोशाक के विरुद्ध था। मेरे पिता जी

मुझे बड़ी बड़ी दूर नाटक देखने ले जाते थे जब मैं उन से पूछता कि कृष्ण तो मुकुट-किरीट-कुण्डल पहनते थे, यह बड़ी पगड़ी नहीं तो पिता जी कहते कि यह सब जो तुम देख रहे हो गलत है। मेरी बड़ी साध थी कि मेरे नाटक के कृष्ण मुकुट-कीरीट-कुण्डल में सुशोभित हों और नंगे बदन पर धोती पहनें और गोपियों की भूषा ब्राह्मण महिलाओं की-सी नहीं, वृन्दावन की गोपियों-सी हो। मालिक इस परिवर्तन पर तैयार न हुए। मेरी उम्र उस समय चौबीस-पच्चीस वर्ष की थी। खून गर्म था। मैं अड़ गया कि नाटक होगा तो उसी भूषा में जो मैं चाहता हूँ, नहीं तो नहीं होगा!

मैं चला आया। रत्नागिरी को जाते हुए मैं बम्बई रुका, तभी मित्र को कम्पनी का तार मिला कि उन्हें रोको। वे मुझ से मिले। उन्होंने समझाया कि आप इतनी छोटी-सी बात पर इतना अच्छा चाँस क्यों गँवा रहे हैं। मैं ने कहा, 'जो बात आपके लिए छोटी है, मेरे लिए बड़ी है।' मित्र बीच में पड़े और समझौता हो गया—कृष्ण ने मुकुट किरीट पहना पर अँगरखा भी रहा और स्त्रियों की भूषा वृन्दावन की गोपियों-सी हुई।

अपना वह पहला नाटक मुझे डेढ़ वर्ष बाद देखना नसीब हुआ।

गोविन्द वल्लभ पंत

ठोकर के फूल

सन् १९२० ईसवी के दिसम्बर की बात है। मेरठ में सुप्रसिद्ध 'व्याकुल भारत नाटक कम्पनी' का निर्माण हो रहा था। नाटक की सब से पहली नौकरी मैं ने यहीं की थी। भारत के अनेक अन्तरप्रान्तीय कुशल कलाकारों का वहाँ संगठन था। हिंदी महाभारत के विख्यात चित्रकार श्री तेजेंद्रकुमार मित्रा कम्पनी के आदि-नाटक बुद्धदेव के पर्दे बना रहे थे। हज़ार कैंडल पॉवर का बल्ब जल रहा था, फ़र्श पर पर्दा बिछा हुआ था। सहकारियों ने उस पर सरेश-मिश्रित ज़िंक व्हाइट पोत कर उसे स्केचिंग के लिए तैयार कर दिया था। पर्दे के पास ही

अनेक प्रकार के रंगों के प्याले और धो-धा कर ब्रुश रख दिये गये थे। समीप ही ह्विस्की के एक खाली केस पर मिश्रा बाबू चारकोल की बत्ती हाथ में लिये किसी गहरी चिंता में निमग्न थे। कदाचित् किसी उलझन को सुलझा रहे थे। फिर उन्होंने सिगरेट की सफ़ेद बत्ती के साथ चारकोल की काली बत्ती का विनिमय कर लिया। वे सिगरेट पीने लगे। इसी समय कोई आवश्यक समाचार ले कर मैं उन के पास जा रहा था। उस संदेश से उन को प्रसन्न देखने की जल्दी में मेरा संतुलन खो गया और मेरे पैर की ठोकर से रोज़ टिंट का प्याला लुढ़क गया। वह कर्णं-कार पर्दे पर छोटे-बड़े बिंदुओं को बिखराता हुआ दूर तक चला गया। मैं सहम कर जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह गया। पर्दा बहुत ज़रूरी था। मैं लज्जा और आत्म-ग्लानि से वहीं धरती पर गड़ गया। सोचने लगा, मेरा यह ग़लत कदम थोड़ी देर में सारी कम्पनी में फैल कर मुझे बदनाम कर देगा। क्षणों में मेरे मस्तिष्क से न-जाने कितने युग दौड़ गये। मैंने चित्रकार की तीव्रभर्त्सना के लिए साहस भरा, लेकिन मेरे आश्चर्य का पारावार न रहा जब मैंने मिश्रा बाबू को नाचते हुए पाया। सिगरेट फेंक, चारकोल की बत्ती उठा कर वे चिल्लाये—'शाबाश!' मैं अचकचा कर उन्हें देखता ही रह गया। उन्होंने फिर समर्थन किया—'हाँ, बिलकुल ठीक! यह गाँठ बड़ी देर से अवरुद्ध थी।' बिजली की गति से उनका हाथ पर्दे पर नाचता हुआ चला जा रहा था।

मैंने पूछा, "कैसी गाँठ?"

उन्होंने बिना मेरी ओर देखे जवाब दिया, "चित्र एक मानसिक सृष्टि है। कैनवस पर उतरने से पहले वह मानस में पूर्णता पाता है। मैं बड़ी देर से उसे मन में खोल नहीं पा रहा था। तुम्हारी इस ठोकर से द्वार खुल पड़ा।"

"आप मुझे बना रहे हैं!"

"नहीं, तुम्हारी ठोकर ने इस उपवन के पर्दे पर देखो तो कैसे सुन्दर फूल खिला दिये हैं।"

सचमुच मैंने देखा, रोज़ टिंट के तमाम धब्बों पर फूल विकस उठे थे। बड़ी तेज़ी से मिश्रा बाबू पर्दे पर स्केचिंग करते चले जा रहे थे, एक-एक रेखा सारे चित्र के साम्य में थी, कोई भी बिंदु भरती का न था। मैंने फिर देखा, फूल की बेल अपनी पूरी वास्तविकता को ले कर उस फलक पर उतर आयी थी। प्रकृति और कल्पना के उस विवाह पर मैं मुग्ध, मौन खड़ा रह गया। मैंने पूछा, "क्या नाटककार के लिए भी ऐसा ही अन्तर्दर्शन अपेक्षित है?"

मुस्करा कर मित्रा बाबू बोले, "मुझे क्या मालूम ? मैं रंग और रेखा की बात जानता हूँ।"

"शब्द भी तो भावना का ही वाहक है। नाटक भी तो एक चित्र-काव्य है।"

"हो सकता है। मैं केवल इतना ही कहूँगा जब विचार और पार्थिवता की संधि होती है तो ठोकर में फूल पैदा हो जाते हैं।"

राम कुमार वर्मा

पहला पहला अभिनय

सन् १९१७ की बात है। तब मैं सिहोरा के मिडिल स्कूल में दूसरी अँग्रेजी (सातवीं कक्षा) का विद्यार्थी था। मेरे पिता जी उस समय सिहोरा (जिला जबलपुर) के तहसीलदार थे। मेरे अग्रज जबलपुर के राबर्टसन कालेज में पढ़ते थे और छुट्टियों में सिहोरा आये थे। जब वे छुट्टियाँ समाप्त होने के पूर्व ही वापस जाने लगे तो मैंने उन से इस का कारण पूछा। उन्होंने बताया कि जबलपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सप्तम अधिवेशन हो रहा है, जिस में प्रस्तुत किये जाने वाले नाटक के वे मैनेजर हैं। मुझे नाटक से तो रुचि थी ही, मैंने उन के साथ चलने का आग्रह किया। मेरे जाने की इच्छा के मूल में एक बात और थी। भाई साहब से मुझे मालूम हुआ था कि अधिवेशन के अध्यक्ष पं० रामावतार पाण्डेय, एम० ए० हैं। उन्होंने यह भी बताया था कि एम० ए० की डिग्री सारे देश की सब से ऊँची पढ़ाई समाप्त करने पर मिलती है। उसके पूर्व मैंने किसी एम० ए० को न देखा था। मेरे बाल-मस्तिष्क ने कुछ ऐसी कल्पना कर ली थी कि एम० ए० पास करने के बाद आदमी किसी दूसरी तरह का हो जाता होगा। शायद उस की आँखें कुछ बड़ी हो जाती होंगी, या उस के मुख पर कोई अन्य विशेषता आ जाती होगी। अपने इस कौतूहल को शान्त करने के लिए मैं पं० रामावतार पाण्डेय एम० ए० को देखना चाहता था। मेरे जाने की तैयारी देख कर मेरा अनुज रामानुग्रह भी हठ करने लगा कि भइया, अगर तुम जाओगे तो मैं भी जाऊँगा। बड़े भाई साहब दोनों को ले जाने के लिए तैयार नहीं

थे। उन्होंने कहा कि मैं दोनों को तो साथ नहीं ले जा सकता। कोई एक चल सकता है। अपना काम बिगड़ता देख कर दिन भर मैंने 'अनुग्रह' की न जाने कितनी खुशामद की। उसे अनेक प्रलोभन भी दिये। शायद उसे मिठाई भी खिलायी और समझाया कि तुम न चलो। मुझ से काफ़ी मात्रा में मिठाई स्वीकार कर अनुग्रह ने अनुग्रह पूर्वक मुझे अनुमति दी कि अच्छा अब आप जा सकते हैं।

नाटक देखने की इच्छा तथा किसी एम० ए० को देखने का कौतूहल, ये दो बातें मेरे जबलपुर जाने का कारण बनीं। उस वर्ष अधिवेशन में दो नाटक प्रस्तुत किये जा रहे थे। खंडवा का एक एमेचर क्लब श्री माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध' का अभिनय करने को था और दूसरा नाटक, जिस के संयोजक मेरे अग्रज थे, श्री बदरी नाथ भट्ट का 'चन्द्रगुप्त' था। श्री भट्ट के नाटक में विद्रोही सेनापति रणधीर की भूमिका थी। रणधीर राक्षस का सहयोगी था। चाणक्य ने राक्षस के सभी साथियों को बन्दी कर लेने की आज्ञा दी थी। रणधीर अपनी पत्नी और अपने बारह वर्षीय पुत्र के साथ वनों में घूमता फिरता था। जो लड़का रणधीर के पुत्र की भूमिका में उतर रहा था, उसके पिता का ट्रान्सफ़र नाटक अभिनीत होने के पूर्व किसी अन्य स्थान को हो गया और वह लड़का नाटक से एक-दो दिन पूर्व ही बाहर चला गया।

अब हमारे भाई साहब के सामने उस चरित्र के अनुरूप अभिनेता खोजने की समस्या आयी। उन्होंने बहुत यत्न किया, पर उस पात्र के अनुरूप कोई छोटा लड़का न मिला। तब उन्होंने मुझ से कहा कि कुमार, तुम क्यों न सेनापति-कुमार का अभिनय करो? तुम्हें केवल एक ही वाक्य तो कहना है—'माँ मुझे प्यास लगी है, मेरा कंठ सूख रहा है।' जब रणधीर अपनी पत्नी से बात कर ले तो तुम उस की पत्नी का आँचल पकड़ कर बार-बार कहना—'माँ! मुझे प्यास लगी है।' यही वाक्य तुम्हें दो-तीन बार कहना है।

मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं रंगमंच पर आऊँ। मुझे भाई साहब की बात बहुत पसंद आयी और मैं कुमार का पार्ट करने के लिए तैयार हो गया, यद्यपि मेरे मन में पहली बार रंगमंच पर आने तथा विशाल जनसमूह के सामने अभिनय करने की हिचक थी। सभी अभिनेताओं को अपने पार्ट अच्छी तरह से याद थे, इसलिए मेरी रिहर्सल कराने की आवश्यकता न समझी गयी। भाई साहब ने मुझे दो एक बार 'माँ! मुझे प्यास लगी है!' कहने का ढंग समझा दिया।

जिस दिन अभिनय प्रस्तुत किया जाने वाला था, उस दिन मैं भी सज्जा-ग्रह में गया। मैंने देखा, भाई साहब का एक मित्र (बेनी) जनाने कपड़े पहन रहा है। भाई साहब ने मुझे समझाया कि इन्हीं का आँचल पकड़ कर तुम्हें कहना है—'माँ मुझे प्यास लगी है!' मैं समझता था कि रणधीर की पत्नी सचमुच कोई महिला होंगी। किन्तु सन् १९१७ में कोई भी स्त्री रंगमंच पर आना अपमान-जनक समझती थी। आज भी फ़ीमेल-पार्ट के लिए नाटकों के संयोजकों को जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, उन से सभी परिचित हैं।

मैंने सेनापति-कुमार की वेश-भूषा धारण की। चूड़ीदार पायजामा और अचकन पहन कर मैं तैयार हो गया। किन्तु मुझे उस लड़के को 'माँ' कहने में अत्यधिक संकोच हो रहा था। प्रत्येक बालक अपनी माता को अत्यन्त आदर और स्नेह की दृष्टि से देखता है। मैं तो अपनी माता जी के प्रति बहुत श्रद्धा रखता हूँ। मेरा मन इस बात को स्वीकार न कर सकता था कि बेनी को माँ कह कर सम्बोधित करूँ!

नाटक प्रारम्भ हुआ। वह दृश्य आ गया, जिस में मुझे अभिनय करना था। रणधीर और बेनी के साथ मैं भी रंगमंच पर पहुँचा। पंडाल दर्शकों से भरा हुआ था। मैं पहली बार ही रंगमंच पर उतरा था। मैं घबरा-सा गया। कुछ समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ। रणधीर का अभिनय करने वाला कुशल कलाकार था। उस ने सफलता पूर्वक अपना अभिनय किया। मैं अपना वाक्य न कह पाया। पर्दे के पीछे से 'प्रॉम्पटर' बार-बार चिल्ला रहा था कि कहो माँ मुझे प्यास लगी है। पर मैं उसी संकोच में था कि बेनी को माँ कैसे कहूँ? कभी मैं रणधीर की ओर देखता, कभी बेनी की ओर और जैसे ही मेरी दृष्टि दर्शकों की अपार भीड़ की ओर जाती, मुझे अपनी विचित्र स्थिति पर उलझन-सी मालूम होती। इस उलझन में सचमुच मुझे प्यास लग आयी। रणधीर ने मुझे संकेत देने के लिए कहा कि 'बेटे! तुम बोलते क्यों नहीं? तुम्हें भी तो प्यास लगी होगी?' मैंने अत्यन्त स्वाभाविक ढंग में ज़ोर से कहा—'मुझे प्यास तो लगी है, पर इसे माँ कैसे कहूँ? यह तो बेनी है!'

मेरे इस वाक्य को सुन कर दर्शक-गण बड़े ज़ोर से हँस पड़े। दर्शकों के क़हक़हों और तालियों की सम्मिलित ध्वनि से पंडाल गूँज उठा और लाचार हो कर पर्दा खींचना पड़ा। मेरे भाई साहब ने रंगमंच पर आ कर मुझे दो तमाचे लगाये और मैं मुँह फुलाकर एक कोने में जा बैठा। मैंने भाई साहब से फिर कहा—'मैं बेनी को माँ कैसे कहता?'

नाटक असफल रहा और उस की असफलता में मेरा भी समुचित योग था। आज जब मैं उस घटना का स्मरण करता हूँ तो स्वयं हँसता हूँ, किन्तु उस समय मैंने अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से अपने संकोच को व्यक्त कर दिया था।

उपेन्द्रनाथ अश्क

उत्तरा और मूँछें

कहते हैं कि सियार की मौत जब आती है तो वह शहर की ओर भागता है, सामाजिक कार्य-कर्त्ता का सिर जब खुजलाता है तो उसे नाटक खेलने की सूझती है। मैं उन दिनों अपने नगर की एक धार्मिक-सामाजिक संस्था का नया-नया उपमंत्री हुआ था, जब मुझे भी कुछ ऐसी ही सूझी।

मैं जिस कालेज में पढ़ता था वह आर्य समाज के उस पक्ष से सम्बन्धित था जो प्रत्येक ललित-कला को वैदिक युग का विरोधी समझता था। नयी-नयी उम्र, नया-नया जोश और कुछ कर गुज़रने की लगन। लेकिन कालेज में न कंसर्ट हो, न नाटक, न कवि सम्मेलन! लड़कों को पूर्ण ब्रह्मचारी बनाना अधिकारियों का आदर्श, इसलिए कोई युवक कुछ कर गुज़रना चाहे तो उस के लिए अपने कालेज और समाज के बाहर हाथ-पैर मारना जरूरी था। दुर्भाग्य से मैं उन्हीं मन्द-भाग्यों में से एक था।

मैं कुछ कविता भी करता था। नाटक बड़े अच्छे लगते थे। 'न्यू एलफ्रेड कम्पनी' तथा मास्टर रहमत की अपनी कम्पनी के एक-दो नाटक लड़कपन में देखे थे। सिनेमा घर शहर में नया-नया खुला था। उसके प्रोप्राइटर को गाँठ लिया था और हर फ़िलम देख आता था। कालेज के उस रूखे वातावरण में कैसे मन लगे और मन था कि कुछ कर गुज़रने को बेक़रार, सो एक शाम जा कर शहर के महावीर दल का सदस्य बन गया।

उन दिनों पंजाब के शहरों में दल की बड़ी धूम थी। हमारे धर्म-शिक्षा के प्रोफ़ेसर तो उसे उपेक्षा से 'बन्दर-दल' कहते थे, पर क्योंकि उन्हें बुरा लगता था, इसीलिए मुझे अच्छा लगता था और शायद अन्तर्मन में उन्हें चिढ़ाने के विचार ही से मैं उस दल का सदस्य हो गया था। अब सोचता हूँ तो पाता हूँ

कि सिर्फ़ यही बात न थी। दल की सरगर्मियाँ विस्तृत थीं—शहर में जितने मेले होते, उस में दल के सेवक सेवार्थ ड्यूटी देते थे, रामलीला की शोभायात्राओं में जुलूस के आगे सैनिकों की तरह पाँव से पाँव मिलाते चलते और रामलीला के मैदान में रामलीला की व्यवस्था करते। वार्षिक उत्सवों और धार्मिक कथाओं में बड़े-बड़े पंखे झलते और सज्जनों और देवियों को पानी पिलाते और जन्माष्टमी के अवसर पर एक नाटक खेलते। मैं स्कूल के दिनों में स्काउट रहा था। मुझे महावीर दल की वर्दी ओर क़वायद और जुलूसों के आगे सैनिकों की चाल से चलना बड़ा भाता था। फिर महावीर दल का सदस्य बन कर शहर की अधिकांश सरगर्मियों में बिना टिकट, बिना कष्ट भाग लिया जा सकता था। मैं सदस्य बना तो महावीर दल ने एक कवि-सम्मेलन और नाटक करने की सोची। मैं उपमन्त्री बना तो यह भार मेरे ही कंधों पर पड़ा।

दल के पास अपने पर्दे थे। स्वयंसेवकों की कमी न थी, बल्कि नाटक के दिनों में स्वयंसेवक बढ़ जाते थे। थियेटर हाल तो नहीं था, पर सनातन धर्म सभा का (कि दल जिसके अधीन था) चारदीवारी से घिरा अहाता था। इस में स्वयंसेवक चौबीस घंटों में तख़्तों और बाँसों की सहायता से स्टेज बना कर उसे पर्दों से लैस कर देते थे। मैं दल के दो-एक नाटक पहले भी देख चुका था। दल के नाटकों का आयोजन मुझे बड़ा आसान लगता था! इसलिए जब मुझे जन्माष्टमी के अवसर पर 'वीर अभिमन्यु' खेलने का आदेश मिला तो मैं बड़ा प्रसन्न हुआ।

इच्छा तो मेरी यही थी कि मैं स्वयं एक धार्मिक नाटक लिखूँ और वह दल के मंच पर खेला जाय, पर कई बार कोशिश करने पर जब मैं नाटक लिखने में सफल न हुआ तो कई कागज़ और कापियाँ फाड़ने के बाद मैं ने यही तय किया कि राधेश्याम कथावाचक का नाटक 'वीर अभिमन्यु' ले कर उसके संशोधन-परिवर्धन पर ही संतोष कर लिया जाय!

किन्तु पहली कठिनाई यहीं पेश आयी। दल के सदस्य, जैसा कि मैंने पहले कहा, लगभग अनपढ़ थे। 'वीर अभिमन्यु' नाटक उन के विचार में उन का धार्मिक-ग्रन्थ था और उसकी एक लाइन भी काटना पाप था। लेकिन मंत्री पढ़े-लिखे थे, उन को मैंने समझाया कि नाटक के आरम्भ ही में नाटककार ने अंग्रेज़ों की दासता का सुबूत दिया है, नटी कहती है—'यदि हमारे वीर बलवान का गुण-गान सुन कर श्रोताजनों में वीर-रस झलक आय और यह रसिक-समाज

वीर-समाज हो कर ब्रिटेन सरकार की ओर से ब्रिटेन के शत्रुओं का मुँह तोड़ने के लिए बैटलफ़ील्ड में पहुँच जाय......' ये वाक्य आज़ादी की लड़ाई लड़ने वाले काँग्रेसियों को अखरेंगे। दूसरे एमेच्चर रंगमंच की आवश्यकताओं को देखते हुए कुछ नाच, गाने और दृश्य कटने ज़रूरी हैं। यद्यपि मन्त्री महोदय ब्रिटेन सरकार वाली लाइन को नापसन्द न करते थे, उन्हें विरोधी संस्था—सेवासमिति का भय था, जिस में बहुत से काँग्रेसी थे, इसलिए उन्होंने नट-नटी का सारा प्रकरण ही काट दिया और नाटक में भाग लेने की इच्छा रखने वालों की एक सभा बुला कर यह समझा दिया कि उपमंत्री नाटक में जो काट-छाँट करेगा उसे वे स्वयं देखेंगे और पास करेंगे तब नाटक होगा। यह भी समझाया नाटक को छोटा करना ज़रूरी है ताकि दो-तीन बजे तक समाप्त हो जाय। पूरा किया जायगा तो पाँच बज जायँगे।

मैंने नाटक को अच्छी तरह पढ़ा और न केवल उसमें काट-छाँट की, बल्कि अपने उस जोश में कुछ सम्वाद भी बढ़ाये और दो-चार जगह कुछ कविताएँ काट कर अपनी ओर से जोड़ दीं। नाम तो राधेश्याम ही का रहा, पर मेरे अहं और शौक की पुष्टि हो गयी।

यहाँ तक कोई वैसी कठिनाई पेश न आयी, लेकिन जब भूमिकाओं के वितरण का सवाल आया तो लगा जैसे मैंने भिड़ के छत्ते को छेड़ दिया है। अभिमन्यु की भूमिका में कौन उतरे—इसी बात को ले कर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। दल की नाटक मंडली में दो अभिनेता अभिमन्यु का पार्ट करना चाहते थे—दोनों दुकानदार थे। एक कपड़े का दूसरा लकड़ी-कोयले का—और दोनों की उम्र, पच्चीस से तीस वर्ष के बीच में थी। जब कि अभिमन्यु केवल पन्द्रह-सोलह का था। बहुमत बज़ाज़ के पक्ष में था। उसका नाम था—निक्का—वह न केवल दल का सरगर्म सदस्य था, बल्कि दल के बैण्ड का संचालक भी था, बाँसुरी बजाने में उसका शहर भर में कोई सानी न था और वह पहले भी दो बार वीर अभिमन्यु की भूमिका में उतर चुका था। था तो नाटा, नाक भी उस की चपटी थी और शरीर भी दोहरा था, पर उसके बाल घुँघराले थे और रंगमंच पर वह जोश से सिर हिलाता तो बड़ा अच्छा लगता। मेरी एक ही आपत्ति थी—नाटक खेलने का व्यावहारिक ज्ञान न होने के कारण जो मुझे बड़ी और आधारभूत लगती थी—वह यह कि उस की उम्र अभिमन्यु के नहीं उस के पिता अर्जुन के बराबर थी। आज जब मैं देखता हूँ कि मँजे हुए अभिनेता उन नायकों की भूमिकाओं में अभिनय करते हैं, जहाँ उनका पोता होना चाहिए

और दर्शकों को तनिक भी बुरा नहीं लगता तो मुझे अपने उस समय के अनुभवहीन हठ पर हँसी आती है।

बहरहाल जब मैं ने दोनों के स्थान पर अपने एक सहपाठी का नाम तजवीज़ किया तो वह शोर मचा कि ख़ुदा की पनाह। दल के सदस्य दुकानें बढ़ा, खाना-वाना खा कर नौ-साढ़े-नौ बजे तक मीटिंग में आये तो साढ़े बारह तक डटे रहे और भूमिकाओं के वितरण पर झगड़ा होता रहा। तब बड़ी भूमिकाओं को छोड़ कर उस रात छोटी भूमिकाएँ बाँट दी गयीं और बड़ी भूमिकाओं का निर्णय दूसरे दिन पर छोड़ दिया गया।

दूसरे दिन मैं कालेज से आ रहा था कि इमाम नासरुद्दीन के चौक में जहाँ निक्का की बज़ाज़ी की दुकान थी, उसने मुझे अपने चन्द एक गुण्डे साथियों के साथ घेर लिया और धमकी दी कि यदि मैं ने उस के अभिमन्यु बनने में किसी तरह की अड़चन डाली तो उस से बुरा कोई न होगा। और भी कई धमकियाँ उस ने मुझे दीं और बड़ी मुश्किल से मेरा रास्ता छोड़ा।

निक्का अभिमन्यु बना तो कोयला-फ़रोश जयद्रथ बनाया गया। एक तीसरे साहब थे, जो नगर के एक सेठ घराने से सम्बन्ध रखते थे और दान इत्यादि से दल की सहायता करते थे। वे जयद्रथ का पार्ट करना चाहते थे, लेकिन एक सम्वाद तक वे शुद्ध न बोल सकते थे, उन्हें प्रोड्यूसर का पद दिया गया और किसी तरह रिहर्सल आरम्भ हुई।

उन रिहर्सलों में क्या-क्या कैसे हुआ और दिलचस्प और कष्ट प्रद अनुभव मैं ने सँजोये, कितने वाद-विवाद, मान-मनौवल, झगड़े-झाँझे हुए, उस का ब्योरा देने लगूँ तो न जाने कितने पन्ने रँगने पड़ें, लेकिन 'वीर अभिमन्यु' खेले जाने के सम्बन्ध में एक किस्सा बड़ा दिलचस्प है, जो मुझे प्रायः याद आता है।

मेरा वह मित्र जिसका नाम मैंने अभिमन्यु की भूमिका के लिए तजवीज़ किया था नाटक में काम करने को बड़ा उत्सुक था। था भी सुन्दर सलोना। कंठ में उसके अमृत था। गाता था तो सुधा बरसा देता। जब मैं उसे अभिमन्यु का पार्ट दिलाने में सफल न हुआ और पिटते-पिटते बचा तो मैं ने उस से कहा कि वह चाहे तो उसे उत्तरा की भूमिका दिला सकता हूँ। अभी उसका निर्णय नहीं हुआ। मेरे मित्र को स्त्री-भूमिका में उतरना रुचिकर न था, लेकिन मैंने 'कला और उसकी साधना' पर घंटों लेक्चर पिला कर उसे मना लिया। उसने अपना पार्ट भी ख़ूब याद किया। ड्रेस रिहर्सल में अभिमन्यु और उत्तरा का पार्ट ही सब से अच्छा उतरा। पहले अंक के अन्त में निक्का ने जब अभिमन्यु की भूमिका में पार्ट करते हुए

मरने से पहले धोखे से कौरवों के चंगुल में फँस कर अपना वह लम्बा सम्वाद—'तो थू है, धिक्कार है ! सिंह के बच्चे को इस प्रकार धोखा दे कर फाँसने वाले वधिकों, तुम पर हज़ार-हज़ार फटकार है !' —से आरम्भ किया तो अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उस ने देखने वालों की आँखों को आर्द्र भी कर दिया और उनका खून भी खौला दिया और मेरे मित्र ने एक ही दृश्य बाद जब विधवा विरहनी उत्तरा के रूप में अपना सम्वाद अदा किया—'हाँ मैं सचमुच उन्मादिनी हो गयी हूँ । विरहनी नहीं, वियोगिनी नहीं, विषादिनी हो गयी हूँ ।

सती वही जिसका रहे साजन से अनुराग ।
धन्य वही संसार में जिसका अटल सुहाग ।।'

तो लोग अश-अश कर उठे । लेकिन नाटक के दिन जब मेरा मित्र पहले अंक के पाँचवें दृश्य में जहाँ अभिमन्यु रण को जाने से पहले अपनी पत्नी से मिलने आता है, अपना पार्ट करके आया तो रंगमंच के पीछे कोलाहल-सा उठ खड़ा हुआ और दूसरे क्षण मेरे मित्र के पिता क्रोध से लाल आँखें लिये हुए हमारे धर्म-शिक्षा के प्रोफ़ेसर के साथ स्वयंसेवकों से लड़ते-भिड़ते आये और मित्र की बाँह थाम, उन्हीं कपड़ों में उसे ग्रीन-रूम से ले गये । उन के क्रोध का मुख्य कारण यह न था कि उस ने नाटक में पार्ट किया था या स्त्री भूमिका में पार्ट किया था, बल्कि यह कि उस ने मूर्ति-पूजक सनातन धर्मियों के नाटक में पार्ट करके उन का और उन के आर्य-धर्म का अपमान कर दिया था ।

मैं समझ गया कि यह आग हमारे धर्म-शिक्षा के प्रोफ़ेसर ने लगायी है और उन्होंने मित्र के पिता को बहकाया है, लेकिन यह समझ मेरे किसी काम न आयी क्योंकि मेरे ही नहीं सभी के हाथ-पाँव फूल गये । दूसरा कोई ऐसा अभिनेता न था, जिसे पार्ट याद हो या जो उत्तरा की भूमिका में उतर सके । हमारे सेक्रेटरी महोदय ने ग्रीन-रूम में आ कर सनातन धर्म पर आयी हुई इस विपत्ति में दल की सहायता करने के लिए बड़ा ओजपूर्ण भाषण दिया, पर परिणाम कुछ न निकला । कोई स्वयंसेवक उत्तरा की भूमिका में उतरने को तैयार न हुआ । तब उन्होंने मुझसे कहा, कि तुम निर्देशक हो, तुम्हें पार्ट याद होगा, तुम्हीं उतरो ।

पार्ट मुझे याद था । मैं उस भूमिका में उतरने को भी तैयार हो गया । मेरा क़द-बुत भी मित्र जितना था । सौभाग्य से उस दृश्य के बाद उत्तरा विधवा वेश ही में आती है । सो श्वेत साड़ी दरकार थी । पहचाना न जाऊँ, इसलिए तय किया कि मैं घूँघट काढ़े रहूँ । लेकिन एक ही दिक़्क़त थी, मेरे ओंठ पर चार्ली चेपलन जैसी छोटी-छोटी मूँछें थीं । उन दिनों मुझे चार्ली चेपलन के फ़िल्म बड़े पसन्द थे, मैंने

कालेज में प्रवेश करते ही उसकी-सी मूँछें रख ली थीं और यदा-कदा उसकी नक़ल भी किया करता था।

आधी रात में नाई तो कोई क्या मिलता जो मेरी मूँछें साफ़ करता, मन्त्री महोदय ने एक स्वयंसेवक को अपने और एक को मेरे घर भेजा कि हजामत का सामान लाये और मैं स्त्री-वेश धारण करने में व्यस्त हो गया।

विग पहन, छातियाँ लगा, साड़ी में शरीर को आवृत कर मैं रेजर की प्रतीक्षा में आइने के आगे बैठा था कि पहला अंक समाप्त हो गया। अन्तराल १५ मिनट का था, पर हम आधे घंटे तक प्रतीक्षा करते रहे और स्वयंसेवक न आये। आख़िर जब झुँझला कर मैंने पर्दा उठाने का आदेश दिया तो दोनों हाँफते हुए वापस आये। मन्त्री के घर ताला लगा हुआ था, उनकी पत्नी और माता वह धार्मिक नाटक देखने आयी हुई थीं और मेरा घर किसी को मिला नहीं। स्वयंसेवक कदाचित नये ही भर्ती हुए थे।

तब यह तय हुआ कि जब मुझे घूँघट ही काढ़े रहना है, तब मूँछें हुईं तो क्या और न हुईं तो क्या ! दूसरे अंक का प्रथम दृश्य बहुत छोटा है, झट ही मेरी बारी आ गयी और मैं पर्दे के पीछे जा कर उत्तरा के शयन-कक्ष में पलंग पर सो गया, क्योंकि उत्तरा के दुःस्वप्न से वह दृश्य आरम्भ होता है। और जब पूरे दृश्य में घूँघट काढ़े सम्वाद बोलता हुआ मैं क्लाइमेक्स के उस डायलाग पर आया—'हाँ मैं सचमुच उन्मादिनी हो गयी हूँ। विरहणी नहीं, वियोगिनी नहीं, विषादिनी हो गयी हूँ'—तो न जाने कैसे, सखियों की भूमिका में काम करने वाले किसी लड़के की शरारत थी अथवा मैं सम्वादों में बह कर अपनी हस्ती भूल गया, मेरा घूँघट उठ गया और एक सिरे से दूसरे सिरे तक दर्शकों में एक भयानक ठहाका गूँज उठा।

मेरी क्या दुर्गति हुई, इस की कल्पना की जा सकती है। मैं दूसरे दिन घर से नहीं निकला और कालेज से एक महीने की छुट्टी ले कर अपने पिता जी के पास बहराम चला गया।
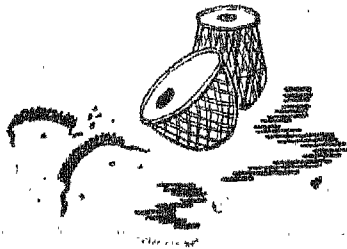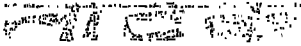
सुबह के घंटे

●●●

नरेश महता

सूत्र दृश्य

[समुद्र-तट पर एक प्रमुख जेल का वह भाग जहाँ फांसी के बन्दियों को रखा जाता है। अँग्रेज़ युगीन किले के पथरीले बुर्ज में यह आगार है। बन्द सीख़चों वाले द्वारों में, मोटी-मोटी सांकलें लगी हैं, ताले पड़े हैं। दूर सामने लोहे का फाटक दिखायी देता है, जिसमें एक छोटी खिड़की है जो सदा बन्द रहती है। जब कोई आता है, तब वह खिड़की रोते कुत्ते की सी आवाज़ में खुलती है। तभी बाहर से सन्तरी की वर्दी एवं बन्दूक दिखती है। आने के नाम पर केवल सन्तरी के और कोई नहीं आता—हां, जो वस्तुएँ इन नियमों को लाँघ कर आती हैं, वे हैं—धूप, अँधार और ध्वनियाँ।

बन्दी एमन उन्नत ललाट का अधेड़ व्यक्ति है, जिसमें ये तीन लक्षण ही प्रधान हैं—सुन्दर धवल एडवर्ड दाढ़ी, सुदीर्घ उत्कीर्णित नासिका और पारदर्शी मर्म-स्पर्शी आँखें। रात के दो बजने को हैं, सुबह उसे फांसी पर लटकना है और वह अपनी कल्पना में सुबह के इन घंटों में अपने जीवन के दो अंक देख चुका है— लड़कपन— जब उसने अपने सामने जमींदार के हाथों अपने किसान पिता का घर कुर्क होते, जमींदार के वासनाजनित जुल्म के कारण अपनी माँ को आत्म-हत्या करते और उसको कत्ल करने के झूठे इलज़ाम में (जो जमींदार ने अपनी खाल बचाने के लिए पुलिस दरोगा से मिलकर लगवाया था) अपने बाप को काले पानी जाते देखा और लुट-पिट और एक दम अनाथ हो, और प्रतिक्रिया में जमींदार के मुँह पर थूक कर गाँव छोड़ दिया—जवानी— जब उसने काँग्रेसी-नेता वैद्य सत्य काम के दवाखाने में दवाइयां कूट कर शिक्षा प्राप्त की और काँग्रेसियों

की हिंसा भरी अहिंसा और विनम्रता भरी अनुदारता की प्रतिक्रिया में क्रांतिकारी बना और डाक गाड़ी पर डाका डालने के अभियोग में काले पानी गया।

जीवन का तीसरा अंक उसकी आँखों के सामने खुलने को है—तभी जेल के कांस्य घंटे में दो बजते हैं—पार्श्व-भूमि में पुलिस की सीटियाँ बजती हैं और सन्तरी चौकसी का पता एक दूसरे को देते हैं।

यवनिका उठने पर एमन मंच की ओर को मुँह किये है। वह अपना सिर दरवाजे के सीखचों पर टिकाये छत को घूर रहा है—]

संतरी—(दूर से हाक रूपे) गार्ड ! सात नम्बर सेल ! ताला बेड़ी आलरेटऽऽ ?

गार्ड—(उसी रौले) सात नम्बर सेल ! ताला-बेड़ी आलरेटऽऽ !

संतरी—(अधिक दूरी पर, हाक रूपे) गार्ड ! बार नम्बर सेल ! ताला बेड़ी आलरेटऽऽ ?

(और पृष्ठ-भूमि में यह प्रतिसतर्कता डूब जाती है।)

एमन—(मुड़ कर पृष्ठ-भूमि के वातावरण को घूरते हुए) उस जेल यात्रा और आज की जेल यात्रा में कितना अंतर है ? प्रभेद के दो छोर तब ज्वार और तूफ़ान के शिखर थे, लेकिन आज ? सिवाय भाटे की नींव के क्या है ? तब सरकार के बाहर देश-भक्ति वास करती थी, किन्तु आज सरकार में देश-भक्ति है।...शायद दोनों में एक विचित्र एकता है—वह है आतंक ! स्वाधीनता की नींव रखने वाले सब फाँसी पा गये। किन्तु तब के राव राजा और बैरिस्टर आज मन्त्री हैं। गरीबी तब भी राजद्रोह थी और आज भी है। पहले फन्दा रेशमी था और आज......

(लखन की बूट टापें)

लखन—एमन साब ! मुझे तो लगता है कि कोई भी हो, गरीबी कोई दूर नहीं करना चाहता।

एमन—नहीं लखन ! मनुष्य पर से विश्वास न उठाओ। कभी तो निश्चय की संकल्प-अंगुलि में अग्निजल जागेगा ! हमें अनासक्त, असंपृक्त, मोहहीन होना ही होगा। कमलनाल से मूर्ति नहीं तराशी जा सकती—छेनी से रूप और प्राण दोनों संचरित होते हैं......

(लखन की बूट टापें)

लखन—पानी-वानी कुछ नहीं चाहिए एमन बाबू ?

[एमन अपने से परे कहीं खोया सा है। जेल के बुर्ज के ऊपर ठहरे पीताभ चन्द्रमा को वह घूरता रह जाता है। लखन चला जाता है।]

एमन—(फिर उसी तरह दरवाज़े के सीखचों पर सिर टिका लेता है) जेल के पन्द्रह वर्षों ने तब शिक्षा दी थी—क्रांति व्यक्ति और दल का धर्म नहीं, वह तो जन-बल की ऐतिहासिक अभिव्यक्ति है।

प्रथम दृश्य

[समय प्रातः आठ। अत्यन्त सादा कमरा। दायें हाथ पर एक खिड़की है तथा बाहर के लिए दरवाज़ा। बायें हाथ पर बाँस के एक रेक में पुस्तकें हैं। दीवार पर रवीन्द्र, गोर्की तथा मार्क्स के रेखाचित्र टँगे हैं। अहीर टोली में एमन का यह कमरा है, जिसे उसका वासा कहा जा सकता है। एक ओर लोहे की अँगीठी, दो चार बर्तन, दो एक टिन के डिब्बे पड़े हैं। एमन अपनी खाट पर तकिया सीने से लगाये औंधा लेटा हुआ फुलस्केप कागज़ पर कुछ लिख रहा है। लिखे हुए कागज़ इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। एमन की आयु ४५ के आस-पास है। काले पानी से लौटते हुए इस बार वह एडवर्ड कट की डाढ़ी बढ़ाकर आया है जो हल्की खिचड़ी सी हो चली है। सिर पर छँटे बाल हैं। नाक पर चश्मा है। धोती पहने है खादी की तथा बिहारी बनियान। खाट के पास ही बाँस की आराम-कुर्सी पड़ी है, जिस पर तौलिया सूख रहा है। तभी सांकल की आवाज़ सुनायी देती है।]

एमन—(चौंक कर) कौन? (दोबारा सांकल सुन हड़बड़ाता है और उठ कर दरवाज़े तक जाता है।) अरे आप दक्षिणा जी! आइए—आसुन!

[वह तेज़ी से पहले तो कागज़-पत्र सम्हालता है। उन्हें सिरहाने सहेज, खूँटी टँगा कुरता पहनना चाहता है। तब तक आश्चर्य-मिश्रित, किंचित हास्य संगे नाटकीयता के साथ दक्षिणा कोने में मुँह फेरे खड़ी रहती है। दक्षिणा खादी की अत्यन्त सादी साड़ी में है। पल्लू बायें से लेकर कमर में खुँसा हुआ है। सफ़ेद ही ब्लाउज़ है, पैरों में चप्पल और कंधे

झोला। आयु यही ३० के आसपास। गोलमुख—और बड़ा सा बंगाली जूड़ा।]

दक्षिणा—शायद लिख रहे थे ?

एमन—(दक्षिणा के सामने खड़ा असमंजस सा) जी, हाँ, नहीं......

दक्षिणा—(हँसते हुए) अब तो बैठने के लिए कहिए एमन बाबू !

एमन—(बाँस की कुर्सी से तौलिया हटाते हुए) आई एम सॉरी, बैठिए—

दक्षिणा—मैं भी महिला हूँ एमन साब ! यह क्या कि मुझे ही बैठने के लिए कहना पड़ा। (हँस देती है।) कुछ तो नारी का सम्मान करना सीखिए—

एमन—(सिटपिटाते हुए) क्या बताऊँ...आप...

दक्षिणा—(हँसते हुए) माना कि आप को पन्द्रह वर्षों तक जेल में रहना पड़ा, लेकिन और लोग भी तो जेल जाते रहे हैं। उनमें से कई तो बड़े सभ्य बन कर निकले हैं।

एमन—(तपाक से) जी हाँ वे 'ए' श्रेणी की पैदावार हैं। (दोनों ही हँस पड़ते हैं।) सवेरे सवेरे कहाँ से ?

दक्षिणा—(बनावटी गम्भीरता के साथ) चेतन के लिए समय की संज्ञा होती है, जड़ के लिए नहीं एमन बाबू !

एमन—(उसी ढंग से) तो जड़ अब चलने भी लगे—पिछले १५ वर्षों में बड़ा परिवर्तन हो गया ?

दक्षिणा—तो आप क्या सोचते थे कि लौटने पर वही बमपार्टी का काम करेंगे ? ना बाबा ! जानते हैं हम जिस युग में अब आये हैं वहाँ विद्रोह, हिंसा आदि बातें पाप हैं—जानते हैं ? प्रार्थना, प्रस्ताव ही आज के युग-सत्य हैं !

(दोनों हँस पड़ते हैं।)

एमन—मानव जाति जब तक यह निर्णय करे कि वह विद्रोह करे अथवा प्रार्थना, तब तक क्यों न हम लोग चाय ही पी डालें।

(किंचित हास्य)

दक्षिणा—चाय तो जरूर ही पीना चाहती हूँ, किन्तु क्या यह सम्भव होगा कि हम लोग बाहर चल कर कहीं पियें ?

एमन—(किंचित संकोच संग) बाहर ? हाँ आँऽऽ......

दक्षिणा—(कुर्सी की ओर बढ़ते हुए) अच्छा ! तो संकोच कर रहे हैं ? ठीक है, कर लीजिए ! तब तक मैं बैठ कर सुस्ता लूँ ।

एमन—संकोच की बात नहीं दक्षिणा जी ! ये........

दक्षिणा—सम्मान की बात है, है ना ? मैं आप से संकोच नहीं कर पाऊँगी ।

एमन—(रस लेते हुए) क्यों ?

दक्षिणा—अपना अपना मन है एमन बाबू ! मैं बाहर चलने के लिए अब इसलिए और नहीं कहूँगी, क्योंकि इस से आपको ठेस लगेगी कि मैं पे करूँ ।......हाँ शायद प्रकाशक महोदय ने आपको रायल्टी देना स्वीकार नहीं किया ?

एमन—यही तो बात है दक्षिणा जी ! पहले कहता था कि उपन्यास प्रकाशित हुआ नहीं कि आधी रकम दे दी जायेगी, पर अब कहता है—साब, वार शुरू हो गयी ।—कापी राइट पर ही माँगता है ।

दक्षिणा—(चिन्ता के साथ) तो आपने क्या सोचा ?

एमन—क्या सोचूँ, यही तो प्रश्न है ।

दक्षिणा—न हो बेच ही दीजिए एमन बाबू ! बेचना ही आज का युग-सत्य है । मैं कहती हूँ—देखना एक दिन अँग्रेज़ भी इस देश को काँग्रेस के हाथों बेच कर जायेंगे । वह स्वाधीनता थोड़े ही होगी । कापीराइट पर बिकी हुई पुस्तक की भाँति यह देश होगा ।

एमन—लेकिन मैं सहमत नहीं इस कथन से ।

दक्षिणा—(हँसते हुए) अरे तो क्या आप समझते हैं कि मैं स्वयं इस कथन से सहमत हूँ ? जानते हैं, इस युग में कुछ भी कह दीजिए—साथ ही यह कह दीजिए कि मेरा ईश्वर मुझ से यही कहता है ।

(दोनों खिलखिला पड़ते हैं ।)

एमन—ज़्यादा अच्छा यह होगा कि चाय यहीं बनायी जाय । आप तब तक कुछ पढ़ें, मैं अभी बना लाता हूँ ।

दक्षिणा—(उसाँसते और उठते हुए) स्त्री कहीं भी जाये एमन बाबू ! चूल्हा उसका पिण्ड नहीं छोड़ सकता ।

एमन—इस लिहाज़ से तो मुझे भी स्त्री होना चाहिए था । अध्यापक था तब भी और लेखक बना तब भी चूल्हा !

दक्षिणा—पुरुष, विवशता में ऐसा करता है । नारी का तो चूल्हा ही धर्म है एमन बाबू ! चाहे वह ऋषियों का समाज हो चाहे साम्यवादियों का ।

(दोनों हँसते हैं। वह स्टोव जलाती है।)

एमन—सुनिए दक्षिणा जी ! सुना है शांति निकेतन में रविबाबू ने कला की उपयोगिता का अच्छा रूप खड़ा किया है।

दक्षिणा—(पानी रखते हुए) हमसे सुनी हुई बात हमीं से कही जा रही है ? (हँस देती है।) लेकिन याद रखिए मैं स्टोव के तानपूरे पर नहीं गाती !

एमन—तो ठीक है मैं ही कुछ पढ़ कर सुनाऊँ।

दक्षिणा—पुराना नहीं, आज जो लिख रहे थे वही।

एमन—(कागज़ उठाते हुए) हाँ वही...(पढ़ता है।) राजनीति सब कुछ कर सकती है—केवल सत्य की स्थापना नहीं कर सकती। राजनीति सब कुछ सहन कर सकती है, पर सत्यकथन को नहीं ! राजनीति की मानवता एवं सत्य—उसके झण्डों एवं राजकीय घोषणाओं तक सीमित रहते हैं—शेष में वह दिगम्बर, अघोरी, सर्वभक्षी है ! क्रांतिकारियों की आत्माहुति, रक्त-तर्पण को अँगुली कटाकर शहीद हुए राजनीतिज्ञों ने—निर्मम, अमानुषी, क्या क्या संज्ञाएँ नहीं दीं ? यतीन्द्र, आज़ाद और भगतसिंह के शहीद-सत्य को झुठलाने वाले कौन थे ? वे, जो मैन्चेस्टर के कपड़ों की दुकान में लाभ न देख कर आश्रम खोल बैठे थे। न रहे बंगलों में, जेल की 'ए' श्रेणी में ही रहे और बाहर निकलने पर ग्रन्थों के प्रणेता बन कर लाखों की रायल्टियाँ बनायीं ! झोंपड़ियों की भीड़ को पीछे धकेल कर बंगलों ने वायसराय-भवन को घेर लिया—झण्डे उतरे, झण्डे फहरा गये—कीर्तन की धुन पर क्रांति हो गयी ! इंकलाब का ताज़िया समय के करबला में ठंडा कर दिया गया। झोंपड़ियाँ, सड़कें और गलियाँ—गंजी और गमछे पहने, क्रांति के ऐतिहासिक रथ की विजय-यात्रा का जुलूस देखने खड़ी रह गयीं—समझ न सकीं कि यह रथ कब, किस मार्ग से निकल गया ? इन्हें क्या नहीं मालूम कि सौदा पटायी हुई क्रांतियाँ चोरी-चोरी ही सम्पन्न हुआ करती हैं। कमल के लिए म्यान नहीं होती, वह तो तलवार छिपाने के लिए आवश्यक है।

[तब तक दक्षिणा चाय बना चुकी है। एक कप एमन की ओर बढ़ाती है, फिर—]

दक्षिणा—(अपना कप हाथ में लिये कुर्सी पर बैठते हुए) तो आपने निश्चय कर लिया कि राजनीति से पलायन कर उसे लेखनी से कोसा जायेगा।

एमन—(चाय का घूँट पीते हुए।) पलायन नहीं, किन्तु स्वाधीनता के संघर्ष में मेरे योग की दिशा दूसरी होगी।

दक्षिणा—आप कोरे सैद्धान्तिक तथा आलोचक बने रहना चाहते हैं, विचार तो बीज हैं एमन बाबू! उन्हें मानस-मन में उगाना भी पड़ता है।

एमन—यही तो राजनीति का दम्भ है।

दक्षिणा—पार्टी जब आपको स्वीकारने को तैयार है, तब आप अलग द्वीपवत् क्यों रहना चाहते हैं। दूसरे सभी क्रांतिकारी पार्टी में शामिल हो गये हैं।

एमन—द्वीप की स्थिति में, सत्ता की प्रज्ञा होती है, अहं का कठोर होता है। जेल के समय ने मुझे तोड़ा नहीं, निर्मित किया है कि इस अनन्त प्रवाह में संतरण ही सत्य है और फिर किसी कूल लग कर उस काल-प्रवाह को गान और गूँज से आकार दो।

दक्षिणा—यही तो सुपरह्यूमेनिज़्म का रहस्यवादी रूप है। तब तो गाँधी जी से थोड़े दिनों में पटरी बैठ सकती है।

एमन—गांधी जी से बैठ जाती दक्षिणा जी, यदि वे राजनीतिज्ञ न होते तो!

(दोनों हँस पड़ते हैं।)

दक्षिणा—हीरेन आने वाला है आज शाम को आपसे मिलने। आपके वुड कट्स के बारे में।

एमन—हाँ, मैंने भी बागची कम्पनी में बातें की हैं। उनके यहाँ शांति-निकेतन की कई चीजें रहती हैं।

दक्षिणा—तो वो आपके वुडकट्स रखेंगे न?

एमन—वो ४० प्रतिशत माँगते हैं, वह भी गोदाम से बिक्री का। शो केस में रखने का वो अलग से किराया माँगते हैं।

दक्षिणा—(हँसते हुए) तो वो आपको ही क्यों नहीं माँग लेते?

एमन—माँग लें तो चिन्ता छूटे।

दक्षिणा—चिन्ता छूटी तो साहित्य गया समझें!

एमन—यह भी राजनीति का प्रचार है साहित्य के विरुद्ध। क्योंकि ये राजनीतिज्ञ जानते हैं कि दो-चार आठ बरस में कुर्सियाँ तो मिलेंगी ही और अगर ये साहित्यकार भी उनमें हिस्सा बँटाने आजायेंगे तो सब चौपट हो जायेगा इसलिए त्याग, तपस्या दुःख का भाग बेचारे साहित्यकारों के मत्थे मढ़ना चाहते हैं।

दक्षिणा—अच्छा साब! कौन मना करता है कि आप भी कुर्सी न लें, लेकिन

जब आप कुर्सी पा जायें तो हम जैसों के लिए एकाध स्टूल का भी ध्यान रखिएगा। (दोनों हँसते हैं।) तो अब चलूँ एमन बाबू!

एमन—तो अब कब आइएगा?

दक्षिणा—(किंचित नाट्य मुद्रा संगे) इतिहास की प्रतीक्षा नहीं करनी होती!

एमन—(उसी नाटकीयता से) अच्छा! तो आप ही इतिहास हैं?

दक्षिणा—न सही इतिहास, उसकी भूमिका ही सही।

एमन—मैं भूमिका पढ़ने वाले ज्ञानियों में नहीं हूँ।

दक्षिणा—(हँसते हुए निवेश) तो आप इस युग के इन्टेलेक्च्यूअल नहीं हैं। पिछली किसी शताब्दी के पंडिताऊ लेखक हैं।

(पटाक्षेप)

द्वितीय दृश्य

[एमन का वही कमरा है। दस बजे हैं सवेरे के। बाहर से लौटता है एमन। उसके मुख पर प्रसन्नता की झलक है। हाथ में, उसका नव-प्रकाशित उपन्यास 'रक्त गाछ' है! धोती, कुरता, चादर में वह प्रवेश करता है। उपन्यास की प्रति एक बार उलटता-पलटता है और चादर खूंटी पर टाँगते हुए गुनगुनाता है:—]

हमार हृदय प्रदेशे
अँकुराओ रक्त गाछ!
दिग्दिगन्त करो अग्निगान,
शैलबन्ध करि अंग भंग
मुक्ति-पर्ण! जागो, जन्मो—
बन कालगात,
हमार इतिहास क्षेत्रे—
तर्पण पाओ रक्तगाछ—स्वागत! स्वागत!

[ये पंक्तियाँ जैसे वह गुनगुना रहा है, और साथ ही चाय बनाने की तैयारी कर रहा है। तभी मकान मालिक सेठ छदम्मी मल की आवाज आती है—]

सेठ—एमन बाबू घर में ही हैं न ?

एमन—(आवाज़ सुनकर)—कौन ?

सेठ—(अपनी टिपीकल भूषा में प्रवेश करते हुए) अरे ? हमें नहीं पहचानते ? सेठ छदम्मी मल ! बाबूजी, जिस मकान में आप रहते हैं न, मैं ही उसका मालिक हूँ । हाँ, मुझे आप कैसे जान सकते हैं भला ? कभी किराया देने आते तो जानते ? किराये का एक पैसा दिया आज तक ? (घूरता है ।) यह घर किरायेदार के लिए है दामाद के लिए नहीं ।

एमन—कैसी बातें करते हैं सेठ साहब । मैं भला आपका दामाद......

सेठ—अरे दामाद ही नहीं बाप भी होते आप तो भी किराया नहीं छोड़ता, समझे ? पैसा गाँठ में नहीं और चले हैं बनने सुराजी !

एमन—मैं सुराजी ? किसने कहा आपसे ?

सेठ—किसी ने कहा हो हमसे--काले चोर ने कहा, अब बताइए ?—(दर्शकों को सम्बोधन करते हुए) अब बताइए इनमें और आपमें क्या फ़रक है साब ? साफ़ कपड़े आपने पहने हैं, साफ़ ये भी पहने हैं । जानते हैं, मकान लेने जब ये आये, तब आप ही पूछिए इनसे कि इन्होंने बताया था—१५ बरस जेल काट कर आये हैं ?

एमन—ज़रा सुनिए तो सेठ साब !

सेठ—अरे सेठ होगे तुम या ये लोग, यहाँ तो मकान है, बीवी है, दुकान है, गोदाम है । (एमन की ओर मुँह करके) मैं पूछता हूँ तुम्हें मकान किराये पर देना धरम है ? माँ, बाप, भाई, बहिन, बीवी, बच्चे—कोई हैं भी तुम्हारे ? मान लो सब को हैज़ा हो गया, कॉलरा हो गया—मगर नौकरी ? नौकरी को क्या हुआ ? कहाँ है तुम्हारी नौकरी ? काम क्या करेंगे आप ? सरकार के खजाने पर डाका डालेंगे और रहेंगे छदम्मी मल के मकान में—है न ? सरकार के वार-फ़ंड में चंदा दो, सुराजियों को मुफ़्त में मकान किराये पर दो—दोनों ने उल्लू का समझ रक्खा है । सरकार के चक्कर काटो तो वो राव राजा की पदवी दे और इनके (एमन की ओर हाथ करके) चक्कर काटो तो ये किराया दें—बोलो अब, डाढ़ी के बाल तक सफ़ेद होने आये और गरीब छदम्मी मल का पैसा मारते शरम नहीं आती ?

एमन—(संयत क्रोध से) देखिए सेठ साहब ! आपको किराया ही चाहिए न ?

सेठ—(बड़े ही नाटकीय ढंग से) नहीं पिता जी ! चंदा माँगने आया हूँ ।

एमन—(संयत क्रोध से) मिल जायेगा किराया ।

सेठ—अरे मिल नहीं जायेगा, अभी लेके जाऊँगा, नहीं तो बोरिया-बिस्तर लेकर...

[खाली करने के संकेत में चुटकी बजाता है। और चारपाई पर ज़ोर से बैठता है। चारपाई की रस्सी टूट जाती है। सेठ—'मारयो रे बाप' कह कर चिल्ला उठता है। 'रक्तगाछ' को प्रति का पेपर फट जाता है।]

एमन—सारी किताब नयी की नयी खराब कर दी।

[एमन सेठ को पकड़ कर निकालता है और उपन्यास की प्रति को झटकारता है।]

सेठ—(कपड़े ठीक करते हुए) किताब? तुम्हारी है? तुमने छपायी? अरे छापने को पैसा था और किराया देने को पैसा नहीं था?

एमन—सुनिए, इस किताब के प्रकाशक—मतलब मालिक जिसने छापा है वे मुझे दो-चार दिन में ही पैसा देंगे तब.......

सेठ—तब की ऐसी की तैसी!

[और किताब एमन के हाथों से छीनकर ज़मीन पर दे मारता है। तभी दक्षिणा और पार्टी सेक्रेटरी माणिक मुखर्जी प्रवेश करते हैं। दक्षिणा की वही भूषा है। माणिक धोती, कुरता और विद्यासागरी पहने है।]

दक्षिणा—(आश्चर्य से) यह क्या हो रहा है एमन बाबू?

(सेठ तब तक दक्षिणा को घूरता है और फिर एक दम)

सेठ—अच्छा, तो यहाँ लड़कियाँ भी लायी जाती हैं?

एमन—(क्रोध से) शटअप!

(सब अवाक रह जाते हैं।)

सेठ—(उसी ताव से) तो सुन लो एमन बाबू! यह मेरा घर है रण्डीखाना...

एमन—(क्रोध से) तो तुम चुप नहीं रहोगे?

माणिक—सेठ साहब! आप क्या कह रहे हैं, कुछ मालूम है?

सेठ—नहीं, छदम्मी मल तो गधा है। (माणिक से) तुम कौन हो जी बीच में बोलने वाले? आठ महीने का किराया २५०) तुम दोगे? (एमन से) सुनिए, २५०) दे कर मकान खाली कर दो, आज और अभी, नहीं तो पुलिस को बुलाता हूँ।

दक्षिणा—व्हाट इज द मैटर एमन बाबू?

एमन—आइ शेल टेल यू आफ़्टर वर्ड्स........

सेठ—अरे, व्हाट आइ शेल टेल यू आफ़्टरवर्ड्स—मेम साब! किराया चाहिए, किराया (रुपया बजाने का संकेत करता है।) किराया!

माणिक—(रोष से) किराया ही तो लीजिएगा या इज्ज़त भी लीजिएगा ?

सेठ—(दर्शकों से) देखिए साब ! भला इन लोगों की भी कोई इज्ज़त है ?

('ही...ही...ही'...हँसता है ।)

दक्षिणा—(माणिक से) टेल हिम देट ही विल गेट इट टुमारो ।

सेठ—(दक्षिणा को देखते हुए) अच्छा तो ये बात है, तभी !

माणिक—अच्छा तो अब आप इज्ज़त से चले जाइए ।

सेठ—अरे हाँ, हाँ, जाते हैं । यहां तो पैसा होना चाहिए चाहे जूड़ा दे या डाढ़ी !

(विकृत हँसी के साथ निर्गमन)

दक्षिणा—(क्रोध से) स्वाइन ! पैसा ! पैसा ! पैसा !

माणिक—नो यूज़ शाउटिंग ओवर हिम शेष दी ! रक्त चाटते सिंह की और सोते हुए आदमी की कथा नहीं याद है ? यू कान्ट बी ऐंग्री, बट टू शूट द ब्लड-सकर !!

एमन—नहीं, शूट कर देने से व्यक्ति न रहेगा, परन्तु स्वभाव भी न रहेगा इसका क्या प्रमाण ?

(दक्षिणा और माणिक अवाक से एमन को देखने लगते हैं ।)

माणिक—शेष दी ! तुम भी कैसे हो कि अभी तक परिचय भी नहीं कराया ।

दक्षिणा—(किंचित दुखी मन से) भला इस परिचय से बढ़कर हम सबका परिचय क्या हो सकता है । नाम विभिन्न भले ही हों, फिर भी एमन बाबू, ये माणिक मुखर्जी पार्टी सेक्रेटरी हैं और वैसे मेरे ममेरे भाई भी हैं । और माणिक इनका परिचय......

एमन—(ईषत हास्य) निरावर्णता का कोई भी परिचय नहीं कराता माणिक बाबू ?

माणिक—यह तो मेरा सौभाग्य है एमन बाबू ! एक बात कह दूँ कि मैं शेष दी से भी छोटा हूँ, इसलिए मेरे लिए माणिक बाबू की व्यावहारिकता रहने ही दें ।

एमन—चलो, व्यावहारिकता ऐसी चीज़ भी नहीं कि उसे सहेज कर ज्यादा दिन रखा जाये ।

दक्षिणा—(सहज भाव से) अभी से कैसे छुट्टी मिली । इस लंका काण्ड के उपरान्त सीता जी की रसोई की भांति आपकी चाय (सब हँसते हैं ।) आप की चाय भी अजीब आफ़त है एमन बाबू ।

एमन—अभी तो आप किसी की पत्नी बनी नहीं तब यह हाल है, बनने पर तो......

दक्षिणा—(कुछ आक्रोश, कुछ खोये रूप में) क्या कहा आपने ? पत्नी !

एमन—(हतप्रभ होकर) मुझ से शायद कुछ भूल हुई...क्षमा......

माणिक—(दक्षिणा को कंधे से पकड़े हुए) नहीं वैसा कुछ नहीं...शेष दी, दी...की होलो ?

[दक्षिणा क्षण भर में ही स्वस्थ हो जाती है। चाय बनाती है। सब अबोले ही रहते हैं। थोड़ी देर बाद चाय पर :]

माणिक—तो एमन दा ! क्या लेखक ही बने रहने का विचार है ?

एमन—बाध्यतावश तो नहीं, परन्तु यह तो मेरा धर्म है।

दक्षिणा—किन्तु क्रांतिकारी का धर्म क्या......

एमन—गलत न लें दक्षिणा जी। जब राजनीति को स्वीकारा है तब लेखक धर्म की आड़ लेकर उससे विमुख नहीं हूँगा।

माणिक—तब तो आप आसानी से पार्टी साप्ताहिक का सम्पादन स्वीकार लेंगे।

दक्षिणा—मैं समझती हूँ कि यह आइडिया बहुत अच्छा है।

एमन—मेरे विचार और संकल्प में विभिन्नता न मानें, किन्तु चाहूँगा कि इस पर सोच कर ही निर्णय करूँ।

दक्षिणा—(एमन की आँखों में आँखें डाल कर) क्या निर्णय ? यही न अब आगे कैसे क्या होगा...सो नहीं होने का। मैंने कुछ निर्णय ले लिये हैं। कल वह सेठ का बच्चा किराया ले जायेगा और आपको इसी समय यहाँ से चलना होगा।

एमन—इसी समय ? पर कहाँ ? क्यों ?

दक्षिणा—(हँसते हुए) जब पुलिस पकड़ने आती है तब क्या आप उस से भी ऐसे प्रश्न करते हैं ? और क्या वह उत्तर देती है ?

एमन—किन्तु यह कैसे सम्भव है ?

दक्षिणा—यह ऐसे सम्भव है (उठती है और रैक पर किताबें समेटते हुए) करने वाले के लिए कुछ असम्भव नहीं...द वर्ड इम्पॉसीबल इज़ फाउँड इन द डिक्शनरी आफ़ राइटर्स एज़ वेल एज़......

(माणिक और दक्षिणा हँस देते हैं।)

एमन—पर सुनिए तो, भला यह क्या बात हुई...कि......

दक्षिणा—(मुँह बनाते हुए और कमर पर दोनों हाथ रखते हुए) कि एक बार कहा और नेता जी चल पड़े। जब तक दस बीस आदमी चिरौरी न करें, फूल मालाएँ न पहनायें, तब तक भला नेता जी टस से मस कैसे हों !.... जाओ माणिक ! सवारी का प्रबन्ध करो। हम लोग तो प्रोल्तारी ठहरे, लेखक लोग तो बुर्जुआ होते हैं।

(हँसते हुए माणिक जाता है।)

एमन—दक्षिणा जी।

दक्षिणा—देखिए मुझे आपका यह 'जी' नहीं चाहिए। और सुनिए, माणिक मुझ से छोटा है। उसके सामने बहुत आग्रह करने से तो रही। चाहोगे, तो मुझे वह भी करना ही पड़ेगा, पर वह शोभन नहीं होगा—और जब आदमी की अपनी बुद्धि काम न कर रही हो तो शास्त्रों में कहा है कि—हे अबुद्धियो ! महाजनो येन गतः स पन्थाः !

[एमन हतप्रभ हो कंधे हिलाता है। दक्षिणा सामान बटोरने लगती है।]

पटाक्षेप

तृतीय दृश्य

[सायंकाल का समय है। स्थान पार्टी आफ़िस का एक कमरा है। दीवार पर मार्क्स एंगेल्स, लेनिन और स्टालिन के चित्र हैं। दीवार के बीच में हँसिया-हथौड़ा बना है। दाहिने हाथ के कोने में एक टेबल पर टाइपराइटर की पुरानी मशीन है, जिस पर महिला कामरेड कान्ता एक हाथ से काम कर रही है और दूसरे हाथ से रह रह कर सिगरेट पीती जाती है। यौवन या आनन्द नामक कोई चिन्ह उसके मुख पर नहीं है। उसकी बगल की कुर्सी पर शेरवानी तथा अलीगढ़ी पायजामा पहने एक कामरेड है। बिना धुले तथा तैल लगे बालों का वह काला सा कामरेड अफ़ज़ल है। वह उर्दू का कवि है। बहुत ही दुबला-पतला युवक है बीड़ी पी रहा है। साथ ही कागज पर कुछ लिख रहा है। बाँयें हाथ पर कामरेड रनजीत (जो कि रेलवे में सिगनेलर है, इसलिए उसे 'रनजीत द सिगनेलर' कहते

हैं सब) दो तीन रेल्वे मज़दूरों को मुट्ठियाँ ऊपर उठा-उठा कर ज़ोर-ज़ोर से समझा रहा है। ये लोग नीली कमीज़ें पहने हैं।

सामने मंच पर माणिक, दक्षिणा, विभूति भूषण बैठे हैं। विभूति एमन की उम्र का कामरेड है, बाल खिचड़ी हैं। वह यू० पी० के पूर्वी जिले का कामरेड है। उसकी नाक पकौड़ी जैसी है। उसके हाथों में विदेशी अख़बार है, जिसे वह ध्यान से पढ़ रहा है। बीच-बीच में दाँयें, बाँयें बैठे माणिक और दक्षिणा से कुछ कहता जाता है।]

विभूतिभूषण—पाँच तो हो गया होगा माणिक। अभी कामरेड एमन और रहमान नहीं आये ?

अफ़ज़ल—(दूर से ही) कामरेड अहमद ने फ़रमाया था कि वे छः तक आयेंगे।

विभूतिभूषण—मगर जनाब ! आप यहाँ क्या कर रहे हैं ? आपके अख़बार बेचने का कोटा कैसे पूरा होगा ? आज भी अख़बार बेचने नहीं गये।

अफ़ज़ल—कामरेड इस मुल्क में मरेठी और हिन्दोस्तानी ही चलती है। उर्दू समझने वाला यहाँ कौन है ?

विभूतिभूषण—देट्स वेरी बेड कामरेड !....यस कामरेड माणिक ! वी शुड इन्क्लूड दिस न्यूज इन अवर नेक्स्ट इश्यू।

(और हाथ के विदेशी अख़बार में संकेत करता है।)

माणिक—यस कामरेड ! (आवाज़ देते हुए) कामरेड कान्ता !

कान्ता—(टाइपराइटर पर काम करते हुए) वेट ए बिट् !!

विभूतिभूषण—(दक्षिणा से) इसका तर्जुमा होकर हिन्दोस्तानी परचे में भी जाये। और भाई ज़रा एमन साब ताकीद कर दो कि आसान ज़ुबान लिखें। इस कदर संसकीरत लिखते हैं कि सख्त कोफ्त होती है।

दक्षिणा—मगर कामरेड ! लैंग्वेज वाले प्रश्न को, मैं समझती हूँ, हमें नहीं छूना चाहिए।

अफ़ज़ल—कामरेड देकीना (दक्षिणा को ये जनाब इसी नाम से पुकारते हैं) मसलों को नज़र अन्दाज़ करते जाना निहायत ग़ैर कम्युनिस्टी रवैया है। ज़ुबान ज़मीं की रूह होती है, उस पर आप यह पण्डों और बिरहमनों की ज़ुबान कैसे लाद सकते हैं ?

माणिक—कामरेड ! इस समय न तो मौका ही है और न किसी ने आपसे राय

ही माँगी कि कौन सी ज़ुबान क्या है। यह बिलकुल गलत ढंग है बात करने का।

अफ़ज़ल—जनाब कामरेड भूषन से मैं कई दिनों से गुज़ारिश करना चाहता था कि जब पार्टी ने उन्हें अपने सियासी रिसालों का अमलदार बनाया है तो वे देखें कि जब से ये हिन्दी कामरेड एमन साब तशरीफ़ लाये हैं, तब से हिन्दोस्तानी का परचा, रोज़-ब-रोज़ कैसी नाक़ाबिले-बरदाश्त ज़ुबान का इस्तेमाल करता जा रहा है। पहले के एडीटर साहब किस कदर तरक्कीपसन्द ज़ुबान लिखते थे। यह पार्टी-पालीसी की सरीहन तौहीन है। मैं आप हज़रात से दरख़्वास्त करता हूँ कि कम्युनिस्ट के नाते आप इसे रोकें।

[तभी एमन प्रवेश करते हैं उनके साथ कामरेड अहमद हैं। अहमद सुन्दर व्यक्ति हैं ! ठुड्डियों की सी लम्बी नाक, साफ रंग प्रभाव डालता है। लम्बे कद के सौम्य व्यक्ति हैं। अलीगढ़ी पायजामा, कुरता और कंधे पर चादर योंही डाल रखी है। अफ़ज़ल को मुट्ठियाँ कसे भाषण देता हुआ देख कर कुछ मुँह बनाते हुए—]

अहमद—क्या बात है शायर मियाँ ! किस चीज़ की तनक़ीद पर कमर बाँधे हो ?

अफ़ज़ल—जनाब अहमद साब ! यह हिन्दोस्तानी रिसाले की ज़ुबान पर कामरेड देकीना ने कहा है कि ज़ुबान के मसले को नहीं छूना चाहिए।

अहमद—तो क्या कुफ्र हुआ। कोई गलत बात तो नहीं कही जो आप इस कदर थियेटराना अन्दाज़ के साथ मैदान-ए-जंग में ख़म ठोंक कर उतर आये। जाओ अपना काम करो मियाँ ! हरदम तलवार सान पर चढ़ाये नहीं घूमा करते।

अफ़ज़ल—(हतप्रभ होकर) ठीक है, बैठ जाऊँगा, मगर यह बुर्जुआ तरीका है ! ज़ुबान के मामले में मैं आपसे मुत्तफ़िक नहीं हो सकता अहमद साब ! कम्यूनिज़्म नये तमद्दुन, नयी ज़ुबान के पाये पर ही खड़ा होगा।

एमन—(संयत भाव से) क्या बात है अफ़ज़ल साब !

अहमद—(कुछ संयत भाव के साथ एमन से) आप रुकें (अफ़ज़ल से) देखिए अफ़ज़ल मियाँ ! अगर आप एमन साहब की ज़ुबान पर लाल-पीले होते हैं तो बताइए कि आप या मैं जिस ज़ुबान का इस्तेमाल कर रहे हैं— क्या वह हिन्दोस्तानी है ? अवाम की ज़ुबान है ?

अफ़ज़ल—बेशक, बुर्जुआ गाँधी तक मानता है।

अहमद—(क्रोध से किन्तु सीधे ढंग से) कायदे से बातें करना सीखिए कामरेड । गाँधी चाहे कुछ भी हों, वे पूरी इंसानियत के रहनुमा हैं । यह निहायत ओछा तरीका है कि जिसे चाहा बुर्जुआ कह दिया । आप और मैं उर्दू बोलते हैं । जिस तरह उर्दू एक ज़ुबान है, हिन्दी भी है । सबको अपनी ज़ुबानें काम में लाने का बराबरी का हक है । पार्टी जो हिन्दोस्तान चाहती है । वह अभी दूर की बात है । दो ज़ुबानें मिलें, लेकिन यह काम अवाम का है । वही नयी ज़ुबान पैदा करेंगे आप और हम नहीं, पार्टी भी यह हक नहीं रखती ।

अफ़ज़ल—आपका नज़रिया बहस-तलब है, क्योंकि हिन्दी ज़ुबान न तो सूब-ए-हिन्द, न बिहार शरीफ़, कहीं भी नहीं बोली जाती । पार्टी के सैकड़ों फ़नकार और शायर जो हिन्दोस्तानी लिखते हैं, क्या वही ज़ुबान एमन साब अपने रिसाले में लिखते हैं ?

अहमद—जनाब अफ़ज़ल साब ! मैं इन पार्टी फ़नकारों और शायरों की तौहीन नहीं कर रहा, मगर हिन्दी अदब में उनकी चीज़ों के मानी बहुत कम हैं । जिन सूबों के नाम गिनाये हैं, वहाँ संस्कृत से निकली बोलियाँ बोली जाती हैं—उर्दू नहीं ।

विभूतिभूषण—मैं समझता हूँ कामरेड अहमद कि यह बहस क़यामत के दिन भी ख़त्म नहीं होगी । कामरेड कान्ता !

कान्ता—(जो कि बड़ी देर से खड़ी सब सुन रही थी) यस कामरेड, मुझे कामरेड माणिक ने सब बता दिया है ।

विभूतिभूषण—एमन बाबू ! आप भी इसका तर्जुमा....(तनिक हँसते हुए)....नहीं अनुवाद दे दीजिएगा ।

एमन—मुझे किसी भाषा से द्वेष नहीं, बशर्तेकि वह किसी दूसरे का घर न छीने ।

विभूतिभूषण—(हँसते हुए) हिन्दी भी क्या मुसीबत है ?

एमन—जनाब, मुसीबतों से डरिएगा तो फिर क्रांति करवा चुके । क्रांति तो सब से बड़ी मुसीबत है ।

अहमद—नहीं हमारा नज़रिया ही ग़लत है । मज़हब, भाषा और ट्रेडीशन ये सब चीज़ें ऐसी हैं कि कोई भी सियासत इन पर जब भी हाथ डालेगी, वह ख़त्म हो जायेगी ।

विभूतिभूषण—अच्छा, तो मैं समझता हूँ कि जिस बात के लिए हमारी मीटिंग

होनी है उसकी चर्चा शुरू कर दें। माणिक! कामरेड रनजीत द सिगनलर से कह दें कि वे ज़रा धीरे समझायें गर्म होकर नहीं।

दक्षिणा—कह दो ठण्डे और धीमे बोलने से भी क्रांति आजायेगी। क्रांति, सिगनल नहीं है।

(सब हँसते हैं।)

अहमद—(मधुर ढंग से) आफ्टर आल दि नाइटिंगेल आफ़ रिवोल्यूशन सैंग!

(सब फिर हँसते हैं।)

विभूतिभूषण—(मधुर ढंग से) कामरेड्स! पी० बी० और सी० सी० का ख़याल है कि हमें अपनी पालीसी में जल्द ही चेंज लाना होगा। काँग्रेस मिनिस्ट्री ने वार इश्यू पर जो रिज़ाइन कर दिया है, इससे उन्हें मोमेंटम मिला है। आज तो वे भी हमारी ही तरह वार के ख़िलाफ़ हैं, मगर मान लो कि हिटलर रूस पर हमला कर देता है तो डेफ़ीनिट है कि हमें वार को डिफरेंट एंगल से देखना होगा। आज की इम्पीरियलिस्ट वार तब शायद है पीपुल्सवार कहलाये।

एसन—मगर कामरेड! यह पीपुल्स वार है, इसे जनता को कैसे समझाया जायेगा?

विभूतिभूषण—आपका प्वाइंट ठीक है। लेकिन जनता से पहले हमें अपने कामरेड्स एण्ड केडर्स को समझाना होगा कि चूँकि हम इंटरनेशनल आरगीनिज़ेशन हैं, इसलिए रूस पर हमले से वार की शक्ल और परपज़ ही बदल जाते हैं। नेशनिलिस्टों को तब भी यह वार इम्पीरियलिस्ट ही लग सकती है, पर हम ऐसा नहीं कर सकते। रूस दुनिया भर के मेहनतकशों की उम्मीद है, वह उनकी रहनुमाई करता है—उससे जो भी जंग होगी, वह भी पीपुल्सवार ही होगी।

अहमद—कामरेड्स। मैंने यह बात सी० सी० के सामने भी रखी थी, कामरेड भूषण जानते हैं, मैं यह समझता हूँ कि बात उसूलन ठीक होने पर भी नेशनल लेवल पर मार खा जायेगी। हमारी नेशनलिस्ट पार्टियाँ जनता को हमसे अलग ले जाने में शायद कामयाब हो जायें। काँग्रेस तथा गांधी का इन्फ़्लूएन्स मुल्क पर गहरा है। आज के हालात में वे किसी स्ट्रांग पालिसी को शायद शुरू कर दें, क्योंकि लोगों के दिलों में शोले हैं—उस हालत में हमारा सियासी रुतबा ख़तरे में पड़ सकता है।

विभूतिभूषण—कामरेड ! हिस्टरी इज़ सम टाइम्स ए फ़िक्स, देअर रिमेन्स नो आलटरनेटिव ।

एमन—अंतरिक्ष को समेटने की कामना में यह न हो कि पैरों नीचे की धरती भी विद्रोह कर उठे ।

दक्षिणा—इस तरह के डाइलेमाज़ ही तो महान होते हैं । देशों और आंदोलनों को इन ऐतिहासिक चक्रों में से निकाल ले जाने वाला ही युग-पुरुष होता है ।

एमन—कई बार ऐसा भी तो होता है कि डाइलेमाज़ पहले निकल जाते हैं और युगपुरुष बाद में आते रहते हैं ।

(एमन और दक्षिणा अपने व्यंगों पर खिलखिला पड़ते हैं ।)

विभूतिभूषण—(एमन और दक्षिणा से) कामरेड्स यू आर अंडर माइनिंग दि पावर एण्ड प्रेस्टिज विच अवर पार्टी कमाँड्स ।

एमन—(तपाक से) नाट-एट-आल अडंरमाइनिंग कामरेड ! आन दि अदर हैंड आइ विश सकसेस फार दि पीपुल्स फोर्सेस हीयर, देयर एण्ड एवरीवेयर ।

(पटाक्षेप)

चतुर्थ दृश्य

[कुछ कालोपरान्त । साँझ का समय । स्थान वही पार्टी आफ़िस । एमन एक तकिये के सहारे बैठा हुआ लिख रहा है । बात सन् १९४२ के आंदोलन की समझी जाय । वेष में विशेष परिवर्तन नहीं—न कक्ष में ही । तभी दक्षिणा काली साड़ी, काला ब्लाउज़ पहने प्रवेश करती है । वह कंधे का झोला थकान के ढंग पर ज़ोर से एमन के पास पटकती है ।

एमन—(नाटकीय ढंग से उसे नीचे से ऊपर तक देख कर, फिर सिर झुका कर) सो टू डे लेडी इन ब्लेक ?

दक्षिणा—यहाँ तो मरी-खपी आ रही हूँ और आपको मज़ाक सूझ रहा है । दो घंटे हो गये सड़कों पर चिल्लाते क्या मजाल जो एक भी प्रति बिके ।

एमन—(मज़ाक करते हुए) तुम्हें देख कर भी नहीं ।

दक्षिणा—देखो जी, हर घड़ी मज़ाक अच्छा नहीं।

एमन—अगर देश की इच्छाओं के विपरीत नीति अपनायी जायेगी तो वे तुम्हारे पत्र क्यों खरीदेंगे? सीधी-सी बात है।

दक्षिणा—रूस के एजेण्ट, रूस के पिट्ठू—सुनते-सुनते तो कान तक पक गये।

एमन—(बढ़ते हुए) लाओ, देखूँ तो तुम्हारा कान?

दक्षिणा—आजकल आपको हो क्या गया है?

एमन—अरे तो बिगड़ती क्यों हो? एक तुम ही तो हो जिससे मज़ाक भी कर लेता हूँ।

दक्षिणा—(चिढ़ाते हुए) अच्छा जी, शायद बहुत ग़लतफ़हमी हो गयी है लेखक महोदय को।

एमन—जब कोई ऐसी भूषा पहनेगा तो ग़लतफ़हमी होना स्वाभाविक ही है।

दक्षिणा—(अपनी भूषा को देखते हुए) क्यों? क्या गलत है इसमें? और किसी कामरेड ने तो कहा नहीं?

एमन—खूब चलायी तुमने भी इन कामरेडों की जिन्हें भारत या यहाँ की भाषा से ही चिढ़ है। अपनी पार्टी का नाम तक अँग्रेज़ी में।

दक्षिणा—पार्टी आफ़िस में बैठ कर पार्टी की ही निन्दा?

एमन—यह तो सेल्फ क्रिटिसिज़्म है। नेहरू जी इसी को 'कंसट्रकटिव क्रिटिसिज़्म' कहते हैं। (हँसता है) हाँ तो जानती हो, प्राचीनकाल में संध्या बेला यदि कोई नारी नीले या काले वस्त्रों में घर से बाहर जाती थी तो उसका अर्थ होता था—अभिसार!

दक्षिणा—(नाटकीय क्रोध से) तो आपका अर्थ है कि मैं आपके पास अभिसार के लिए आयी हूँ?

एमन—ऐसे कुछ बुरा भी नहीं होगा। सच कहना क्या मैं अब इस योग्य नहीं रहा?

(हँस देता है। दक्षिणा भी हँस देती है।)

दक्षिणा—जाइए ज़रा आइने में देख आइए। दस बरस पहले शायद देखी होगी शक्ल अपनी! आधे बाल सफ़ेद हो गये और अभिसार की सूझी है।

एमन—अभिसार आयु पर निर्भर नहीं करता डेनी जी! और सही बात बताऊँ कि क्या करूँ दक्षिणा, जिन दिनों लोग ऐसा सब कुछ करते हैं न, तब यह जन बिचारा जेल में चक्कियाँ पीसता था।

दक्षिणा—अच्छा भाई, आप अपनी जानें, मैं अभिसार करने नहीं आयी थी।

थक गयी थी, सोचा कि चलूँ आपसे कहूँगी कि बीच पर घूमने चला जाये।

एमन—तो मैं ने क्या गलत कहा था, बताओ?

दक्षिणा—(बनते हुए) कौन सी बात......

एमन—अरे यही समुद्र-तट पर घूमना वगैरा...

(शरारत से हँस देता है।)

दक्षिणा—बड़े दुष्ट हो जी तुम....(जीभ काट लेती है) नहीं आप।

एमन—अब आप-वाप नहीं, तुम ही ठीक है।

दक्षिणा—पेट में इतनी लम्बी डाढ़ी छिपाये थे, यह नहीं मालूम था।

एमन—किसी ने मालूम ही कब किया? आज ही तो तुम मालूम करने आयी थीं, मालूम हो गया। और डाढ़ी भी तो नाई ही को मालूम पड़ती है।

दक्षिणा—(हँसी, खीझ, लज्जा आदि के साथ, दोनों हाथ जोड़ती है।) अच्छा बाबा। तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ। पहले अभिसारिका कहा, फिर नाई कहा और पता नहीं अब क्या कह दो!

एमन—(हँसते हुए) सुनो तो कह दूँ (शरारत से) क्यों? कह दूँ?

दक्षिणा—चुप!

एमन—ओ० के० तो फिर काम ही किया जाय!

[और नाटकीय ढंग से लिखने के लिए झुक जाता है। दक्षिणा भी पास बैठ जाती है और उसके बालों में अँगुलियाँ चलाने लगती है।]

दक्षिणा—सुनो, बहुत थक गये होगे, इतना तो लिख डाला।

[और आसपास पड़े कागज़ों को देखने लगती है। दोनों एक दूसरे को क्षण भर देखते हैं—उपरान्त—]

एमन—दक्षिणा!

(और वह दक्षिणा का हाथ दाब लेता है।)

दक्षिणा—(लज्जा संगे) छोड़ो कोई देख लेगा।

(और वह हाथ छुड़ाते हुए भी नहीं छुड़ाती।)

एमन—इस संवेदना का कोई अर्थ है भी दक्षिणा!

दक्षिणा—(उसी आत्मस्थ भाव संगे) होगा एमन! जान कर दुख ही होता है।

एमन—सह-अनुभूति दो दुखों की सेतु है।

दक्षिणा—(एक दम हाथ छुड़ा कर अलग होते हुए) नहीं एमन! नहीं...इस

प्रवाह को मत बाँधो, न बाँधो। प्रवाह के हृदय प्रदेश में पूर्व-सेतु के खण्ड स्नात हैं।......उन्हें मैं प्रवाहित नहीं कर सकी हूँ, नहीं सकी हूँ एमन !

[फूट कर रो पड़ती है। एमन कुछ क्षण हतप्रभ रह जाता है, उठता है और रोती हुई दक्षिणा के सिर पर हाथ फेरता है।]

एमन—विगत बीत जाने पर स्थिति अशेष हो जाती है दक्षिणा ! खण्डित लकड़ियों के यूथ से ही समिधा एकत्रित हुई होती है। तब हम अपनी प्रतिगतियों में सुलग उठते हैं और वह यज्ञ कहलाता है। अपने को यों न करो। हमने जो सिद्धान्त वरा है वह संघश्रेष्ठ का है।

दक्षिणा—मैंने समझा था कि मैं संघश्रेष्ठी हो गयी, व्यक्ति से त्राण मिला, किन्तु आज तुम मेरी प्रतिगति में सुलग उठे......

एमन—व्यक्तियों का योग होना होगा, जबकि दूसरे साथी इसे केवल गुणनफल मानते हैं। यह मिथ्या है दक्षिणा ! जिस दिन ऐसा हो जायेगा उस दिन क्रांति के किये-धरे पर पानी फिर जायेगा।

दक्षिणा—साम्यवाद की यह व्याख्या तो लेखक की व्याख्या है।

एमन—लेखक की न कह कर, कहो कि संघश्रेष्ठ की यह व्याख्या भावना की है। जब कि नेता लोग दुनिया भर की सोच लेंगे, किन्तु मनुष्य का संवदन-शील मन क्या कहता है, इसे नहीं पकड़ते।

दक्षिणा—तुम क्या समझते हो कि दूसरे कामरेड्स तुमसे सहमत होंगे ?

एमन—सहमत हो जाने पर ही सत्य की पुष्टि होती हो, यह मैं नहीं स्वीकारता।

दक्षिणा—(हल्के हँसते हुए एवं आत्मीय ढंग से) मैं यह नहीं स्वीकारता, मैं वह नहीं स्वीकारता—किसी को स्वीकारोगे भी जीवन में या कि अस्वीकारते ही रहोगे ?

(अतृप्त भाव से एमन की ओर देखती है।)

एमन—मैं सारी बातें स्वीकारता हूँ, किन्तु विभिन्न स्थिति से।

दक्षिणा—(बनाते हुए) अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद अवश्य होगी, क्यों ?

एमन—(हँसते हुए) तो तुम मेरी आधी ईंट हो, मानती हो !

दक्षिणा—(हँसते हुए) कुछ भी हो अपने साथ मुझे भी सानोगे, है न ? (गम्भीर होकर) देखो जी, किसी दूसरे की पत्नी के साथ......

एमन—(आश्चर्य एवं पीड़ा के भाव) क्या ? तुम किसी की पत्नी भी हो ?

दक्षिणा—उस दिन भी तुमने यही पीड़ा दी थी (वह अत्यंचवत खड़ी हो जाती है) सुन लो एमन ! मैं...परित्यक्ता हूँ !

एमन—(दक्षिणा की दोनों बाँहें झकझोरते हुए) झूठ है यह। अपने को कष्ट देना ही तुम्हें सुहाता है।

दक्षिणा—(पीड़ित हास्य एवं गम्भीरता संगे) दुखी हम हो लें, किन्तु भोगना होता ही है।

(वह अपने विगत में खो जाती है।)

एमन—तुम आराम करो दक्षिणा !

दक्षिणा—(शून्य में देखते हुए) हाँ !

एमन—रुको, मैं प्रबन्ध करता हूँ।

[वह तेजी से दाहिने हाथ से जाता है, खाट लेकर लौटता है। एक बिस्तरा बिछा देता है। दक्षिणा लेट जाती है और तब वह खाट के पास कुर्सी डाल कर बैठ जाता है। इस बीच कोने की टेबल पर का टेबल लेम्प जला देता है। दक्षिणा आँखें मूँदे पड़ी है।—]

एमन—प्रत्येक को निकट से देख पाना, कोलम्बस की खोज की भाँति है दक्षिणा !

दक्षिणा—(पहले तो आँखें खोलती है, फिर उठ कर अधलेटी हो अपने दोनों हाथों से एमन के दोनों हाथ सीने पर रख लेती है।) तो मेरे बारे में तुमने खोज की, क्यों कोलम्बस ?

एमन—(झेंप जाता है) आई मीन......

दक्षिणा—(तपाक से) देट यू आर आन यूवर वे टू द न्यू वर्ल्ड...(हँसती है) व्हाट ए वायेज !!

(और तन्मय दृष्टि से एमन को देखती है।)

एमन—देखो छलो नहीं यों।

दक्षिणा—किसे ? तुम्हें, और छलूँगी ?—(गम्भीर हो कर) तुम लोगों को विवश करना ही आता है, क्यों ? (फिर कहीं दूर देखते हुए—तकिये पर सिर टिकाते हुए) कदाचित लेने में निर्ममता आवश्यक है।

एमन—मेरा तात्पर्य था......

दक्षिणा—(सहसा उद्दाम, संयत, प्रज्ञाहीन, वेगवान हो उठती है) लो, इसे स्वीकारो एमन ! यदि मेरी अपात्रता तुममें के श्रेष्ठत्व या संघ के महत्त्व को जन्म दे सकती है तो इसे ले लो, ले लो ! (अत्यन्त संयत स्वर में) ढाका के सुपरीनटेंडेंट की पत्नी दक्षिणा गुहा का किसी भी रूपे यदि महत्व हो, तो उसे भी धारण कर लूँगी। बिना धारणा किये नारी पूर्ण नहीं,

उपेक्षिता रहती है। एमन ! जो पुरस्कार पतिदेव ने उदारता के साथ अपनी पत्नी के तन पर अलंकृत किये—उन्हें देखोगे ?—लो—देखो (और वह पीठ पर का ब्लाउज ऊँचा करके दिखाती है।)—स्वीकारो एमन ! मेरी अपात्रता के साथ इन्हें भी !...ये पुरस्कार इसलिए दिये गये थे कि...मैं गुहा साहब की पद-वृद्धि के लिए...अफ़सरों को समर्पण नहीं कर सकी...मैंने पति के उस अफ़सर-समाज में विद्रोह किया था और विद्रोह की सजा. .उसी सजा ने मुझे...श्रेष्ठ बनाया। ...और एक रात गुहा साहब अपने अफ़सर के साथ शराब पिये आये...उस शराबी को छोड़ पतिदेव कहीं...चले गये।.... एमन ! स्वत्व पर आँच आते ही शक्ति जाने कहाँ से फूट पड़ती है शिराओं में—जैसे कि सुप्त शिलाओं को चीर कर वेगवान निर्झर अजस्र फूट निकलते हैं...और फिर तो मुक्ति ! आवास-हीन, सम्बन्ध-हीन मुक्ति ! अनन्त अजस्र दिगन्ती प्रवाह...महत्त की ओर धावमान !

(वह मूर्तिवत फटी आँखों से देखती रह जाती है।)

एमन—रहने दो दक्षिणा !

दक्षिणा—(उसी रूपे) नदियों की यात्रा-वेदना को सीमासंयमी सिन्धु, कभी समझ सकेगा ? सकेगा ?

एमन—न समझे, किन्तु हम सूत्रित तो होते ही हैं। हमें यही वेदना...खंडिता पंथहारा बनाती है।

दक्षिणा—और ये पंथहारा, शेष मानव-स्पन्दन से मिलकर सर्वहारा बनते हैं।

एमन—इसे मिलना न कहो, सहस्थिति कहो।

दक्षिणा—तुम लड़ो शब्दों पर। हम तो आत्मसात जानती हैं। जिस दिन मन-खंडित मध्यवर्गीय और स्थिति-खंडित निम्नवर्गीय मिल जायेंगे उस दिन सभ्यता की देनकी का नारीत्व सार्थक होगा।

एमन—(खड़े हो कर) लेकिन यह सार्थकता अभी दूर दिखती है।

दक्षिणा—(साश्चर्य) क्या ?

एमन—मैं ठीक कहता हूँ दक्षिणा ! ४२ के इस आन्दोलन में हम भाग न ले कर भारी भूल कर रहे हैं। यह आगामी भविष्य की ऐतिहासिक साक्षी है। यह हमारे देश की आवाज़ है, रौद्र संगीत है, काल-हुँकार है—जो हमारे सारे नीति-तर्कों को बहरा कर देगी। वर्तमान की यह माँग है और हम वेग के प्रतिकूल पड़ गये हैं—देख लेना हम खंड-खंड हो जायेंगे।

दक्षिणा—तो तुम आज यही लिख रहे थे।

एमन—हाँ दक्षिणा ! किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि डिसिप्लिन हमें कभी कभी सत्य-कथन से विमुख कर देता है। कागज़ों पर हम रेखाओं की शक्लें बना कर अँग्रेज़ों को मित्रराष्ट्री होने के नाते कुछ भी सिद्ध कर दें, परन्तु जो आंदोलन देश में हो रहा है, वह असंगत होते हुए भी बहुत बड़ा सत्य है। नेताओं द्वारा परिचालित न होते हुए भी सम्बद्ध है। पराजित हो जाने पर भी विजयी की चूलें हिला देगा। क्योंकि इसका नेतृत्व कोई राजनीतिक नहीं कर रहा। यह ज्वार वेग की भाँति स्वचालित, स्वशासित है। हम भूल कर रहे हैं, पार्टी भूल कर रही है, क्योंकि हम अत्यन्त बुद्धिमान हो गये हैं।

दक्षिणा—तो तुम्हें कहना चाहिए।

एमन—किससे ? साहित्यकार को चालित करने के लिए राजनीतिज्ञ कूद पड़ेगा, क्योंकि वह शक्ति-सम्पन्न है। लेकिन राजनीति के विषय में साहित्यकार जो भी कहेगा उसे ये आवेश, भावना कह देंगे। जब इतने बड़े ऐतिहासिक आंदोलन की उपेक्षा कर सकते हैं तब बेचारे लेखक की क्या बिसात ?

दक्षिणा—लेकिन तुम साहित्य और राजनीति में विरोध देखते हो तो कल से तो फिर सभी चीज़ों में अलगाव, पृथकत्व की बात करोगे। जब कि यथार्थ में कोई भी आइसोलेटेड नहीं है।

एमन—ठीक है, लेकिन सबके नियम होते हैं। यदि राजनीति या अर्थशास्त्र के नियम, पति-पत्नि के दाम्पत्य सम्बन्ध में भी लागू किये जायें तो तुम उसे स्वीकारोगी ? जैसे बाह्य परिस्थितियों में संक्रांति के क्षण आते हैं, वैसे ही व्यक्ति के जीवन में भी आते हैं।

दक्षिणा—व्यक्ति-जीवन में संक्रांति ?

एमन—मैं इस आंदोलन को गलत मानते हुए भी—चूँकि वह है—इसलिए सही मानता हूँ। शेष इसे अस्वीकारते हैं। ऐसी स्थिति में क्या हो ? राजनीतिज्ञ, नीतिज्ञ होने के कारण शायद चुप रह जायें, किन्तु मैं यह सम्भव नहीं देखता।

दक्षिणा—तो क्या तुम ओपनली विरोध करोगे पार्टी का ?

एमन—विरोध नहीं, बल्कि आंदोलन में ओपनली योग दूँगा, और यही बात मैं पार्टी सेक्रेटरी से कह आया हूँ।

दक्षिणा—क्या ? क्या कहा माणिक ने ?

(तभी बाहर से—'मारो' 'काटो' का शोर सुनायी पड़ता है।)

दक्षिणा—(चिन्तित) शोर कैसा?—तो तुम क्या पार्टी से रिज़ाइन कर दोगे?

एमन—(हँसते हुए) मोह को हमारे शास्त्रों में वर्जित किया है न?

[तभी लोग फावड़े लट्ठ, छुरे, चाकू लेकर घुसते हैं। वे कमरे की चीज़ें, नेताओं के चित्र सब फाड़ देते हैं। रूस के एजेण्टों का नाश हो—इंकलाब ज़िन्दाबाद, अंग्रेज़ों के पिट्ठूओं—कम्युनिस्टों का नाश हो—महात्मा गाँधी की जय! आदि नारे लगाते हैं। वे सारा सामान तोड़-फोड़ रहे हैं। एमन दक्षिणा को बगल में किये है, मौका देख कर बचना चाहता है, तभी उसके सिर पर लट्ठ पड़ता है, फिर वह दक्षिणा को बाल-बाल बचाता निकल भागता है।]

(पटाक्षेप)

पञ्चम दृश्य

['रनजीत द सिगनलर' की कोठरी। समय सवेरे के दस बजे हैं। यह रेलवे क्वार्टर है, जहाँ रनजीत अपनी पत्नी तथा माता के साथ रहता है। इस समय कमरे में केवल एमन विकलता से टहल रहा है। कमरे में एक खिड़की है—मंच के बीच में—जिसमें दूर एक सिगनल दिखायी देता है। कमरे में सज्जा के नाम पर कुछ नहीं है। दाहिने हाथ पर ताक है, जिसमें पर्वतधारी हनुमान का प्रसिद्ध चित्र है, जिसके सामने एक दीया जल रहा है। पास ही उसके एक ढोलक टँगी है खूँटी पर, ढोलक के नीचे रनजीत की नीली कमीज़ भी टँगी है। एक गन्दा सा बिस्तरा तह किया वहीं कोने में पड़ा है। बायें हाथ की खूँटी पर रनजीत की पत्नी का लुगड़ा अस्त-व्यस्त पड़ा है। कुछ बर्तन इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, जिसके बीच एक चटाई पर, जहाँ एमन घूम रहा है, एक पिस्तौल पड़ा है। एमन कुरता-पायजामा पहने है जो बहुत गंदे हो गये हैं। उसके बाल भी अस्तव्यस्त हैं। वह प्रतीक्षा कर रहा है दक्षिणा की, जिसे बुलाने रनजीत गया है। तभी रनजीत के आगे आगे दक्षिणा सावधानी से प्रवेश करती है। एमन

किसी के आगमन की आहट देखकर सिंह-की-सी फुर्ती के साथ पिस्तौल उठा कर आहट की ओर तान देता है और कड़क कर—]

एमन—(नाटकीय ढंग से) कौन ?

दक्षिणा—(डरी सी)...मैं....दक्षिणा...अरे रे...

(एमन अट्टहास कर उठता है।)

दक्षिणा—वाह जी, व्यर्थ ही डरा दिया। यह क्या ?

एमन—बस ! डर गयी ? इसी साहस से कम्यूनिस्ट बनी फिरती हो ?

दक्षिणा—अच्छा तो नाटक कर रहे थे ? मान लो छूट ही जाती यह तो।

एमन—(पिस्तौल रखते हुए) रनजीत। इनको बता दो पिस्तौल छूटने पर क्या होता है।

(सब हँसते हैं।)

रनजीत—एमन दा ! मैं तो डर ही गया था। अच्छा तो फिर मैं चाय लेकर आता हूँ।

एमन—लेकिन पुलिस के पहुँचने पर तुम और चाय दोनों पहुँच जाओ इसी शर्त पर समझे ?

रनजीत—मैं सिगनल डाउन ही रखूँगा तो ?

(हँसता हुआ वह जाता है।)

दक्षिणा—(एमन का हाथ पकड़ते हुए) तुम कहाँ थे दो महीनों से ? बताओ ?

एमन—धीरज रखो दक्षिणा ! (और दक्षिणा को कंधों से पकड़ कर उसकी आंखों में झाँकते हुए) मैं तुम से अलग होकर यही देखने गया था कि कहीं मैंने भावुकतावश इस आंदोलन की शक्ति को पार्टी की नीति से अधिक शक्तिवान तो नहीं समझ लिया ?

दक्षिणा—(अपने को अलग करते हुए) नहीं, मैं भी मानती हूँ कि यह आंदोलन भावुकता नहीं है, बल्कि अग्निसत्य है, तभी १०६ पार्टी मेम्बरों में से अब कुल ६ होलटाइमर्स ही रह गये हैं। उस दिन पार्टी आफिस पर हमला भी अपने में एक तथ्य है। फिर भी हमारी पार्टी के सामने इस आंदोलन का महान रूप किसी अनागत युग में स्वप्नित है एमन बाबू ?

एमन—ठीक है दक्षिणा ! मैं भी लाख विद्रोह के होते तुम्हीं लोगों में अपनी स्थिति पाता हूँ।

दक्षिणा—विवशता वश ?

एमन—मेरे निकट विवशता एक ही है दक्षिणा और वह है जीना। इसलिए विवशतावश नहीं, संघश्रेष्ठ के सिद्धान्त के साथ, बल्कि मेरे स्वत्व की गंगा के लिए वहीं महाविलय है।

दक्षिणा—(आवेश संगे) सच ! एमन सच ! मैं समझती थी कि तुम हमें छोड़ गये, बोलो एमन ! हमारी इस संघचेतना के प्रति तुम्हारी आस्था यथावत् है।

एमन—क्या तुम्हारे सामने भी दुहराना होगा ? तुम्हीं तो मेरी प्रतिध्वनि हो।

(और उसकी ठोढ़ी पकड़ कर मुख ऊँचा करता है।)

दक्षिणा—(बड़ी लाज संगे) अभिनय तो तुम्हें खूब आता है।—हटो !

एमन—आज तक और किया क्या है ? भूख के खेत में जुआर के ठूँठ की फ़सल सा पैदा हो कर अनाज का नाटक किया। पंडित वेदव्रत जी की दवाइयाँ कूटने का नाटक किया। क्रांतिकारी बन कर १५ बरस तक कैदी का अभिनय किया। कम्यूनिस्टों के बीच विरोधी का नाटक करता हूँ। मेरे चले जाने के बाद शायद तुम सोचो कि मैं प्रेम का नाटक कर रहा था। जब लोगों को मालूम होगा कि एक कम्यूनिस्ट ने आँदोलन में भाग लिया तो काँग्रेसी, जनता से कहेंगे कि यह कम्यूनिस्ट नाटक कर रहा है क्योंकि जनता को तो समझाया गया है न कि रॉय की भाँति कम्यूनिस्टों को भी अँग्रेज़-सरकार धन देती है।

(और यह कहते कहते एमन प्रत्यंचवत् खिंच उठता है।)

दक्षिणा—यह सब क्या कह रहे हो ? क्या तुम मुझे भी छोड़ कर चले जाओगे ?

(और वह एमन को बाँहों से पकड़ कर झकझोरती है।)

एमन—जाना एक निरपेक्ष गति है दक्षिणा ! जिसे हम और तुम, गाँधी और मार्क्स, साम्यवाद अथवा पूँजीवाद कोई भी नियंत्रित नहीं कर सकते। वह मानवेतर सत्ताक्षेत्र है। हमारा विनय या प्रणतत्व ही वहाँ विजयी हो सकता है, बुद्धि अथवा बन्दूक कुछ काम नहीं करते, कुछ नहीं करते। देखो न, मैं यदि चाहूँ भी कि तुम मेरे निकट ऐसे ही एकान्ततारा भी रहो तो......किन्तु रनजीत अभी आयेगा, माय आयेगी और फिर पुलिस !

दक्षिणा—पुलिस ?

एमन—क्यों ? संघश्रेष्ठी आश्चर्य नहीं करता है दक्षिणा ! जिस दिन, कम्यूनिस्ट में भारतीय आस्था भी समाहित हो जायेगी, वह दुस्साध्य हो

जायेगा, अग्नि हो जायेगा। और तुम समझती हो कि परसों के रेलवे ब्रिज, पोस्ट आफ़िस जलाने वाले एमन को अपने अंचल से ढँक लोगी ? जो कि जेल की सम्पत्ति है ? इतना मोह न करो दक्षिणा, पछताओगी......

दक्षिणा—(हल्के रुँआसे ढंग से) तो...तो...सब......

एमन—कहाँ सब ? सब भस्म हो जाता तो अँग्रेज़ हमारी भूमि पर आज दिखता ? (खिड़की से झाँकते हुए) वो देखो रनजीत दि सिगनलर और चाय से पहले तो पुलिस आ रही है।

(हल्के से हँस देता है।)

दक्षिणा—(हाथों में मुँह छुपाते हुए) लेकिन मुझसे भी तो पूछा होता—

एमन—(दक्षिणा का मुख अपनी हथेलियों में लेते हुए) सच ? इतना और अपने को सौंप रही हो ? तो ठीक है, इस बार बिना पूछे और चला जाने दो। पूछ कर जाने का सौभाग्य अगली बार के लिए, हाँ ?

(और 'हाँ' इस ढंग से कहता है कि दोनों हँस पड़ते हैं।)

दक्षिणा—(घबराते हुए) लेकिन नहीं, अभी भी निकल सकते हैं यहाँ से।

एमन—पगली, परसों से सात स्थान तो बदल चुका। गाँधी जी की बात मैंने भी माननी चाही थी कि जेल में बैठने से ठीक होगा बाहर रहना और काम करना, किन्तु आंदोलन और देश को इस समय किसी विशेष व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है दक्षिणा, बाढ़ आने पर जैसे कुछ भी शेष नहीं होता—बस, जल ही की रौद्र प्रवाहमान सत्ता जैसी रहती है न ? बस वही ! हम पलायन इसीलिए न चाहते हैं कि बाहर रह कर इस विद्रोही प्रवाह-सत्ता को रूप दें। यह मिथ्या है। व्यवस्था देने वाले तट इस बेला डूब चुके हैं। आज तो डूबने में ही हमारी स्थिति है दक्षिणा !

दक्षिणा—(कुछ रोष संगे) मैं देखती हूँ कि तुम अपने व्यक्तित्व के उन्माद तथा ज्वाला को ही व्यापक करके देखते हो। तभी न तो अपने पर ही किसी का नियन्त्रण स्वीकारते हो और न अपने द्वारा सृजित बाह्य पर।

(तभी पुलिस द्वार खटखटाती है—'खोलो' 'खोलो'—भड़ भड़ की आवाज़ें)

एमन—(हँसते हुए) तुम्हें उत्तर फिर कभी दूँगा, वरना इन बेचारों को द्वार तोड़ने पड़ेंगे।

[दक्षिणा बढ़ते हुए एमन को पकड़ लेती है। तभी द्वार तोड़ पुलिस बन्दूकों में बेनेट लगाये घुस पड़ती है।—इन्सपेक्टर हुक्म देता है—]

पु० इन्सपेक्टर—हैण्ड्स अप। यू बोथ आर अण्डर अरेस्ट !!
एमन—बट शी इज़ नाट...
पु० इन्सपेक्टर—डोंट टॉक—कम ऑन।

(पटाक्षेप)

चतुर्थ अंक

सूत्र दृश्य

[तृतीय अंक की समाप्ति उपरांत मंच पर गहरा अंधकार हो जाता है। जेल का प्राथमिक दृश्य उभर आता है। जेल के कांस्य घंटे तीन बजाते हैं। वातावरण वही है। चाँदनी अस्ताचली हो गयी है। अँधेरा गाढ़ा एवं घना सा लगता है।]

संतरी—(दूर से डाक स्वर) गार्ड ! सात नम्बर सेल ! ताला बेड़ी आलरेटऽऽ ?

गार्ड—(उसी रीते) सात नम्बर सेल ! ताला बेड़ी आलरेट ऽऽ !

संतरी—(अधिक दूर से डाक स्वर) गार्ड ! बार नम्बर सेल ! ताला बेड़ी आलरेट ऽऽ ?

[पृष्ठ-भूमि में यह प्रतिसतर्कता डूब जाती है। समुद्र का गुर्राना भी जैसे थमा सा लगता है। गार्ड लखन भी शायद दरवाज़े के पास बरान कोट में लिपटा बैठा है, उसकी खाँसी ज़रूर सुनायी पड़ रही है। वह जानता है कि एमन जैसे व्यक्ति खतरनाक नहीं होते कि फाँसी का सुनने पर रोने लग जायें या भागने की सोचें। वह एमन बाबू का आदर करता है।]

एमन—(मंच की ओर मुँह किये सीखचों पर सिर टिकाये—स्वगत) जानता हूँ दक्षिणा ! परसों जब से तुम गयी होगी, यहाँ से मिलकर, विकल होगी, सोयी न होगी। तुम भी ऐसे ही जाग कर पिछला जीवन जी रही होगी और साथ में गर्भस्थ अभिमन्यु सा हमारा शिशु हमारे अबोले चक्रव्यूह को सुन रहा होगा। दक्षिणा ! तुमसे और उस अनाम, अज्ञात शिशु व्यक्ति से अब केवल दो घंटे का ही सम्बन्ध शेष है। (टहलने लगता है। उसके साथ ही उसके पैरों की बेड़ी खन खन करती है) ठीक हुआ दक्षिणा ! जो तुम मिल गयीं, अन्यथा इस जीवन में सिवाय जेल-यात्राओं के स्मरणीय क्या था ?

यही न कि—विरोध, विद्रोह, उपेक्षा एवं क्षय ! (खाँसता है।) स्वाधीनता का स्वागत जेल में किया था। मैं स्वाधीनता के सम्मान में बिस्तरे पर से उठ भी नहीं सकता था। पता नहीं कब तक ऐसे ही भुगतना पड़ता, किन्तु जेल के बाहर क्षय की सूचना पहुँच चुकी थी। राष्ट्रीय सरकार पर ज़ोर डाला गया कि मैं छोड़ दिया जाऊँ। जब मैं जेल के बड़े फाटक पर पहुँचा, आठ-दस साथियों के साथ दक्षिणा हुमस कर मिली थी। दो लाल झण्डे लिये हमारी टुकड़ी आगे बढ़ी थी। सामने खुली सड़क पर 'सर्वहारा क्रांति ज़िन्दाबाद' 'यह आज़ादी झूठी है, देश की जनता भूखी है'—वाक्य वाले झण्डे दोनों ताँगों पर लहराते—बढ़ गये थे।

प्रथम दृश्य

[दक्षिणा का बासा। सवेरे के दस बजे का समय। एक साफ़ सुथरा, हवादार घोंसले सा कमरा। सामने की दीवार पर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन तथा स्तालिन का सम्मिलित शीर्ष चित्र। इसके ठीक नीचे एमन का बस्ट चित्र, जिस पर ताज़े गुलाब की माला स्पष्ट है। एक साफ़-सुथरी खाट पर उजली चादर वाला बिस्तरा दीवार से सटा है तथा तकिये रखे हैं। खाट के नीचे ही उगालदान। सिरहाने की ओर एक तिपाई पर एमन की प्रिय पुस्तकें हैं—जैसे रोम्यां रोलां की 'आई शैल नॉट रेस्ट', गोर्की की 'माँ' रवीन्द्र की 'गीतांजलि' आदि...दो एक कुर्सियाँ भी हैं।

एमन को हौले से पकड़े हुए दक्षिणा तथा माणिक आदि साथ प्रवेश करते हैं। खाट पर बैठ कर एमन बड़े ज़ोरों से 'आह' कर के निश्चिन्त होने का भाव देता है। वह ५० के लगभग है। फिर कमरे में चारों ओर देखता है।]

एमन—तो क्या मुझे इसी कमरे में रहना होगा ? तो फिर वहाँ (जेल से तात्पर्य है उस का) क्या बुरा था ?

(हँस देता है।)

दक्षिणा—हाँ, यहीं रहना होगा।

एमन—देखो भाई, जेल की तरह तुम भी कम्पेल करोगी कि—यह करो, वह करो !

दक्षिणा—आते देर नहीं हुई कि लड़ाई शुरू। मैं अनुशासन कर सकती हूँ, दिन भर आग्रह करने से रही कि—आप यह कर लीजिए, वह कर लीजिए!

[दक्षिणा यह सब कहते हुए यह बिलकुल ही भूल जाती है कि और लोग भी बैठे हैं—उन्होंने क्या सोचा होगा?—सब हँस पड़ते हैं।]

दक्षिणा—(रुँआसी सी) देखो न माणिक, क्या हालत हो गयी है!

माणिक—किसी को पता था कि आपकी दशा इतनी खराब हो गयी है!

एमन—अब तुम लोग तो बात बढ़ा रहे हो। मैं बिलकुल ठीक हूँ। हाँ सुनो माणिक! मैं चाहता हूँ, कल दास बाबू और प्रफुल्ल बाबू से मिल लूँ!

माणिक—क्या इसलिए कि ये मुख्य मंत्री तथा गृह मंत्री आपके पुराने परिचित हैं।

एमन—किसी स्वार्थ से तो एमन आज तक कहीं नहीं गया माणिक बाबू! मैं तो उन्हें इस बात के लिए धन्यवाद देना चाहता हूँ कि उदारता का परिचय तो दिया।

दक्षिणा—यदि राजनीतिक लोग और साहित्यिक लोग ज़ोर न लगाते तो ये आपके मित्र आपको छोड़ते?

एमन—मैं देखता हूँ कि तुम उन लोगों से बहुत नाराज़ हो, क्यों?

[खाँसी आ जाती है। दक्षिणा उगालदान आगे बढ़ाती है। एमन को लिटाती है।]

दक्षिणा—तो अब तुम विश्राम करो।

माणिक—शेष दी! ये विश्राम करें, मैं अब चलूँ।

दक्षिणा—माणिक, मैं चाहती हूँ कि इन्हें कुछ दिन पहाड़ पर लेकर चली जाऊँ।

एमन—(एक दम तकिये के सहारे बैठते हुए) माना कि जय लक्ज़री है, परन्तु पहाड़ पर नहीं जाने का।

दक्षिणा—अच्छा बाबा न जाओ बस! लेकिन एक बात तय है कि अब राजनीति की बजाय साहित्य-क्षेत्र में ही रहोगे।

एमन—(हँसते हुए) मुझे कैसे कमरे में सुहायेगा, क्या करना ठीक होगा—जब ये सब तुमने स्वयं ही तय कर लिया तो फिर मेरी ओर से उपन्यास भी लिख डालो न!

माणिक—(हँसते हुए) ज्यादातर बड़े लोगों के बारे में तो यही सुना है कि वे स्वयं नहीं लिखते ।

दक्षिणा—(एमन से) और अभी तुम इतने बड़े नहीं हुए हो कि मैं तुम्हारे लिए लिखूँ ।

(सब की हँसी)

एमन—(हँसते हुए) क्या तुम्हारे लिए भी नहीं ।

(सब का ठहाका)

दक्षिणा—(उठ कर जाते हुए) किसके सामने क्या बोलना चाहिए, यह भी नहीं मालूम ।

माणिक—(दक्षिणा के जाने पर) एमन दा ! पिछली पार्टी काँग्रेस में कई साथियों ने आत्मविश्लेषण के मौके पर यह स्वीकार किया कि आंदोलन के सम्बन्ध में आपका स्टैण्ड ही ठीक था ।

एमन—(कुछ मुस्कराता है, फिर गम्भीर होकर) तुम्हारी इस बात से मुझे सन्तोष भी हुआ तथा यह भी कि राजनीतिज्ञों की लीला अपरम्पार होती है ।

माणिक—क्या ?

एमन—भूल स्वीकारना सबसे स्वस्थ दृष्टिकोण है—लेकिन तभी, जब इसका अर्थ यह हो कि आगे भूल नहीं करेंगे । किन्तु मुझे लगता है कि राजनीति में सत्य, दया, अहिंसा, जनता की रहनुमाई सभी अस्त्र हैं । ये सब नीतियाँ हैं उनके लिए, चरित्र नहीं । मुझे ग़लत न लेना माणिक ! प्रथम राजनीतिज्ञ कृष्ण को इसीलिए लीलामय कहा जाता है ।

(तभी दक्षिणा गिलास में फलों का रस लिये आती है ।)

दक्षिणा—फिर वही ! अपने से कोई कैसे शत्रुता करे, यह तुमने सीखे ।

एमन—बाहर बोलता हूँ तो सरकार मना करती है । घर में बोलता हूँ तो ये सरकार मना करती हैं, देखो न माणिक ! सभी एक दूसरे पर ज़्यादती करना चाहते हैं ।

माणिक—(हँसते हुए) एमन दा ! आप की विद्रोहिनी जीवनी-शक्ति के लिए विश्राम अत्यावश्यक है । अभी बीमारी बढ़ी नहीं है । थोड़े संयम से सब ठीक हो जायेगा ।

एमन—(जैसे कहीं खो जाता है) यदि बीमारी बढ़ी न होती तो क्या बाहर राजनीतिज्ञों ने आंदोलन किया होता ? और वह भी एक विद्रोही के

लिए ? और दाराबाबू तथा प्रफुल्ल बाबू ने भी इतनी सहजता से छोड़ा होता ? किन्तु माणिक ! सरकार या राजनीतिज्ञ भूलते हैं कि विद्रोह के वट-वृक्ष के लिए ये यातनाएँ खाद हैं। निश्चय रखो, विश्वासो कि क्षय की खाद से संकल्प का सहकार बलवान होगा।

[पास खड़ी दक्षिणा तथा अन्य साथी दिग्विमूढ़ हो जाते हैं। एमन का मुख प्रभामंडित हो जाता है।]

एमन—इतनी स्वतंत्र धारणाओं के साथ ही तुम लोगों के साथ चल सकता हूँ। हो सकता है तुम्हारी व्यवस्था मुझे उपेक्षित करके आगे बढ़ जाये—किन्तु मैं अलग पड़ जाने पर भी तुम्हारे ही साथ, इस मुक्ति के जन के ही साथ रहूँगा, क्योंकि वही मेरी गति है। लेकिन मैं समस्त मानवता में सन्निहित श्रेष्ठ के संचयन के लिए किसी का भी निषेध नहीं मान सकता।

(सब चुप रहते हैं।)

माणिक—एमन दा ! आपसे मैं क्या कह सकता हूँ। कल अहमद साहब और कामरेड भूषण आपसे......

एमन—(फिर उसी रूपे) ठीक है माणिक ! इतिहास के गोपुर पर टँगे विजय के घंटों का नाद मैं प्रतिक्षण सुन रहा हूँ, साथ ही लाखों करोड़ों का चीत्कार भी।...इतना रक्त, अशेष आत्माहुति, महान विद्रोह तर्पण...सब व्यर्थ गया, समाप्त हुआ......

दक्षिणा—(एकदम तड़प कर) अतो आवेशेर कोनो प्रयोजन नेई......

[माणिक आदि चले जाते हैं—उनके चले जाने पर वह एमन का सिर दाबने लगती है।]

एमन—(कुछ देर शांति के पश्चात)—पानी चाहिए !

[दक्षिणा जाती है। एक गिलास में थोड़ा पानी और दूसरे गिलास में दूध लाती है।]

एमन—(पानी का गिलास लेते हुए दूसरे गिलास की ओर संकेत करते हुए) यह क्या ?

दक्षिणा—थोड़ा पानी पीना। दूध भी पीना है।

एमन—(पानी पी कर, दूध लेते हुए) मैं ने तुम्हें नाराज़ कर दिया है न दक्षिणा ?

[दक्षिणा पानी का गिलास दूर रखने के बहाने मुँह फेर कर खड़ी हो जाती है।]

दक्षिणा—तुम्हें क्या ? तुम्हारे निकट किसी अन्य का दुःख है भी ?

[वह मुँह घुमा कर एकदम एमन को देखती है और फिर टूटे गाछ सी उससे लिपट जाती है ।]

एमन—ठीक है, आज तक कोई व्यक्ति-विशेष था भी तो नहीं, मेरे निकट सामूहिकता ही की तो संज्ञा रही, फिर भी मुझे दोष दोगी दक्षिणा ?

(तभी रनजीत द सिगनलर प्रवेश करता है ।)

दक्षिणा—(उसे देख कर सहसा एमन के बिस्तरे से उठते हुए)—क्यों, कहाँ से ?

एमन—(हँसते हुए) अरे रनजीत द सिगनलर ? आओ, भाई आओ !

रनजीत—(अत्यन्त प्रसन्नता के साथ, एमन के पैरों के पास बैठ कर) आ गये एमन दा ! क्या करूँ दीदी के साथ जेल पर नहीं आ सका । कैसी तबीयत है ?

एमन—तो क्या हुआ, मैं बिलकुल ठीक हूँ ? राधा कैसी है ?

दक्षिणा—(हँसते हुए) पिछले महीने ही रनजीत बाप बना है । ऐसा मुँह ज़ोर है कि मिठाई विठाई कुछ नहीं खिलायी ।

रनजीत—(झेंपते हुए) अब दीदी ! सच बताऊँ एमन दा को ?

दक्षिणा—(झेंपते हुए) क्या बात ? चुप !

एमन—क्या बात है रनजीत ?

दक्षिणा—अजी कुछ नहीं, ये ही मन से लगाता रहता है । आजकल रेलवे हड़ताल चल रही है न, तो वहाँ आफ़िस में बैठा बैठा बकवास किया करता है ।

एमन—(रस लेते हुए) बात यह नहीं हो सकती, क्यों रनजीत द सिगनलर ?

रनजीत—(मज़े से) सच बात वो जो बिना कहे भी सच हो । एमन दा ! अब आप नहीं समझेंगे तो कौन समझेगा ?

दक्षिणा—(चिढ़ते हुए) कुछ नहीं, अब आप भी किसके मुँह लगे हैं । मैंने इससे कहा कि मिठाई खिलाओ तो......

रनजीत—तो बात यह हुई एमन दा ! कि मैंने दीदी से कहा कि आप कब खिलायेंगी ? तो बोलीं कि जब तुम्हारे एमन दा घर लौट आयेंगे ।

(ठहाका लगाता है ।)

दक्षिणा—(झेंप कर एक दम लाल होते हुए) झूठ !

रनजीत—अब एमन दा ? विश्वास न हो तो माँ से पूछ लेना । और मज़े की बात

तो यह कि शिवजी के मन्दिर में जाकर मनौती मना आयी हैं कि—(दक्षिणा तब तक झेंप कर एकदम भाग खड़ी होती है।) आप अच्छे हो जायेंगे तो ११ ब्राह्मणों से अभिषेक करायेंगी और ब्रह्मभोज भी, पर एमन दा! रनजीत बिचारे को...कुछ नहीं!

[दोनों अँगूठे हवा में हिलाता है। एमन और रनजीत जी भर कर हँसते हैं।]

एमन—अच्छा तो ये बात है!

रनजीत—एमन दा! मज़ाक नहीं, दीदी आपको बहुत मानती हैं।

एमन—अच्छा! तो तुम्हें उन्होंने घूस कितनी दी है?

(अट्टहास)

दक्षिणा—(तेज़ी से प्रवेश करते हुए) अब आज ही सारा हँस लोगे कि कुछ शेष भी रखोगे? क्यों रनजीत। तुम्हें तो हड़ताल क्या हुई बस......

रनजीत—तो मुझ पर क्यों बिगड़ती हैं? खुलवादो हड़ताल, (नाटकीय मुद्रा से) सिगनल...अप एण्ड डाउन। डाउन एण्ड अप!

एमन—(रस लेते हुए) तो, तुममें अभी आस्था बाकी है।

(हँस देता है।)

दक्षिणा—तुम्हें तो आराम के सिवाय कुछ काम नहीं है। मैं रनजीत के साथ जाती हूँ।

रनजीत—मैं यूनियन से ही आ रहा हूँ दीदी! सब ठीक है।

एमन—(गम्भीर होकर) तो हड़ताल कितने दिनों से हो रही है यह?

रनजीत—तीन हफ़्ते तो हो गये। करीब २१ आदमी पकड़ लिये गये हैं।

एमन—क्या सरकार कोई शर्त मानने को तैयार नहीं है?

दक्षिणा—तुम्हारे दास बाबू को पार्टियों से फ़ुर्सत मिले तब न। यूनियन के लोग मिलने जाते हैं तो कहलवा दिया जाता है कि पहले हड़ताल बन्द करो, फिर बात करेंगे। लोगों के घरों में ज़हर खाने को पैसा नहीं है, उस पर उन्हें क्वार्टर खाली करना पड़ रहा है। आये दिन पुलिस पकड़-धकड़ करती है। यह स्वराज्य है?

रनजीत—दीदी! इस समय मैं जिस लिए आया था वह बात यह थी कि मुझे आज शाम तक पुलिस ज़रूर पकड़ लेगी। इसलिए आप जैसा कहें वैसा करूँ।

दक्षिणा—इस तरह हमारे एक एक कार्यकर्ता चले जायेंगे तो हम कैसे क्या करेंगे ?

एमन—क्यों ? नये बनेंगे ! रनजीत तुम्हें कुछ और नहीं करना चाहिए, बल्कि शांति से पुलिस के साथ चला जाना चाहिए।

दक्षिणा—किन्तु राधा और रनजीत की माँ का फिर क्या होगा ? क्वार्टर तो खाली करना पड़ेगा।

एमन—ये सारी बातें तो प्रतिनिर्भर हैं। इनसे नहीं बचा जा सकता। बड़े उद्देश्य की पूर्ति में ये बातें बाधक नहीं होनी चाहिएँ।

दक्षिणा—तो फिर ठीक है रनजीत !

रनजीत - शाम को तो आप आयेंगी न ?

दक्षिणा—हाँ, क्यों ?

रनजीत—नहीं मैंने सोचा कि एमन दा......

[दक्षिणा आँखों में ही घुड़कती है। वह हँसता हुआ जाता है। रनजीत के चले जाने पर दक्षिणा झेंपी-झेंपी सी दिखायी देती है। वह कुछ इधर-उधर करती हुई दिखती है। एमन ताड़ जाता है।]

एमन—सुनो, रनजीत की बात सच है ?

दक्षिणा—(दूर से ही) तुम्हें तो कोई बात भर मिल जाये, बस !

एमन—सच मानो दक्षिणा ! जाने कितना कहना चाहता हूँ। तुम में आस्था है, यह शुभ है। गाँधी जी में भी आस्था है, इसीलिए वे शुभ-संकल्पी हैं। यद्यपि मैं उनसे सहमत नहीं। वे अपने सत्य का आग्रह भले ही विनयी होकर करें, पर यह भी तो लोगों के मत्थे मढ़ना है। हमारे साथी अपने सत्य को अविनयी होकर मनवाते हैं।—ये सब आग्रह क्यों ?—कुरान को मानो, नहीं तो तलवार—मेरी बात मानो नहीं तो सत्याग्रह ! इन सब आग्रहों में आकार का ही तो अन्तर है। क्यों हम दूसरों का सोचना अपने ज़िम्मे लेते हैं ? सच कहता हूँ, ऐसे तो मानवता का त्राण होने से रहा। यह तो आग्रहों का युद्ध है, मनुष्यता के त्राण का नहीं। श्रेष्ठ-संचयन के लिए कोई भी तैयार नहीं। गाँधी ने व्यक्ति के नारायणत्व को प्राप्त किया है तो मार्क्स ने व्यक्ति-सत्यों को इतिहास से सूत्रित करके सृष्टि-सत्य ऋत् की घोषणा की है—समन्विति चाहिए दक्षिणा। यदि यह न हुई तो आगामी संघर्ष आस्था एवं अनास्था का होगा।

(दक्षिणा एमन के सिर पर हाथ फेरती है।)

दक्षिणा—(रुद्ध कण्ठ से) शांत होओ एमन !

एमन—शांत होना न भी चाहूँगा तो क्या ? राजनीति एक दिन मुझे शांत करके रहेगी । लेकिन जब तक हूँ तब तक तो असत्य एवं आग्रहों से विद्रोह करूँगा । मेरे बाद ? न मेरा न इस विद्रोह-कथन का—किसी का भी अस्तित्व नहीं रहने दिया जायेगा ।

दक्षिणा—यह क्या कहते हो ? मेरी ओर देखो, इस शिवत्व को व्यर्थ नहीं होना है । यह आदि-मानव द्वारा प्राप्त सत्य की, ज्ञान की अग्नि है, जो विज्ञानपुरी में, आग्रहों के संक्रमण-युग में भले ही उपेक्षिता कर दी जाये, किन्तु इसे भावी को सौंपना हमारा धर्म है ।

(अंजुलि में एमन का मुँह भर लेती है ।)

एमन—राजनीति के युग में भावना, उन्माद मानी जाती है दक्षिणा ! (हँसते हुए) अच्छा, लाओ बहुत बोल चुका । क्षय के कीटाणु मौसंबी के रस के लिए भूखे हैं ।

दक्षिणा—(रुँआसी सी) आमार शपथ, जदि ऐई कथा......

(गला भर आता है ।)

एमन—(पीड़ित हास्य संगे) अच्छा बाबा, अच्छा ! क्या मालूम था कि एक जेल से निकलने पर दूसरी.....

(दक्षिणा जाती है । जल्दी से रस का गिलास लाती है ।)

दक्षिणा—वह पाण्डुलिपि निकाल देना, दे आऊँगी प्रकाशक को ।

एमन—ठीक है, मैंने उसके दो नाम सोचे हैं—एक तो भूख, दूसरे भूख की पैदावार—क्या ठीक रहेगा ?

दक्षिणा—(हँसते हुए) मैं ने पढ़ा जो बतलाऊँ ?

एमन—(मजाक करते हुए) तो पढ़ कर ही क्या बता सकोगी ।

(हँस देता है ।)

दक्षिणा—(हँसते हुए) तो फिर क्यों पूछा इस अपात्र से ?

एमन—अरे भाई, खरीदने के पहले कोई पुस्तक पढ़ता है ? पहले नाम सुनता है, इसी लिए बताओ कि सुनने में कौन ठीक रहेगा ।

दक्षिणा—मुझे तो 'भूख' अच्छा लगता है, तुम्हें ?

एमन—भूख से भी ज्यादा अच्छी लगती हो..... तुम !

(दक्षिणा झेंप जाती है, दोनों हँस पड़ते हैं !)

दक्षिणा—तुम अपने जेल के संस्मरण क्यों नहीं लिख डालते ?

एमन—क्या मेरा दिमाग़ ख़राब है ? मैं कोई आज़ाद या भगतसिंह हूँ ? मैंने विद्रोह सोचा है, लेकिन उसकी कार्य-चेष्टा तो ऐसी नहीं की जो महत्वपूर्ण हो। जो किया है वह लिख रहा हूँ।

दक्षिणा—(आत्म-संतुष्टि के साथ) सच ? इतने ही संयत तुम होगे, यही मैंने भी सोचा था।

एमन—(दक्षिणा के दोनों हाथ पकड़ते हुए) ये सब परीक्षाएँ, अभिषेक किस लिए हो रहे हैं ? ज़रा सुनूँ ?

दक्षिणा—साहित्यकार बुढ़ा जाये पर रसिकता नहीं जाती। छोड़ो—

एमन—मुझे बूढ़ा कहती हो ? याद रखना विवाह नहीं करूँगा, अगर फिर कभी कहा तो ?

दक्षिणा—(हँसते हुए) कौन करेगा तुमसे विवाह ?

(दक्षिणा की खिलखिलाहट)

(पटाक्षेप)

द्वितीय दृश्य

[मुख्य मंत्री दास बाबू का कक्ष, समय प्रातः काल आठ बजे। एक मसनद बीच में लगी है। उसी दीवार पर गाँधी और जवाहर का हँसता हुआ प्रसिद्ध चित्र लगा है। दाहिने हाथ की ऊँची तिपाई पर संगमरमर में गौतम का सिर रखा है। बायें हाथ पर क़ीमती सोफा-सेट सजा है। उसी हाथ पर कोणवत झूलते हुए ढंग का बैंगनी कीमती पर्दा एक पैटर्न बनाता टँगा है। तकियों पर ग्रामोद्योग शिल्प के गिलाफ़ लगे हैं। दास बाबू अपने बंगीय परिधान में हैं। सफ़ेद खादी-मलमल का कुरता महीन खादी की धोती तथा चादर डाले बैठे हैं। वृद्ध हो गये हैं, किन्तु लाल सुर्ख, गोरा रंग, प्रभावशाली व्यक्तित्व। उनका पर्सनल सेक्रेटरी पास ही बैठा हुआ शिष्टता से कुछ बातें कर रहा है। नितिन, पर्सनल सेक्रेटरी की आयु यही ३५ वर्ष की होगी। असमी मुखमुद्रा का व्यक्ति बड़े बड़े दाँतों वाला है। कुरता पायजामा पहने है तथा चश्मा धारी है।]

नितिन—आपने बुलाया तो एमन बाबू को है, वे बाहर बैठे भी हैं, किन्तु ची
सेक्रेटरी ज़रूरी काम से आये हैं।

दास बाबू—कौन एमन बाबू?

नितिन—वे जो कम्यूनिस्ट लेखक हैं......

दास बाबू—आइ सी...लेट हिम वेट।

नितिन—तो चीफ़ सेक्रेटरी मि० चड्ढा......

दास बाबू—यस!

[नितिन जाता है। दास बाबू अपने आस-पास पड़ी हुई फाइल
में से एक फ़ाइल उठाते हैं। चश्मा निकाल कर पहनते हैं और ध्यान
पढ़ने लग जाते हैं। चड्ढा प्रवेश करते हैं और मुख्य मंत्री के ध्यान व
प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं। चड्ढा सूट पहने ४५ वर्ष के व्यक्ति हैं। टिपिक
आई० सी० एस वर्ग के हैं—ग्लीसरीन से चमकते बालों, टाई औ
चमकदार जूतों में अपने वर्ग का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्हें ख
कुछ देर हो जाती है। तीन-चार फ़ाइलें साथ लिये हुए हैं।]

दास बाबू—(फ़ाइल में देखते हुए) टेक यूअर सीट।

चड्ढा—थैंक्यू सर!

दास बाबू—(चश्मा उतारते हुए) हाँ, क्या बात है?

चड्ढा—(एक फ़ाइल देखते हुए) शूगर मिल्स की हड़तालों का आज १८ व
दिन है और मजदूरों को कम्यूनिस्ट भड़काये हुए हैं। सिचुएशन इज़ गोइं
फ़ाम बेड टु वर्स। मजदूरों ने नाका-बंदी कर रखी है।

दास बाबू—प्रफुल्ल बाबू का क्या डिसीशन है।

चड्ढा—सर! एच. एम. डिस्ट्रिक्ट मेजिस्ट्रेट के सुझाव से एग्री नहीं करते
लाठी चार्ज से या गिरफ़्तारियों से मज़दूर ज्यादा एजीटेटिड होंगे। ताला-
बंदी को भी कई दिन हो गये हैं।

दास बाबू—अभी इसे रहने दीजिए! प्रफुल्ल बाबू से और डिसकस कर लिय
जायेगा। ह्वाट नेक्स्ट?

चड्ढा—(तेज़ी से दूसरी फ़ाइल आगे करते हुए) ये बसों के मालिकों का
केस है!

दास बाबू—रोडवेज़ के नेशनेलाइज़ेशन का विरोध हम सहन नहीं करेगा,
बोल दो।

चढ्ढा—लेकिन सर ! रावराजा साहब ने इन बस-मालिकों को अपना सहयोग देना तय कर लिया है। उनकी अपनी भी तो २०० बसें हैं।

दास बाबू—(सोचते हुए) अच्छा तो ठीक है, एच. एम. से कह दो कि इस मामले में जल्दबाजी न करें राव राजा साहब से कनसल्टेशन करना होगा।

चढ्ढा—(तीसरी फ़ाइल सामने करते हुए) और सर, ये टीचर्स पे-कमीशन की रिपोर्ट है। बेसिक-पे पर तीनों सदस्यों के मत नहीं मिलते। सरकारी प्रतिनिधि मि० कपूर का कहना है कि ६०) रुपये दी जानी चाहिए और जन-प्रतिनिधियों का कहना है कि ३५ से ४० रु० दिये जाने चाहिएँ !

दास बाबू—जन प्रतिनिधियों में......

चढ्ढा—(फ़ाइल देखते हुए) एक तो वंशखेलावन सिंह जी एम० पी० हैं...

दास बाबू—और चेयर मैन तो राधाकान्त जी हैं न ?

चढ्ढा—जी हाँ

दास बाबू—ठीक है, जन-प्रतिनिधियों की ही बात मानी जानी चाहिए। ह्वाट नेक्स्ट ?

चढ्ढा—(एक फ़ाइल बढ़ाते हुए) आइरन एण्ड स्टील के परमिट के लिए दो-तीन कम्पनियाँ......

दास बाबू—किरण बाबू को दिया जाये।

चढ्ढा—सर !...उनकी तो एपलीकेशन......

दास बाबू—वो सब हो जायेगा। (डाकते हुए) नितिन (चढ्ढा से) एनीथिंग ऐल्स ?

चढ्ढा—नो सर।......

(वह फ़ाइलें समेट कर जाता है।)

नितिन—(प्रवेश करते हुए)...जी !

दास बाबू—किरण बाबू कहाँ हैं ?

नितिन—बुलाता हूँ, प्रफुल्ल बाबू आये हैं।

दास बाबू—पहले किरण को बुलाओ !

[किरण स्लीपिंग गाउन में प्रवेश करता है। राय बाबू का सब से छोटा लड़का है, विलायत से लौटा है। नितिन बाहर चला जाता है।]

दास बाबू—क्या सो रहे थे ?

किरण—पापा ! लंदन से यहाँ तक का एयर ट्रेवल भी बड़ा ही टाइरिंग है।

(जमाही लेता है।)

दास बाबू—सुनो बेटा, आज आइरन एण्ड स्टील के परमिट के लिए कैसे क्या करना होगा, इसके लिए चीफ़ सेक्रेटरी से मिल लेना, समझे। अब जाओ !...नितिन ?

[नितिन के साथ साथ प्रफुल्ल बाबू भी प्रवेश करते हैं। वे एक दम राष्ट्रीय वेश में हैं।]

दास बाबू—आइए, प्रफुल्लो बाबू !

प्रफुल्ल बाबू—आप तैयार नहीं हुए। चालीस मील जाना है, टाइम तो लगेगा ही।

दास बाबू—ओह, नितिन। स्पीच टाइप हो गयी ? और कौन हैं मिलने वाले ?

नितिन—डाइरेक्टर सक्सेना साहब का अभी फ़ोन आया था कि स्पीच टाइप हो रही है। वे उसे लेकर स्वयं पहुँच रहे हैं। वो एमन बाबू बैठे हैं, लेकिन मेजर जनरल तिलक चंद भी वेट कर रहे हैं।

(तभी फ़ोन की घंटी टुनटुनाती है।)

नितिन—(फ़ोन पर) यस, चीफ़ मिनिस्टर्स रेसीडेंस ! यस...कौन ? ए० डी० सी० बोस बोल रहे हैं...जी...*एक्सीलेंसी वान्ट्स सी० एम० इमीजीएटली ?* ...यस होल्ड आन...

दास बाबू—कह दो दस मिनट में आते हैं।

नितिन—(फ़ोन पर) सी० एम० दस मिनिट में आते हैं।

(रिसीवर रखता है।)

दास बाबू—तिलक चन्द जी को बुलाओ।

[नितिन जाकर मेजर जनरल को भेजता है। तिलक चन्द ऊँचा पूरा कद्दावर व्यक्ति है। एक दम मिलिट्री वेशभूषा में है। मुँछे उमेठी हुई।]

दास बाबू—(हल्के उठते हुए साथ ही हँसते हुए प्रणाम करते)...आइए ! कैसे हैं ?

[मेजर जनरल बढ़ कर दास बाबू के दोनों हाथ अपने हाथों में ले कर हँस पड़ता है।]

मेजर जनरल—सुना था बीमार थे ?

दास बाबू—अब बुढ़ापे में बीमारी तो लगी ही रहती है।

मेजर जनरल—नहीं अभी तो खास कोई उम्र भी नहीं हुई आप की।

दास बाबू—अब खास क्या, पचहत्तर पूरा हो गया। किसी खास काम से तो नहीं आये न आप।

मेजर जनरल—इनागुरेशन में ही जा रहा था, सोचा दर्शन करता चलूँ।

दास बाबू—बड़ी कृपा की आपने। हाँ वो...एमन बाबू को क्या काम है ?

प्रफुल्ल बाबू—शायद अपने नावेल की ज़ब्ती के बारे में आये होंगे। मेरे पास भी प्रेस यूनियन के वरकर्स का प्रस्ताव इसके विरोध में आया है। ये कम्यूनिस्ट किस चीज़ का विरोध नहीं करते ?

मेजर जनरल—अरे जनाब ! कम्यूनिस्ट पास फटकने देने के काबिल नहीं होता। आर दे हुयुमन बीइंग्स ?

(मेजर मोटा मोटा हँसता है, शेष सब पतला पतला हँसते हैं।)

दास बाबू—तो ये अभी उन्हीं लोगों के साथ हैं ? नितिन भेज दो उन्हें।

[एमन, धोती, कुरते तथा चादर में है। इस कक्ष के रौब-दाब में उसका व्यक्तित्व एक चैलेंज की तरह स्पष्ट हो उठता है। एमन पहले दास बाबू फिर प्रफुल्ल बाबू को नमस्कार करता है। मेजर जनरल उसे घूरता हुआ विमूढ सा लगता है। दास बाबू और प्रफुल्ल बाबू उसे देखते ही रहते हैं।]

दास बाबू—आइए, आज शायद पच्चीस बरस बाद आप से भेंट हो रही है।

(हँसते हैं।)

एमन—जी हाँ, उस मुकदमे के बाद से तो यही रहा......यह तो मेरा सौभाग्य है कि आज भी दर्शन हो गये।

प्रफुल्ल बाबू—आपकी बीमारी अब कैसी है ?

एमन—अब ठीक हूँ।

दास बाबू—जेल से छूटे तो एक साल से ज़्यादा हो गया होगा ?

एमन—जी हाँ चौदह महीने।

दास बाबू—आजकल बस लिखते-पढ़ते ही हैं या और कुछ......

प्रफुल्ल बाबू—आप तो कम्यूनिस्ट पार्टी की सी० सी० में भी हैं।

दास बाबू—(नितिन से) जाओ, चलने की तैयारी करो। हाँ किसलिए कोष्ट किया। एक बात पहले बता दूँ कि जदि अपने नावेल की जब्ती के बारे में कहने आये हो तो क्षमा चाहूँगा।

एमन—अपने बारे में कुछ भी कहना होता तो दास बाबू, आठ से दस—दो घंटे प्रतीक्षा नहीं करता।

दास बाबू—तो फिर ? प्रफुल्लो बाबू ने कितना अच्छा सजेशन आपको भिजवाया था कि आप या तो कोई सरकारी नौकरी कर लें, न हो काँग्रेस में

आ जायें। कहिए प्रफुल्लो बाबू! कभी कम्यूनिस्ट अपने विरोधियों को इतना अवसर देते हैं?

(हँस पड़ता है।)

एमन—दास बाबू! आपने मुझे जेल से छोड़ा उसके लिए कृतज्ञ हूँ। मैं तो इस वक्त नौकरी माँगने नहीं, एक प्रार्थना लेकर आया हूँ। मैं तो रनजीत नाम के रेलवे मेन यूनियन......

दास बाबू—आप उस रेलवे मेन को बेल पर छुड़ाने आये हैं? मैंने फाइलें देखी हैं उस सम्बन्ध में।

एमन—जी हाँ, दास बाबू! रनजीत की माँ मरणासन्न है। रेलवे उससे क्वार्टर खाली करवाने पर तुली है। उसे आप दो-चार दिन के लिए छोड़ दें तो अत्यन्त मानवीय कार्य होगा।

दास बाबू—यह रेलवे का मामला है, इसमें हम कुछ नहीं कोर सकता। एक बात का बुरा तो नहीं मानिएगा? इन रेलवे के लोगों को, फेक्ट्रियों के मजदूरों को, कालेज के विद्यार्थियों को आप लोग जब भड़काता है तब भी शायद मानवीय भावना से ही ऐसा कोरता है।

एमन—आपसे बहस करने नहीं आया हूँ और फिर सिद्धान्तों की लड़ाई यों सुलझायी भी तो नहीं जाती?

दास बाबू—एमन बाबू! मुझे मालूम है कि आप प्रतिभावान हैं। इसीलिए मुझे दूसरे कम्यूनिस्टों से कहीं...ज्यादा आपके लिए दर्द है।

प्रफुल्ल बाबू—आप तो घर के व्यक्ति हैं।

दास बाबू—क्यों नहीं आप राजनीतिक कार्य छोड़ देते। हम तो चाहेगा कि आप देश में कोई ऐसी शिक्षा संस्था खोलें जहाँ बच्चों का भविष्य बने।

एमन—मैं आपके सुझावों के लिए कृतज्ञ हूँ, किन्तु आपने मेरी बात पर शायद ध्यान नहीं दिया।

दास बाबू—रनजीत को छोड़ने वाली? हम कुछ नहीं कर सकता इसमें। (नितिन की ओर देख कर) चलें?

नितिन—जी हाँ!

दास बाबू—हमने सुना है कि गाँधी जी के सिद्धान्तों से आपको बहुत विरोध है?

[तभी नितिन परभाने की एक शाल दास बाबू को देता है। दास बाबू के खड़े होने पर सभी खड़े हो जाते हैं। परभाने की शाल ओढ़ते हुए।]

दास बाबू—एमन बाबू ! गाँधी जी ने हमें जीवन का सादगी, अहिंसा, शान्त, त्याग और विरोधियों के प्रति भी उदार भाव सिखाया। रूस में तो आपने किसी विरोधी को नहीं छोड़ा। यहाँ हामरा विरोध में, नेहरू के विरोध में और तो और राष्ट्रपिता गाँधी जी के विरोध में लिखने पर भी हम कुछ नहीं करते। गाँधी ने हम मनुष्यों को क्या यह सब मानवीय भाव नहीं दिया।

(सब एकदम चलने को होते हैं।)

एमन—दास बाबू। गाँधी जी ने अनेक लोगों को स्वाधीनता दिलायी, कुछ लोगों को मेम्बरी दिलायी, कुछ को मन्त्री-पद तक दिये। ये देन क्या कम है ?

[दास बाबू, प्रफुल्ल बाबू एकदम लाल हो जाते हैं। मेजर जनरल दिग्विमूढ़ सा खड़ा रहता है।]

दास बाबू—(विक्षिप्त से) क्या आप, क्या आप......

एमन—आपका अपमान भला कैसे कर सकता हूँ ? किन्तु क्षमा करें दास बाबू ! यहाँ सब 'अर्थात' हैं—जैसे इण्डिया—देट इज़-भारत। पीपुल—देट इज़—केपीटेलिस्ट......

[और एमन सहसा चुप हो जाता है। दास बाबू एकदम फुँक उठते हैं। एमन सबको नमस्कार करता है।]

(पटाक्षेप)

तृतीय दृश्य

[दक्षिणा का वही कमरा है। उसी दिन दोपहर का समय है। शारदीय दोपहर खिली सूरजमुखी-सी है। सब बड़ा उजला-उजला सा लग रहा है। कमरे में स्वच्छता स्पष्ट है। एमन मुख्य मन्त्री के बाद प्रकाशक से मिल कर लौटा है।]

एमन—(प्रवेश के साथ, कमरे में किसी को न देख कर डाकते हुए) दक्षिणा !

दक्षिणा—(पृष्ठभूमि से) आश्चे !

[एमन तब तक तिपाई पर रखी किताबों में से रवीन्द्रनाथ की संचयिका उठा कर बीच में से खोलता है और पढ़ना आरम्भ करता है—]

तोमाय,
साजाबो यतने, कुसुमे रतने
केयूरे कंकणे, कुंकुमे चन्दने
साजाबो तोमाय, साजाबो......

[तभी दक्षिणा एक हाथ में चाय तथा दूसरे में फलों का रस लेकर अत्यन्त नाटकीय मुद्रा में हौले से आती है ।]

दक्षिणा—(नृत्य भाव से) के के साजाबो महाराज ?

एमन—(एक क्षण उसे देख कर) तोमाय साजाबो—कुसुमे रतने, केयूरे कंकणे ..

(और बढ़ता है जैसे सिंहासन से नीचे उतर कर बढ़ रहा हो ।)

दक्षिणा—देखो जी, जो मुँह में आता है बक देते हो, किसी दिन नाराज़ हो जाऊँगी।

एमन—(बनावटी डर के साथ) यह तो...यह तो गुरुदेव कह रहे हैं, देखो इस पोथी में है। पोथी खोली और अनायास ही यह गीत खुल गया।

दक्षिणा—(बनावटी क्रोध संगे) अनायास भी कभी आयास हो जाता है।... जाओ क्षमा किया तुम्हें !

(दोनों हँस देते हैं ।)

एमन—तुम इस बेला भी चाय......

दक्षिणा—तुम फलों का रस पिओ तो कोई बात नहीं और मेरी चाय पर आपत्ति? बड़े वो हो जी तुम !

(तिरछे देख कर लाल हो उठती है ।)

एमन—आज बहुत फ़ार्म में हो, क्या बात है ?

दक्षिणा—अरे जनाब। यहाँ तो रोज़ ही फ़ार्म में रहते हैं, कोई समझे तब न ?

[दोनों खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। दोनों पीना पी चुकते हैं। दक्षिणा एमन के हाथों से गिलास लेती है—]

दक्षिणा—क्या हुआ ? गये थे दोनों जगह ?

एमन—(अत्यन्त गम्भीर हो कर) हाँ !

दक्षिणा—क्या कहा दासबाबू ने ? कब छोड़ देंगे रनजीत को ?

एमन—दक्षिणा। संसार में सब से कायर होती है सरकार ! रनजीत जैसे व्यक्ति

से भी उसे डर होता है। उनकी दृष्टि में कम्यूनिस्ट व्यक्ति नहीं होता, मनुष्य नहीं होता, बल्कि वह तो सिद्धान्त होता है। दो घंटे की प्रतीक्षा के बाद...

दक्षिणा—दो घंटे बिठाये रखा ?

एमन—जाने दो दक्षिणा ! किस बात का दुःख करें ?

दक्षिणा—रनजीत को न छोड़ना तो बड़ा अन्याय है।

एमन—(पीड़ित हास्य संग) अन्याय क्या नहीं है दक्षिणा ? पशुओं की भाँति जीने वाला गरीब, क्या जीवन के साथ अन्याय नहीं कर रहा है ? जब सरकारी गोदामों, सेठों के कोठारों में अन्न सड़ रहा हो, तब भूखे मर कर जीना क्या अन्याय नहीं है ? अन्याय तो स्थिति है। यह कहो कि सब से बड़ा अन्याय यह है कि अन्याय न सहना ! सहन करो दक्षिणा ! जब तक यह सब विध्वंस कर सकने की क्षमता हम में न आजाये तब तक रनजीत, रनजीत की माँ, रनजीत की राधा—इन आदर्श अन्याय भोक्ताओं के साँचों में स्वयं को ढल जाने दो।

दक्षिणा—तो अब क्या होगा ?

एमन—इससे भी महत्वपूर्ण है कि ऐसा कब तक होगा ?

दक्षिणा—प्रकाशक ने क्या कहा ?

एमन—(जेब से नोट निकालते हुए) ये १००) दिये।

दक्षिणा—बस ! (नोट लेते हुए) लेकिन हिसाब तो बहुत ज़्यादा है।

एमन—कहता था—साब, पुस्तक जब्त हो गयी, अब कौन ख़रीदेगा ?

दक्षिणा—तो क्या पिछला हिसाब......

एमन—तुम नहीं जानतीं, प्रकाशक वर्ग भी अजीब ग़लतफ़हमी वाला वर्ग है। पुस्तक किसी दूसरे की होगी, पर आप पर यह प्रदर्शित होगा कि ये ही महाशय पुस्तक के पिता जी हैं।

दक्षिणा—(हल्के हँसते हुए) अब अपना भाषण रहने दो, लेकिन बाकी कब देगा, कुछ कहा ?

एमन—दक्षिणा ! साफ़ बात है कि मैं इन मूर्खों को— 'बाबूजी ! आपने बड़ी साहित्य-सेवा की'...आदि नहीं कह सकता। ताकि ये सोने के अंडे वाली मुर्गी-से गर्दन फुलाकर फैल जायें और अंडे दे सकें।

दक्षिणा—(ताव से खड़े होते हुए) तो लड़ बैठे—दोनों ही जगह, है न ? हे भगवान, जब इतना दिया था इन्हें तब कुछ समझ भी दे दी होती तो क्या बिगड़ता ?

[सिर पर हाथ ले जाती है—एमन को हँसी आ जाती है, साथ ही दक्षिणा को भी।]

एमन—(हँसते हुए) तुमने सच ही कहा। दासबाबू पश्मीने की शाल ओढ़ कर जब सादगी पर भाषण देने लगे तब मुझ से नहीं रहा गया, तब......

दक्षिणा—(कुछ रोष संगे) बड़ा शुभ किया। कांग्रेसियों और कम्यूनिस्टों को एक साथ अनकहनी बातें कहते रहने से होगा क्या? विध्वंस! विध्वंस!!

(वह एक हाथ में गिलास, दूसरे में नोट लिये तेज़ी से जाती है।)

एमन—सुनो तो!

(थोड़ी देर बाद उसी तेज़ी से लौटती है।)

दक्षिणा—कौन कहता है कि तुम किसी दल-विशेष से बँध के रहो। इस 'अहं' की भी कोई सीमा है? सामने वाला झुकता हुआ टूट जाये—किन्तु तुम...तुम...बोलो मुझ से क्या चाहते हो?...तुम न रहोगे.. तो किसी का क्या बिगड़ेगा...किन्तु कभी तुमने दक्षिणा के लिए भी सोचा? वह तो तुम्हारे निकट कुछ भी नहीं है...पार्टी कामरेड के अतिरिक्त कदाचित उसे सोचा भी नहीं होगा....

[और हलकी रो पड़ती है। दोनों हथेलियों में मुँह छिपा कर भाग जाती है। एमन दिग्विमूढ़-सा बैठा रहता है। फिर कुछ देर बाद टहलने लगता है। पृष्ठभूमि में डाकिये की आवाज़....डाक ले जाइए...कुछ विराम। दक्षिणा नयी भूषा पहने है। आज कुछ अतिरिक्त रूप व रंग है परिधान में। एमन एक मूर्ख की भाँति दक्षिणा के इस क्षण-क्षण परिवर्तित आचरणों को अबोले ही समझना चाहता है। इसलिए गौर से किन्तु मर्यादा के साथ उसे घूरता है। दक्षिणा आज झोले की बजाय एक पर्स हाथ में लिये है। हाथ में दो लिफाफे हैं। नीचा सिर किये प्रवेश करती है। बात करते हुए भी सिर नीचा रखती है।]

दक्षिणा—(गम्भीर होकर) यह पत्र डाक से आया है।

एमन—(पत्रों के लिए हाथ बढ़ाते हुए) और यह दूसरा?

दक्षिणा—(हलकी मीठी झल्लाहट संगे) अब मुझे क्या मालूम।

एमन—(दुखित हो कर) सुनो दक्षिणा! मुझे तुम से कहना है।

दक्षिणा—(एकदम तेज़ी के साथ लिफाफे देती है और...) मैं जा रही हूँ, आध घंटे में लौटूँगी। इस बीच तुम्हें किसी भी चीज़ की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, यह जानती हूँ...

एमन—सुनो तो...

[लेकिन दक्षिणा चली जाती है । एमन कुछ क्षण तो इस विलक्षण निवेश को देखता रहता है, फिर डाकवाला पत्र फाड़ते हुए :]

एमन—(नाटकीय ढंग से) 'प्रिय महोदय, ..नेहरू जी देश की महान विभूति हैं...वे आज के कृष्ण हैं...आगामी युगों के गौतम हैं....इस गांधीवादी क्रान्ति के अहिंसक अर्जुन को...अपनी श्रद्धाँजलि देने के लिए अनेक देशी, विदेशी रथियों-महारथियों ने सहयोग का वचन दिया है । आशा है आप भी सहयोग देंगे ।...(पत्र मोड़ते हुए) व्हेरी गुड सम्पादक जी ! नेहरू जी बड़े हैं, इसलिए मैं लिखूँ...या रथी-महारथी लिख रहे हैं ।' इसलिए मैं भी लिखूँ...या इसलिए कि मैं भी एक रथी हूँ—और हम सब रथी मिलकर नेहरू को बड़ा बना दें—जनाब, सब बकवास है ! (वह यह पत्र उठाकर फेंक देता है बिस्तरे पर । दूसरा पत्र फाड़ता है समझ नहीं पाता कि किसका है । हस्ताक्षरों के लिए पीछे देखता है—) (चिहूँकते हुए) एँ, दक्षिणा ? (पत्र पढ़ते हुए) 'तुम्हें मुझ से विवाह करना होगा, नहीं मुझे तुमसे विवाह करना होगा । इसलिए नहीं कि मैं तुम्हें व्यवस्थित कर सकूँगी— ना, बल्कि इसलिए कि—अब और लाज नहीं करूँगी तुमसे—पैंतीस की होने आयी । मेरे मातृत्व की आयु पाँच-छः वर्ष की ही और शेष है—नहीं चाहती कि मातृहीना रहूँ । दूसरे तुम्हारी इस आदि-अग्नि के वाहक की परम्परा देखना चाहती हूँ । किसी दूसरे को तो विवश कर देती, किन्तु तुम्हें नहीं कर पायी । मुझ से विद्रोह करो—इस योग्य नहीं, बस समेट लो ।......

तुम्हारी - दक्षिणा ।'

[एमन कुछ क्षण तो सोचता है, फिर हल्का प्रसन्न होता है और वह मुस्कान सम्पूर्ण विकास पाती है । धीरे धीरे गुनगुनाने लगता है :]

साजाओ, साजाओ तोमाय साजाओ—
कुसमे रतने
केयूरे कंकणे

[तभी दक्षिणा सहसा बाहर से लौटती है तेज़ी के साथ, जैसे कोई चीज़ छूट गयी हो ।]

दक्षिणा—(यह कहते हुए प्रवेश करती है, पर मुँह दूसरी ओर किये हुए) वो—वो— कहाँ है—

एमन—(आगे बढ़ कर उसे कंधों से पकड़ते हुए) वो तो यह है !

(दक्षिणा नत-मस्तक खड़ी हो जाती है ।)

दक्षिणा—छोड़िए मुझे जाना है ।

एमन—ये बाहर जाने का नाटक क्यों किया पगली ? मेरी ओर देखो ।

(दक्षिणा नत-मस्तक है ।)

एमन—(उसे साथ लिये हुए) आओ !

[दोनों पलंग पर बैठ जाते हैं । दक्षिणा दूसरी ओर देखती है । एमन उसका मुँह अपनी ओर करता है ।]

एमन—सच दक्षिणा ! तुमसे मैं विद्रोह नहीं कर सकता । (दक्षिणा धीरे-धीरे उसकी ओर देखती है ।) किन्तु दक्षिणा भौतिक अर्थों में क्या तुम मुझ से सुखी हो सकोगी ? सोचता हूँ अपने स्वार्थवश तो तुम्हें बन्दी नहीं कर रहा ? क्योंकि वह अन्याय होगा । और जब कभी अन्याय की प्रतीति होगी तब...मुझे अपने से ही विद्रोह हो जायेगा ।

दक्षिणा—(दूसरी ओर मुँह करके) मैं समर्पण कर चुकी । भले ही उसे तुम लौटा दो । अब उसे नहीं अपनाऊँगी, वह तुम्हारा देय था, दे चुकी ।

एमन—(एकदम उत्साह से) फ़सलें पक गयीं दक्षिणा !

दक्षिणा—(उत्साह से) 'पकी फ़सलें' पूरा कर लिया ?

एमन—जेल से ही इस उपन्यास को लिख रहा था । आज पूरा हो गया । (दोनों हँसते हैं ।) मैं चाहता हूँ कि......

दक्षिणा—(टोकते हुए) अब भी 'मैं' 'मैं' ही करते रहोगे ? हम कहा करो !

एमन—(हँसते हुए) अभी से ?

दक्षिणा—(हाथ छुड़ा कर जाते-जाते हँसते हुए) नहीं, बिसमिल्ला की शहनाई के बाद ?

(दोनों हँस पड़ते हैं ।)

(पटाक्षेप)

चतुर्थ दृश्य

[दक्षिणा का वही कमरा है। समय प्रातः काल। कमरे में बस यही परिवर्तन हुआ है कि दीवार पर दक्षिणा एवं एमन का विवाह-चित्र टँगा है। एमन का पलँग अब यहाँ नहीं है। उसके स्थान पर एक मसनद आ गयी है। एक कोने में सारस की सी ऊँची तिपाई पर रवीन्द्र का बस्ट सफ़ेद मिट्टी का बना रखा है। इसे आसानी से दम्पत्ति का ड्राइंगरूम-कम-एमन का अध्ययन कक्ष कहा जा सकता है। एक तिपाई पर दवाइयों की शीशियां कायदे से जमी रखी हैं। बायें हाथ के कोने में एक राइटिंग टेबल, कुर्सी रखी है, जिस पर लिखने-पढ़ने का समान अत्यन्त सादगी से सज्जित है। वहीं पर एक ऊँचा सा टेबल लैम्प भी है। एक छोटी आलमारी में किताबें चुनी हुई हैं। इतना सब होते हुए भी कोई यह नहीं कह सकता कि इस कमरे का इनके जीवन में शोभा का स्थान है, आवश्यकता का नहीं। मसनद पर दो गाव-तकिये हैं। एमन सवेरे सवेरे ही स्नान आदि से निवृत्त, बैठा हुआ अख़बार पढ़ रहा है। वो बार-बार अख़बार से आँख उठा कर देखता है, जिस से ज्ञात हो जाता है कि किसी की प्रतीक्षा की जा रही है। सुनहरी चश्मा, एडवर्ड डाढ़ी, व्यवस्थित कटे बाल, मुख पर विषाद की हलकी झाँई है—लेकिन आयु के बढ़ने के साथ साथ व्यक्तित्व तपे सोने सा निखर आया है।]

एमन—(नौकर को डांटते हुए)—काली पदो, काली पदो !

कालीपद—(पृष्ठ-भूमि से) की बोलेन बाबू !

[कालीपद बिहारी गंजी और धोती में साँवला सा पन्द्रह वर्ष का लड़का है।]

एमन—तुम्हारी बोऊ माँ, कहाँ हैं ? क्या जागी नहीं !

कालीपद—आमी की जानी, सोया होगा बोऊ माँ।

एमन—अरे तो चाय तो लाओ।

(वह जाता है।)

[तभी पीछे से दक्षिणा अलसायी सी आती है। बल्कि उठने के बाद की उबासी तक यहाँ लेती है।]

एमन—(हँसता है) अच्छा तो अब उठा जाता है ! कौन कहेगा कि पाँच बजे उठने वाली दक्षिणा यही है। मुझे देखो !

दक्षिणा—किसी के कहने से क्या होता है, पहले मैं कोई पत्नी थी ? और तुम्हारी तो बात ही निराली है ।

(शरारत से दोनों हँसते हैं ।)

[तभी चाय की ट्रे आती है । सब में गृहस्थी के चिन्ह दिखायी देते हैं, जैसे—टीकोज़ी]

दक्षिणा—(चाय पीते हुए) हाय, मैं तो भूल ही गयी थी । आठ बजे तो सेल-मीटिंग है । क्या बजा ? ओ बाबा...आठ ?

(भागने को होती है ।)

एमन—अब क्यों भाग रही हो ? लोगों को देखने दो कि एमन की पत्नी आठ बजे तक जगासियाँ लेती है ।

दक्षिणा—(शरारत के साथ) अरे सारा दोष मेरा ही है क्यों ? और तुम ?

[तेज़ी से हँसती हुई भाग जाती है । दक्षिणा के जाने के तुरन्त बाद कामरेड अहमद, विभूतिभूषण, माणिक, कान्ता प्रवेश करते हैं ! किसी की भूषा में कोई विशेषता नहीं है । केवल अहमद शेरवानी पहने हैं । विभूतिभूषण एक सदरी पहने है तथा माणिक चादर डाले हुए है । कान्ता लेडीज ढंग का पूरी बाँह का बादामी पुलोवर पहने है ।]

अहमद—नमस्कार एमन बाबू !

एमन—(खड़े हो कर) आइए जनाब !

विभूतभूषण—कहिए, मैं ने तो अहमद साहब पहले ही कहा था कि एमन साब ऐसे आदमी नहीं हैं कि कोई चीज़ उन पर असर करे, चाहे वह इंनकलाब हो या बीवी ! (सब हँसते हैं ।) देखिए वैसे ही तैयार नहा-धो कर बैठे हैं ।

अहमद—अब हमें क्या खबर थी कि एमन साब इस कदर उसूल-पसन्द होंगे । हम समझे अदीब हैं, कुछ तो रूमानी माहौल दक्षिणा जी ने पैदा किया ही होगा ।

(सब हँसते हैं ।)

कान्ता—दीदी कहाँ हैं ? सो रही होंगी शायद । शादी के बाद से तो बस...

अहमद—मैं इस लड़की से बार बार कह चुका हूँ कि देखो, शादी कर लो । न सही पार्टी कामरेड, मगर शादी कर डालो ! शादी के बाद ही कोई सही मानी में कम्यूनिस्ट हो सकता है । मगर अजीब फितरती हैं ये लोग, जाती कोई रिश्ता नहीं और चले हैं दुनिया से रिश्ता जोड़ने ।

कान्ता—अब रहने भी दीजिए भाई। जब देखो पुराण खोल कर बैठ जाते हैं।

अहमद—खुदा की कसम, रिवाल्यूशन में तो अभी खासी देर है, कब तक उसका रास्ता देखोगी? क्या इंकलाब से ही इरादा है? ये माणिक कैसा है कान्ता?

(सब ठहाका मारते हैं, कान्ता भाग जाती है।)

विभूतिभूषण—आप भी हद करते हैं अहमद साब!

अहमद—अमां, एक तो जवानी यों ही गर्म होती है, दूसरे सिर पर इंकलाब का लावा लिये घूमते हैं—शादी नहीं करेंगे तो क्या पागलखाने जायेंगे!

[सबका ठहाका। तब तक दक्षिणा आती है। पीछे पीछे झेंपती सी कान्ता भी आती है।]

दक्षिणा—(स्वच्छ वस्त्र में, एकदम स्नात और कमल सी) क्यों बेचारी कान्ता के पीछे पड़े हैं आप लोग?

अहमद—ज़रा इनकी पैरवी सुनिए। मैंने तो बड़े भाई का मशविरा दिया। जाने दो ज़ाती मसला है, नहीं बोलेंगे। मगर दक्षिणा जी! अपने छोटे भाई माणिक का भी अब कुछ बन्दोबस्त कर दो—यह क्या कि खुद तो...

(सब फिर ठहाका मारते हैं।

दक्षिणा—(शरारत के साथ) क्यों माणिक! लोगों से कहता फिरता है और अपनी शेष दी से कहने में झेंपता है?

(माणिक झेंप जाता है—सब की हँसी।)

अहमद—अब मैं ने कान्ता से यही कहा कि माणिक से क्यों नहीं कोशिश करती। खैर भाई होगा।

विभूतिभूषण—(बड़े गम्भीर ढंग से) और कौन नहीं आया माणिक?

माणिक—अफ़जल अलीगढ़ गये हैं।

अहमद—क्या हिन्दी वालों को बंद करने के लिए ताले खरीदने?

(सब हल्के हँसते हैं।)

कान्ता—ओफ़, किस कदर इंकलाबी है यह अफ़ज़ल भी।

अहमद—तभी तो इंकलाब आ नहीं पा रहा है। एक मुल्क में एक ही चीज़ तो पनप सकती है—इंकलाब या इंकलाबी!

(सब हल्के हँसते हैं।)

विभूतिभूषण—नयी पार्टी लाइन के बारे में चर्चा कर ली जाय, क्यों अहमद साब ?

अहमद—बेशक। और फिर तुम तो उस का प्रेक्टिकल डिमान्सट्रेशन देख के आ रहे हो।

माणिक—कामरेड विभूतिभूषण हमें किसान आंदोलन के बारे में बतायें और समझायें कि पार्टी लाइन के द्वारा हमारे मूवमेंट ने क्या रुख अपनाया है।

विभूतिभूषण—साथियो, मुझे ज्यादा कुछ नहीं कहना है। हिन्दुस्तान की आज़ादी के बारे में मुल्क में सियासी चेंजेस हुए हैं। आपको मालूम है कि मुल्क के सभी प्राविन्सेस में आम हड़तालें हो रही हैं। बम्बई में नाविकों की हड़ताल का हो जाना, तेलंगाना का मूवमेंट आदि बातों ने पार्टी को अहसास कराया कि यह हिस्टोरिकल पीक है। दूसरी सियासी जमातों के साथ-साथ सरकार के नकाब भी उलटे हैं। लाठी चार्ज, पुलिस एक्शन आदि से सिद्ध होता है कि मुल्क में पुलिस राज है। हमारी पार्टी ने अवाम की इन मुख़्तलिफ़ जंगों को तवारीखी अहमियत दी है और हम आज उनके कंधे से कंधा मिला कर चल रहे हैं। हमारे प्रान्त का किसान आंदोलन भी इस बड़ी जंग का एक हिस्सा है। बस यही कहना था।

माणिक—अहमद साब !

अहमद—इस जबानी बयान में और तवारीखी वाकयात में गहरा सम्बन्ध है। जिनकी गूँजें हमें गैरकम्यूनिस्टी पर्चों तक में मिलती हैं। आपको मालूम ही है कि इस पार्टी काँग्रेस में नयी पार्टी लाइन की मैंने मुख़ालिफ़त भी की थी। मौजूदा नेहरू सरकार, ख्वाह कैसी ही हो, हमारे अपने लोगों की है। नेहरू, जनता के नेता हैं, नुमाइन्दे हैं, उन्हें च्यांगकाई शेक मानना बहुत बड़ी गलती होगी। हमें वर्डिक्ट आफ़ दि हिस्ट्री के लिए वेट करना चाहिए। लेकिन इस कहने के बावजूद भी हमारे साथियों ने फ़ायर पालिसी इख्तियार की है। मैं अब भी इसे स्यूसीडिकल मानता हूँ, मगर पार्टी डिसिप्लिन के मातहत इस फ़ैसले की तामील करना मेरा फ़र्ज़ है। पार्टी ने जो पैग़ाम कामरेड एमन और दक्षिणा के लिए भेजा है। उसे पार्टी सेक्रेटरी माणिक अभी आपको सुनायेंगे। हालाँकि ज्यादा अच्छा तो यह था कि हमारे लीडर अदीबों से दूसरे बेहतर काम कराते, क्योंकि समाज या पार्टी में सभी जगह अदीब का दर्जा सबसे ऊँचा होना चाहिए।

माणिक—पार्टी ने एमन बाबू और दक्षिणा दीदी दोनों को तुरन्त किसान आंदोलन का काम सम्हालने का ज़िम्मा दिया है।

एमन—जैसा कि अहमद भाई ने कहा कि लेखक का समाज में ऊँचा स्थान होना चाहिए, यह बहुत सही है। चाहे यह बात मुझ जैसे लेखक के लिए सही न हो, मगर साहित्य पर राजनीति का यह अंकुश अनुचित है। यह बात दूसरी है कि समय की माँग के कारण साहित्यकार सिपाही बन जाय, किन्तु साहित्यकार का माध्यम दूसरा है—जिसे हमारे नेता नहीं समझते। हम पार्टी की आज्ञा पर चले जायेंगे। पार्टी ने इतना बड़ा काम हमें सौंपा, यह भी बहुत बड़ी बात है, किन्तु जब तक पार्टी के नेता इस तथ्य को ग्रहण नहीं करते, तब तक वे ग़लतियाँ करेंगे। राजनीतिज्ञ को अपनी सुपीरियारिटी दूर करनी होगी।

जहाँ तक नयी पार्टी लाइन का प्रश्न है—मैं समझता हूँ कि यह महान भूल है। सन् ४२ से भी भयंकर भूल है यह। गांधी या जवाहर इस देश की जनता के प्रतीक हैं—इसे अस्वीकारना मूर्खता है। यह प्रभाव लाख प्रतिक्रियावादी है, पर आज गांधी या नेहरू की आवाज़ राष्ट्रवाणी है, उन्हें चुनौती देकर पार्टी हीराकरी कर रही है।

माणिक—दीदी, आप कुछ कहना चाहती हैं?

दक्षिणा—मैं तो कभी भी फायरईटर्स में से नहीं थी, इसीलिए सभी कोई मुझे बूर्जुआ कम्यूनिस्ट ही कहते रहे। मुझे भी ऐसा लगता है कि अहमद साब तथा एमन से मैं सहमत हूँ। यह बात दूसरी है कि पार्टी की आज्ञा मानना मेरा धर्म है, लेकिन यह नीति ग़लत है।

माणिक—मैं आपकी बातें आगे भेज दूँगा।

[तब तक दक्षिणा बीच में उठ कर जाती है और कालीपद चाय की ट्रे, नाश्ता आदि लाता है।]

अहमद—(बड़े निश्चिन्त भाव से) तो मीटिंग बर्ख़ास्त?

माणिक—जी हाँ।

अहमद—खैर दोस्त, खुदा हाफ़िज़। तवारीख़ किसी को मुआफ़ नहीं करती, चाहे वह गाँधी हो या मार्क्स।

एमन—सही बात यह है अहमद साब कि आज कम्यूनिस्टों को गाँधी की आवश्यकता है और गाँधीवादियों को मार्क्स की।

(सब क्षण भर को चौंकते हैं।)

अहमद—आपने एकदम ठीक फ़रमाया लेकिन......

दक्षिणा—(हँसते हुए) अहमद भाई, ये भी यही बात कह कर हमेशा लेकिन लगाते रहे हैं।

अहमद—तो फिर मुझे कुछ नहीं कहना।

एमन—आर यू रियली लीविंग इण्डिया आन डेपुटेशन ?

अहमद—अफ़कोर्स। एवरी वन आफ़ अस इज़ आन डेपुटेशन बाई द हिस्ट्री। हाउ इट मेटर्स हीयर आर देयर।

(सब हँसते हुए चाय नाश्ता करते हैं।)

(पटाक्षेप)

पञ्चम अंक

सूत्र दृश्य

[मंच पर सहसा वही अंधकार, उपरान्त प्राथमिक दृश्य—जेल। चाँदनी आ चुकी है। जेल अहाते के लैम्प-पोस्ट की बत्ती पीताभ उभर आयी है। अँधेरा घिर आया है। ठण्डी हवा बहने लगी है। समुद्र गर्जन अपनी नींद छोड़ तटों को उथल-पुथल करने में लगा है।

इस ठण्डी प्रत्यूष बेला में जेल के कांस्य घण्टे चार बजाते हैं—उपरान्त चार का गजर बजता है।]

संतरी—(दूर से डाक स्वर) गार्ड ? सात नम्बर सेल ! ताला बेड़ी आलरेटऽऽ ?

गार्ड—(उसी रीति) सात नम्बर सेल ! ताला बेड़ी आलरेटऽऽ !

संतरी—(और दूर से डाक स्वर) गार्ड ! बार नम्बर सेल ! ताला बेड़ी आलरेटऽऽ ?

[संतरी गार्ड की प्रतिसतर्कता पृष्ठभूमि में डूब जाती है। एमन जेल का अहाता घूर रहा है।]

एमन—(स्वगत) अंधकार में लज्जा ढँकने की क्षमता होती है—विशेष रूपे प्रत्यूष के पूर्व का अंधार सबसे अधिक असितवर्णी होता है। कारण कि

परिवर्तन के व्यक्तित्व की तीक्ष्णता अनुभव समग्रता-तीव्र हो उठती है। न कुछ अनन्त है, न स्थिर। निरपेक्षता ही मृत्यु है और सापेक्ष्यता ही जीवन। प्रत्येक की गतिशक्ति है। कोई क्षणों में जीवित है, धावित है तो कोई वर्ष और संवतों में। इसी सापेक्ष्य भाव में कम गतिशील को हम स्थिर मानते हैं। और जब यह गति योनियों के माध्यम से धावित होती है, उसे हम मृत्यु मान कर निश्चिन्त हो जाते हैं। जीवन—सृष्टिगति की दृश्यगति है, जबकि मृत्यु—सृष्टिगति की अदृश्यगति है।

(मंच पर सहसा अंधकार हो जाता है।)

प्रथम दृश्य

[एक छोटा सा कमरा, जिस में चटाई पड़ी है। चटाई पर खेस बिछा है। दीवार पर स्तालिन का प्रसिद्ध चित्र—जिसमें वे एक हाथ कोट के बटनों के पास अन्दर किये खड़े हैं—लगा है। दीवार पर नीले रंग की पृष्ठभूमि में उड़ते श्वेत कपोत वाला प्रसिद्ध भित्ति-चित्र कीलों से ठुका है। किसी पार्टी कामरेड का घर है। किसान आंदोलन के कार्य के लिए एमन और दक्षिणा यहाँ आये हैं, इसलिए खाली करवा कर इन्हें दे दिया गया है। स्तालिन के चित्र के ऊपर ही गौतम तथा गाँधी के चित्र हैं जो स्पष्ट है कि एमन ने लगवाये होंगे, क्योंकि एमन इन तीनों को तप, शक्ति एवं निष्ठा के प्रतीक मानता है।

तभी सहसा एमन को एक हाथ से दक्षिणा और दूसरे से कुछ अन्य कामरेड पकड़े प्रवेश करते हैं। एमन के सिर पर पट्टी बँधी है, रक्तस्राव हो रहा है। दो एक साथी बढ़ कर खेस पर तकिया आदि लगाते हैं। दक्षिणा एमन को तकिये के सहारे लिटाती है। दक्षिणा रुई से रक्त साफ़ करती है। तब तक कस्बे का डाक्टर आ जाता है। कुछ देर तक डाक्टरी चलती है। दक्षिणा के मुख पर कठोरता एवं पीलापन दोनों ही हैं। डाक्टर युवक है।]

डाक्टर—(दक्षिणा से) ज्यादा चोट नहीं है। कम्पाउण्डर शाम को ड्रेसिंग कर जायेगा।

दक्षिणा—चोट गहरी तो नहीं है डाक्टर ! सेप्टिक का तो डर नहीं है ?

(और पर्स से पाँच रुपये का नोट निकाल कर देती है।)

डाक्टर—नॉट एट आल, नथिंग टु वरी। (नोट को न लेते हुए) यह क्या !

दक्षिणा—(किंचित हँसते हुए) इट इज़ यूवर राइट डाक्टर।

डाक्टर—(अपना बेग उठाते हुए) आप नहीं जानतीं कि मैं एमन बाबू का रेगूलर पाठक हूँ। यह तो मेरा सौभाग्य है कि मैं ने अपने प्रिय लेखक के दर्शन किये।

दक्षिणा—लेकिन यह तो आपकी फ़ीस है।

डाक्टर—दक्षिणा जी, यदि आप फ़ीस देना ही चाहती हैं तो एमन साब के हस्ताक्षर दिलवा दीजिए।

[सब के मुख पर प्रसन्नता झलक उठती है। दक्षिणा एक सादा कागज़ लेने बढ़ती है।]

डाक्टर—यों नहीं, इस पर चाहिए।

[और 'रक्तगाछ' की एक प्रति निकालता है तथा दक्षिणा को उसे देता है।]

एमन—(पुस्तक पर हस्ताक्षर करते हुए) तो तुम्हें भी रक्तगाछ प्रिय है ? (हँसते और पुस्तक डाक्टर को वापस देते हुए) लो पढ़ लो डाक्टर, क्या लिखा है।

डाक्टर—(पढ़ते हुए) जो राजनीति, जो साहित्य, जो विज्ञान मानव को मानव से काटता है, श्रेष्ठ सिद्ध करता है, अपंग करता है, उससे डाक्टर, तुम्हारे सर्जिकल अस्त्र और मेरी लेखनी दोनों ही युद्ध करें। एवमस्तु—एमन।

[डाक्टर गद्गद् होकर नयनों में चमक लिये प्रणाम करके चला जाता है।]

एमन—(पार्टी कामरेड जगजीत से, जो पंखा झल रहा है।) रहने दो जगजीत ! थक गये होगे।

[जगजीत स्थानीय पार्टी सेक्रेटरी है, नवयुवक है। कुरता पायजामा पहने है। सुता हुआ व्यक्तित्व है।]

दक्षिणा—(पंखा जगजीत से लेते हुए) लाओ मुझे दो !

एमन—भाई, तुम दोनों ही रहने दो !

बरेन—(बंगाली नवयुवक कामरेड है, मीठा सा युवक है ।) लाओ दीदी मैं करूँगा ।

जगजीत—एमन दा ! राजकीय हस्तक्षेप इस सीमा का तो बहुत बुरा है । मीटिंग पर लाठी चार्ज इज़ नथिंग बट ब्रूटेलिटी ।

एमन—हम सब को, पार्टी को आवेश छोड़ना होगा । गांधी के संयम को मार्क्स की दृष्टि दो जगजीत ! मैं इस आंदोलन को निर्माणात्मक बनाना चाहता हूँ—पार्टी और तुम लोग उसे दूसरी दिशा देना चाहते हो ।

जगजीत—इस प्रयोग से कुछ नहीं होने का । हम इस स्थिति में नहीं हैं कि प्रयोग करें और साफ़ बात है एमन दा कि गांधीवादी प्रणाली का हमसे कोई सम्बन्ध नहीं ।

एमन—(हँसते हुए) कोई गैरकम्यूनिस्ट यदि सत्य कहता है तो क्या तुम उसे अस्वीकार दोगे ?

बरेन—पर दा ! विल इट नॉट बी ए डेवीएशन फ्राम दि पार्टी लाइन ?

एमन—चाहे इतिहास से डेविएशन हो जाये, क्यों ? भूल तो सभी कर सकते हैं न ?

जगजीत—लेकिन पार्टी ने जिस आधार पर आंदोलन चलाने के लिए कहा है वह भी तो महत्वपूर्ण है ।

एमन—इसीलिए तो आंदोलन चला रहा हूँ, किन्तु नीति को साँचेवत् आचरित करना तो मूर्खता है । मार्क्स ने जो सत्य कहे हैं, तब वे विशेष युग और परिस्थिति में कहे थे । ये तो वे नहीं कह गये कि बस—इसके बाद सोचना बन्द कर दो । गांधी जी ने भी कुछ सोचा है, बरेन भी कुछ सोचता है । मनुष्य को मशीन चाहते हो !

[तभी बरेन नामक एक पार्टी कामरेड पार्सल लाता है और दक्षिणा को देता है । वह खोलती है ।]

दक्षिणा—(प्रसन्नता के साथ) अरे, 'पकी फसलें' छप गया ।

[एक प्रति एमन को देती है । जगजीत और बरेन भी 'पकी फ़सलें' देखते हैं ।]

बरेन—जब फ़सलें पक गयीं तो हमारे हँसिये उन्हें जनता के लिए काट लेंगे ।

एमन—(हँसते हुए किताब दक्षिणा को लौटाते हुए) ये कागजी फ़सलें पकी

है बरेन ! जो कि आज नहीं मार्क्स के समय में ही पक गयी थीं। देखें दिलों और खेतों में कब पकती हैं।

जगजीत—एमन दा ! तो आप २०० किसानों वाले इस मुक़दमे में तो चल नहीं सकेंगे ?

दक्षिणा—भला ये कैसे जा सकते हैं ?

बरेन—लेकिन दीदी, सरकार जिस निर्दयता से गोली और गिरफ़्तारी कर रही है उससे तो......

एमन—तो हम भी तो उसी प्रकार थाने, खज़ाने लूट रहे हैं। (व्यंग्य भरी हँसी) प्रत्येक अपनी स्थिति बनाये रखना चाहता है, यह ठीक है, किन्तु व्यक्तित्व की, कर्म की एक सीमा वह भी आ जाती है कि जहाँ शत्रु अपने शस्त्र एवं सेना के साथ भी परास्त हो जाता है।

जगजीत—यह सामंतवादी आदर्शवाद है, इतिहास ने इसे उठा कर जाने कब का ताक में रख दिया है।

एमन—(कुछ रोष, कुछ गम्भीर, कुछ निश्चयात्मक ढङ्ग से) तो जगजीत ! मेरा यह निश्चय सुन लो कि विध्वंस के अग्निस्वरूप में यदि मुझे जीवन की पीपिलिका की भी गति के दर्शन नहीं होते तो मुझे अलग ही समझो इस आंदोलन से।

(सब दिग्विमूढ़ से देखते रह जाते हैं।)

दक्षिणा—(कहीं दूर देखते हुए) तो क्या तुममें वह अग्नि समझौता कर रही है ?

एमन—(तकिये के सहारे बैठते हुए) समझौता ! छोटे-छोटे स्वार्थों की सिद्धि के लिए सिद्धान्तहीन होकर किया जाता है। किन्तु जब बृहत सत्य के साथ व्यक्ति-सत्य समझौता करता है तब वह समर्पण करता है अमृत बनने के लिए। तब विद्रोह, तपस की संज्ञा लेता है। मेरा इस सरकार से विद्रोह है, इस नयी पार्टी लाइन से विद्रोह है। फिर भी यहाँ आया, इसलिए कि बृहत सत्य यहाँ भावमान है, उसमें अपने को आत्मसात कर दूँ। मैं गांधी की भाँति इस सत्यरथ की गति को यह कह कर नहीं रोकूँगा कि हिंसा हो गयी। क्योंकि तब तो सत्य की स्थिति ही संशय में हो जायगी। यही करूँगा कि मुझ में का तपस और प्रज्ज्वलित हो।

जगजीत—एमन दा ! दर्शन द्वारा मैं किसान आंदोलन चलाने के पक्ष में नहीं हूँ। यह राजनीति है। एवरी थिंग इज़ फ़ेयर इन लव एण्ड वार।

एमन—(पीड़ित हास्य संगे) नो, माय ब्याय, लाइफ़ इज़ नाट पॉलिटिक्स बट एथिक्स। मेरे लिए जीवन पूजा है, प्रत्येक व्यक्ति देवता है।

जगजीत—(उठते हुए) जैसा आप समझें। अभी तो मैं मुकदमे के फ़ैसले के लिए जा रहा हूँ। लेकिन आज ही मुझे सारी रिपोर्ट देकर लाइन आफ़ एक्शन क्लीअर करवानी होगी।

एमन— (संयत आदेश से) जाओ, और इसे उन्हें अवश्य बतलाना। पार्टी ने भूलें की हैं, किन्तु इस भूल से उसकी स्थिति की चूलें तक हिल जायेंगी। इतिहास के इतने बड़े विरोधाभास को कोई भी मनीषी नहीं समेट पायेगा जगजीत! जीवन को तार्किक नहीं भक्त चाहिए।

(सब उठ कर चले जाते हैं।)

दक्षिणा—यह क्या किया आपने?

एमन—कुछ नहीं दक्षिणा! गौतम के लिए जीवन दुःख था; मार्क्स के लिए वर्ग-क्रांति और गांधी के लिए उपवास!—ये सब आंशिक सत्य हैं दक्षिणा! गांधीवादियों के अपने साँचे हैं तो कम्यूनिस्टों के भी साँचे हैं। इन्हें अपने ही अनुरूप लोग चाहिएँ—ये लोगों के अनुरूप नहीं होना चाहते। मार्क्स ने इतिहास के आधार पर नीति बनायी थी। ये नीति के माध्यम से इतिहास बनाते हैं।

दक्षिणा—मार्क्सवाद कोई डॉगमा नहीं, वह परिवर्तनशील जीवन-दर्शन है।

एमन—यही तो चीन में माओ ने सिद्ध किया है, किन्तु हमारे यहाँ......अपने से बाहर के निरीक्षणों को भी सच्चे कम्यूनिस्ट को समेटना होगा और यह चीन वाले तभी कर सके, जब वे पहले चीनी बने। हम कम्यूनिस्ट, भारतीय नहीं हैं। यहाँ की परम्परा और संस्कृति को वैज्ञानिक दृष्टि हमने नहीं दी। इस अर्थ में गांधी भारतीय राजनीति के गुरु हैं। साहित्यकार, दत्तात्रय होता है दक्षिणा! वह कई गुरुओं का एक साथ शिष्य हो सकता है, लेकिन राजनीति असहिष्णुओं का दल होता है।

दक्षिणा—लेकिन तुम्हारा आंदोलन से हाथ खींच लेना ठीक नहीं हुआ। क्या तुम इस किसान आंदोलन के सारे उत्तरदायित्व को भी अस्वीकार दोगे?

एमन—उत्तरदायित्व के दो भाग होते हैं दक्षिणा! एक यश, दूसरा अपयश। मैं अपयश का ही अधिकारी हूँ। जो कुछ भी आंदोलन में लूट, हत्या आदि

हुए हैं उसका भार मैं कभी नहीं अस्वीकारूँगा। इधर जो पुलिस थाने और खज़ाना किसानों ने लूटा—वह मैंने किया है दक्षिणा!—अपने किसी भी कर्म पर पश्चाताप मुझे नहीं है।

(तभी जगजीत हाँफता आता है।)

जगजीत—सुनिए पुलिस आ रही है। आप यहाँ से निकल चलिए...और... (जेब में हाथ डालते हुए)......पार्टी ने आर्डर्स भेजे हैं।

दक्षिणा—(आर्डर्स लेकर पढ़ती है)...पार्टी लाइन से डेवीएट करने के कारण तथा अनुत्तरदायी ढंग से पार्टी की आलोचना बाहर खुल्लमखुल्ला करने के कारण पार्टी एमन और दक्षिणा दोनों को एक्सपेल करती है।...ये क्या ?

एमन—अब तक हम एक पार्टीज़न थे अब सर्वहारा हो गये दक्षिणा!

दक्षिणा—लेकिन यह बात गलत है। पार्टी इज़ आवर लाइफ़ एण्ड सोल, हाउ केन वी बी एक्सपेल्ड ?

एमन—यह भी एक स्थिति होती है दक्षिणा! सुनो जगजीत! एक बात स्वीकारोगे ?

जगजीत—आप आज्ञा करें एमन दा!

एमन—दक्षिणा को यहाँ से फ़ौरन ले जाओ क्योंकि...ये...

दक्षिणा—(एमन से लिपटते हुए) नहीं, सो नहीं होने का एमन! मैं तुम्हारे ही साथ जाऊँगी...नहीं...

(रोती है।)

एमन—नहीं जानता दक्षिणा! कि आगे क्या हो, किन्तु तुम्हें मेरे लिए, अपने भावी शिशु के लिए, हमें सृजित करने वाले उस जीव के लिए जाना ही होगा—जाओ—ले जाओ जगजीत इन्हें। जाओ दक्षिणा। (कुछ आदेशात्मक ढंग से) जाओ...

जगजीत—चलो दीदी! पुलिस आ रही है।

दक्षिणा—(जिसे जगजीत हाथ पकड़े ले जाता है—रोते हुए) एमन! ...एमन!...आमार जीवन!

(जगजीत और दक्षिणा चले जाते हैं। कुछ क्षण शांति उपरान्त)

एमन—जाओ दक्षिणा...गयीं...ठीक हुआ...फिर से......

सम्मुखे अपार आँधार,
यात्राशिखर दुर्निवार;
समाहित उद्घोष,
भाँगे गिये उद्बोध,
चिन्तय तट !
स्वीकारो महा ज्वार !!

(तभी पुलिस आती है। एमन आँखें बंद कर बैठा है।)

(पटाक्षेप)

द्वितीय दृश्य

[अदालत का कमरा। दर्शकों से कमरा भरा हुआ है। माणिक, विभूतिभूषण आदि कामरेडों के साथ दक्षिणा बैठी हुई है। एक दम सिर से पैर तक काले वस्त्रों में। उसके मुख पर गर्भकाल के अंतिम दिनों का पीलापन स्पष्ट है। उसकी आँखें सूजी हैं। कठघरे में एमन दो चार बंदियों के साथ बैठा है। उसके मुख पर शांति, क्षमा और निष्ठा का अद्भुत मिश्रण है। मुकदमे की सारी पैरवी हो चुकी है। अदालत के कमरे में गांधी और जवाहरलाल नेहरू के हँसते हुए चित्र लगे हैं।]

न्यायाधीश—(तीन बार टेबल बजा चुकने पर एमन से) आपको कुछ कहना है ?

एमन—मुझे कुछ नहीं कहना।

न्यायाधीश—राजद्रोह, राज सम्पत्ति की लूट, राज्य व्यवस्था को उलट देने के लिए लोगों को भड़काने के दण्ड में एमन को प्राण-दण्ड दिया जाता है।

दक्षिणा—(चीख पड़ती है) प्राण-दण्ड...हीं...हीं...(रो पड़ती है हथेलियों में मुँह छिपा कर माणिक के कंधे पर सिर टिका देती है) प्राण दण्ड !

न्यायाधीश—बाकी के काशीराम, रघुनाथ तथा जगन्नाथ को दस वर्षों का सपरिश्रम कारावास।

[अदालत में शोर बढ़ जाता है। पुलिस गारद बंदियों को घेर कर सतर्क हो जाती है। न्यायाधीश टेबल बजाते हैं। कहीं भीड़ में से कोई

खिला पड़ता है—कामरेड एमन ज़िन्दाबाद ! इंकलाब ज़िन्दाबाद ! दक्षिणा बढ़कर एमन की ओर दौड़ती है। उसका पेट बढ़ा हुआ है। उसके पीछे माणिक, विभूति भी दौड़ते हैं। पुलिस इन्सपेक्टर दक्षिणा को रोक देता है।]

दक्षिणा—एमन यह क्या हुआ ?

[और रो पड़ती है। एमन की आँखें भी गीली हो उठती हैं। वह अपने हथकड़ी वाले हाथों से दक्षिणा के कंधे पकड़ कर हिलाता है।]

एमन—तो ! तुमने कहा था, याद है न कि मुझ से पूछ कर ही जाते। अच्छा, तो आज जा रहा हूँ, बोलो जाऊँ न ?

[दक्षिणा एमन के चरणों के पास रोती हुई गिर पड़ती है और गले में आँचल डाल पदधूलि माँग में लगाकर वहीं ढह पड़ती है। माणिक उसे उठाता है।]

एमन—दक्षिणा ! इस क्षण मुझे मृत्यु का रहस्य समझ में आ रहा है। वह यह कि हम सृष्टि को श्रेष्ठ बनाने के लिए जल्द से जल्द जाकर पुराने वस्त्र त्याग कर, फिर से नव जन्मा होकर लौटें। सुनो अग्निम या अग्निमा कोई सा नाम रख देना।

पु० इन्सपेक्टर—एमन साब। अब चलिए।

एमन—(हँसते हुए) चलो भाई, अब तो यात्रा ही यात्रा है, दक्षिणा !

(वह मूर्छित हो जाती है।)

(पटाक्षेप)

तृतीय दृश्य

[मंच पर सहसा अंधकार हो जाता है। जेल का वही प्राथमिक दृश्य उभर आता है। एमन वैसे ही सींखचे पकड़े खड़ा है। वह गहरी साँस लेकर मंच की ओर मुँह करता है। वातावरण यथावत्]

एमन——तो...तो...दक्षिणा ! तुम परसों आयी थीं। शायद है...नव शिशु ...अग्नि ! नहीं अग्निमा... ओ नूतन ! पुरातन को विदा दो...

दक्षिणा, तुमने ही मानव जीवन में प्रेम, घर और परम्परा—इन तीनों से परिचय कराया...कहो क्या कहूँ...तुम्हें ?

(पृष्ठभूमि में जेल के कैदियों की रामधुन सुनायी पड़ती है ।)

(हल्के हँसते हुए) तो कैदियों की प्रार्थना की बेला हो गयी ? ... तो फाँसी...क्योंकि एमन ने विद्रोह किया । जो सब मानते हैं वह यदि आप नहीं मानते तो वह विद्रोह है...इसलिए सब जीते हैं, अतएव आपको फाँसी दी ही जानी चाहिए !

[तभी पुलिस गारद आती है । लखन ताला खोलता है । पुलिस इन्सपेक्टर, जेलर सभी हैं ।]

जेलर—चलिए एमन बाबू !

[एमन बिना कुछ कहे उनके साथ कोठरी से बाहर निकलता है । चार सिपाही आगे, चार सिपाही पीछे हो जाते हैं । गारद को 'मार्च' का हुक्म दिया जाता है । वे मार्च करते हुए चले जाते हैं । कुछ क्षण तक मंच पर खाली कोठरी दिखती है ।

तभी जेल के कांस्य घंटे में पाँच बजते हैं । पुलिस की सीटियाँ । और लखन आँखें पोंछते हुए कोठरी के दरवाजे बंद करता है ।]

(पटाक्षेप)
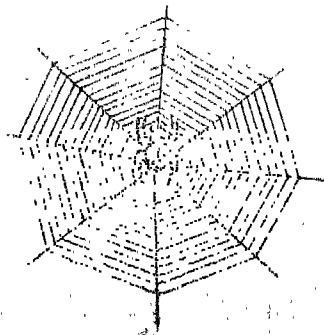
फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

परिचय

फ़ैज़ पचास-बावन बरस के, न पतले न मोटे, मझोले कद के आदमी हैं। नर्म मिज़ाज, बेपरवाह, दोस्त-नवाज़ और उदार-दिल! प्रोफ़ेसरी और प्रिन्सिपली को पीछे छोड़ कर, वे युद्ध के दिनों में दिल्ली के जन-सम्पर्क विभाग में, पहले कैप्टन, फिर मेजर, फिर कर्नल हुए। शुरू ही से राजनीति के बायें बाज़ू से सम्बन्ध रखते हैं। जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया और साम्राज्ञी-युद्ध की सूरत बदली और वह 'जन-युद्ध' हुआ तो फ़ैज़ फ़ौज में गये और जब मित्रराष्ट्रों की जीत के बाद विभाजनोपरान्त बायाँ बाज़ू फिर सरकार के विरोध में आ गया तो वे लाहौर जा कर बायें बाज़ू के मुख-पत्र 'पाकिस्तान टाइम्ज़' के सम्पादक हो गये। वहीं जब एक दिन उन्होंने इस बात की घोषणा की कि पाकिस्तान अमरीका से हथियार ले कर उसे अपने हवाई अड्डे दे रहा है, उन्हें 'रावल पिंडी साज़िश केस' में उलझा कर गिरफ़्तार कर लिया गया और चार साल के सपरिश्रम कारावास का दंड दिया गया। अभी पिछले ही वर्ष वे जेल से रिहा हो कर आये हैं।

बहुत कम ऐसे कवि हैं जो इतनी कम साहित्यिक पूँजी से इतने प्रसिद्ध हुए हैं। फ़ैज़ की कुल जमा-पूँजी दो कविता-संग्रह—'नक़्शे फ़रियादी' और 'दस्ते सबा' हैं, पर इन्हीं दो के बल पर वे वर्तमान उर्दू साहित्य के सब से लोकप्रिय और प्रसिद्ध कवि हैं।

फ़ैज़ का व्यक्तित्व, उनका [illegible], उनका लाउबालीपन, बायें बाज़ू से उनकी मुहब्बत, रूमान और यथार्थ का कुछ अजीब सम्मिलन उनकी कविताओं का ख़ासा है। शेर-ओ-नग़मा, मय-ओ-मीना, महबूब के गाल और उसके गुलाब का ज़िक्र करते-करते वे 'पीप बहती हुई

गलते हुए नासूरों से' तक का ज़िक्र कर जाते हैं और तबीयत को गिरॉं नहीं गुज़रता। शेर पर शेर जमाने, अलफ़ाज़ का तूमार बाँधने वाले जो नहीं कह पाते, वह फ़ैज़ चन्द शब्दों और सतरों में कह देते हैं।

फ़ैज़ ने अपने राजनीतिक विचार इतनी सफ़ाई और अनायासता से अपने शेरों में पिरो दिये हैं कि पढ़ने वाला चकित रह जाता है। उन्होंने उर्दू काव्य को नये शब्द ही नहीं, पुराने शब्दों और प्रतीकों को नये माने भी दिये हैं—'आज़ार' याने बीमारी उनके यहाँ गुलामी और 'नश्तर' क्रांति का प्रतीक हो जाता है, 'इश्क़' और 'मस्ती' आज़ादी के प्रेम और उसके लिए मर मिटने के माने ले लेते हैं।

सम-सामयिक उर्दू कविता पर फ़ैज़ का असर सब से ज़्यादा है।

तनहाई

फिर कोई आया दिले-ज़ार, नहीं कोई नहीं,
राहरौ होगा, कहीं और चला जायगा
ढल चुकी रात, बिखरने लगा तारों का गुबार
लड़खड़ाने लगे ऐवानों में ख़्वाबीदा चिराग़
सो गयी रास्ता तक-तक के हर इक राहगुज़ार
अजनबी ख़ाक ने धुँधला दिये क़दमों के सुराग़
गुल करो शमएँ, बढ़ा दो मय-ो-मीना-ओ-अयाग़
अपने बेख़्वाब किवाड़ों को मुक़फ़्फ़ल कर लो
अब यहाँ कोई नहीं कोई नहीं आयगा

दिले-ज़ार = उदास दिल; राहरौ = राही; गुबार = धूल; ऐवानों = महलों; ख़्वाबीदा = सोये-सोये; राहगुज़ार = पगडंडी; सुराग़ = चिन्ह; मय-ो-मीना-ओ-अयाग़ = शराब-सुराही-प्याले; बेख़्वाब = उनींदे; मुक़फ़्फ़ल कर लो = ताले लगा लो।

रक़ीब से

आ, कि वाबस्ता हैं उस हुस्न की यादें तुझसे
जिस ने इस दिल को परीख़ाना बना रखा था
जिस की उलफ़त में भुला रखी दुनिया हमने
दह्र को दह्र का अफ़साना बना रखा था

आशना हैं तेरे क़दमों से वो राहें, जिन पर
उस की मदहोश जवानी ने इनायत की है
कारवाँ गुज़रे हैं जिन से उसी रॉनाई के
जिस की इन आँखों ने बेसूद इबादत की है

तुम से खेली हैं वो महबूब हवाएँ, जिनमें
उस के मलबूस की अफ़सुरदा महक बाक़ी है
तुझ पे भी बरसा है उस बाम से महताब का नूर
जिस में बीती हुई रातों की कसक बाक़ी है

तूने देखी है वो पेशानी, वो रुख़सार, वो होंट
ज़िन्दगी जिनके तसव्वुर में लुटा दी हम ने
तुझ पे उट्ठी हैं, वो खोयी हुई साहिर आँखें
तुझ को मालूम है, क्यों उम्र गँवा दी हमने

हम पे मुशतरका हैं अहसान ग़मे-उलफ़त के
इतने अहसान कि गिनवाऊँ तो गिनवा न सकूँ
हम ने इस इश्क़ में क्या खोया है, क्या सीखा है
जुज़ तेरे और को समझाऊँ तो समझा न सकूँ

वाबस्ता = सम्बन्धित; दह्र = संसार; आशना = परिचित; इनायत = कृपा; रॉनाई = लावण्य; बेसूद = व्यर्थ; इबादत = पूजा; महबूब = प्यारी; मलबूस = पोशाक; बाम = छत; अफ़सुरदा = मुरझाई हुई; महताब = चाँद; पेशानी = माथा; रुख़सार = गाल; साहिर = जादू भरी; मुशतरका = सम्मिलित; जुज़ = सिवा ।

आजिज़ी सीखो, ग़रीबों की हिमायत सीखो
यास-ो-हिरमान के दुख-दर्द के मॉनी सीखो
ज़ेर-दस्तों के मसायब को समझना सीखो
सर्द आहों के रुखे-ज़र्द के मॉनी सीखो

जब कहीं बैठ के रोते हैं, वो बेकस जिनके
अश्क आँखों में बिलकते हुए सो जाते हैं
नातवानों के नवालों पे झपटते है उक़ाब
बाज़ू तोले हुए मँडलाते हुए आते हैं

जब कभी बिकता है, बाज़ार में मज़दूर का गोश्त
शाहराहों पे ग़रीबों का लहू बहता है
या कोई तोंद का बढ़ता हुआ सैलाब लिये
फ़ाकामस्तों को डुबोने के लिए कहता है

आग सी सीने में रह-रह के उबलती है न पूछ
अपने दिल पे मुझे काबू ही नहीं रहता है

मेरे हमदम, मेरे दोस्त !

गर मुझे इस का यक़ीं हो, मेरे हमदम, मेरे दोस्त
गर मुझे इस का यक़ीं हो कि तेरे दिल की थकन
तेरी आँखों की उदासी, तेरे सीने की जलन
मेरी दिलजोई, मेरे प्यार से मिट जायगी।

गर मेरा हर्फ़े-तसल्ली वो दवा हो जिस से—

जी उठे फिर तेरा उजड़ा हुआ बे-नूर दिमाग़
तेरी पेशानी से धुल जायँ यह तज़लील के दाग़
तेरी मदक़ूक़ जवानी को शफ़ा हो जाये

आजिज़ी = विनम्रता; यास-ो-हिरमान = निराशा और सोग; ज़ेर-दस्त = पद-दलित; नातवानों = कमजोरों; सैलाब = बाढ़।

बेनूर = बुझा हुआ; तजलील = अपमान; मदकूक़ = क्षयग्रस्त।

गर मुझे इस का यक़ीं हो, मेरे भाई, मेरे दोस्त !

मैं तुझे खींच लूँ, सीने से लगा लूँ तुझ को;

रोज़-ो-शब, शाम-ो-सहर, मैं तुझे बहलाता रहूँ;

मैं तुझे गीत सुनाता रहूँ, हल्के शीरीं—

आबशारों के, बहारों के, चमनज़ारों के गीत

आमदे-सुबह के, महताब के, सय्यारों के गीत

तुझ से मैं हुस्नो-मुहब्बत की हिकायात कहूँ

कैसे मग़रूर हसीनाओं के बर्फ़ाब से जिस्म
गर्म हाथों की हरारत में पिघल जाते हैं
कैसे इक चेहरे के ठहरे हुए मानूस नक़ूश
देखते-देखते यकलख़्त बदल जाते हैं
किस तरह आरज़े-महबूब का शफ़्फ़ाफ़ बिल्लूर
यक-ब-यक बादा-ए-अहमर से दहक जाता है
कैसे झुकती है सरे-शाख़ से ख़ुद बर्गे-गुलाब
किस तरह रात का ऐवान महक जाता है

यूँ ही गाता रहूँ गाता रहूँ तेरी ख़ातिर
गीत बुनता रहूँ, बैठा रहूँ, तेरी ख़ातिर

पर मेरे गीत तेरे दुख का मदावा ही नहीं
नग़मा जर्राह नहीं, मूनिसे-ग़मख़्वार सही

शीरीं = मीठा; चमनज़ारों = वाटिकाओं; महताब = चाँद; सय्यारों = नक्षत्रों; हिकायात = कहानियाँ; मानूस = परिचित; नक़ूश = रेखाएँ; यकलख़्त = हठात; आरज़े-महबूब = प्रेयसी के गाल; शफ़्फ़ाफ़ बिल्लूर = स्वच्छ स्फटिक; यक-ब-यक = एकदम; बादा-ए-अहमर = लाल शराब; बर्गे-गुलाब = गुलाब की पत्ती; मदावा = दवा; जर्राह = सर्जन; मूनिसे-ग़मख़्वार = हमदर्द तथा दुख बटाने वाला

गीत नश्तर तो नहीं मरहमे-आज़ार सही
तेरे आज़ार का चारा नहीं नश्तर के सिवा
और यह सफ़्फ़ाक मसीहा मेरे क़ब्ज़े में नहीं
इस जहाँ के किसी ज़ी-रूह के क़ब्ज़े में नहीं
हाँ मगर तेरे सिवा, तेरे सिवा, तेरे सिवा

बोल

बोल ! कि लब आज़ाद हैं तेरे
बोल ! ज़बाँ अब तक तेरी है
तेरा सुतवाँ जिस्म है तेरा
बोल ! कि जाँ अब तक तेरी है
देख, कि आहंगर की दुकाँ पर
तुंद हैं शोले, सुर्ख़ है आहन
खुलने लगे क़ुफ़लों के दहाने
फैला हर इक ज़ंजीर का दामन
बोल ! यह थोड़ा वक़्त बहुत है
जिस्मो-ज़बाँ की मौत से पहले
बोल ! कि सच ज़िन्दा है अब तक
बोल ! जो कुछ कहना है कह ले !

सफ़्फ़ाक मसीहा = ज़ालिम जर्राह = शल्य-चिकित्सक; ज़ी-रूह = जानदार ।
लब = ओंठ; सुतवाँ = पतला सीधा; आहंगर = लोहार; तुंद = तेज़;
आहन = लोहा; दहाने = मुँह ।

प्रेरणा के स्रोत

यशपाल

चाहे जिस उद्देश्य से लिखा जाय, लिख पाने के लिए प्रेरणा का होना तो आवश्यक है ही। लेकिन सभी अवस्थाओं और परिस्थितियों में प्रेरणा का स्रोत एक ही हो या एक जैसा ही हो, यह आवश्यक नहीं। समय-समय पर प्रेरणाएँ बिलकुल अलग-अलग ढँग की हो सकती हैं। कहानी लिखने की ही बात लीजिए। बिलकुल आरम्भ में, जब यह विश्वास और भरोसा नहीं था कि मैं लिख सकूँगा या यह भरोसा नहीं था कि मेरी लिखी कहानी छप कर प्रकाशित हो जायगी और कई आदमी उसे पढ़ कर अपना मतामत निश्चित करेंगे, कहानी लिखने की प्रेरणा हुई ही। उस प्रेरणा ने मन में बराबर उठ कर मुझे कहानी लिख सकने के ढंग का अभ्यास करा लिया। अब अभ्यास हो जाने पर और यह विश्वास हो जाने पर कि मेरी लिखी कहानी कई हजार व्यक्तियों के द्वारा पढ़ी जायगी; बहुत से लोग उसकी आलोचना करेंगे और सम्भवतः बहुत से लोग कहानी से सम्बन्ध रखने वाली समस्या के बारे में मेरे दृष्टिकोण के अनुसार ही सोचने लगें, कहानी लिखने की प्रेरणा का आधार दूसरे प्रकार का हो गया है। संक्षेप में इतना कह सकता हूँ कि आरम्भिक अवस्था में बात को ढंग से या दूसरों के लिए रोचक तरीके से कह सकने की अदमनीय प्रवृत्ति के कारण, जिसे हम अभिव्यक्ति की कामना भी कह सकते हैं, कहानी लिख सकने की प्रेरणा या इच्छा हुई। मन में इस प्रेरणा के बराबर उठने से कहानी लिख सकने के अभ्यास में सहायता मिली। अब जब अभ्यास का भरोसा हो गया है तो प्रेरणा का स्रोत यह है कि मैं सामाजिक या सामूहिक दृष्टिकोण से किसी समस्या की ओर ध्यान खींचना चाहता हूँ या अपने विचार से समस्या का कोई समाधान बताना चाहता हूँ। अब लिखना ही मेरा व्यवसाय है। अपने इस व्यवसाय में जब मैं प्रेरणा का सहयोग ले सकता हूँ तो मैं व्यावसायिक कर्त्तव्य की पूर्ति के साथ ही स्वान्तः सुख की तृप्ति भी अनुभव करता हूँ।

मैंने कहानी लिखने की प्रेरणा के आरम्भिक रूप और व्यवसाय के रूप में कहानी लिखने में, उपयोग की भावना से प्रेरणा की बात कही है। सम्भव है कुछ पाठक प्रेरणा के पहले रूप को स्वाभाविक या हृदय का उद्गार कहें और दूसरे को केवल व्यावसायिक या नैतिक कर्त्तव्य की पूर्ति की भावना बताना चाहें। उसमें उन्हें कृत्रिमता की गंध मालूम हो। मैं इस मत से सहमत नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए यदि हम कहानी 'लिखने' की प्रक्रिया की तुलना 'चलना' की प्रक्रिया से करें तो उपमा अच्छी तरह बैठ सकती है। शिशु पाँव और रीढ़ में शक्ति आते ही चल सकने के अटपटे प्रयत्न आरम्भ कर देता है। वह कभी कदम दो कदम चल लेता है और गिर पड़ता है। वह निरुद्देश्य कभी सामने खड़ी दीवार की ओर, कभी-कभी दरवाजे से उलटी दिशा की ओर चलता है, कभी आँगन के ही चक्कर लगा-लगा कर चलने के उद्गार को पूरा कर, चलने का अभ्यास किया करता है। शिशु के अटपटी चाल से चलने के प्रयत्न से उसके माता-पिता या दूसरे वयस्क लोगों का मनोरंजन तो अवश्य होता है, परन्तु उपयोगिता और फल की दृष्टि से शिशु के इस चलने का परिणाम अभ्यास मात्र ही समझा जा सकता है। लेकिन चलने का अभ्यास हो जाने पर समर्थ और वयस्क व्यक्ति निरर्थक आँगन में कूद-फाँद नहीं करता। वह जब भी चलता है, एक लक्ष्य सामने रख कर, एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने के लिए ही चलता है। हम यह नहीं कह सकते कि शिशु की आरम्भिक चाल तो चलने का निजस्व स्वाभाविक और प्राकृतिक उद्गार है और वयस्क हो जाने पर उसका चलना एक कृत्रिम बात!

लिखना मैं एक सामाजिक कार्य समझता हूँ। उसकी तुलना आप किसी भी दूसरे सामाजिक कार्य से कर सकते हैं। उदाहरणतः आप कहानी लिखने की तुलना मकान बनाने या पुल बनाने के काम या व्यवसाय से कर देखिए। जिन लोगों में सफल इंजीनियर बन सकने के बीज विद्यमान होते हैं, उनकी यह प्रवृत्ति बचपन की चेष्टाओं से ही प्रगट होने लगती है। ऐसे शिशु बचपन में इसी ढंग के खेल खेलना पसन्द करते हैं। वे जमीन में छेद कर लकड़ियाँ गाड़ कर, धागों से पुल बनाते हैं। लकड़ी के टुकड़ों में कीलें गाड़ते हैं और कभी घर की उपयोगी चीजों के पेंच निकाल कर उन्हें बेकाम भी कर देते हैं। लेकिन जब उनकी यह प्रतिभा या प्रवृत्ति पनपने का अवसर पा कर उन्हें अपनी कला का अधिकारी बना देती है तो वे निरर्थक कीलें गाड़ने, पेंच कसने या ढीले करने और कंकर जोड़ कर घरौंदे बनाने के खेल छोड़ देते हैं। वे सोच-विचार कर,

उपयोगिता का लक्ष्य सामने रख कर, इमारतें और पुल बनाते हैं। क्या पाठक यह कह सकते हैं कि इंजीनियर बनने की सम्भावना का अंकुर लिये शिशु के बचपन के निरर्थक तोड़फोड़ के खेल कला के प्राकृतिक स्वाभाविक उद्गार थे और अपने विषय का अभ्यास कर, उस पर अधिकार कर लेने के बाद उसका काम अप्राकृतिक और अस्वाभाविक हो गया है? इंजीनियर बनने की सम्भावना और प्रतिभा के लिए बालक के उस प्रकार के खेलों में जो प्रेरणा रहती है, वह उसे इंजीनियर बनाने में सहायक होती है, परन्तु इंजीनियर बन जाने पर उसकी प्रेरणा का आधार, स्रोत और परिणाम भी बदल जाता है। प्रेरणा में परिवर्तन की इसी प्रक्रिया को हम कवि या कहानी लेखक के लिए भी ठीक क्यों नहीं समझ सकते?

हम यदि लेखक की प्रेरणा के स्रोतों और आधार को उसकी सामाजिक *अनुभूति और समाज के कल्याण में सहयोग की प्रवृत्ति* मान लेते हैं तो फिर उसकी प्रेरणा के स्रोतों को ढूँढने के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। ये स्रोत हमें लेखक की सामाजिक परिस्थितियों में और विशेषकर सामाजिक कल्याण की चेष्टाओं में होने वाली विफलताओं में दिखायी देने लगते हैं। मेरी यह बात मेरी उन रचनाओं, कहानियों और उपन्यासों पर लागू हो सकती है, जिनमें मैंने समाज की वर्तमान अवस्था के प्रति असंतोष की भावना जगा कर आधुनिक व्यवस्था को बदलने की बात सुझाने की चेष्टा की है। परन्तु लेखक सदा असंतोष की ही पुकार नहीं उठाता। हमें अपने आसपास सौंदर्य और आकर्षण भी दिखायी देता है और हम कभी कभी अपनी कलम से उस सौंदर्य और आकर्षण को मानसिक रूप से ग्राह्य बनाने की चेष्टा करते हैं। कभी हमें सौंदर्य और आकर्षण के सुझाव और संकेत मात्र ही दिखायी दे जाते हैं। ऐसी अवस्था में हम इन संकेतों और सुझावों के आधार पर कल्पना द्वारा संतोष पा सकने या सौंदर्य और आकर्षण को अपने समाज के लिए सुलभ बनाने की भी चेष्टा करते हैं। लेकिन इन सब प्रेरणाओं के मूल भौतिक आधार लेखक के चारों ओर या उसके समाज में अवश्य मौजूद रहते हैं। मैं समझता हूँ, यह बात हमारी सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं या कल्पनाओं के बारे में भी सत्य है। उदाहरणतः एक शेर की बारीकी की ओर ध्यान दीजिए :

तसव्वुर में चले आते तुम्हारा क्या बिगड़ जाता,
तुम्हारा पर्दा रह जाता हमें दीदार हो जाता।

सम्भव है कुछ को इस शेर में केवल शायर की बारीक सूझ या कल्पना की

उद्यान के अतिरिक्त और कुछ दिखायी न दे। परन्तु इस बारीक सूझ या कल्पना की सूक्ष्मता का आधार बहुत ठोस सामाजिक भौतिकता है। इस शेर में जिस चित्र या भावना की कल्पना है, उसके जोड़ की कोई बात कालिदास या शेक्सपियर ने कभी नहीं कहा। क्या हम उन कवियों में सूक्ष्म कल्पना का अभाव मान लें? ऐसी सूक्ष्म कल्पना उसी समाज या समय में हो सकती थी, जहाँ पर्दे का ठोस भौतिक तथ्य मौजूद हो।

अभिप्राय यह है कि मेरी प्रेरणाओं का और मेरे विचार में तो सभी सफल लेखकों की प्रेरणा का स्रोत उन्हें घेरे रहने वाली भौतिक, प्राकृतिक और सामाजिक परिस्थितियों, व्यवस्था, आचार-व्यवहार और अन्तर्विरोधों में ही होता है। सम्भव है कुछ लोगों को भौतिक, प्राकृतिक परिस्थितियों और सामाजिक समस्याओं से प्रेरणा पाने की बात ठीक न जँचे। यह भी कहा जा सकता है कि हमें अपनी भौतिक परिस्थितियों और सामाजिक समस्याओं का समाधान अपनी न्याय-बुद्धि और नैतिक भावना के अनुसार करना चाहिए। यह भी सुना जाता है कि अपनी न्याय बुद्धि और नैतिक भावना को तिलांजलि दे कर, जब हम भौतिक आवश्यकताओं से बंधे हो जाते हैं या भौतिकता को ही सब कुछ मान बैठते हैं, तभी सामाजिक विषमता में संघर्ष और अन्तर्विरोध उग्र रूप में प्रकट होने लगते हैं। सामाजिक विषमताएँ हमारे विचारों और प्रेरणाओं की विषमता का परिणाम होती हैं। भौतिक परिस्थितियाँ और समाज की अवस्था स्वयं अस्थिर अथवा परिवर्तनशील है। उनसे पायी गयी प्रेरणा भरोसे योग्य नहीं हो सकती। यदि साहित्य को हम सामाजिक कल्याण का साधन बनाना चाहते हैं तो हमारी प्रेरणा का स्रोत स्थिर होना चाहिए। ऐसी नैतिकता और न्याय-बुद्धि से हमें प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए, जिसे हम चिरंतन शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। ऐसा सत्य अपरिवर्तनशील भौतिक स्थितियों से परे, शाश्वत होना चाहिए। सत्य, न्याय और भौतिकता सम्बन्धी धारणाओं को मनचाहा रूप देने की चेष्टा से समाज कहीं का नहीं रहेगा। हमारे जीवन का मार्ग विचारों से निश्चित होता है। इसलिए प्रेरणा का आधार, परम्परागत सत्य विचार या परम्परागत नैतिक मान्यताएँ ही होनी चाहिएँ।

विचारों से जीवन का मार्ग निश्चित होता है, पहली झलक में और छोटी परिभाषा में यह बात ठीक ही जँचती है, परन्तु मनुष्य-समाज के इतिहास का अनुशीलन और विस्तृत क्षेत्र में जीवन और विचारों के सम्पर्क का अध्ययन करने से बात ठीक उलटी ही दिखायी देती है। हम इस प्रश्न को यों भी रख

सकते हैं कि हमारी चेतना और विचार हमारे जीवन या अस्तित्व का रूप और ढंग निश्चित करते हैं या हमारा अस्तित्व और जीवन का ढंग हमारे विचारों और नैतिकता सम्बन्धी धारणाओं को निश्चित करता है? संक्षेप में यदि मैं कहूँ कि हमारे समाज का जैसा अस्तित्व होता है या मनुष्य के जीवन का जैसा ढंग होता है, उसी के अनुरूप उनकी चेतना, नैतिक धारणा और विचारधारा होती है तो यह अनुभव से उलटा न जान पड़ेगा। इसी बात को ऐतिहासिक रूप से लागू करके यदि तर्क करें तो हम कहेंगे कि यदि समाज के जीवन से पूर्व-निश्चित और मौजूद विचारों से समाज का जीवन निश्चित हुआ होता तो समाज के जीवन में परिवर्तन और विकास की कोई सम्भावना ही न रही होती। इतिहास की साची ठीक इसके विपरीत है। समाज का जीवन भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुसार बदलता गया है और समाज अपने जीवन और अपने लिए आवश्यक व्यवस्था के अनुरूप विचारधारा और नैतिकता को अपनाता गया है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि समाज के जीवन में विचारों का कोई महत्व ही नहीं। उनका बहुत महत्व है। समाज की विचारधारा उसकी भौतिक परिस्थितियों के परिणाम में पैदा हुई नैतिक धारणा होती है, जिसका काम समाज की व्यवस्था को मान्यता देना होता है। इसके साथ ही जब समाज की परिस्थितियाँ और जीवन का ढंग बदल जाने पर भी पुरानी अवस्थाएँ चली आ रही हों तो परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न नवीन विचारधारा का काम नयी व्यवस्था की माँग करना होता है। इसे ही मनुष्य की स्वतंत्रता कहा जा सकता है। परिस्थितियों के अनुसार विचारधारा का निश्चय करने में ही मनुष्य स्वतंत्र है। विचारधारा में परिवर्तन न कर सकना ही विचारों की परतंत्रता है। आज मेरी प्रेरणा का मुख्य स्रोत अपने समाज के लिए विचारों की ऐसी स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न करना ही है।

वृन्दावन लाल वर्मा

●●

बात लगभग सन् १९०८ की होगी। मैं तब ललितपुर के मिडिल स्कूल की कक्षा पाँच या छै में पढ़ता था। अँग्रेज़ी की पढ़ाई तीसरी कक्षा से शुरू हो जाती थी।

पाँचवें-छठे दर्जे में 'भारत का इतिहास' अँग्रेजी में पढ़ाया जाता था। उन दिनों हमें जो पुस्तक पढ़ायी जाती थी, वह मद्रास की ओर के इन्सपेक्टर ऑव स्कूल्ज ई० मार्सडन की लिखी थी। दाम बारह आने से कम न रहा होगा उसका। मैं एक साधारण घराने का विद्यार्थी था, जिसके लिए यह पुस्तक सस्ती न थी।

एक दिन इस पुस्तक में पढ़ा—'हिन्दुस्तान गर्म देश है। गर्मी के कारण यहाँ के निवासी निर्बल हो गये हैं। इसी कारण सर्द मुल्क के लोगों ने यहाँ आ-आ कर हिन्दुस्तानियों को हराया और सताया। अब हिन्दुस्तान किसी से नहीं हारेगा, क्योंकि सर्द मुल्क वाले अँग्रेज यहाँ आ गये हैं। रेल, तार फैल गये हैं और शासन दृढ़ हो गया है। जब अँग्रेजों को यहाँ की गर्मी बहुत सताती है, तब वे ठंडक के लिए शिमला, नैनीताल, उटकमंड सरीखी ठंडी जगहों में चले जाते हैं। बुढ़ापे में इंग्लैंड वापस चले जाते हैं और उनकी जगह दूसरे नौजवान अँग्रेज काम पर आ जुटते हैं। हिन्दुस्तान को आगे कोई नहीं जीत सकेगा।'—मेरी समझ में इसका यह अर्थ आया कि हमारा देश सदा अँग्रेजों की गुलामी में रहेगा। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन इत्यादि इसी गर्म देश में उत्पन्न हुए। फिर भी यह देश निर्बलों का देश! और अँग्रेज यहाँ सदा हुकूमत करता रहेगा। बड़ा गुस्सा आया। पेन्सिल से जोर के साथ उस पन्ने को काटा-कूटा। बहुत बदरंग हो गया था, इसलिए फाड़ भी डाला। जब घर पहुँचा तो मेरे अभिभावक ने पुस्तक देख ली। बारह आने मिटा दिये। मार पड़ी। जब अभिभावक को उस पन्ने के फाड़ फेंकने का कारण मालूम हुआ तब वे पसीज गये। मुझे उन्होंने समझाया, "उस पुस्तक का लेखक अँग्रेज है। बात उसने झूठी लिखी है।"

"पुस्तकों में झूठी बातें भी छापी जाती हैं! तुलसीदास जी ने तो रामायण में कहा है—'सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।' कहाँ तुलसीदास जी, कहाँ वह अँग्रेज!" मैंने कहा—

"अँग्रेज ने अपना रोब जमाये रखने के लिए वैसा लिखा है।" अभिभावक ने बतलाया।

मेरे मुँह से सहसा निकला, "मैं लिखूँगा सच्ची बात।"

सुन कर मेरे अभिभावक हँस पड़े।

सन् १९०५ में जब मैं झाँसी के मैकडॉनेल हाई स्कूल (आज का बिपिन बिहारी इंटर कालेज) की नवीं कक्षा में भर्ती हुआ, तब वहाँ के पुस्तकालय के सम्पर्क में आया। इधर-उधर की पुस्तकें पढ़ने का शौक था ही। एलफिंस्टन की पुस्तक 'भारत का इतिहास' पढ़ने को मिली। इसमें एक प्रसंग हाथ लगा,

महमूद गजनवी के एक आक्रमण का प्रसंग। उस में पढ़ा कि महमूद गजनवी के तीन हजार सवारों को अधनंगे भक्कारों ने, 'पलक मारते' अपनी तलवारों के एक ही वार से मय घोड़ों के चीर डाला। बड़ा विस्मय हुआ। इस गर्म देश के अधनंगे भक्कारों ने 'सर्द मुल्क' के कवचधारी आक्रमणकारियों को पलक मारने में जितनी देर लगती है, उतने समय में मय घोड़ों के चीर डाला। सचमुच मार्सडन ने अपने इतिहास में वह बात हमारा मन गिराये रखने के लिए झूठी लिखी है। उन्हीं दिनों एक पुस्तक पढ़ने को मिली 'India and what it can teach us' लेखक का नाम याद नहीं रहा, शायद मैक्समूलर की कृति है। उसमें लिखा था, 'हम हिन्दुओं से सत्य का पालन सीख सकते हैं।' मैं फूल गया। तो हम ठंडे मुल्क वालों को न केवल हरा सकते हैं, बल्कि उन्हें कुछ सिखा भी सकते हैं। कैसे? यह एक बड़ा प्रश्न सदा मेरे भीतर रहा। फिर १९०८ में वाल्टर स्कॉट, बंकिमचन्द्र इत्यादि के उपन्यास पढ़े। स्कॉट ने स्कॉटलैंड की पृष्ठभूमि को अपना कर लिखा, जिसे वह अच्छी तरह जानता था, तो मैं बुंदेलखंड की पृष्ठभूमि पर क्यों न लिखूँ? स्कॉट का सिद्धान्त था कि कुछ भी लिखने के लिए पहले विषय का पूरा अध्ययन करो, फिर तत्सम्बन्धी स्थानों का अच्छी तरह निरीक्षण करो। मैंने इस सिद्धान्त पर चलने की सदा कोशिश की है। और मैं पूर्व के इतिहास या आज के व्यक्तियों को उनकी बड़ाई के लिए ही नहीं चुनता हूँ। आधुनिक समय की समस्याओं को भी रखता हूँ। समस्याओं का हल स्वयं बहुत कम दे पाता हूँ, पाटकों के ऊपर छोड़ देता हूँ। मनोरंजन के रास्ते से शायद वे मनोवांछित हल पर पहुँच जायँ।

लक्ष्मी नारायण मिश्र

●●

काशी के सैंट्रल हिन्दू स्कूल की आठवीं श्रेणी; साथियों में सर्वश्री पंडित कमलापति त्रिपाठी; डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, पंडित जनार्दन प्रसाद झा द्विज जैसे कितने ही और, जिनके भीतर किशोर वयस की भावनाएँ अँगड़ाइयाँ ले रही थीं। यह बात अब सूझ रही है कि कल्पना के पंखों चढ़ कर उड़ने का नाता किशोर वयस की भावनाओं से है। गाँधी जी का असहयोग आंदोलन जैसे सब कुछ नया कर गया। दूसरे ही वर्ष 'अन्तर्जगत' के रूप में कुछ

ऊपर छन्द लिख डाले और लिख कर पाराडुलिपि प्रसाद जी के यहाँ रख दी। श्री शिवपूजन सहाय और रामवृक्ष बेनीपुरी उन दिनों पुस्तक भण्डार लेहरिया सराय में कार्य कर रहे थे। वे पाराडुलिपि प्रसाद जी के यहाँ से ले गये और इन दोनों महानुभावों ने उसे एक ही रात में 'आज प्रेस' से छपा कर प्रकाशित भी कर दिया।

'अन्तर्जगत' में छन्दों के माध्यम से जो कुछ कहा गया था, निश्चय ही मेरी अठारह वर्ष की आयु के साथ मेल नहीं खाता था। मुझे लगा, कहीं कोई भ्रम है, इस अवस्था के गुण-धर्म और स्वभाव तो दूसरे होने चाहिएँ। दर्शन के पर्दों के भीतर या अनन्त, असीम और ऐसा ही बहुत कुछ व्यक्ति की भावनाओं के रंग में रँगा जा सकता है। पर लोक-भाव का भार इस से नहीं चल सकेगा। कवि व्यक्ति होता ही नहीं, वह तो विधाता होता है, इसलिए अपने मन का न कह कर लोक-मन का कहता है, जिस में व्यापक सृष्टि और जीव धर्म होता है। व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य चाहे उसे छायावाद का नाम क्यों न दे दिया जाय, विडम्बना है। इन्हीं तत्वों ने मुझे व्यक्तित्व प्रधान कविताओं की ओर से खींच कर नाटक की ओर प्रवृत्त किया, जिसमें पात्रों और परिस्थितियों के चित्रण में अपना नहीं, अपने लोक और लोक-जीवन के चित्रण का अवसर था। पहला नाटक 'अशोक' पुरानी पद्धति, कालिदास और भास की नहीं, द्विजेन्द्र लाल राय या उनके मूल शेक्सपियर की पद्धति पर लिखा गया। असम्भव और असंगत घटनाओं से भरा हुआ। असंगति और असम्भव का चित्रण कल्पना के उन्माद में तो बन जाता है, पर जीवन और उसके विविध व्यापारों की अनुभूति में वह सदैव अतिरंजित ही बना रहता है। तब जीवन के स्वर में या जीवन के रंग में सृजन की ओर मेरी रुचि हुई। 'संन्यासी' इसी का फल था। पहले महायुद्ध के बाद यूरोप और अमेरिका के कितने ही गोरे लेखक इस युद्ध के अंत में रंगीन जातियों की ओर से गोरी जातियों पर संकट के दिन देखने लगे थे। इनकी पुस्तकों में इस बात का खुला प्रचार होने लगा था कि संसार की सभ्यता की रक्षा के लिए गोरी जातियों का कर्तव्य है—रंगीन जातियों को अपने अधिकार में रखना! संसार की सभ्यता का अर्थ उनका गोरी सभ्यता से था। कैथेराइन मेयो की घृणित पुस्तक 'मदर इंडिया' उन्हीं दिनों प्रकाशित हुई थी, जिसका व्यापक विरोध इस देश के एक छोर से दूसरे छोर तक चल रहा था। उसके कुत्सित प्रचार और दम्भ का उत्तर 'संन्यासी' के माध्यम से जो कुछ बना, मेरी लेखनी ने दिया था। और यों मेरी प्रेरणा का स्रोत व्यक्ति की भावनाओं के बदले जन-जीवन हुआ!

निबन्ध

प्रभाकर माचवे
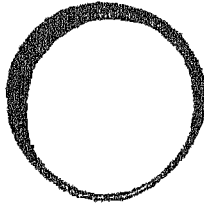
'God is a circle with its centre every where
and circumference nowhere' Emerson (circles)

खुदा कसम, इसके पहले कि ऊपर के गोल को आप आईना समझ कर उसमें मुँह झाँकना शुरू करें, अर्ज कर दूँ कि यह गोल चक्कर—वृत्ताकार मंडल, जो सिरनामे पर दिया गया है, वह मेरे लेख का शीर्षक है। आप चक्कर मत खाइए, अभी इस गोल में आप भी आयँगे। आप पूछेंगे कि आप लेखक हैं या घनचक्कर ? अत्यन्त नम्रतापूर्वक निवेदन है कि एक तो अधिकांश हिन्दी के लेखक वही हैं जिस अभिधा से आपने इस जन को विभूषित किया है। और वैसे भी लेखक बनने से अच्छा घनचक्कर होना है। सो कैसे ? इसकी बड़ी लम्बी कहानी है !

एक बार एक राजा अपने प्रासाद की सबसे ऊपर वाली मंजिल पर पहुँचे। पूरणमासी की रात थी। राजा ने अपने मन को पवित्र किया और रहस्य-चक्र का चिंतन किया। देखते क्या हैं कि पूरब में एक बड़ा भारी चक्र उतरा आ रहा है। वह सीधे आसमान से उतर कर राजा के पास आ गया। अब राजा ने उस पर पवित्र पानी छिड़का और कहा, "जा बेटा, विजय प्राप्त कर !" अब वह बड़ा चक्र है कि पूरब की ओर घूमता चला जा रहा है। नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, फ़ारमोसा—सब में घूमता-घामता वह दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूह में पहुँचा। जहाँ-जहाँ ये चक्र महाराज गये, राजा की सेना उसके पीछे-पीछे चलती गयी। आखिर जादुई चक्कर ठहरा ! उसकी भला कहीं पराजय हो सकती थी ! पूरब के समुंदर में वह चक्कर डूब गया। फिर पूजा-अर्चा करने पर वह जाग पड़ा। फिर वह दक्खिन की ओर गया, फिर पच्छिम की ओर और अंत में उत्तर की ओर। उत्तर की ओर तो वैसे भी चक्करदार पगड़ीवाले 'चक्रम' (सिरफिरे के लिए विशुद्ध संस्कृत शब्द) कम नहीं थे। अंत में वह राजा साहब के महल में

लौट आया। अब वह विजय प्राप्त करे तो किस पर? कहानी का अंत यों होता है कि राजा साहब ने चक्कर को महल के दरवाजे पर गाड़ा और ख़ुद चक्रवर्ती कहलाये। हमारे ख़याल से इस पालि या बौद्ध लोक-कथा का अंत कुछ कम 'कनविंसिंग' है। होना यह चाहिए था कि गोल चक्कर उनके सिर पर बैठ गया और रियासत 'ख़ालसा' हो गयी।

इस चक्करदार कहानी के चक्रवर्ती राजा के चक्कर में तो हम नहीं पड़ते, पर हाँ, बचपन में चक्रवर्ती की अंकगणित जरूर पढ़ी थी। गणित हमारा सब से कमजोर विषय रहा, लेकिन दुनिया में ऐसे-ऐसे गणितज्ञ हुए हैं कि हम जैसे वर्षों चक्रदंड लगायें तो उनकी धूल-गर्द को भी न पहुँच सकें। एक ऐसे ही घनचक्कर थे आर्किमिडीस! यूनान की तीसरी सदी में हुए थे। हजरत ने अपनी मरते समय की इच्छा यह जाहिर की—"किसी भी गोल का पृष्ठभाग और घनफल उस गोल के पास जो वृत्तचिति निकालेंगे, वह उसके पृष्ठभाग और घनफल की दो बटा तीन होती है—इस सिद्धांत-आकृति को मेरी क़ब्र पर बनाना।" क्या सिद्धांत आपकी समझ में नहीं आया? कोई चिन्ता की बात नहीं। हमारी भी समझ में ख़ास नहीं आया। पर कहानी मुख़्तसर यह है कि रोमन सेनापति मार्सेलस ने उसकी इच्छा पूरी की। उसकी क़ब्र पर वह गोल आकृति बन गयी।

अब अपने राम का यह हाल है कि किसी 'गोल' में शामिल ही नहीं होते। इसलिए ऐसी संस्थाओं से कतराते रहते हैं, जिनके पीछे 'मंडलम् मंडलनाम्' हो। जैसे 'आर्ट सर्किल' : कला शून्य! या म्यूजिक सर्किल : 'संगीताचें वाटो के' (वर्तुल और सत्यानाश, दोनों अर्थ मराठी में इसके होते हैं।) बोधि-चक्र, शिल्पी-चक्र इत्यादि। इस गोलमाल से अपन दूर ही भले। पर पं० संस्कृतानन्द शास्त्री जी महाराज से (जो स्वयं गोलमालावतार हैं) जरूर भेंट हो ही जाती है। एक दिन बोले, "वाह, ब्रह्मगुप्त ने चक्रांश का सिद्धांत दिया है। 'साइन' क्या है—हमारी 'ज्या' से बना है।" मैंने कहा, "जी, साइन तो संकेत है!" बोले, "वह साइन नहीं, हम मूनसाइन की बात कर रहे हैं।" और जैसी कि उनकी आदत है, एक श्लोक फटकार दिया। मुझ जैसे 'असंस्कृत' के लिए अर्थ भी बताया—"चन्द्रमा गोलाकार चावल की ढेरी के समान है। वह हर रोज उदय होता है। किसी अमावस्या के दिन ब्रह्मा ने मेघरूपी चक्की में पीस कर उसे चूर-चूर कर दिया। मालूम होता है, जन-कल्याण की इच्छा से सब को संतुष्ट करने वाले उस चूर्ण को ब्रह्मा जी आसमान से कुहरे के रूप में बरसा रहे हैं, जो साफ़ छने आटे की तरह से है!" ब्रह्मा न हुए आटा पीसने की चक्की हुए!

'चाँद और चावल के आटे' का यह जोड़ देख कर तबीयत बाग-बाग हो गयी। इतने में हमारे मित्र कर्नल सरमंडल आये। हम ने उन से पूछा, "कैसे पधारना हुआ?" बोले, "संस्कृतानन्द जी की तलाश में था।"

हम—"काहे?"

कर्नल—"कमांडर के लिए कौन शब्द भारतीय प्रतिष्ठा के अनुकूल होगा?"

हम इस कमंडर—कमंडल—के चक्रमंडल (कठपुतली का नाच) में कभी नहीं पड़े थे, सो चुप रहे। संस्कृतनन्द जी ने फटाफट बताया, "चक्रगोला।" इस संस्कृत के वैभव को देख कर हमें चक्कर आ गया। संस्कृत की देवी भी, जिसके नसीब के चक्कर में हो, उसी को प्रसन्न होती है। शास्त्री जी बोले, "मैंने तो एक वाक्य बना डाला है, बजाय यह कहने के कि डिस्ट्रिक्ट मेजिस्ट्रेट साहब देहात में रथ में बैठ कर जा रहे थे तो सूरज डूब चुका था; आंधी चल रही थी; राह के जंगल में एक सुअर मिल गया; अशोक के वृक्ष के नीचे एक कुम्हार मिल गया। इसे संस्कृतानन्दी हिन्दी में कहें तो यों होगा—"चक्रपाल चक्रपाद में बैठ कर देहात में जा रहे थे तो चक्रबांधव डूब चुका था, चक्रवाल चल रहा था! पथ के कांतार में चक्रदंष्ट्र से भेंट हो गयी। चक्रगुच्छ के नीचे चक्रचर बैठा था!" जय चक्र-पूजा!

देखिए साहब यह चक्कर ही ऐसा है कि कहाँ से कहाँ हम पहुँचते हैं। तांत्रिकों की चक्रपूजा की बात आपने क्यों कर दी? 'गोल मटोल' शब्द का चिन्ह कई जातियों में स्त्री वाचक है। स्त्री का शरीर ही भगवान ने ऐसा गढ़ा है कि उसमें खामख्वाह कई चक्रापत्तियाँ (डाइलेमाज) पैदा कर दी गयी हैं। मसलन कटि के ऊपर की ही बात करें तो—डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'रीति-शृङ्गार' के पृष्ठ २३६ और २७४ पर इसके नमूने मिल जायेंगे। आपका वक्त बेकार क्यों बरबाद करूँ?

पर साहब वे रीति-शृङ्गार वाले वर्णन तो भर पेट लोगों की उड़ानें हैं, जिन्हें फर्स्टक्लास लंच खाने के बाद अपनी प्रिया 'बाजरे की कलगी' सी लगती हो। हम दरिद्रों को गोलाकार चर्चा से न तो भगवान का ध्यान ही आता है, न नारी-अंग-विशेषों का। अपने मन में तो गोलगोल ताँबे और चाँदी (अब चाँदी जैसी कोई और धातु है) के सिक्के नाच उठते हैं। यह और भी इसलिए कि दशमलव पद्धति चालू हो जायगी तो हिन्दी के सम्पादक जो पन्द्रह रुपये पारिश्रमिक देते थे, सौ दस पर चले आयेंगे। इन दिशाओं में इस देश के आनन की माया ही ऐसी है कि आनन-फानन दस-द्वार खुल जाते हैं और एकादशी

करनी पड़ती है। सो इस चक्कर में हम कहाँ पड़े—कहाँ का अंक-शास्त्र और कहाँ का पर्यंक-शास्त्र, कैसा काम-विज्ञान और कैसा निष्काम-ज्ञान !

मगर संस्कृतानन्द जी शास्त्री महाराज जैसे चॉकट आदमी भी हमने नहीं देखे। फिर आ गये, भारतीय संस्कृति का बखान करते हुए। बोले सिफ़र "अरबों की देन नहीं है। हमारे यहाँ था।"

होगा जी ! इस बहस में क्या रखा है कि यह तो शून्य की गणना है, यह भारत से मिस्र में गयी या मिस्र से अरबस्तान में ! या दोनों जगहों से चीन में। या चीन से बाबिलोन में या बाबुल से असुरिया में या असुरिया से वेद में और वेद से वाजसनेमि संहिता में। यह सब एक विराट 'विशस सर्कल' है।

बात शुरू की अंडाकार से और मुर्गी क्या, चूज़े भी हाथ नहीं आये ! हम फिर उसी सोने के अंडे (हिरण्य गर्भ) तक पहुँच गये। हमारे यहाँ भगवान का इस 'गोल-माल' से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। गणेश जी गोल लड्डू खाते हैं, लम्बोदर हैं ही। विनोबा ने तो यह भी लिखा है कि ॐ का उ गणेश का कान है ऽ उनकी सूँड। शंकर जी के सिर पर आधा गोल चंद्रमा है, विष्णु के हाथों में ही चक्र है (चक्रपाणि कहलाते हैं)· ब्रह्मा जी तो अपनी बेटी संध्या का रूप देख कर ही सचमुच में चक्कर खा गये और चतुर्भुज बन गये। देवी के अष्टमातृका रूप में भैरवी चक्र है। यमराज के हाथों में भी एक पाश है जो ९ के आकार का है, तभी उस में एक गोल रस्सी जैसी है और हम '९९ के चक्कर में पड़ गये।' कृष्ण का रास-'मंडल' मशहूर है और बुद्धावतार में तो विष्णु ने 'शून्यवाद' का ही प्रचार किया।

तो अपने मित्र 'अश्क' का तकिया कलाम दुहरा दूँ—"दुनिया फ़ानी है !" यह सब विद्वत्ता, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला, वाद-विवाद, सब उस वृत्त से घिरे हैं जो कि अंततः स्वर का और राग का वृत्त है; जो हमारी 'घट-घट की गोपी' ने नहीं सुना है। नन्दक नन्दन, 'कदम्बक तरुतर' बैठ कर धीरे-धीरे मुरली बजा रहा है। यह 'समय-संकेत' हमने नहीं सुना है। इसी की यह सब चक्करबाजी है 'जनम-जनम के चक्रफेरे लग रहे हैं।' अर्धवृत्त अर्धवृत्तों से मिलने को छटपटा रहे हैं—कान्वेक्स और कान्केव का ध्यान नहीं है। वरना इस का गोल बुद्बुद फूट जाने दो, गुब्बारे की फूँक निकल जाने दो, बचना क्या है ? संत कह गये हैं—

'सुन्न में से सुन्न घटाया, सुन्न आया हाथ !'

विद्यानिवास मिश्र
●●

पूर्णमदः पूर्णमिदम्

'पूर्णमदः' अर्थात् वह पूर्ण है, यहाँ तक तो कोई बात नहीं, पर 'पूर्णमिदम्' अर्थात् यह पूर्ण है, इस सम्बन्ध में एक गहरा विप्रश्न है। यह विप्रश्न मेरे मन में है और साहित्य नामक वस्तु से सरोकार रखने वाले हर एक प्राणी के मन में है। मेरे सामने इस विप्रश्न के कई मूर्त रूप आये हैं, एक रूप यों है। प्रयाग में मुझ से अहेतुक स्नेह रखने वाले एक साहित्यिक दम्पति रहते हैं। उनके घर कला-कृतियाँ बहुत सजा कर रखी गयी हैं। आजकल के फ़ैशन के अनुसार भगवान बुद्ध की प्रतिमा है, सूली पर चढ़ते हुए ईसा का भावव्यंजक मानवीय चित्र है, एक बहुत बड़ी कौड़ी पर हिन्देशियाई चित्रकारी की बानगी है और प्रयाग के ही महिला कला भवन का चमत्कार, एक अल्पनांकित मंगल कलश है, पर खूबी यह है कि वह कलश रीता है। मैंने पूछा कि भाई मंगल कलश और रीता क्यों ? मित्र की पत्नी दर्शनशास्त्र पढ़ती हैं और उन्होंने दार्शनिक उत्तर दिया कि भाई साहब, आप मज़ाक तो नहीं कर रहे हैं, आखिर खाली घड़ा रखने से क्या हो जाता है ? मित्र कवि, आलोचक और लेखक तीनों एक साथ हैं, उन्होंने सफ़ाई देते हुए कहा कि भाई यह कलश कभी अन्नत से परिपूर्ण था, पर चूहों के भय से इसे खाली कर दिया। मैंने कई बार अनुरोध किया कि भाई अक्षत न सही, गंगाजल या गंगाजल न सही कूपजल ही भर कर इसे रखा करो ! पर यह अनुरोध अनसुना ही रहा, क्यों अनसुना रहा, इसका जवाब आज का साहित्य है। किसी को दोष क्यों दूँ ? पूर्णता से परिचित होना भी जब गुनाह समझा जाता हो, तब पूर्णमदः की कल्पना भी भार जान पड़ेगी, पूर्णमिदम् की तो चर्चा ही क्या !

एक दूसरा रूप भी मेरे सामने है। मैं अपने गाँव से जब लौटने को होता हूँ तो दध्यक्षत का तिलक लगा कर ज्यों ही देहरी के बाहर पैर रखता हूँ, त्यों ही मेरी बूढ़ी दादी अंचल का एक सिरा माथे पर लगाये आगे-आगे दौड़ती जाती हैं—घड़ा भर के ठीक दायें रखा है कि नहीं, कहीं छूँछा गागर तो मुँह बाये नहीं पड़ा है, अगर पड़ा है तो उसे तुरन्त औंधा देंगी। और मैं सोचता हूँ कि दोनों संस्कारों में कितना अंतर है—प्रयाग के सुसंस्कृत साहित्य भक्तों का सुभीते वाला यह मंगल

साज और गाँव की अनपढ़ बुढ़िया का वह अप्रतिहत मंगलबोध ! एक को सजा हुआ रँगा-चुंगा कलश खाली हो या भरा हो, इसमें कोई अंतर नहीं दिखता, दूसरे को अपने रास्ते में साधारण घड़े का भी खाली रहना बर्दाश्त नहीं होता। वैसे ज्ञान दोनों को है कि 'अपूर्णमिदम्' पूर्ण नहीं है। एक सोचता है—'पूर्णमिदं' की कामना ही क्यों की जाय, दूसरा सोचता है—नहीं 'इदं' अगर हो तो पूर्ण हो, नहीं तो उसकी इयत्ता ही न रहे।

तब मैं सोचता हूँ कि आज दादी जिस घड़े को औंधा रही हैं, क्या वह ऐसा ही सदा से रहा है ? सहसा मेरे मन में उस का वह पूर्वरूप उद्भासित हो उठता है, जब वह मंगलघट रहा होगा। किसी सुहागिन ने इस पर पुरइन के पात और कमल के फूल रँगे होंगे और उस सुहागिन का न जाने कितनी सुहागिनों और कुल कन्याओं ने धान से भरी अंजलियों से 'परिछन' किया होगा। उस घट के ऊपर न जाने कितने तरुण उल्लास सौ-सौ बार न्योछावर हुए होंगे। आम्र पल्लवों की वन्दनवार से वलयित हरे बाँस और रंग-बिरंगे सरपत के मण्डप की छाया में, अबीर कुंकुम और अक्षत की वेदी पर उसकी प्रतिष्ठा हुई होगी ! उसमें गंगा-यमुना लहरायी होंगी, नदियाँ बुलायी गयी होंगी, सागर न्यौता गया होगा और जल का राजा वरुण पधराया गया होगा। उसकी पूर्णता पर धरती ने अपने सप्त धान्यों की अंजलि भरी होगी। चन्द्रमा ने दीप जलाया होगा। गोंठे हुए घट के चारों ओर उकसे यवांकुरों को मन्त्रों के अभिषेक ने जीवन की शतमुखी वाणी दी होगी। उस घट की साक्षी में दो अधूरे जीवन घट मिल कर पूरे हुए होंगे, उसके रस-सिंचन से कुल-वधुओं का सुहाग बढ़ा होगा, अमृत पुत्रों का पौरुष स्फीत हुआ होगा। पर आज वह छूँछा है, इसलिए वह मंगल घट नहीं अमंगल भरी छूँछी गागर है। उसका इतिहास उसके ऊपर की चित्र विचित्र अल्पनाओं के साथ न जाने किन कुओं और पोखरियों में डुबाया जा कर एकदम धुल गया है। बहुत दिनों तक वह निदाघ की ज्वाला से तृषित कण्ठों को शीतलता देता रहा, पर कब उसके चारों ओर काई लगने लगी, कब वह कुएँ के भी स्नेह-सत्कार का अपात्र बन कर गड्ढी का पानी पीने लगा, कब उसमें ठीकरी की ठोकर से भी सूराख हो गया और वह सूराख धीरे-धीरे कपड़े के लत्ते के बूते के बाहर हो गया—यह सब इतिहास की बातें हैं, पर वह एक दिन औंधा कर दरवाजे के ठीक एक किनारे रख दिया गया, यह एक ज्वलन्त सत्य है। कौन कह सकता है कि यह घट वही है और कौन सोच सकता है कि यह वही मंगल-कलश है, जिसको देख कर आनन्द का सिन्धु उमड़ आया था; जिसके मंगल की प्रेरणा ने मनुष्य की चिन्तन-धारा

को एक शाश्वत उपमान दिया; जिस की पूर्णता ने कवियों के लिए यौवन का अनुपम प्रतीक दिया था, जिसके निर्माण ने इतिहास को उसकी आधार-शिला दी थी और जिसके एक अभिधान-घट में एक महान् देश की समग्र संस्कृति अभिव्यंजित हो गयी।

इतिहास की मिट्टी को भाषा-शास्त्र के जल से स्नान करा, काव्य के मानवीय संस्पर्श ने जिसे वेदान्त के चाक पर पार्थिव आकार दिया, न्याय के आँवा में जो पक कर तैयार हुआ, उस घट को घट-घट वासी ने अपनाया और उनकी बुद्धि अघटित-घटना-घटीयसी कहलायी। उस घट के पार्थिव बन्धन में कभी आकाश समाया, सागर भर आया और कभी उसमें अमृत छलक आया। आज उसके गले में मृत्यु बाँधी गयी है। उसने वैशाख की दुपहरी की चिलचिलाती धूप में सन-सनाती लू के बीच पनघट की बस्ती गुलजार की होगी और उसी ने भादों की अँधेरी रैन में कदम्ब की घनी छाँह में जमुना के रपटते हुए घाटों पर स्वयं परब्रह्म को परिरम्भ दिया होगा। आज वह जमुना के स्नेह से, कुएँ के स्नेह से, पनघट के स्नेह से, मंत्र की पवित्रता से, गीत की मधुरता से तथा जीवन की पूर्णता से वंचित हो गया। वह गड़ही में डूब मरने चला और गड़ही ने भी उसे ऊपर फेंक दिया। यह घटना-क्रम आज समझ में नहीं आ सकता। आज तो छूँछी गागर गाँव में औंधी और शहर में उतान पड़ी है। गाँव उस के छूँछेपन से शर्मिन्दा है, शहर उसके रीतेपन पर मुग्ध है। गाँव तो उस के छूँछेपन पर कम से कम दो बूँद आँसू गिराता ही है, पर शहर के पास एक फीकी-सी हँसी भर है। गाँव को इसका अनुताप है कि गागर की सार्थकता थी सागर बनने में और सागर बन कर मोती उपजाने में, पर यह गागर अपने में सागर भरने की बात क्या करे, अपने को सागर तक पहुँचा भी नहीं पायी। सागर में जा कर यह फूट भी जाती तो यह धन्य हो जाती और सागर भी धन्य हो जाता। बिना घट का आलिंगन पाये सागर अपनी असीमता नहीं पाता। शहर को घट की रेखाओं से मतलब है, ये रेखाएँ जहाँ मिल जायँ, वहीं उसकी ललक है, पर रेखाओं में जो चीज़ बँधती है, उसका स्पर्श-सुख उसे नहीं मिला। गाँव में रहने वाला सब कुछ बहा ले जाने वाली सरिता में मैया का दुलार पाता है, शरद की बारि लेने वाली मिट्टी की सोंधी उमाँस में प्रेयसी का स्पर्श पाता है, अपने टूटे-फूटे घर के भीटे को फोड़ कर निकले हुए पीपल में वंश का गौरव पाता है और अपने शोषक के दरवाजे पर युगों से तने हुए बरगद में पिता की घनी छाँह पाता है; पर शहराती आदर्शों का न कोई माँ है, न प्रेमिका है, न पुत्र है, न पिता है! क्योंकि वह वीतराग है या और भी सही

रूप में वीतराग है। उसकी ममता, उसका स्नेह, उसकी वत्सलता, उसके अपने उपयोग के लिए नहीं, यहाँ तक कि इन सब को अर्पित करने या न्यस्त करने के लिए भी वह कोई पात्र नहीं पाता। वह सीधे इन सब चीजों का सौदा करता है, मँहगे या सस्ते इन्हें बेच देता है और अगर कभी रोजमर्रा की जिन्दगी में इन में से किसी चीज की जरूरत पड़ती भी है तो वह खरीद कर या उधार ले कर काम चलाता है। शहर में इसका बड़ा सुभीता है। ईमान, सत्य, प्रेम, त्याग, सम्मान, इन सभी चीजों का बँधा हुआ रोजगार चलता है। मजा यह कि नगद भुगतान नहीं होता, चेक या हुण्डी ही का चलन है, बहुत ही सुरक्षित हिसाब-किताब है। आपने ईमान बेचा सौ रुपये का और उसकी क़ीमत आपके त्याग के जमा-खाते में चढ़ गयी। आपने त्याग-खाते से पचास रुपये भुनाने चाहे, आपको पचास रुपये के सम्मान का चेक मिल गया। बड़ा ही सीधा और पाक-साफ़ हिसाब है! देहाती आदमी इस व्यावसायिक लेन-देन को जीवन की निःस्वता और मनुष्य का खोखलापन समझता है, पर शहरी संस्कारों वाला व्यक्ति देहात की इस मंगल-भावना को एकदम काल्पनिक और निरर्थक समझता है। उसकी बौद्धिकता शून्य के अभिमान में चूर रहती है। उसे पूर्ण के अस्तित्व का कभी भान नहीं होता।

आज का शहरी अर्थात् अभिजात संस्कारों वाला प्राणी और उसका पक्षधर अभिजात साहित्यकार कालिदास के कुमारसम्भव की उन पंक्तियों को जिसमें पार्वती घड़े से पौधों को ऐसे सींचती हैं, मानो माँ स्तन्यपान करा रही हो, हब्शीपने की निशानी समझता है, इसलिए वह कोरी रेखाओं के उभार की बात करता है। वह छै महीने अथक गति से चलने वाले महारास को कल्पना की जंगली रंगीनी समझता है, क्योंकि एक क्षण में उसका आनन्द पर्यवसित हो जाता है। नागर प्रतिभा—महिला कला भवन की चित्रकारी में ही घट की शोभा को परिपूर्ण मान लेती है, क्योंकि उसके पास इतना धीरज नहीं कि उसे सिर पर रखे, उसे कमर पर रखे, रख कर कुएँ तक जाय, उसके गले में डोर डाले, कूप की गहराई थहाये और सँभाल कर उसे भरे, भर कर बाहर निकाले, फिर एक अदा के साथ उसे उठाये, एक गीत के साथ उसे उतारे और एक मिठास के साथ उसे रखे। उसे यह कभी भान नहीं हुआ कि यह पूर्ण है, उसे पूर्ण होना पड़ेगा। यह विराट् ब्रह्माण्ड, यह विराट् मानव-संसार और वह विराट चराचर जगत परिपूर्ण है, उसकी 'अस्मिता' उसकी 'इयत्ता' यदि अपने को इस विराट् अस्तित्व के समक्ष खड़ा करना चाहती है, इस अस्तित्व को अपने में समेटना चाहती है तो उसे अपने को खाली नहीं रखना होगा, उसे अपनी गागर भरनी होगी।

गागर भरने की वेला बीती जाती है। सांझ हो आयी, संन्ध्या ने अपनी रंग भरी गागर पश्चिम जलधि में डुबोयी, पश्चिम क्षितिज उसके रंग से सराबोर हो उठा! यह लो, नागर संस्कृति इन रंगों में ही खो गयी, उस की एक गागर लुढ़कती चली जा रही है, पल भर में ही वह अतल समुद्र में चली गयी, दूसरी गागर जैसे-तैसे उसने भरी, दो पग चली कि अपने दिवास्वप्नों में वह फिर डूब गयी— पथ की चट्टानों ने ठोकर दी, वह गागर भी जमीन पर आ रही। पर हाय री आत्मवंचने! उस गागर की ठीकरियाँ अंचल में भर लेने से कहीं गागर बन जायगी या घर जा कर उनके कपाल रख देने से गागर भरने की इतिश्री हो जायगी!

मैं स्वयं ही इस आत्मवंचना का शिकार हूँ। देहात की परितृप्ति भरी जिन्दगी आज मेरे लिए मृग-मरीचिका है, मैं स्वयं शहर के अभाव में पल रहा हूँ और बात ऐसी कर रहा हूँ कि देहात का वकालतनामा मेरे ही नाम लिखा हो। सही बात यह है कि शहर की आलोचना मैं नहीं करना चाहता, शायद इसलिए कि उसी शहर में मेरे मित्र-साहित्यिक दम्पति रहते हैं, इसका खयाल हो या शायद इसलिए कि शहर में आ कर बराबर मैं जो विछोह अनुभव करता हूँ, उसकी सघनता हो या शायद इसलिए कि मैं यह जानता हूँ कि आज देहात के कूप-तड़ाग भी शहर की अनुकम्पा के मुखापेक्षी हो गये हैं, इसलिए घट और घट भरने की कला मालूम होने पर भी जहाँ से जल भरा जाना है, वे स्थान शहर की मेहरबानी से ही प्राप्त हैं। किन्तु जिस तीव्र गति से हमारा भरापुरा राष्ट्र-शरीर भीतर से खोखला होता जा रहा है, उस से गाँव की जड़ भी अछूती नहीं है। यह अन्तःक्षय बाहर की किसी सुई से नहीं रुक सकता, शरीर की अन्तः शिराओं का प्रवाह ही उसको रोकेगा, प्रवाह नहीं परिप्लावन! क्योंकि भीतर-भीतर एक नहीं शत सहस्र कोटर बन गये हैं, जब तक वह परिप्लावन नहीं होता, तब तक रचनात्मक कार्यक्रम भी वचनात्मक जंजाल ही होता जायगा और शारीरिक श्रम भी एक नारा बन कर ही रह जायगा।

यह परिप्लावन 'पूर्णमिदम्' का बोध ही नहीं, बल्कि उसकी निरन्तर भावना ही है। हम जो कर रहे हों, वह अपने में पूर्ण हो जाय, हम बाँध बाँधने के लिए कुदाली उठायें तो हमारा निर्माण हमारे श्रम का उत्तर दे, फोटोग्राफर द्वारा खींची हुई श्रमदान की तसवीर हमारा उत्तर न बने। हम जो गा रहे हों, वह अपने में समग्र हो, हमारे गीतों को किसी दूसरे से टेक का आसरा लेने की अपेक्षा न रहे। हम जो सोचें उस में पूरा विश्वास भरा हो, राम खुदैया का संशय हमारे चिन्तन को न सतावे।

मेरे समष्टिवादी बन्धु शायद यहाँ टोकें कि अपने में पूर्ण हो, यह तो व्यष्टिवादी स्वार्थपूर्ति की बात हुई, समूह का हितचिन्तन इस में कहाँ हुआ ? मैं उन्हें यही जवाब दूँगा कि व्यष्टि की 'इदम' की यह पूर्णता ही समष्टि की 'अदः' की पूर्णता को अभिव्यक्त करती है। जब कलश में जल भरा जाता है तो उस जल में सागर की सरिताओं की और जल के अधिष्ठाता वरुण की भावना की जाती है। स्वयं इस पूर्ण कलश में त्रिभुवन और त्रिदेव की प्रतिष्ठा की जाती है। हमारी व्यक्तित्व की पूर्णता की परिकल्पना है, अपनी पूर्णता को समष्टि से तद्रूप बनने के लिए साधन बनाना, हाँ इस तद्रूपता की जो विधि है, वह सब के लिए एक नहीं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की अलग विधि है, प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से उस पर आचरण करने के लिए स्वतन्त्र है। यह विधि ऊपर से या बाहर से आरोपित नहीं की जाती। व्यक्ति की पूर्णता और समष्टि की पूर्णता में कोई अंतर है तो इतना है कि 'पूर्णस्य पूर्णमादय पूर्णमेवा वशिष्यते' व्यष्टि की पूर्णता को समष्टि की पूर्णता से अलग कर देने पर भी उसकी पूर्णता जैसी की तैसी बनी रहती है। समष्टि को व्यष्टि की पूर्णता से नहीं, अपूर्णता से भय है, क्योंकि रिक्तता को कहीं भी अवकाश मिला तो वह फैलती ही चली जाती है। हमारे यहाँ समष्टि की कल्पना परब्रह्म में अन्तर्भूत हो गयी और परब्रह्म ब्रह्माण्ड का एक कोना भी रीता नहीं छोड़ते। आकाश, जिसे शून्य कहा जाता है, उसको भी अपने अक्षरनाद से, बाँसुरी के स्वर से परिपूरित करते रहते हैं, आकाश से भी अधिक अगोचर है मानव का मन, उसको प्रेम से परिपूरित करते रहते हैं।

तो मैं भी आशा करूँ कि मेरे साहित्यिक मित्र का कला-कलश मंगल वारि से परिपूर्ण होगा और गाँव की बुढ़िया दादी को भी छूँछी गागर औंधाने की विवशता न रहेगी, क्योंकि यह रीतापन केवल तब तक है जब तक देश की कुण्डलिनी सोयी हुई है, इडा और पिंगला की धाराएँ अलग-अलग हैं, छहों कमल सम्पुटित हैं और कुज्झटिका घेरे हुए है। पर हमारा जीवन घट परिपूर्ण हो कर रहेगा, विश्व के लिए मंगल-प्रतीक बन कर रहेगा, क्योंकि उसके चारों ओर यह मंत्र मुखरित है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा वशिष्यते ॥

ॐ शांति-शांति-शांति

दुष्यन्त कुमार

आंधी और आग

अब तक ग्रह कुछ बिगड़े-बिगड़े से थे इस मंगल तारे पर
नयी सुबह की नयी रोशनी हावी होगी अँधियारे पर
उलझ गया था कहीं हवा का आँचल जो अब छूट गया है
एक परत से ज़्यादा राख नहीं है युग के अंगारे पर

धर्म

तेज़ी से एक दर्द मन में जागा
मैंने उसे रोक लिया,
छोटी सी एक खुशी ओंठों पर आयी
मैंने उसे फैला दिया
मुझको संतोष हुआ
और लगा—हर छोटे को बड़ा करना धर्म है।

तीन टुकड़े

दृष्टि और पुस्तक के पन्नों बीच खड़ी दीवार सरीखी,
मैंने जब-जब देखा प्रेयसि, मुझको मूर्ति तुम्हारी दीखी,
भावशून्य खंडहरों सदृश आँखें, बीमार बालकों सा मन
बुझते दीपक सी उदास ज़िन्दगी, जवानी फीकी फीकी।

तरस रहा है मन फूलों की नयी गंध पाने को,
खिली धूप में, खुली हवा में गाने मुसकाने को,
चारों ओर उठी है जो ये बंधन की दीवारें—
ये दीवारें ही कहती हैं बाहर आ जाने को !

थके हुओं के बीच गीत गाने को मन होता है,
युवा कंठ की शक्ति आज़माने को मन होता है,
जहाँ बरसते नहीं, प्यार क्या, करुणा के भी बादल
टूट-टूटकर वहाँ बिखर जाने को मन होता है।

उसे क्या कहूँ ?

किन्तु जो तिमिर-पान
औ, ज्योति-दान
करता करता बह गया
उसे क्या कहूँ
कि वह सस्पंद नहीं था, ?
और जो मन की मूक कराह
ज़ख्म की आह
कठिन-निर्वाह
व्यक्त करता करता रह गया
उसे क्या कहूँ
गीत का छंद नहीं था, ?
(पगों की संज्ञा में है गति का दृढ़ आभास !)
किन्तु जो कभी नहीं चल सका,
दीप सा कभी नहीं जल सका,
कि यूंही खड़ा-खड़ा बह गया
उसे क्या कहूँ
जेल में बन्द नहीं था ?

रामदरस मिश्र
●●

शाम

इन दिनों क्या हो गया है शाम को ?
जो लौट आती रोज़ ही कुछ समय के पहले !
बदलियों सी कभी दिन भर घिरी रहती—
भुजाओं में,
नयन, ओठों, शिराओं में,
बिछा देती गहन हिम की शिलाएँ-सी —
इन दिनों क्या हो गया है शाम को ?

शाम भी यह—
बहुत बरसों की पुरानी शाम है !
किन्तु तब घिरती नहीं थी यह दिवस में, रात में ।
जब शाम आती थी—
तभी कुछ कुछ हृदय में बोझ-सा महसूस होता था !
इन दिनों क्या हो गया है शाम को ?

पंख फड़काती हुई यह शाम—बोझिल पंख
जब आती उतर अंगार सी मेरी दहकती पुतलियों पर
अनगिनत धुँधले विवश चेहरे लटक जाते गगन में
जो कि फाँसी-तख्त सा फैला पड़ा है ।
ये अतन, धुँधले, विवश चेहरे मुझे क्यों घूरते हैं ?
कह रहे जैसे कि पहचानो !
मुझे लगता कि इन मासूम चेहरों को,
कि इन असमय बुझे हँसते चिरागों को,
कि इन मसले गये अनखिले गुलाबों को,
निकट से जानता हूँ !

बहुत दिन से जानता हूँ !
सबों को पहचानता हूँ—
यों कि ये जैसे सगे अपने ।

पास ही अंधी गुफा में मच रहा है अजब कोलाहल !
सरकती घुटी साँसों का,
तड़पते बुझे रागों का !
जा रहा हूँ डूबता उठते हुए कोलाहलों की बाढ़ में !
है लग रहा जैसे—
कि हर घुटती सरकती साँस को,
हर टूटती आवाज़ को,
हर छटपटाते राग को,
पहचानता हूँ—
यों कि ये जैसे सगे अपने !

कभी रातों में अचानक
शाम यह आती उतर है,
जागते में, नींद में, हर स्वप्न में !
तब कहीं घंटों इसे मैं झेलता हूँ ।
वही आवाज़ें, वही चेहरे, वही मैं औ' वही यह शाम—
नींद आ पाती नहीं है !
तिमिर में आंखें मुँदी होकर खुली रहतीं,
कि रह रह देखती हैं—
छटपटाते फिर नये सपने !
कि मेरे आसरे की बाट बैठे
आठ-दस अपने सगे-ग़मगीन-से चेहरे;
कि मेरे बाज़ुओं की छाँह से आशा लगाये
एक नन्हा खिलखिलाता फूल;
मेरी थकी-मन्द कलाइयाँ पकड़े डगर चलती मुलायम कुछ अँगुलियाँ
इन दिनों क्या हो गया है शाम को ?

कौन है वह,
जो अँधेरे में छिपा बैठा
निशाना साधता मुझ पर ?
कि जैसे ही किनारा पास आता है—
चला कर तीर
मेरी भुजाओं में जख़्म कर देता !
कि जैसे ही विहग नव-स्वप्न के हैं खोलते चोंचें चहकने को
चला कर शर विषैले विद्ध कर देता—
कौन है यह जो कि अपने तीर की ध्वनि से
गहन कर दे रहा है शाम की साँसें ।

ओ शाम,
ओ अँधेर में छिपे कायर अहेरी !
नहीं मेरा दर्द सब दिन को रहेगा !
नहीं मेरी यह विवश असहायता जीवित सदा को !
अभी बीमार हूँ तो क्या ?
उड़ूँगा एक दिन !
तब सुबह की ताज़ी हवाएँ खुशबुओं से मुझे धो देंगी
खुली हरियालियाँ मुझको पुकारेंगी !
और ओ प्रत्यूह पथ के !
मैं तुम्हारी गरदनों को
तोड़ दूँगा !
शेष तुम रह जाओगे बस एक काली याद—
इन दिनों क्या हो गया है शाम को ?

मेरा कमरा

बन्द कर लो द्वार
कोई आ न जाये
यह घिरा सुनसान कमरा है

जहाँ मैं खुली ताज़ी हवाओं में तैरता
हर शाम चू पड़ता विवश के अश्रु सा
चुपचाप !

यह घिरा सुनसान कमरा है—
जहाँ मेरी रोज़ की टूटी, जमी ये धड़कनें
फूलों-धुली हर साँस पर आ लेट जातीं;
जहाँ कोनों में लगे जाले, थकी मांदी दरारें,
जहाँ छत के सभी बिखरे रंध्र,
रंध्रों से झुकी दीवाल पर
जल की लकीरें,
जहाँ कच्चे फर्श की घन-सीड़
मेरी टूटती आवाज़ के हमदर्द हैं;
जहाँ कलई-धुले बरतन चार थे—
मेरी अँगुलियों का परस पहचानते हैं;
जहाँ का अवकाश
मेरे हर मुलायम स्वप्न की
अंतिम पुकारें पी गया है।
यह वही जंगला—
जहाँ से बार-बार बसन्त झर कर
उधर तिमिराच्छन्न कोने में पड़े खाली कनस्तर में गया है डूब !

यह वही छत—
जहाँ रातों में पुतलियों ने लिखे
कितने रँगीले नाम, गीले नाम
जो लिप-पुत गये हैं—
उठे चूल्हे के धुएँ से
देव मन्दिर पर लिखी
असफल मनौती से !
मेरा यह घिरा सुनसान कमरा है—
जहाँ मैं हूँ महज़

हर रात मैं हूँ
कटा बाहर की धरा से ।

पर घिरा सुनसान यह कमरा
नहीं मेरी समूची ज़िन्दगी है ।
हर दिवस है तोड़ देता
ज्योति-धारा से अकेलापन
कि जिस में अगिन लहरों संग
मैं बहता
नहीं कुछ भी वहाँ
आबद्ध या कि असह्य--- !

लेकिन इस घिरे सुनसान मेरे कक्ष में
मेरा अकेलापन
यहाँ का दर्द मेरा है
मेरे दर्द की सुनसान तसवीरें
भला क्यों दूसरा देखे ?
मेरे दर्द के झोंके हिमानी ये
किसी को क्यों कँपा जायें ?
बन्द कर लो द्वार,
कोई आ न जाये !

कीर्ति चौधरी
●●

लता

'वृक्ष तो दूर है भला कैसे चढ़ेगी ?
फिर बिना कुछ सहारे लता क्योंकर बढ़ेगी ?'
'अरे फैली है धरती निस्सीम,

और चेतन की प्रकृति तो विकास है,
बढ़ेगी,
फूलेगी,
शिरा-शिरा गमकेगी, आस है।
पुष्पमयी फलदायिनि अक्षम किस अर्थ में
सुषमा को आश्रय में पाले क्यों व्यर्थ में ?'

......कई दिन बीते, सुधि भूली
पर अचानक ही एक साँझ देखा—
अंग-अंग मुकुलित
नत कोमल करों को बढ़ा,
लता ने वृक्ष को दूरी सब नाप ली।
पात-पात, डाल-डाल,
सक्षम दृढ़ तरु विशाल
लता कुंज आवृत था।
श्रांत क्लांत जीवन का,
साध्य ज्यों कृत था।

गोधूली वेला में सहसा सब बदल गया—
लगा शून्य—अहम्—स्पर्धा, आडम्बर है
प्रणति—नमन, जीवन का एक मूल स्वर है।
धारा उद्दाम हर सागर की अनुवर्ती
मुकुलित हर पंखड़ी अर्पित होकर झरती
जीवन की गति ही बस केवल समर्पिता
एक टेक, एक छाँह, अर्पित हर गर्विता !

अनुपस्थिति

सुबह हुई तो
सूरज फीका-फीका निकला।
वातायन की हवा नहीं गाती थी गीत।

सजे हुए गुलदानों के रक्तिम गुलाब,
क्या जाने क्यों पड़ते जाते थे,
प्रतिक्षण पीत।

बाहर बिखरा
क्षितिज शून्य मुझसे निस्पृह था।
आकर्षण भी नहीं, न था कुछ आमंत्रण।
चित्रलिखी-सी सज्जा दीवारों-पर्दों की,
आप लौट आतीं आवाज़ें
कैसा भ्रम।

साँझ घिरी तो
लगा अचानक अब अँधियारी,
चिर-अभेद्य हो कर यों ही मँडरायेगी।
भूले भटके एक किरण भी नहीं यहाँ,
ज्योतिर्मय काँचन तन से छू
छू जायेगी।

दीप जला, पर
उसका भी प्रकाश मटमैला।
लौ की दीप्ति क्षीण होती जाती छिन-छिन।
निर्बल होते मन पर सहसा याद घिरी,
केवल एक तुम्हीं इस गृह में नहीं,
आज के दिन!

श्री वंशीधर पण्डा
●●

घर की याद

मेरी धरती मुझे बुलाती, मैं तारों से दूर रे,
मेरी माटी मुझे टेरती, मैं तारों से चूर रे,
मुझे बुलाता मेरा आँगन, मेरी कुटिया साँवरी,
मुझे बुलाता ताल, बुलाती बगिया, पीपल छाँवरी,

मुझे बुलाते नन्हें-नन्हें, पास पड़ोसी प्यार से,
मुझे टेरते भीगे-भीगे नयन, किसी के द्वार से,
लौट न पाऊँगा पीछे को, बँधा-बँधा मजबूर रे!
मेरी धरती मुझे बुलाती, मैं तारों में दूर रे!

रोज़ सवेरे मुझे बुलाता, भीगा आँचल भोर का,
रोज़ साँझ को रंग बुलाता, छिपती सूरज-कोर का,
ना जाने ये कितने सारे नयन, अकेली रात के,
टिम-टिम करते, मुझे बुलाते, संकेतों से बात के,
लौट न पाऊँगा, लेकिन मैं, अपने से मजबूर रे—
मेरी धरती मुझे बुलाती, मैं तारों में दूर रे!

युग का विश्वास

माने या कोई ना माने, यह युग का विश्वास है,
वो धरती पर जीनेवाला, जो धरती के पास है,
ऊँचे-ऊँचे महल, हवा के इन फूले गुब्बारों में,
लाल-लाल बैंगनी, गगन के नीले-पीले तारों में,
कहाँ आदमी के जीने का, हरा भरा उछ्वास है?
नयी ज़िंदगी की दुलहिन का, नया-नया विश्वास है!
चम चम चम दिन रात चमकते, सोने के भंडारों में,
राशि-राशि सम्पदा बटोरे, इन शाही आगारों में,
कहाँ, गहगहा कर खिल उठने की फूलों का प्यास है?
कहाँ, नयी बालों को भर लाने की हँसती आस है?
बन बन कर मिट जाने वाले, सपनों के संसार में,
लुक-छिप कर खो जाने वाले, उस प्रियतम के प्यार में,
कहाँ धरा पर चलने वालों की, हारी निश्वास है?
कहाँ, हार कर भी चल उठने का अटूट विश्वास है?
कोई चाहे उड़े, गगन के इस अनंत विस्तार में,
कोई चाहे छिपे, चाँदनी के शीतल सिंगार में,
पर जीवन की डोर, धरा के बाज़ीगर के हाथ है,
लाख उड़े या मुड़े, सहारा, बस धरती के पास है!

शरद जोशी

अपने-अपने चाँद

स्टेशन पर आ कर हर मुसाफ़िर सट्टा खेलता है या लाटरी लगाता है—एक अच्छे डिब्बे में एक अच्छी जगह के लिए। सट्टा लगाने वालों की एक विशाल भीड़ होती है और कभी तो किसी को जगह मिलती है, किसी खिड़की के पास ही एक चाँद से चेहरे के सामने और कभी भीड़ में वह खड़ा-खड़ा मैली गंदी शक्लों को देख धीरे-धीरे वक्त गुज़ारता है।

लेकिन श्रीवास्तव के लिए ऐसी बात नहीं थी। डिब्बे में भीड़ कम थी। ऊपर एक ओर सामान रखा था और दूसरी ओर एक जना लेटा हुआ था। उसके सामने खिड़की के पास उसकी पत्नी बैठी हुई थी। गोद में बच्चा और साड़ी पर सैकड़ों सिलवटें। दुबला-साँवला चेहरा और हवा के झोंकों या ठीक कंघी न कर सकने के कारण मुँह पर आती बाल की लटें। श्रीवास्तव उचटती नज़र से कभी उसकी ओर देखते, फिर इधर-उधर देखने लग जाते।

डिब्बे के दूसरी तरफ़ खिड़की के पास एक जवान पंजाबी जोड़ा आमने-सामने एक दूसरे को मुग्ध दृष्टि से देखता बैठा था। पास में एक सुराही रखी थी और उस पर एक गिलास था। स्त्री की उम्र यही कोई बाईस की होगी। सिल्क की सफेद शलवार के नीचे उसके सफ़ेद पैरों को बाँधे काले सैंडिल थे। उसके कुरते के गुलाबी रंग पर छोटे-छोटे सफेद फूल बड़े प्यारे लग रहे थे। मलमली काला दुपट्टा, उसके चाँद से चेहरे को घेरे था। उसकी आँखों के कोने में मुस्कराहट सिमटी पड़ी थी और पुतलियों में नीली-काली चमक थी। उसके ओंठ गुलाबी रेखा से और ठुड्डी का उठाव फूल सरीखा था।

श्रीवास्तव उसे देखता और अटक-सा जाता, मगर फिर निगाहें इधर को फेर लेता।

स्त्री के सामने एक पंजाबी जवान बैठा था, जिसकी उम्र अट्ठाइस की होगी। वह उस स्त्री का पति नज़र आता था। यद्यपि दोनों के चेहरे पर नये जोड़े की मासूमियत नहीं थी, पर नये जोड़े का पागलपन ज़रूर था, गहरा प्यार ज़रूर था। उनकी आँखें एक दूसरे को प्यास से निहारतीं, जबकि उनके शरीर में संतुष्ट ढलान था और चेहरे पर दाम्पत्य के अनुभव की रेखाएँ।

श्रीवास्तव इसे देखता और हल्की उदासी उसके मन पर फैल जाती। वह अपनी ज़िन्दगी में ऐसे क्षणों को खोजता और दूर मरुस्थल से जीवन में कहीं भी उसे ऐसी गीली जगहें नज़र नहीं आतीं। उसका चेहरा अपनी पत्नी की तरफ़ उठता—वही साँवली, दुबली, सुस्त शक्ल, सौ सल पड़ी साड़ी, हल्का सिंदूर, गोद में बच्चा और उड़ती लटें। वह निराश हो जाता। कभी उनकी आँखों में क्या इस पंजाबी जोड़े जैसी प्यासी मादकता नहीं आयेगी? वह बाहर गुज़रते बबूल के पेड़ों, कटे हुए खेतों और उड़ते बगूलों को देखता और रेल के हिलने में उसका बदन धीरे-धीरे डोलने लग जाता।

"पानी पियेगी?" पंजाबी ने अपने चाँद से पूछा।

उसने बच्चे सरीखी गरदन को धीरे से हिलाया।

पंजाबी झुका, सुराही से गिलास भरा और उसे दे दिया। मीठी धन्यवाद में डूबी आँखों से उसने युवक की तरफ़ देखा और धीरे-धीरे पीने लगी।

"आप नहीं पियेंगे?"

"नहीं, तुम्हें और चाहिए?"

"नहीं!" वे फिर एक-दूसरे को देख कर मुस्करा दिये।

श्रीवास्तव ने ओंठों पर ज़ुबान फेरी और फिर सोच में डूब गया। उसके भी एक बीवी है, पर ऐसा क्यों नहीं? मंदे लालटेन के पास दो अध-ढके शरीर पास आ गये और गोद में एक बच्चा है। सब तरफ़ कर्तव्य की पंक्तियाँ बनी हैं। पानी का गिलास उसी वजह से दिया जाता है, बच्चा उसी वजह से हो जाता है।

वह सोचने लगा—बच्चे की वजह क्या है, प्यार, शारीरिक मजबूरियाँ या एक ग़लती? वह कुछ समझ नहीं सका। वे भी विवाह के बाद रेल से घर आये थे। दूल्हा-दुलहिन एक डिब्बे में बैठे थे, पर आख़िर तक वह पोटली बनी एक ओर सिमटी रही। यह सब क्या था? क्यों नहीं वे एक दूसरे

में खोये रहे। बदनसीबी, घेरे, चक्कर—यही जवाब श्रीवास्तव के सामने आते।

हवा के एक झोंके ने पंजाबिन के दुपट्टे को बहका दिया। वह उसकी ओर देख लजायी। फिर से उसने अपने वक्ष पर महीन पर्दा फैलाया और अपने चाँद पर दुपट्टा लपेट लिया। कपाल पर नन्हीं-नन्हीं पसीने की बूँदें आ गयीं और उसने अपने रेशमी रूमाल से उसे पोंछ लिया।

श्रीवास्तव ने अपनी पत्नी की ओर देखा। वह भी पसीने में भीग रही थी, पर उसे इसका ख़याल ही नहीं था। श्रीवास्तव की निराशा बढ़ गयी।

पंजाबी जोड़ा धीरे-धीरे बातें करने लगा। जाने क्या-क्या, जिन्हें श्रीवास्तव समझ नहीं सकता, पर कबूतर का जोड़ा जब चुपचाप बातें करता है तो चाहे बात समझ में न आये, इतना तो कहा जा सकता है कि दोनों के मन में और बातों में प्यार है।

श्रीवास्तव ने देखा कि कभी उस स्त्री के चेहरे पर लज्जा आ जाती, कभी वह एक मुस्कराहट में फूटी पड़ती और कभी चिंता में डूब जाती। उसके चेहरे पर भय की गहरी छाया पड़ती और युवक अपनी बातों से फिर उसे सहज करने की चेष्टा करता। फिर वह लजा जाती।

श्रीवास्तव ने सोचा कि यदि इनके आस-पास दूसरे मुसाफ़िर न होते तो ये जाने क्या करते?

गाड़ी रुक गयी। कोई स्टेशन था।

फल बेचने वाले गुज़रने लगे। श्रीवास्तव की पत्नी का ध्यान उधर नहीं था। पंजाबी ने अपने चाँद के इनकार करने पर भी उसके लिए संतरे खरीदे और रेल धीरे से आगे बढ़ी। गुलाबी नाखूनों ने संतरे के छिलके उतारने शुरू कर दिये। ज़रा से ओंठ खुलते, दाँत चमक कर रह जाते और एक फाँक वह अन्दर डाल लेती।

इधर बच्चा रोने लगा था और अपना घुटना हिला-हिला कर श्रीवास्तव की पत्नी उसे चुप करा रही थी।

उसका मन कड़ुवा हो गया। मुस्कराहट और बच्चे के रोने में उसके हाथ रोना ही आया। रेशम और पसीने में, उसके हाथ पसीना ही आया। चाँद और साँवली कमज़ोरी में उसके हाथ साँवली कमज़ोरी ही रही।

उसे विवाह किये चार साल गुज़र रहे थे। ज़िन्दगी के आकर्षण मंद हो गये थे। मन में भाव हैं, पर सामने चेहरे पर उनका उत्तर नहीं। तन्ख्वाहें

और रोटियाँ...खटिया और बच्चे...कैसा क्रम है ! कहीं प्यार की गुदगुदी नहीं । कहीं कविता की फड़फड़ाहट नहीं । कहीं सपने नहीं, कल्पना नहीं । वह अपनी ज़िन्दगी के विषय में निराश हो गया । यह सब अपने-अपने घेरे हैं । पंजाबी जोड़े का अपना घेरा है उसका अपना घेरा है । रेल में, अपने-अपने अलग डिब्बे, अपनी-अपनी अलग जगहें । हर एक ने सट्टा खेला है । किसी के हाथ चाँद है और किसी के हाथ अँधेरा ।

वह पंजाबी जोड़े को देखता रहा ।

रेल फिर रुकी ।

चौड़े प्लेटफार्म पर फलवाले, रेलवाले, पुलिस वाले घूम रहे थे ।

दो खाकी वर्दियाँ खिड़की के पास आयीं । एक अफ़सर था, जिसके बड़ी मूँछें थीं । उसने पंजाबी को घूर कर देखा । फिर कड़क कर पूछा—

"तुम्हारा नाम हरबंस है ।"

"जी हाँ ।" पंजाबी बोला ।

"और तुम्हारा नाम क्या है ?"

"सत्या ।" चाँद बोली ।

"नीचे उतरो तुम लोग !"

"हम मुसाफ़िर हैं ।"

"वह मैं समझता हूँ, आप लोग नीचे आइए !

चाँद का चेहरा फक् हो गया है । पुलिसवाले ने उससे पूछा—"ये आदमी तेरा कौन है ?"

"ये मेरी वाइफ़ है ।" पंजाबी ने टोका ।

"चुप बे हरामी ।" उसने सन्ना कर एक तमाचा पंजाबी को टिकाया—"दूसरे की औरत को अपनी वाइफ कहता है ।"

"नहीं साहब !" उसने गाल सहलाया । इधर सत्या रो पड़ी ।

"मिल गये जी ?" एक और पुलिसवाले ने आकर कहा ।

"जी हाँ !"

आस-पास के डिब्बों के मुसाफ़िर, कुली वग़ैरा की एक बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी ।

"टिकिट कहाँ का है ?"

"बम्बई का ।"

"बम्बई ।" सब ज़ोर से हँस पड़े ।

"उतरिए बाई जी।" पुलिसवाला कड़का।

चाँद ने डरी आँखों से अपने सूरज की तरफ़ देखा।

"उतर वे।"

वे दोनों नीचे उतरे। सामान उतरा।

"क्या बात, हवलदार साहब ?"

"अजी भगा कर ला रहा है दूसरे की बीवी। इधर इनके हसबैंड बेचारे खटखटा रहे हैं।

भीड़ छटी, सीटी बजी और रेल आगे बढ़ी।

मुसाफ़िर बातें कर रहे थे—

"साला भगा के बम्बई जा रहा था।"

"मगर यह औरत कैसे आ गयी।"

"ऐसी-वैसी कोई होगी, अच्छे घर के लच्छण थोड़ी हैं।"

श्रीवास्तव ने सुना। उसके ख्वाब और भावों की तसवीरों पर जैसे कलिख पुत गयी।

उसने अपनी पत्नी की तरफ़ हारी आँखों से देखा। वही साँवला-दुबला चेहरा, साड़ी पर सलवटें, चेहरे पर लट, पसीना और बच्चा। श्रीवास्तव उस ओर देखता रहा लगातार। उसे वह सब प्यारा लगने लगा। उसकी आँखें भर आयीं। उसने बच्चे की तरफ़ देखा, जिसकी आँखें मुँद रही थीं।

"सो गया यह।" वह बोला।

"कभी का।" पत्नी ने हल्की मुस्कराहट से उत्तर दे दिया।

लटें हिलती रहीं। रेल चलती रही।

रघुवीर सहाय

●

खेल

नुक्कड़ के मकान में बढ़ई लगा हुआ था, उस ने अभी अभी एक कुन्दे में से एक तख्ता निकाला था, एक ज़रा सा टुकड़ा लकड़ी का, जो फ़ालतू बच रहा था, किसी तरह छिटक कर बरामदे से बाहर बजरी पर आ रहा था।

वह काफी देर से बढ़ई की कारीगरी देख रहा था। किसी भी तरह का कौशल मोहक होता है, फिर यह कौशल तो बच्चे को पसन्द आता ही, क्योंकि वह देखता आ रहा था कि किस तरह एक बेडौल खुरदरी लकड़ी को बढ़ई की आरी ने बीच से दो कर दिया : फिर उस पर रन्दा चला। खर्र खर्र कर के देवदार के खुशबूदार लच्छे निकलते आये और चिकना सा तख्ता निकल आया—उस पर लकड़ी के रेशे, गोल गोल भवँरदार छल्ले, लम्बी लहरियोंदार लकीरें, बीच में एक गाँठ, जैसे छपी हुई-सी! उस की तबीयत होती थी इसी तरह का काम वह खुद करे, ठोंक पीट, मरम्मत का काम—कोई चीज़ औज़ारों से तैयार करना!

इस टुकड़े ने उसे फौरन खींचा। वह बढ़ई के काम का नहीं था, बच्चा उसका कुछ न कुछ बना लेता। उसके पास एक बच्चे की कल्पना थी, जो किसी भी वस्तु में किसी भी वस्तु की प्रतिष्ठा कर सकती है।

वह पहले हिचका, फिर उसने लकड़ी का वह टुकड़ा उठा लिया और उसको उलट-पलट कर देखते देखते अनायास ही मैदान तक आ गया। उस चौकोर मैदान में, जो सार्वजनिक था और जिसकी तीन भुजाओं पर क्वार्टरों की पंक्तियाँ थीं, धूप छिटकी हुई थी। धूप तक आते आते उसका ध्यान बँट गया। बहुत से और बच्चे मिल कर कोई खेल खेल रहे थे उस के प्रभाव में वह भूल गया कि वह टुकड़े का क्या करने जा रहा था।

उसने लकड़ी के टुकड़े को ऊपर उछाला; चकरघिन्नी की तरह घूमता हुआ वह ऊपर गया और जब नीचे आया तो बच्चे ने उसे गोच लिया। वाह! यह भी तो एक खेल है! अब हर मर्तबा वह टुकड़े को और ऊपर उछालता और उसके उतरते वक्त डरता कि शायद इस बार रह जाऊँ, पर हर बार उसे गोच लेता।

धीरे-धीरे वह इस खेल से ऊबता जा रहा था। इस बार टुकड़ा बहुत ऊपर गया था—अपनी चौकोर शकल को, तेजी से घूम कर, गोल दिखलाता हुआ—और बच्चे ने सोच लिया था कि इस बार न गोच सका तो कोई हर्ज नहीं कि वह लकड़ी का टुकड़ा आकर उसके सर पर खट् से बोला।

खेल में नया लुत्फ आ गया—हालाँकि चोट ज़रूर आयी होगी। वाह! यह भी तो एक खेल है। इसलिए कई बार उसने टुकड़े को अपने सर पर झेलने की कोशिश की। इसमें होशियारी की बात यह थी कि टुकड़ा इतने

ऊँचे भी न जाय कि लौट कर बहुत ज़ोर से लगे और इतने नीचे भी न रह जाय कि अपनी चालाकी पर स्वयं ग्लानि हो!

मैं यह सोच रहा था कि इस से भी यह बच्चा ऊबा तो क्या खेल ईजाद करेगा—कहीं टुकड़े को फेंक न दे और बाकी लड़कों के साथ कोई साधारण सा पिटा हुआ खेल न खेलने लग जाय—उस सूरत बड़ी निराशा होती। इतने में उसने कुछ किया जिसे देख कर तबियत खुश हो गयी।

किसी क्वार्टर में कोई मेहमान कार पर आये थे। कार वहीं खड़ी थी। वह कार के सामने खड़ा हुआ और लकड़ी को उसने निशाना साध कर कार के पार फेंका। बहुत सन्तुलन की आवश्यकता थी। इतने ही ज़ोर से फेंकना था कि लकड़ी कार के ठीक पिछवाडी, ज़मीन पर गिरे। यह नहीं कि बहुत दूर निकल जाये। उसे इस हाथ तौलने में मज़ा आने लगा। मज़े का खेल था ही। इधर से वह फेंकता फिर दौड़ कर उधर से उठा लाता।

अचानक उसे ध्यान आया कि आगे से पीछे फेंकने के अलावा, टुकड़े को कार की चौड़ाई के पार भी फेंका जा सका है—यानी जिधर दरवाज़ा होता है, उधर से दूसरी तरफ़ जहाँ दरवाज़ा होता है।

इसलिए अब यह होने लगा। मैं बोर हो रहा था। हालाँकि होना मुझे नहीं चाहिए था, क्योंकि खेल के इस नये सुधार में बच्चा एक नयी दूरी के लिए नये सिरे से हाथ साध रहा था। पर एक बार ऐसा हुआ कि इधर से फेंक कर जो वह उधर उठाने गया तो लकड़ी का टुकड़ा गायब था।

उसने आस पास सब जगह खोजा—बजरी पर, घास में। कार के नीचे झाँक कर देखा। सन्देह से पास से गुज़रने वाले बच्चों को घूरा......पर लड़का तेज़ था अचानक उसे जाने क्या सूझा कि वह कार के सामने आया और बफ़र पर पैर रख कर ऊपर चढ़ने लगा।

बफ़र से हेड लाइट पर और हेडलाइट से वह हुड पर आ गया। हुड पर खड़े हो कर उसने ताली बजायी और थोड़ा सा कूदा भी, सम्हाल कर। लकड़ी का टुकड़ा कार की छत पर निश्चिन्त रखा हुआ था।

उसने हाथ बढ़ा कर देखा, हाथ छोटा रह जाता था। अब आगे चढ़ने में हिम्मत की ज़रूरत थी, मगर हिम्मत उसमें थी। सो वह हलवाँ विंडस्क्रीन पर से छत पर चढ़ गया। मुझे उसकी गोरी गोरी टाँगें और कत्थई जूतों के

विंडस्क्रीन पर फिसलते देख कर खूब हँसी आयी। बच्चे ने अपना खिलौना उठाया और फिर हुड पर वापस आ गया।

धूप बड़ी प्यारी थी। हल्की हल्की हवा थी, जैसे धूप को उड़ा ले जायेगी। हर चीज़ चमक रही थी और हरियाली ख़ास तौर से। वह बिना धारियोंवाला लाल ऊनी निकरबॉकर पहने हुए उस बड़ी भारी ऊँची मशीन पर खड़ा था और धूप में उसका गोरा रंग, भूरे बाल और भोली आँखें तसवीर जैसी लग रही थीं। मुझे तो वह दूर से यों प्यारा लग रहा था, पता नहीं उसे क्या इतना अच्छा लगा कि वह हुड पर से उतरा नहीं, ऊँचे पर से मैदान को देखता रहा, जहाँ और बच्चे खेल रहे थे। लकड़ी का टुकड़ा और उसके सीधे-सादे खेल उसे भूल गये थे।

शिव प्रसाद सिंह

कर्मनाशा की हार

काले साँप का काटा आदमी बच सकता है, हलाहल पीने वाले की मौत रुक सकती है, किन्तु जिस पौधे को एक बार कर्मनाशा का पानी छू ले, वह फिर हरा नहीं हो सकता। कर्मनाशा के बारे में किनारे के लोगों में एक और विश्वास प्रचलित था कि यदि एक बार नदी बढ़ आये तो बिना मानुस की बलि लिये लौटती नहीं। हालाँकि थोड़ी ऊँचाई पर बसे हुए नयी डीह वालों को इसका कोई खौफ़ न था, इसी से वे बाढ़ के दिनों में, गेरू की तरह फैले हुए अपार जल को देख कर खुशियाँ मनाते, दो-चार दिन की यह बाढ़ उनके लिए तब्दीली बन कर आती, मुखिया जी के द्वार में लोग-बाग इकट्ठे होते और कजली-सावनी की ताल पर ढोलकें ठनकने लगतीं। गाँव के दुधमुँहे तक 'ई बाढ़ी नदिया जिया लेके माने' का गीत गाते, क्योंकि बाढ़ उनके किसी आदमी का जिया नहीं लेती थी। किन्तु पिछले साल अचानक जब नदी का पानी समुद्र के ज्वार की तरह उमड़ता हुआ नयी डीह से जा टकराया, तो ढोलकें बह चलीं, गीत की कड़ियाँ मुरझ कर ओठों में पपड़ी की तरह जम गयीं। सोखा ने जान के बदले जान देकर पूजा की, पाँच बकरों की दौरी भेंट हुई, किन्तु बढ़ी नदी का हौसला कम न हुआ। एक अन्धी लड़की, एक

अपाहिज बुढ़िया बाढ़ की भेंट रही। नयी डीह वाले कर्मनाशा के इस उग्र रूप से काँप उठे, बूढ़ी औरतों ने कुछ सुराग मिलाया। पूजा-पाठ करा कर लोगों ने पाप-शांति की।

एक बाढ़ बीती, बरस बीता। पिछले घाव सूखे न थे कि भादों में फिर पानी उमड़ा। बादलों की छाँव में सोया गाँव भोर की किरण देख कर उठा तो सारा सिवान रक्त की तरह लाल पानी से घिरा था। नयी डीह के वातावरण में हौलदिली छा गयी। गाँव ऊँचे अरार पर बसा था, जिस पर नदी की धारा अनवरत टक्कर मार रही थी। बड़े-बड़े पेड़ जड़-मूल के साथ उलट कर नदी के पेट में समा रहे थे। *यह बाढ़ न थी प्रलय का संदेश था।* नयी डीह के लोग चूहेदानी में फँसे चूहे की तरह भय से दौड़-धूप रहे थे। सबके चेहरे पर मुर्दनी छा गयी थी।

"कल दीनापुर में कड़ाह चढ़ा था पांड़े जी," ईसुर भगत हकलाते हुए बोला। कुएँ की जगत से बाल्टी का पानी लिये जगेसर पाँड़े उतर रहे थे। घबरा कर बाल्टी सहित ऊपर से कूद पड़े। "क्या कह रहे थे भगत, कड़ाह चढ़ा था, क्या कहा सोखा ने?" चौराहे पर छोटी-सी भीड़ इकट्ठी हो गयी। भगत अपने शब्दों को चुमलाते हुए बोले, "काशीनाथ की सरन, भाई लोगो, सोखा ने कहा कि इतना पानी गिरेगा कि तीन घड़े भर जायेंगे, आदमी, मवेशी की छय होगी, चारों ओर हाहाकार मच जायेगा, परलय होगी..."

"परलय न होगी, तब क्या बरक्कत होगी! हे भगवान जिस गाँव में ऐसा पापकरम होगा वह बहेगा नहीं तब क्या बचेगा," हाथ के लुग्गे को ठीक करती हुई धनेसरा चाची बोलीं, "मैं तो कहूँ कि फुलमतिया ऐसी चुप काहे है। राम रे राम, कुतिया ने पाप किया, गाँव के सिर बीता। उसकी माई कैसी सतवन्ती बनती थी, आग लाने गयी तो घर में जाने नहीं दिया, मैं तो तभी छनगी कि हो न हो दाल में कुछ काला है। आग लगे ऐसी कोख में। तीन दिन की बिटिया और पेट में ऐसी घनघोर दाढ़ी।"

"कुछ साफ भी कहोगी भौजी" बीच में जगेसर पांड़े बोले, "क्या हुआ आखिर..."

"हुआ क्या, फुलमतिया रांड़ मेमना लेके बैठी है। विधवा लड़की बेटा बिया कर सुहागिन बनी है।"

"ऐं कब हुआ?".. सबकी आखों में उत्सुकता के फफोले उभर आये। आगत भय से सबकी साँस टँगी रह गयी। तभी मिर्चे की तरह तीखी आवाज़

में चाची बोलीं, "कोई आज की बात है, तीन दिन से सौरी में बैठी है। डाइन पाप को छाती से चिपकाये है, यह भी न हुआ कि गर्दन मरोड़ कर गड़हे-गुच्ची में डाल दे।"

लोगों को परलय की सूचना दे कर, हवा में उड़ते हुए आँचल को बरजोरी बस में करती चाची दूसरे चौराहे की ओर बढ़ चलीं। गाँव का सारा आतंक, भय, पाप उनके पीछे कुत्ते की तरह दुम दबाये चले जा रहे थे, सबकी आँखों में नयी डीह का भविष्य था, रक्त की तरह लाल पानी में चूहे की तरह ऊभ-चूभ करते हुए लोग चिल्ला रहे थे। मौत का ऐसा भयंकर स्वप्न भी शायद ही किसी ने देखा था।

२

भैरो पांड़े बैसाखी के सहारे अपनी बखरी के दरवाज़े में खड़े बाढ़ के पानी का ज़ोर देख रहे थे, अपार जल में बहते हुए साँप-बिच्छू चले जा रहे थे। मरे हुए जानवर की पीठ पर बैठा कौवा लहर के धक्के से बिछल जाता, भीगे चूहे पानी से बाहर निकलते तो चील झपट पड़ते। 'विचित्र दृश्य है'—पांड़े न जाने क्यों बुदबुदाये। फिर मिट्टी की बनी पुरानी बखरी की ओर देखा। पांड़े के दादा देस-दिहात के नामी पंडित थे। उनका ऐसा अकबाल था कि कोई किसी को कभी सताने की हिम्मत नहीं करता। उनकी बनवायी है यह बखरी। भाग की लेख कौन टारे। दो पुश्त के अन्दर ही सभी कुछ खो गया। मुट्ठी में बन्द जुगनू हाथ के बाहर निकल गया। आज से सोलह साल पहले माँ-बाप एक नन्हा लड़का उन्हें सौंप कर चले गये, पैर से पंगु भैरो पांड़े अपने दो बरस के छोटे भाई को कंधे से चिपकाये असहाय, निरवलम्ब खड़े रह गये... धन के नाम पर बाप का कर्ज़ मिला, काम-धाम के लिए दुधमुँहे भाई की देख-रेख, रहने के लिए बखरी जिसे पिछली बाढ़ के धक्कों ने एकदम जर्जर कर दिया है।

"अब यह भी न बचेगी," पांड़े के मुँह से भवितव्य फूट रहा था, जिसकी भयंकरता पर उन्होंने ज़रा भी खयाल करना ज़रूरी नहीं समझा। दरारों से भरी दीवारें उनके खुरदरे हाथों के स्पर्श से पिघल गयीं, वर्षा का पानी पसीज कर हाथों में आँसू की तरह चिपक गया।

सनसनाती हवा गाँव के इस छोर से उस छोर तक चक्कर लगा रही थी 'विधवा फुलमतिया को बेटा हुआ है, बेटा... कुतिया के पाप से गाँव तबाह

हो रहा है, राम राम...ऐसा पाप'...भैरो पांड़े के कानों में आवाज़ के स्पर्श से ही भयंकर पीड़ा पैदा हो गयी। बैसाखी उनके शरीर के भार को सँभाल न सकी और वे धम्म से चौकठ पर बैठ गये। बाजू के धक्के से कुहनी छिल गयी, चिनचिनाती कुहनी का दर्द उनके रोयें-रोयें में बिंध रहा था और पांड़े इस पीड़ा को ओठों के बीच दबाने का प्रयत्न कर रहे थे।

'सब कुछ गया'...वे बुदबुदाये। कर्मनाशा की बाढ़ उनकी इस जर्जर बखरी को हड़पने नहीं, उनके पितामह की उस अमूल्य प्रतिष्ठा को हड़पने आयी है जिसे अपनी इस विपन्न अवस्था में भी पांड़े ने धरती पर नहीं रखा। दुलार से पली वह प्रतिष्ठा सदा उनके कन्धे पर चढ़ी रही। 'मैं जानता था कि यह छोकरा इस खानदान का नाश करने आया है' पांड़े की आँखों में उनके छोटे भाई की तसवीर नाच उठी। १८ वर्ष का छरहरा पानीदार कुलदीप, जिसकी आँखों में भैरो को माँ की छायाएँ तैरती नज़र आतीं, उसके काले काकुल को देख कर मुखिया जी कहते कि इस पर भैरो पांड़े के दादा की लौछार पड़ी है। पांड़े 'हो-हो' कर हँस पड़ते "जा रे कुलदीप, बरामदे में बैठ कर पढ़।" भैरो पांड़े मन में बुदबुदाते, "तेरे आँख में सौ कुंड बालू, हरामी कहीं का, लड़के पर नजर गड़ाता है, कुछ भी हुआ इसे तो भगवान कसम तेरा गला घोंट दूँगा, बड़ा आया मुखिया जी," फिर जरा बढ़ के बोलते, "क्या लौछार पड़ेगी" मुखिया जी, दादा के पास तो पाँच पछाहीं गायें थीं, एक से एक बढ़कर, दो थान दूह लें तो पचसेरी बाल्टी भर जाती थी। यहाँ तो इस लौंडे को दूध पचता नहीं। फिर साल-बारह महीने हमेशा मिलता भी कहाँ है हम ग़रीबों को।"

"अब वह पुराने जमाने की बात कहाँ रही पांड़े जी," मुखिया कहता और अपने संकेतों से शब्दों में मिर्चे की तिताई भर कर चला जाता। काले काकुलों वाला नवजवान कुलदीप मुखिया को फूटी आँखों न सुहाता था, पर भैरो पांड़े के डर से वह कुछ कह न पाता।

भैरो पांड़े दिन भर बरामदे में बैठ कर रुई से बिनौले निकालते, तूँगते, सूत तैयार करते और अपनी तकली पर, नचा नचा कर जनेऊ बनाते, जजमानी चलाते, पत्रा देख देते, सत्यनारायण की कथा बांच देते और इससे जो कुछ मिलता कुलदीप की पढ़ाई, उसके कपड़े-लत्ते, आदि में खर्च हो जाता।

"यह सब कुछ मर-मर कर किया था इसी दिन को!" पांड़े की आँखों में

प्यास छा गयी, लड़के ने उन्हें किसी ओर का नहीं रखा। "आज यहाँ आफ़त मची है, अपने पता नहीं कहाँ भाग कर छिपा है।"

'राम जाने कैसे हो!' सूखी आँखों से दो बूँदें गिर पड़ीं, 'अपने से तो कौर भी नहीं उठा पाता था, भूखों बैठा होगा कहीं, बैठे-मरे हम क्या करें।' पांड़े ने बैसाखी उठायी। बगल की चारपाई तक गये और धम्म से बैठ गये। दोनों हाथों में मुँह छिपा लिया और चुप लेटे रहे।

३

पूरबी आकाश पर सूरज दो लट्ठे ऊपर चढ़ आया था। काले-काले बादलों की दौड़-धूप जारी थी। कभी-कभी हल्की हवा के साथ बूँदें बिखर जातीं। दूर किनारों पर बाढ़ के पानी की टकराहट हवा में गूँज उठती। भैरों पांड़े उसी तरह चारपाई पर लेटे आँगन की ओर देख रहे थे। बीचों बीच आँगन के तुलसी चौरा था जो बरसात के पानी से कट कर खुरदरा हो गया। पुराने पौधे के नीचे कई मासूम मरकती पत्तियों वाले छोटे-छोटे पौधे लहराने लगे थे। वर्षा की बूँदें पुराने पौधे की सख्त पत्तियों पर टकरा कर बिखर जातीं। टूटी हुई बूँदों की फुहार धीरे से मासूम पौधों पर फिसल जाती। कितने आनन्द मग्न थे वे मासूम पौधे! पांड़े की आँखों के सामने कार्तिक की वह शाम भी नाच उठी। दो बरस पहले की बात होगी। शाम के समय जब वे बरामदे में लेटे थे, फुलमत आयी, अपनी बाल्टी माँगने, सुबह भैरों पांड़े ले आये थे, किसी काम से।

"कुलदीप ज़रा भीतर से बाल्टी दे देना!" कहा था पांड़े ने।

सफेद साड़ी में लिपटी-लिपटायी गुड़िया की तरह फुलमत आंगन में इसी चौरे के पास आकर खड़ी हो गयी थी। और बाल्टी उठाने के लिए जब कुलदीप झुका था तो फुलमत भी अपने दोनों हाथों से आँचल का खूंट पकड़ कर तुलसी जी की वन्दना करने के लिये झुकी थी। कुलदीप के झटके से उठने पर वह उसकी पीठ से टकरा गयी थी अचानक। तब न जाने क्यों दोनों मुस्करा उठे थे। भैरों पांड़े क्रोध से तिलमिला गये थे। वे गुस्से के मारे चारपाई से उठे तो देखा कुलदीप बाल्टी लिये खड़ा था और फुलमत तुलसी चौरे पर सिर रख कर प्रार्थना कर रही थी। न जाने क्यों पांड़े की आँखें भर आयीं। बरसात के दिनों के बाद इस खुरदरे चौरे को उनकी माँ पीली मिट्टी के लेवन से सँवार देती फिर श्वेत बलुई

माटी से पोत कर सफेद कर देतीं। शाम को सूखे हुए चबूतरे पर घी के दीपक जला कर, माथा टेक कर वे लड़कों के मंगल के विनय करतीं। तब वे भी ऐसे ही झुक कर आशीर्वाद माँगतीं और पांड़े उनके बगल में चुपचाप खड़े दियों का जलना देखा करते थे।

पांड़े को सामने खड़ा देख कुलदीप हड़बड़ाया और फुलमत बाल्टी लेकर चुपचाप बाहर चली गयी। पांड़े के चहरे पर एक विचित्र भाव था, जिसे सँभाल सकने की ताकत उन दोनों के मन में न थी और दोनों ही भय की कम्पन लिए इधर-उधर भाग खड़े हुए।

बहुत दिनों तक पांड़े के चेहरे पर अवसाद का यह भाव बना रहा। कुलदीप डर के मारे उनकी ओर देख नहीं पाता, न तो पहले जैसी ज़िद कर सकने की हिम्मत होती, न तो हँसी के कलरव से घर के कोने कोने को गुँजाने का साहस। पांड़े ने अपने दिल को समझाया। इसे लड़कों का क्षणिक खिलवाड़ समझा। सोचा, धरती की छाती बड़ी कड़ी है। ठेस लगते ही सारी गुलाबी के पंखुरियाँ बिखर जायेंगी, दोनों को दुनियाँ का भाव-ताव मालूम हो जायेगा।

पांड़े के रुख से फुलमत भी सशंक हो गयी थी, वह इधर कम आती। कुलदीप के उठने-बैठने, पढ़ने-लिखने पर पांड़े की कड़ी नज़र थी। वह किताब खोल कर बैठता तो दिये की टेम के श्वेत वस्त्रों में लिपटी फुलमत खड़ी हो जाती, पुस्तक के पन्ने खुले रह जाते और वह एक टक दिये की लौ की ओर देखता रह जाता। पांड़े को उसकी यह दशा देख कर बड़ा क्रोध आता, पर कुछ कहते नहीं।

"कुलदीप!" एक बार टोक भी दिया था, "क्या देखते रहते हो इस तरह? तबीयत तो ठीक है न?"

"जी!" इतना ही कहा था कुलदीप ने और फिर पढ़ने लग गया था। दिये की टेम कुलदीप के चेहरे पर पड़ रही थी, जिसके पीछे घने अंधकार में लेटे पांड़े क्रोध, मोह और न जाने कितने प्रकार के भावों के चक्कर में झूल रहे थे। उन्हें फुलमत पर बेहद गुस्सा आता। रीमल मलाह की यह बिधवा लड़की मेरा घर चौपट करने पर क्यों लगी है? पता नहीं कहाँ से बह-दह कर यहाँ आकर बस गये। कुलच्छनी, अब क्या चाहती है? बाप मरा, पति मरा, अब न जाने क्या करेगी? जाने कौन सा मन्त्र पढ़ दिया? यह कबूतर की तरह मुँह फुलाये बैठा रहता है। न पढ़ता है न लिखता है। हँसना, खेलना,

खाना सब भूल गया। पांड़े चारपाई से उतर कर इधर-उधर चक्कर लगाते रहे पर कुछ निर्णय न कर सके।

समय बीतता गया। कुलदीप भी खुश नजर आता। हँसता-खेलता। पांड़े की छाती से चिन्ता का भारी पत्थर खिसक गया। एक बार फिर उनके चेहरे पर हँसी की आभा लौटने लगी। रुई, सूत का काम फिर शुरू हुआ! गाँव के दो-चार उठल्ले-निठल्ले आ कर बैठ जाते, दिन गपास्टक में बीत जाता। सुरती मल-मल ताल ठोंकते, और पिच्च से थूँक कर किसी को गाली देते या निन्दा करते। इन सब चीज़ों से वास्ता न रखते हुए भी पांड़े सुनते जाते। उनका मन तो चक्कर खाती तकली के साथ ही घूमता रहता। 'हूँ हाँ' करते और निठल्लों की बातों में सन्नाटे को किसी तरह फेल ले जाते।

पांड़े उसी चारपाई पर लेटे थे, अंतर इतना ही था कि दिन थोड़ा और ऊपर चढ़ आया था, लहरों की टकराहट थोड़ी और तेज हो गयी थी, रक्त की तरह खौलता हुआ लाल पानी गाँव के थोड़ा और निकट आ गया था। उनकी नसें किसी तीव्र व्यथा से जल रहीं थीं। 'पांड़े के वंश में कभी ऐसा नहीं हुआ था!' वे फुसफुसाये। बगल की दीवार में ताखे पर रामायन की गुटिका रखी थी, उन्होंने उठायी। एक जगह लाल निशान लगा था। पिछले दिनों कुलदीप रात में रामायन पढ़ा करता था। जब से वह गया, आज तक गुटिका खुली नहीं। पांड़े के हाथ काँपे, गुटिका उलट कर उनकी छाती पर गिर पड़ी। उठा कर खोला, वही लाल निशान—

कह सीता भा बिधि प्रतिकूला
मिलइ न पावक मिटइ न सूला
सुनहु बिनय मम बिटप अशोका
सत्य नाम कर हरु मम शोका

पांड़े की आँखें भरभरा आयी। झरझर आँसू गिरने लगे... हिचकी ले कर वे टूट पड़े। यह चुड़ैल मेरा घर खा गयी। शब्द फूटे, किन्तु भीतर घुमड़ कर रह गये। गाली देने से ही क्या होगा अब, इतने तक रहता तो कोई बात थी, आज उसे बच्चा हुआ है, कहीं कह दे कि लड़का कुलदीप का है तो... 'नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता!' पांड़े बड़बड़ाये और अपने बालों को मुट्ठियों से कस कर खींचा, जैसे इनकी जड़ में पीड़ा जम गयी है, खींचने से थोड़ी राहत मिलेगी। वे उठना चाहते थे, किन्तु उठ न सके। आँखों के

सामने चिनगारियाँ टूटने लगीं। उन्हें आज मालूम हुआ कि वे इतने कमज़ोर हो गये हैं। कुलदीप के जाने के बाद से आज तक उनका जीवन अव्यवस्था की एक कहानी बन कर रह गया है। चार-पाँच महीने से कुलदीप भागा है, पहले कई दिनों तक वे ज़रूर बहुत बेचैन थे, किन्तु समय ने उस दुख को भुलाने में मदद की थी, आज फिर कुलदीप उनकी आँखों के सामने आ कर खड़ा हो गया। बीती घटनाएँ एक एक कर उनकी आँखों के सामने नाचने लगीं।

फागुन का आरम्भ था। मुखिया जी की लड़की की शादी थी। गाँव भर में खुशी छायी रहती, जैसे सब के घर शादी होने वाली हो। शादी के दिन तो गाँव वालों में बनने-सँवरने की होड़ लग गयी। सब लोग पट्टी कटा रहे थे, शौकीनों की पट्टी चार-चार अंगुल चौड़ी, छुरे से बनी थी, कुएँ की जगत पर दोपहार के दो घंटे पहले से भीड़ लगी थी, और अब दो बजने को आये, साबुन लग रहा था, पैरों में जमी मैल सिकड़े से रगड़-रगड़ कर छुड़ायी जा रही थी।

बारात आयी। द्वारपूजा की शोभा का क्या कहना। बनारस की रंडी नाचने आयी थी। छैल छबीलों की भीड़ जम गयी थी। शाम को महफ़िल जमी। मुखिया जी का दरवाज़ा आदमियों से खचाखच भरा था। एक ओर गली में सिमट कर औरतें बैठी हुई थीं। गाँव की लड़कियाँ, बूढ़ियाँ और कुछ मनचली बहुएँ। बाई आयी। अपना ताम-झाम फैला कर बैठ गयी। सारंगी ले कर बूढ़े मियाँ ने 'किन किन' किया, बाई जी ने आलाप के बाद गाया—

नीच ऊँच कुछ बूझत नाहीं, मैं हारी समझाय
ये दोनों नैना बड़े बेदर्दी दिल में गड़ि गये, हाय!

महफ़िल से बहुत दूर, गाँव के छोर पर आमों के पेड़ों पर फागुन के पीले चाँद की छाया फैली थी, जिसके नीचे चितकबरे के चाम की तरफ़ फैली चाँदनी में एक प्रश्न उठा, "मुखिया जी की महफ़िल में पतुरिया ने जो गीत गाया था, कितना सही था—

"कौन सा गीत?"

"ये दोनों नैना बड़े बेदर्दी..."

"धत्!"

"उस दिन मैं बड़ी देर तक इन्तज़ार करता रहा।"

"मेरी माँ के सिर में दर्द था!"

"कौन है?" ज़ोर की आवाज़ गूँज उठी थी।

पास की गली में एक छाया खो गयी।

"कौन है?" फिर आवाज़ आयी थी।

"मैं हूँ कुलदीप!"

"यहाँ क्या कर रहे हो?"

"नदी की ओर चला गया था।"

"इस समय?"

"पेट में दर्द था।"

क्रोध की हालत में भी भैरो पांडे मुस्करा उठे थे। "झूठे, पेट में दर्द था कि आँख में!" कुलदीप का सिर लज्जा से झुक गया था। उसे लगा जैसे एक क्षण का यह भयप्रद जीवन उसकी आत्मा पर सदा के लिए छा जायेगा, एक क्षण के लिए बोला हुआ यह झूठ, उसके सारे जीवन को झूठा साबित कर देगा; एक क्षण के लिए यह झुका माथा फिर कभी न उठ सकेगा। वह झूठ के इस पर्दे को फाड़ डालना चाहता था, किन्तु—"कुलदीप" भैरो पांडे ने आहिस्ते-आहिस्ते कहा, "तुम ग़लत रास्ते पर पाँव रख रहे हो बेटा, तुमने कभी अपने बाप-दादा की इज्ज़त के बारे में भी सोचा है? बड़े पुण्य के बाद इस घर में जन्म मिला है भाई, इसे कभी मत भूलना कि अच्छे घर में जन्म लेने से कोई बहुत बड़ा काम नहीं हो जाता, किन्तु इस अवसर को ग़लत कह कर नीचे गिरने से बड़ा पाप और कोई नहीं है।" कुलदीप को लगा कि तीखे काँटों वाली कोई जीवित मछली उसके गले में फँस गयी, गरदन को चीरती हुई यदि वह निकल जाये तो भी ग़नीमत, किन्तु यह असह्य पीड़ा तो नहीं सही जाती और न जाने क्यों, वह हिचकियों में फूट-फूट कर रो उठा था। भाई के मन की पीड़ा की कल्पना भी उसके लिए कष्टकर थी, किन्तु उसकी आत्मा अपने सम्पूर्ण भाव से जिस वस्तु को वरेण्य समझती है, उसे वह एक दम व्यर्थ कैसे कह दे, जिसकी छाया में न जाने क्यों उसे एक अजाने आनन्द का अनुभव होता है, उसे कालिख कह सकना उसके वश की बात नहीं थी और इस कष्ट के भार को उसकी आँखें सँभाल नहीं सकीं। भैरो पांडे भी भाई से लिपट गये थे। उसकी पीठ सहला

रहे थे, और उसे बार-बार चुप हो जाने को कह रहे थे। 'यदि कोई देख ले तो,' उनके मन में आया, और वे कुलदीप को जल्दी-जल्दी खींचते हुए एक ओर चले गये।

आँसुओं में जो पश्चाताप उमड़ता है, वह दिल की कलौंस को माँज डालता है। पांडे ने सोचा था कि कुलदीप अब ठीक रास्ते पर आ जायेगा। उसके वंश की मर्यादा अपमान के तराज़ू पर चढ़ने से बच जायेगी। भूखों रह-रह कर भी पांडे ने जिस इज्जत के बिरवे को खून से सींच कर तरोताज़ा रखा है, उस पर किसी के व्यंग-कुठार नहीं चलेंगे। किन्तु एक महीना भी नहीं बीता कि कुलदीप फिर उसी रास्ते पर चल पड़ा। छोटे भाई के इस कार्य को छिप कर देखने की पापाग्नि से भैरो पांडे अपनी आत्मा को जलते हुए देखते, किन्तु वे विवश थे।

चैत के दिनों में गर्मी से जली-तपी कर्मनाशा किनारे के नीचे चिपक गयी थी। नदी के पेट में दूर तक फैले हुए लाल बालू का मैदान, चाँदनी में सीपियों के चमकते हुए टुकड़े, सामने के ऊँचे अरार पर बन-पलाश के पेड़ों की आरक्त पाँतें, बीच में घुग्घू, चहों और जल विहार करने वाले पक्षियों का स्वर—कगार से नदी तीर तक बने हुए छोटे-बड़े पैरों के निशानों की दो पंक्तियाँ—सिर्फ़ दो!

"तुम मुझे मँझधार में ला कर छोड़ तो नहीं दोगे।" घुटन और शंका में खोये हुए धीमे स्वर। श्यामा की तीखी दर्द भरी आवाज़।

एक चुप्पी, फिर हकलाती आवाज़, मैं अपना प्राण दे सकता हूँ, किन्तु—तुमको...कभी नहीं...

चाँदनी की झीनी परतें सघन होती जा रही थीं, सुनसान किनारे पर भटकी हवा की सनसनाहट में आवाज़ों का अर्थ खो जाता, कभी हल्के हास्य की नर्म ध्वनि, कभी आक्रोश के बुलबुले, कभी चंचलता की तरंग, कभी सिसकियों की सरसराहट...

भैरो पांडे एक बार चाँदनी के इस पवित्र आलोक में अपनी क्रूरता और निर्ममता पर विचार करने के लिए रुक गये। तो क्या आज तक का उनका सारा प्रयत्न निष्फल था। क्या वे असाध्य को सम्भव बनाने का ही प्रयत्न करते रहे। एक क्षण के लिए भैरो पांडे ने सोचा, काश फुलमत अपनी ही जाति की होती, कितना अच्छा होता यदि वह विधवा न होती—तुलसी चौरे की वन्दना पांडे के मस्तिष्क में चन्दन की गंध की तरह छा गयी। उसका रूप,

चाल-चलन, संकोच सब कुछ किसी को भी शोभा देने लायक था। एक क्षण के लिए उनकी आँखों के सामने सफ़ेद साड़ी में लिपटी फुलमत की पतली-दुबली काया हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी, जैसे वह आँचल फैला कर आशीर्वाद माँग रही हो। भैरो पांडे विजड़ित खड़े थे, विमूढ़ !

'यह असम्भव है !' पांडे ने बैसाखी सँभाली और नीचे की ओर लपके।

"कुलदीप !" बड़ी कर्कश आवाज़ थी पांडे की।

दोनों सर झुकाये सामने खड़े थे, आज पहली बार पाप के साक्षी में दोनों समवेत दिखायी पड़े थे। पांडे फिर एक क्षण के लिए चुप हो गये।

"मैं पूछता हूँ, यह सब क्या है ?" पांडे चिल्लाये, "इतने निर्लज्ज हो तुम दोनों !" पांडे बढ़ कर सामने आये, फुलमत की ओर मुँह फिरा कर बोले, "तू इसकी ज़िन्दगी क्यों बिगाड़ना चाहती है, क्या तू नहीं जानती कि तू जो चाहती है वह स्वप्न में भी नहीं हो सकता, कभी नहीं, कभी नहीं !"

फुलमत चुप थी, पांडे दूने क्रोध से बोले, "चुप क्यों है चुड़ैल, बोलती क्यों नहीं।"

"मैं...मैं क्यों इनकी ज़िन्दगी बिगाड़ूँगी दादा !" वह सहसा एक दम निचुड़ गयी, "मैंने तो इन्हें कई बार मना किया..."

"कुलदीप !" पांडे दहाड़े, "सीधे रास्ते पर आ जाओ, अच्छा होगा। तुमने भैरो का प्यार देखा है, क्रोध नहीं, जिन हाथों से मैं ने पाल-पोस कर बड़ा किया, उन्हीं से तेरा गला घोंटते मुझे देर न लगेगी।"

"दादा !"..... कुलदीप हकलाया, "हम दोनों......"

"पापी, नीच......" भैरो पांडे के हाथ की पाँचों अंगुलियाँ कुलदीप के चेहरे पर उभर आयीं, "मैं सोचता था तू ठीक हो जायेगा"...पांडे क्रोध से काँप रहे थे..."लेकिन नहीं, तू मेरी हत्या करने पर तुल ही गया है..." वे फुलमत की ओर घूम कर चिल्लाये—"क्या खड़ी है डायन, भाग, नहीं तो तेरा गला घोंट कर इसी पानी में फेंक दूँगा..."

अंधड़ को पीते हुए तृषित साँप जैसा स्वर। 'यह सब मैंने किया था।' पांडे चारपाई पर घायल साँप की तरह तड़फड़ाते हुए बुदबुदाये। उनकी छाती से सरक कर रामायण की गुटिका ज़मीन पर गिर पड़ी थी और उस पवित्र, आराध्य वस्तु को उठाने का उन्हें ध्यान न रहा। कुलदीप दूसरे ही दिन लापता हो गया। पांडे अपनी बैसाखी के सहारे दिन भर गाँव-गिराँव की खाक छानते फिरे। तीन दिन, तीन रात बिना अन्न-जल के वे पागल की

तरह कुलदीप को ढूँढ़ते-फिरे, किन्तु वह नहीं मिला थक-हार कर पांडे वापस आ गये। बाप-दादों की इज्ज़त की प्रतीक इतनी लम्बी विशाल बखरी—जिसकी दीवारें गुँह बाये शांत, पुजारी के तप की तरह अडिग खड़ी थीं, किन्तु कितनी सुनसान, डरावनी, निष्प्राण पिंजर की तरह लगती थी यह बखरी। चौकठ पर पैर रखते हुए पांडे की आत्मा कराह उठी—'चला गया!' बैसाखी रख कर पांडे आँगन के कोने में बैठ गये—अब वह कभी नहीं लौटेगा।'

रात में उन्हें बड़ी देर तक नींद नहीं आयी। कुलदीप को बचपन से ले कर आज तक उन्होंने कभी अपनी आँख की ओट नहीं होने दिया। छुटपन से ले कर आज तक खिलाया-पिलाया, पाला-पोसा और आज लड़का दगा दे कर निकल गया। पांडे अधरों की मेड़ के पीछे व्यथा के सैलाब को रोकने का असफल प्रयत्न करते रहे।

भोर होने में देर थी, उनींदी आँखें करुआ रही थीं, किन्तु मन की जलन के आगे उस दर्द का क्या मोल! पांडे उठ कर टहलने लगे। सामने की बंसवार के भीतर से पूरबी क्षितिज पर ललछौहाँ उजास फूटने लगा था। गली के मोड़ से कच्चे मकान के भीतर से जांत की घर्र-घर्र गूँज रही थी। एक घुमड़ता गरगराहट का स्वर, जिसके पीछे जांत वाली के कंठ की व्यथा की एक सुरीली तान टूट-टूट कर काँप उठती थी।

मोहे जोगिनी बना के कहाँ गइले रे जोगिया।

पांडे एक क्षण अवाक् हो कर इस दर्दीले गीत को सुनते रहे। प्यासे-भूखे, भटके-थके हुए स्वर—पांडे की आत्मा में जैसे समान वेदना को पहचान कर उतरते चले जा रहे हों!

"अब रोने चली है चुड़ैल!" पांडे पागल की तरह बड़बड़ाते रहे, "रो-रो कर मर, मैं क्या करूँ।"

बाढ़ के लाल पानी में सूरज डूब रहा था, पांडे बैसाखी के सहारे आ कर दरवाज़े पर खड़े हुए, नदी की ओर आदमियों की भीड़ थी, वे धीरे-धीरे उधर ही बढ़े। सामने तीन-चार लड़के अरहर की खूटियाँ गाड़ कर पानी का बढ़ाव नाप रहे थे।

"क्या कर रहा है रे छबील!?" पांडे बलात् चेहरे पर मुस्कराहट का भाव ला कर बोले।'

"देखता नहीं लँगड़ा, बाढ़ रोक रहे हैं।"

पांडे मुस्कराये —"जैसा बाप वैसा बेटा ! तेरा बाप भी खूटियाँ गाड़ कर कर्मनाशा की बाढ़ रोकना चाहता है।"

"वह भीड़ कैसी है रे छबीले।"

"नहीं जानते, फुलमत को नदी में फेंक रहे हैं, उसके बच्चे को भी, उसने पाप किया हैं।" फिर छबीला गम्भीर खड़े पांडे से सट कर बोला, "क्यों पांडे चाचा जान ले कर बाढ़ उतर जाती है न।"

"हाँ, हाँ" पांडे आगे बढ़े। बोतल की टीप खुल गयी थी। पांडे के मन में भयानक प्रेत खड़ा हो गया। "चलो, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। हूँ, चली थी पांडे के वंश में कालिख पोतने ! अच्छा ही हुआ कि वह छोकरा भी नहीं है......"

फुलमत अपने बच्चे को छाती से चिपकाये टूटते हुए अरार पर एक नीम के तने से सटकर खड़ी थी। उसकी बूढ़ी माँ ज़ार-बेज़ार रो रही थी, किन्तु आज जैसे मनुष्य ने पसीजना छोड़ दिया था, अपने अपने प्राणों का मोह इन्हें पशु से भी नीचे उतार चुका था, कोई इस अन्याय के विरुद्ध बोलने की हिम्मत नहीं करता था, कर्मनाशा को प्राणों की बलि चाहिए, बिना प्राणों की बलि लिये बाढ़ नहीं उतरेगी...फिर उसी की बलि क्यों न दी जाय, जिसने पाप किया...पर साल जान के बदले जीव दी की बलि गयी, पर कर्मनाशा दो बलि ले कर ही मानी...त्रिशंकु के पाप की लहरें किनारों पर साँप की तरह फुफकार रही थीं। आज मुखिया का विरोध करने का किसी में साहस न था। उसके नीचता के कार्यों का ऐसा समर्थन कभी न हुआ था। "पता नहीं किस बैर का बदला ले रहा है बेचारी से !" भीड़ में कई इस तरह सोचते, ऐसा तो कभी नहीं हुआ था, किन्तु कौन बोले, सब मुँह-सिये खड़े थे......

"तुम्हारी क्या राय है भैरो पांडे ?" मुखिया बोला, "सारे गाँव ने फ़ैसला कर दिया है कि एक के पाप के लिए सारे गाँव को मौत के मुँह में नहीं झोंक सकते, जिसने पाप किया है उसका दंड भी वही भोगे..."

एक वीभत्स सन्नाटा। वे आगे बढ़े, फुलमत भय से चिल्ला उठी। पांडे ने बच्चे को उसकी गोद से छीन लिया। "मेरी राय पूछते हो मुखिया जी, तो सुनो...कर्मनाशा की बाढ़ दुधमुँहे बच्चे और एक अबला की बलि देने से नहीं रुकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहा कर बाँधों को ठीक करना होगा...कुलदीप कायर हो सकता है, वह अपने बहू-बच्चे को

छोड़ कर भाग सकता है, किन्तु मैं कायर नहीं हूँ, मेरे जीते जी बच्चे और उसकी माँ का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता...समझे !"

"तो यह है बूढ़े पांडे जी की चाल !" मुखिया व्यंग से बोला, "पाप का फल तो भोगना ही होगा पांडे जी, समाज का दंड तो झेलना ही होगा।"

"जरूर भोगना होगा मुखिया जी...मैं आपके समाज को कर्मनाशा से कम नहीं समझता, किन्तु मैं एक-एक के पाप गिनाने लगूँ तो यहाँ खड़े सारे लोगों को परिवार समेत कर्मनाशा के पेट में जाना पड़ेगा...है कोई तैयार जाने को..."

लोग अवाक् पांडे की ओर देख रहे थे, जो अपने कंधे से छोटे बच्चे को चिपकाये अपनी बैसाखी के सहारे खड़े थे, पत्थर की विशाल मूर्ति की तरह उन्नत, प्रशस्त, अटल...कर्मनाशा के लाल पानी में सूरज डूब रहा था......

जिन उद्धत लहरों की चपेट से बड़े बड़े विशाल पीपल के पेड़ धराशायी हो गये थे, वे एक टूटे नीम के पेड़ से टकरा रही थीं, सूखी जड़ें जैसे सबल चट्टान की तरह अडिग थीं, लहरें टूट-टूट कर, पछाड़ खा कर गिर रही थीं। शिथिल...थकी...पराजित... !

जितेन्द्र

●

घूँसे

"मुकुन्दी !"

फर्श पर फैले हुए गड्ढों को झाड़ू से खुरच-खुरच कर वह साफ़ करती जा रही थी। इन छोटे-छोटे, तिल की तरह बिखरे हुए गड्ढों को साफ़ करना कोई आसान काम नहीं। फिर भी वह इसे सर्वथा निर्विकार भाव से किये जा रही थी। गर्द के बादलों के बीच, मिट्टी के अंधड़ों को नाक और मुँह से सोखनेवाली वह एक भूतिनी-सी दिख रही थी। ठिगनी, बेडौल और दोहरे बदन की !

उसने अनुभव किया कि उसकी पीठ पर धमाधम दो घूँसे पड़े हों। इसमें ग़लत क्या अनुभव किया ? उसका नाम जो ऐसा है। टूटी हुई खिड़की के

पास उसका पति खड़ा, अखबार के पन्नों में सिर धँसाये कह रहा था, "मुकुन्दी ! जिन्स का भाव फिर बढ़ने लगा ।"

"अच्छा !" कहने के साथ-ही उसने अनुभव किया कि उसने ठीक उत्तर नहीं दिया ।

"घर में उत्सव पड़ने वाला है, इसीलिए सोचता था कि अनाज पहले से खरीद कर रख दूँ ।" पति ने नजरों को अखबार के पन्नों में गड़ाये हुए कहा ।

उत्सव-सूचना का हर्ष किंचित वैसा-ही था जैसे किसी धोबिन से उसका पति कहे कि 'ऐ रे । ज़रा इस गठरी को घाट तक तो पहुँचा दे !' और उसके ओठों पर किसी हरकत की निशानी न हो और वह उसे चुपचाप लाद ले । वह भी तो एक मांस पिंड को गठरी की तरह ढो रही है । बोली, "अब तो मेरे पास सिर्फ़ एक छागल है ।"

"नहीं ।" उसके पति ने उत्तर दिया । "इस बार मेरी साइकिल बेची जायगी ।" और वह बड़बड़ाता हुआ अखबार पढ़ने लगा । मुकुन्दी ने प्रतिवाद किया, "साइकिल निकाल देने से तुम्हारे हाथ-पाँव कट जायेंगे ।"

इसी तरह हर बार तो ज़रूरत पड़ने पर उसका पति कहता रहा है, "नहीं-नहीं, अपने गहने रहने दो, मैं अपनी साइकिल रख कर काम चला लूँगा ।" और फिर थोड़ी देर बाद कहता, "लेकिन साइकिल निकाल देने से तो हाथ-पाँव कट जायँगे ।" आज मुकुन्दी ने उसकी मनचाही पहले ही कह दी । यह बात और है कि यह कहते हुए उसका स्वर कुछ आर्द्र हो उठा था ।

झाड़ू सम्हाल कर उसने फ़र्श बटोरना पुनः प्रारम्भ कर दिया । उसका पति कोई बुरा आदमी नहीं । अगर उसमें कोई बुराई है, तो सिर्फ़ इतनी कि ऊपर रहने वाली बंगालिन मास्टरानी को दीदी कहता है और अवैध सम्बन्ध कायम किये हुए है । बड़ी चोंचलेबाज़ औरत भी तो है । मीठी-मीठी बातें करके गले पर छुरी चला देती है ! डायन कहीं की ! उसी के चक्कर में पड़ने का तो यह नतीजा है कि उसका पति उसे कभी-कभी पीटने लगा है । पीटने तक की तो कोई बात नहीं । सैकड़ों ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो अपने पतियों द्वारा पीटी जाती हैं । लेकिन जब वह उसे नमिता की तरह बनने का उपदेश देता है तो उसका जी जल जाता है ।

उसके बच्चे सिब्बी को भी उस डायन ने मिठाई, बिस्कुट और चाकलेटों में अपने टोने का ज़हर दे दिया है । इसीलिए अब वह उसके पास रहना

पसन्द नहीं करता। उसकी सूरत से भी नफ़रत करता है। उसे गालियाँ देता है। उसका मुँह चिढ़ाता है। इसीलिए तो उसे इस दूसरी गठरी को खोल कर उधेड़ने की हिम्मत नहीं हो रही है। उसके चेहरे पर खून के कतरे उतरने लगे।

पति आफ़िस चला गया। सिब्बी भी नमिता के साथ स्कूल चला गया तो मुकुन्दी ने अपने झाड़ू देनेवाले अधूरे काम को फिर से सम्हाल लिया।

उसने अभी तक मुँह नहीं धोया और इसकी किसी ने कुछ चिन्ता नहीं की।

उसने अभी तक कुछ खाया नहीं और उससे किसी ने कुछ कहा नहीं।

एकाएक उसे महसूस हुआ कि गले में कुछ फँस गया है। उसने झाड़ू वहीं रख दिया। ध्यान को दूसरी ओर ले जाने का सतत प्रयत्न किया। इस पर भी जब मन की बेचैनी कम न हुई तो उसने एक पान लगा कर खा लिया। जी कुछ हलका हुआ और फिर फ़र्श को खरोंच खरोंच कर वही ठिगनी बेडौल और दोहरे बदन की भूतिनि गर्द के अम्बरों को नाक और मुँह से सोखने लगी।

थोड़ी देर बाद, बटोरने का काम समाप्त हो गया। बर्तनों को साफ़ करने के लिए, उन्हें समेट कर वह पनाले के पास उठा ले आयी।

माँजने के बाद ये बर्तन रोज़ चमकने लगते हैं। लेकिन उसकी उँगलियाँ रोज़-ब-रोज़ मोटी, भद्दी और खुरदुरी होती जा रही हैं। इनकी स्पर्श-शक्ति मरती जा रही है।

दीवार के पास धुले बर्तनों को औंधा कर उसने उन्हें सूखने के लिए छोड़ दिया। धूप आसमान पर पतंग की तरह टँगी थी। छोटी-छोटी कमीज़ और नेकरों के एक गट्ठर को उसे धोना और बाकी है।

फट! फट!! पत्थर पर चोट खा कर कपड़े बोल उठते थे। मुकुन्दी अनुभव कर रही थी कि 'फट! फट!' के ये शब्द और उसकी ज़िन्दगी के स्वर जैसे सहोदर हों।

कुछ कपड़े धुल गये तो उसने एक-एक को झटका कर अर्गनी पर डालना शुरू कर दिया। इस बार नेकर झटकारते-झटकारते उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह औंधिया कर ज़मीन पर गिर पड़ी। हाथ का नीला नेकर मिट्टी से लिथड़ गया। मुकुन्दी की आवाज़ सुन कर सामने के बरामदे की अँधेरी कोठरी से नन्हकू की माँ भागती हुई आयी। मुँह पर पानी के छींटे मारे, मुँह धोया, तब होश आया।

मुकुन्दी जब उठी, तो उसे बेहद कमज़ोरी मालूम हो रही थी। चेहरे का

पीलापन, उसकी बदसूरती को ढँकता हुआ उभर आया था। वह डरी-डरी-सी लग रही थी।

दूसरी अंगनाई से आवाज़ आयी, "दुलहनिया रे! चिट्ठी आयी है।" आवाज़ की पहली चोट ने उसे चिहुँका दिया। चिहुँकने के सदमे से सम्हलते-सम्हलते उसे कुछ देर लगी कि तब तक शब्दों का अर्थ तिरोहित हो गया। उसका पति कोई बुरा आदमी नहीं। जब-जब वह मिरगी के थपेड़ों को खा कर गिर पड़ती है तब तब उसका पति ही तो है, जो उसके मुँह पर पानी के छींटे मारता है, और "क्या है, मुकुन्दी। क्या है रे।" कह कर उसकी तबीयत का हाल जानना चाहता है। लेकिन हर बार जब वह थोड़ी देर के बाद स्वस्थ हो कर कहती है, "ठीक हूँ! ठीक हूँ!" तो उसका पति सदैव ही तिक्त घुटन और पीड़ा का अनुभव करता है। उसका पति अच्छा है, क्योंकि कम-से-कम वह अपने इन भावों को भी उससे छिपाता तो नहीं। उसे किसी भ्रम में तो नहीं रखता।

दूसरी अंगनाई से आवाज़ दुहरायी गयी।

लिफ़ाफ़े की काली-काली मुहरों के बीच से पुरानेपन और थकावट की भाप उठ रही थी, जैसे उसने डाक से यात्रा न करके पैदल सफ़र की दूरी तय की हो। मुकुन्दी ने उसके खोल को सम्हाल कर उधेड़ा।

शिकोहाबाद,
१७ अक्टूबर ५५

पूज्यनीया,

सादर प्रणाम...

चाची से मालूम हुआ कि अब आप बनारस से आरे चली गयी हैं, क्योंकि जिनसे आपका ब्याह हुआ है, वे वहीं रहते हैं। चाची कहती हैं कि अब आप वैसी नहीं रहीं। अब आप हमेशा रेशमी साड़ियाँ पहनती हैं और बदन गहनों से लदा रहता है। इसलिए अब आप मेरी बातों का जवाब न देंगी। और न अब आप मेरे फटे-पुराने कपड़ों की मरम्मत करती हुई घंटों बैठी रहेंगी। उनका तो यहाँ तक कहना है कि अब आप मेरा नाम भी भूल गयी होंगी और मिलने पर शायद ही पहचान सकें। यही कारण है कि मैं आपको सारी बातें विस्तार से याद दिलाना चाहता हूँ।

मेरा नाम हरदयाल है। मैं मेट्रिक में पढ़ता हूँ। मेरे पिता जी खोये की अंकियाँ बना कर सड़कों पर बेचते हैं और मेरा भाई जीने की सीलनदार गीली

मिट्टी पर बोरे का टुकड़ा बिछा कर वे जिल्द किताबों को हथौड़ी से पीट-पीट कर उन्हें जिल्द पहनाता है। आप जब चाची के साथ ऊपर रहने के लिए आयी थीं, तब पिता जी ज़िन्दा थे। एक दिन उन्होंने आपको बर्फ़ियाँ खिलायी थीं, जो आपको बहुत अच्छी लगी थीं। आपके भाई ऊँची आवाज़ में बोलते हैं, जिसे सुन कर शुरू-शुरू में हम सबको बड़ा डर लगा करता था। उसी साल शिकोहाबाद में उनकी नौकरी लगी। वे बहुत गुस्सैल मिज़ाज के हैं और बात-बात में चाँटों से गाल लाल कर देने की धमकी देते हैं।

उन्हीं के डर से, उनके आने के पेशतर ही आप मुझे डाकखाने भेज कर चिट्ठियों की बाबत पूछ-ताछ करा लिया करती थीं। लेकिन आज तक मैं यह न समझ सका कि ये चिट्ठियाँ कैसी होती थीं और इन्हें आप अपने भाई से क्यों छिपाना चाहती थीं। कई बार मैंने आपकी चिट्ठियाँ भी डाक के हवाले की हैं और उनका जवाब भी आप तक पहुँचाया है। इन चिट्ठियों को आप किसी कालेज में भेजती थीं और पाने वाले का नाम शायद चन्द्रदत्त होता था। उन्हीं के नाम से कई एक बार आपने मनीआर्डर भी भिजवाये थे।

जब चिट्ठी आने में देर होती, तब आप उदास रहने लगतीं। आपकी यह उदासी मुझे बेहद परेशान कर देती थी। आपको मालूम नहीं, तब मैं अकेले में ईश्वर से मनाता था कि खूब जल्दी-जल्दी चिट्ठियाँ आयें।

आप मुझे बहुत भली लगती हैं।

इसीलिए जब कभी चाची आपको डाँटतीं या राममोहन भाई रोब जमाते तो मैं अपने को काबू में न रख पाता और आपकी तरफ़ से बोलता था।

अपनी भौजी को मैं फूटी आँख नहीं भाता था। जब लोगों के उकसाने में आ कर होली के दिन मैंने उन पर रंग की शीशी उँड़ेलनी चाही, तो उन्होंने मेरी उँगलियाँ मरोड़ दीं। मुझे रोता देख कर आपने कहा था, "आओ, मेरे ऊपर रंग डाल दो!"

सच-सच बताऊँ? उस से तो मैं यों ही रंग खेलने चला गया था। सचमुच तो मैं आप ही से खेलना चाहता था! रंग ले कर आपकी ओर गया भी था, लेकिन छोड़ने की हिम्मत नहीं हुई। सोचता था, कहीं आप डाँट न दें।

उस दिन एक लम्बे अर्से के बाद एक लम्बी चिट्ठी आयी थी। उसे पढ़ने के बाद आप घंटों रोती रहीं। काफ़ी देर बाद आपने बताया कि

चन्द्रदत्त कठिनाइयों के कारण इम्तहान न दे सकेंगे और अब नौकरी की तलाश में हैं।

बहुत सी बातें याद आ रही हैं।

एक दिन पिता जी कहीं से खोया खरीदने सुबह ही चले गये थे और शाम तक लौटने वाले थे, इसी बीच भौजी से झगड़ा हो गया। उस दिन तो मैंने निश्चय कर लिया था कि पिताजी से इसकी पूरी शिकायत किये बिना खाना न खाऊँगा। आपने बहुत मना कर अपने हाथों मुझे खिलाया। पेट भरा तो नींद आ गयी। शाम होने पर जब उठा तो आपकी आवाज़ ऊपर-नीचे कहीं न सुन पड़ी। मालूम हुआ, आप बनारस चली गयीं। उस दिन मैं फूट-फूट कर रोया।

कुछ दिन बाद राममोहन भाई लौट कर आये। लेकिन आप न आयीं। इस बार उनमें और चाची में खूब ज़ोर की लड़ाई होती थी। चाची कभी-कभी रो पड़तीं। मैं छिप-छिप कर उनकी बात सुनता था। उनकी बातों में, एक बार चन्द्रदत्त का नाम भी सुन पड़ा था। एक बात पूछूँ ? क्या आपकी शादी चन्द्रदत्त से हुई है ? तब तो आपकी खुशी के क्या कहने ? कृपया उनसे मेरा प्रणाम कहिएगा।

जब मालूम हुआ कि अब आपकी शादी हो रही है तो मैंने भी बनारस आने के लिए ज़िद की। चाची और राममोहन भाई से बड़ी मिन्नतें कीं, उनके ताँगे के पीछे-पीछे काफ़ी दूर तक दौड़ता भी रहा, लेकिन वे लोग मुझे साथ नहीं ले गये।

लौटने पर जब लोगों से मैंने आपका पता पूछा तो वे मुझ पर हँसते थे और पता भी नहीं बताते थे। आख़िरकार बहुत पूछने पर चाची ने बताया है। गोकि वह समझती हैं कि न मेरी चिट्ठी पहुँचेगी, न उसका जवाब आयेगा ? अतः आपसे प्रार्थना है कि पत्र का उत्तर शीघ्र दें।

आपका आज्ञाकारी

हरदयाल

मुकुन्दी ने ख़त को ब्लाउज़ के अन्दर डाल लिया। दुबारा पढ़ेगी। क्योंकि एक बार में वह उसे अच्छी तरह नहीं पढ़ सकी। उसने महसूस किया कि तेरह साल पहले के स्वरों को जब तक अनेक बार दुहराया नहीं जायेगा, उसे उनकी असलियत पर विश्वास न होगा।

आसमान पर टँगी हुई धूप की पतंग धीरे-धीरे नीचे खिसक रही थी। लोहे के ऊँचे दमचूल्हे में कोयला भर कर वह उसे सुलगाने लगी।

थोड़ी देर बाद अँगीठी ज़हरीली और गलाघोंट गैस के फ़व्वारे उगलने लगी। उसका दम घुटने लगा। धुएँ का अम्बार दालान में भर गया था और छप्पर के सूराख से हो कर उसका निकलना आसान न था।

धुएँ के अम्बार में, तिल-तिल कर धँसती जानेवाली, अब वह एक काली बेडौल और दोहरे बदन की मूर्तिनी थी, जिसने ज़िन्दगी के केन्द्र को बाँध कर वहीं स्थिर कर लिया था

"मुकुन्दी!"

उसने अनुभव किया, उसकी पीठ पर धमा धम दो घूँसे पड़े हों। उसने ग़लत क्या अनुभव किया? उसका नाम जो ऐसा है।

पलट कर देखा धुएँ के काले-काले धब्बों के पार उसका पति खड़ा कह रहा था, "सुनती क्यों नहीं? बहरी हो गयी क्या?"

मुकुन्दी को लगा जैसे वह सचमुच बहरी हो गयी। उसने छलछलायी आँखों से पति की ओर देखा, जैसे पहचानने की चेष्टा कर रही हो कि क्या यही चन्द्रदत्त है?

कमल जोशी

●

भुलावे में

उस दिन समझा, हमारी दुनिया के अलावा और भी एक दुनिया है। हमारे घेरे के बाहर और भी एक संसार है।

निरन्तर शोक-ताप-अभाव और बीमार अर्द्धांगिनी का अव्यक्त गुंजन तथा आधा दर्जन बाल-बच्चों का ऊधम, चिल्ल-पों और धूम-धड़ाका एक दिन—कम-से-कम एक दिन तो कुछ समय के लिए रुक गया था। आश्चर्य से सबने उस नूतन ग्रह को देखा।

हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे—मैं, मेरी पत्नी और लड़के-लड़कियाँ। जिस मकान की ईंटें हिल रही हैं, सफ़ेदी झड़ चुकी है, दमा के रोगी की तरह चढ़ने-उतरने में सीढ़ी काँपती है, टूटी छत से पानी की बूँदें जब-तब टपक पड़ती हैं—वहाँ एकाएक साड़ियों की रंग-बिरंगी बहार, गहनों

की चमक, साबुन, पाउडर, कीमती सिगरेट, घी और गर्म मसाले की छौंक तथा मांस की गंध बड़ी अजीबो-गरीब-सी लगी। हमारे रोशनदान में रहने वाली छिपकली तक ने अवाक हो कर देखा था, पैसेज के उस ओर लाल रोशनी से आलोकित खिड़की को !

शायद दोपहर को तीन बजे वे आये थे। इस बीच ही सब चीज़ें यथा स्थान रख दी गयी थीं और कमरा सज गया था। कोई झमेला, कोई झंझट, ज़रा सी आवाज़ तक नहीं।

कंकड़-पत्थर मिले हुए आटे की रूखी-सूखी रोटियाँ खा कर धीरे-धीरे मेरी सन्तान सो गयी। तारपीन के अभाव में मिट्टी का तेल और कपूर का एक रासायनिक मिश्रण बना कर गृहिणी ज़मीन पर बैठी हुई पैरों पर मालिश कर रही थी। और मैं, लाल फीते से बँधी हुई दफ्तर की फ़ाइलें सामने रखे हुए कभी ऊँघता हूँ तो कभी हाथ से मच्छर मारता हूँ। लाल, मंगलग्रह की तरह लाल स्तब्ध उस कमरे की ओर नज़र पड़ते ही फिर मैं अपनी दृष्टि वहाँ से नहीं हटा सका।

कम किराये के इस बहुत पुराने मकान में बिजली की रोशनी का प्रबन्ध नहीं है। मैं कभी मोमबत्ती और किसी दिन टूटी लालटेन से काम चलाता हूँ। इस मकान में रहने वाले सब परिवारों का यही हाल है। किसी के यहाँ लैम्प, किसी के यहाँ ढिबरी तो किसी के यहाँ कुछ भी नहीं। इसलिए, जिस दुनिया में अँधेरे का ही बोलबाला हो, वहाँ यदि बहुत रात तक एक कमरा इतने सुन्दर प्रकाश से आलोकित रहे तो उस ओर नज़र पड़ते ही क्या आपकी नींद भी नहीं भाग जायगी। नज़र गड़ाये हुए सोचेंगे, ये कौन हैं। इस नये ग्रह के बाशिंदे कैसे हैं। जान गया कि पेट्रोमैक्स का लैम्प जल रहा है। उस पर ही लाल रंग का कागज लपेट दिया है। लाल रोशनी से कमरा और भी सुन्दर तथा रहस्यमय हो गया है। मेरी पलकें नहीं झपीं। एक युवती। खिड़की के पास दो बार आयी। पहली बार एक प्लेट ले गयी। दूसरी बार सॉस-पेन लेने आयी। जवान, सुन्दर ! साँस रोक कर मैं चुपचाप देख रहा था। काफ़ी रात को एक व्यक्ति उस कमरे में आया। दुबला-पतला, लम्बा, सूट-बूटधारी। जैसे बहुत परेशान और थका-माँदा है। उस खिड़की के सामने खड़े-खड़े उसने तीन-चार सिगरेट फूँके। दृश्य अब अच्छा नहीं लग रहा था, इसलिए मैं सो गया। जैसे, उस व्यक्ति की बजाय यदि वही

युवती और भी दो-चार बार खिड़की की ओर आती, ज़रा देर खड़ी रहती तो अच्छा लगता। लेटे-लेटे सोचने लगा, सूट-बूटधारी वह व्यक्ति चन्द्रमा में कलंक की तरह वहाँ क्यों आ गया। पहले ठीक था।

सुबह हमारा परिवार ज़रूर जल्दी उठता है। हमारे बाद बगल वाले कमरे का जुगलकिशोर, रामधारी सिंह। हम सब लोग दफ्तर के बाबू हैं। क्लार्क। हमें जल्दी उठना ही पड़ता है। इस समय हमारी गृहस्थी में हो-हल्ला ज्यादा है, जल्दीबाजी है। ज़ोर-ज़ोर से दोनों लड़के पढ़ रहे हैं—स्कूल का सबक रट रहे हैं। लीला और वीणा यानी मेरी दोनों बड़ी लड़कियाँ रसोई बनाने में लगी हुई हैं। अपने दोनों अपंग पैर ज़मीन पर फैलाये हेमा चावल बीन रही है। तिरछी नज़रों से मैंने उस ओर देखा—पैसेज के उस तरफ़ वाले पार्टीशन पर हल्की धूप पड़ रही है। लेकिन वहाँ अब भी निद्रा है। दरवाज़ा बंद है।

हूँ, रात को उनके कमरे का उज्वल प्रकाश और हमारे कमरे की टूटी लालटेन का वैषम्य चाहे जितना ही नज़र आया हो, कितना ही विचित्र और चमकीला क्यों न लगा हो, लेकिन अब, सुबह, जब एक ही तरह के काले कौओं को उनकी तथा अपनी छत पर बैठे देखा तो संतोष की साँस ली। भले ही बड़े आदमी हों—सोचा—जब एक ही मकान में कमरा किराये पर लिया है, तब काई जमे हुए इस हौज़ के पानी से ही मुँह धोना पड़ेगा, टूटी-फूटी सीढ़ियों पर ही चढ़ना-उतरना होगा। कोई चारा नहीं है। रेल में तीसरे दर्जे के यात्री जैसे भाव मेरे मन में उठे। साफ़-सुथरे और अच्छे कपड़े पहने हुए यदि कोई मुसाफ़िर तीसरे दर्जे के डिब्बे में घुसता है और एक ही बेंच पर मैले-कुचैले और गन्दे कपड़े वालों के पास बैठता है तो क्या यह ख़याल कर खुशी नहीं होती कि हमारी तकलीफ़ें उसे भी भोगनी पड़ेंगी। कम-से-कम सफ़र में तो कोई वैषम्य नहीं रहेगा। दो-चार दिन बाद परिचय और मेल-मुलाकात भी होगी और यह स्वाभाविक ही है। नीम की दातुन से दाँत साफ़ करने के बहाने उस ओर के पार्टीशन-संलग्न दरवाज़े को बहुत देर तक सतृष्ण नयनों से देखता रहा। जैसे यह भी एक काम है।

एकाएक जाने कौन पीछे आ कर खड़ा हो गया।

"बाबूजी, नहा लीजिए, नहीं तो दफ़्तर को देर हो जायगी।"

चौंक गया। लीला! चिढ़ गया।

"दफ़्तर को देर होगी, मुझे क्या इसका ध्यान नहीं है ?"

लीला ने कुछ आश्चर्य से मेरी ओर देखा। कारण, आठ बजने के साथ-साथ थाली परोसने के लिए मैं तकाज़ा करना शुरू कर देता हूँ। दोनों बहनें यह जानती हैं। चुपचाप अपने कमरे में चला आया।

देखता हूँ कि मेरे बड़े साहबज़ादे राजेन्द्र का मुँह फूला हुआ है। अब तो मेरा पारा और भी चढ़ गया।

"क्या हुआ ?"

"तुमने पढ़ाया नहीं, बाबूजी।"

"दफ़्तर की चक्की से तो फुर्सत मिलती नहीं, फिर तुझे कब पढ़ाऊँ ?"

राजेन्द्र चुप हो गया। जल्दी-जल्दी नहा-धो कर खाने बैठा। छोटी लड़की वीणा ही थाली परोसती है। परोसते समय उसके हाथ से चावल के दो-चार दाने ज़मीन पर गिर गये। बस, मैं बिगड़ उठा। "ज़रा भी सहूर से काम नहीं कर सकती—इतनी बड़ी हो गयी—"

मुँह लटकाये हुए वीणा सामने से हट गयी। सफ़ेद और उदास आँखों से हेमा मेरे मुँह को देखने लगी, बिना उस ओर देखे ही मुझे मालूम हो गया। कपूर और मिट्टी के तेल की बू भी जैसे आने लगी।

कपड़े पहन कर पान चबाते-चबाते जब मैं बाहर बरामदे में आ कर खड़ा हुआ तो देखता हूँ कि पैसेज के उस तरफ़ वाला दरवाज़ा खुला है। इतनी देर बाद नींद खुली है। नींद खुल गयी है, यह मैंने खुद ही देख भी लिया।

खिड़की की ओर उसकी पीठ थी, वेणी खुली हुई। शरत् की प्रातःकालीन धूप उसकी पीठ और कानों पर पड़ रही थी। मुँह नहीं दिखायी दिया।

यह समझते देर न लगी कि रात को जिसे दो बार खिड़की में देखा था, वही है।

सीढ़ी से नीचे उतरते-उतरते मैं रात की छवि याद करने लगा।

सड़क पर, यहाँ तक कि ट्राम की भीड़-भाड़ में भी उसी मूर्त्ति को मन-ही-मन गढ़ता रहा। दफ़्तर में सामने लेजर रखे हुए भी। फिर, उस सूट-बूटधारी व्यक्ति की ज्यों ही याद आयी, दिल कुछ भारी-भारी-सा हो गया। काम में मन लगाया।

शाम को घर लौट कर देखता हूँ कि राजेन्द्र के हाथ में चाकलेट का पैकेट है, महेन्द्र के हाथ में मिठाई।

"कहाँ से आयीं ये चीजें ? किसने दीं ?" मेरी आवाज़ कुछ तेज़ थी।

लीला और वीणा के हाथों में भी कुछ है।

"ये सब किसने दिया ?"

"हमारी नयी भाभी ने !" वीणा ने खुश होते हुए कहा।

"हाँ, बहुत बड़ी आदमी हैं।" लीला भी सामने आयी, "भाभी के पति इंजीनियर हैं।"

मैं कपड़े नहीं बदल सका। हाथ-मुँह धोना भी नहीं हुआ। चीज़ों को अपने हाथ में ले कर देखने लगा। "टाटा नगर से आयी हैं," वीणा ने कहा, "कहीं भी जब जगह नहीं मिली तो यहाँ आना पड़ा है।" वीणा की ओर उत्सुक दृष्टि से देखने ही वाला था कि इतने में दरवाज़े पर छाया नज़र आयी।

सुन्दर, स्वस्थ युवती। बड़ी-बड़ी आँखें और धनुष जैसी भौंहें। इकहरा बदन। जीवन में यह प्रथम परिपूर्ण यौवन मैंने देखा।

लीला और वीणा को बीस और अठारहवाँ लगा है। लेकिन उनके शरीर में यौवन नज़र नहीं आता। और यह वीणा जब पेट में थी, बीस वर्ष की उम्र से ही, हेमा को गठिया का रोग लगा है—तब से आज तक अपने पैरों पर वह सीधी खड़ी नहीं हो पाती है। मेरी आँखें उस समय नीचे झुकी हुई थीं, सैंडल में चमकते हुए गोरे पैरों के लाल नाखूनों पर।

"ओ, आप शायद अभी दफ़्तर से लौटे हैं।"

"हाँ," मैंने सिर उठाया। उसे ऊपर से नीचे तक देखा। कपाल से हाथ छुआते हुए युवती ने नमस्कार किया। मैंने भी।

"आपको तकलीफ़ तो होगी," चौखट का सहारा लेने के लिए युवती ने एक कदम आगे बढ़ाया, "वो तो कुछ सुनते ही नहीं, यहाँ कुछ काम से आये हैं—एक तो काम और ऊपर से दोस्तों से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती।"

मुस्कराते हुए पूछा, "कहिए क्या काम है ?"

कुछ शर्माते हुए युवती हँसी या इसलिए कि मैं फ़ौरन ही राज़ी हो गया ! "बाजार से कुछ मँगाना था।"

"यह कौन बड़ा भारी काम है," बहुत खुश होते हुए मैंने कहा। एकदम सीधा खड़ा हो गया। "कहिए, क्या चाहिए ? अभी ला देता हूँ।"

"एक दर्जन अंडे।" उसके मुख पर तब भी मुस्कराहट थी। हाथ बढ़ा कर उसने पाँच का नोट दिया।

"मैंने कई बार सोचा कि आपसे कहूँ या न कहूँ। लेकिन यहाँ मेरे पास अपना तो कोई है भी नहीं।"

"तो इसमें क्या हुआ?" हँसते हुए कहा, "इतना शर्माने की क्या बात है। जब एक ही मकान में एक साथ रहते हैं तो फिर पास-पड़ौसी ही काम नहीं आयेंगे तो क्या कोई दूसरा आयगा!" कहकर मैंने लीला की ओर देखा। उसकी नज़र दूसरी ओर थी। वीणा तब तक वहाँ से जा चुकी थी।

"आपके लड़के-लड़कियों से तो दोस्ती हो गयी," उसने कहा, "लेकिन उनकी माँ—शायद इनवैलिड हैं?"

"जी।" कृतज्ञतापूर्वक हँसते हुए अपने बरामदे में आकर खड़ा हो गया। मेरे पीछे-पीछे वह सीढ़ी तक आयी।

"नयी जगह घर बसाने में पचासों छोटी-मोटी चीज़ों की ज़रूरत पड़ती ही है! लेकिन उन्हें इसकी कोई फ़िक्र नहीं, जैसे घर से कोई मतलब ही नहीं। और मुझे परेशानी उठानी पड़ती है।"

"आप इतनी परेशान क्यों होती हैं?" सीढ़ी पर अन्य किसी के न रहने की वजह से मेरी आवाज़ कुछ ज्यादा मधुर हो गयी। "आप कोई संकोच न करें, जब जिस चीज़ की ज़रूरत हो बेखटके कह दें। अगर इतना भी नहीं कर सकता तो फिर पास-पड़ौसियों से क्या फ़ायदा।" परिपूर्ण यौवन के सामने अकेले होने से मेरी धड़कन तेज़ी से चल रही थी। पलकें नहीं गिरती थीं।

"अंडे ताज़े और अच्छे हों।"

"यह कहने की ज़रूरत नहीं।" लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ मैं बाज़ार की ओर चला।

यही महारानी हैं। एक दिन में इतना आगे, यह तो स्वप्नातीत है। नहीं, ऐसी साफ़ और एकटक दृष्टि से किसी भी नारी ने मेरी ओर नहीं देखा। इतनी मिठास और सुन्दरता से बातें नहीं कीं। मेरे यौवन या बाबूगिरी-जीवन के इतिहास में ऐसा कोई चिन्ह नहीं है। लीला और वीणा तो मेरी अपनी लड़कियाँ हैं। कह सकते हैं कि उनकी उम्र बढ़ती जा रही है और मैं अब तक उनके हाथ पीले नहीं कर सका हूँ। लेकिन पिता से अच्छी तरह दो बातें करने में नुकसान क्या है। डर के मारे आँख से आँख मिला कर बातें भी नहीं करतीं। मानो मैं राक्षस हूँ, उन्हें खा जाऊँगा। सुन्दर आँखों का

बात जाने ही दीजिए। और कौन देखेगा? हेमा? अपनी सफेद और निर्जीव आँखों से वह मेरी ओर देखती है, यह ठीक से नहीं कहा जा सकता। यह कहना बेहतर होगा कि किसी तरह जगती रहती है। नीचे नल के पास एक दिन जुगलकिशोर की पत्नी से आँखें चार हुई थीं। हुई थीं का मतलब कि होने वाली थीं। लेकिन उसने फौरन पाँच गज लम्बा घूँघट काढ़ लिया और नल के बगल में अपनी बाल्टी रख कर चली गयी। रामधारी की जनानी को नल के पास तो दूर, किसी दिन खिड़की पर खड़े भी नहीं देखा। फिर और कौन देखेगा? ट्राम-बस में? पैंतालीस-छयालीस वर्ष के दफ्तर के बाबू की ओर क्या कभी कोई देखती है?

पाँच-सात दुकानों में अच्छी तरह देख-भाल और दर-भाव कर मैंने ताजे अंडे लिये और घर की ओर चला। सोच रहा था। सोचते-सोचते चला जा रहा था। कानों में ये शब्द तब भी गूँज रहे थे—उन्हें तो जैसे घर से कोई मतलब ही नहीं। कोई फिक्र नहीं, कोई मतलब नहीं—यह तो कल रात को दूर से एक बार देख कर ही मैं समझ गया था। बड़े-बड़े बाल, लम्बा, पतला और लोफ़र जैसा चेहरा। खिड़की पर पैर रखे ही तीन-चार सिगरेट फूँक दी थीं। हूँ।

सीढ़ी के पास पहुँच कर खड़ा हो गया। मेरा अंधकार भरा कमरा। समझ गया कि आज मोमबत्ती या मिट्टी का तेल, कुछ भी नहीं है। और अगर कुछ है भी तो वह मेरी प्रतीक्षा में रख दिया गया है। यही हाल रामधारी के कमरे का है। वहाँ भी अँधेरा है। युगलकिशोर के कमरे में कुछ टिमटिमाती रोशनी है—लेकिन उसका होना या न होना बराबर है। सिर्फ एक खिड़की में तेज रोशनी की झलक है। सच, ऐसा लगता है जैसे हमारे कमरे के पास एक नया ग्रह आया है।

पैसेज पार कर पार्टीशन के पास पहुँचते ही वह निकल आयी। जैसे अभी-अभी गुसलखाने से निकल कर चली आ रही हो। हाथ में गीला तौलिया। एक मीठी सी गंध आ रही है।

"आपको मैंने बहुत तकलीफ दी।"

"बार-बार यह कह कर मुझे क्यों शर्मिंदा करती हैं।" जमीन पर उसके पैरों के पास अंडों का लिफाफा रख दिया।

"एक नौकर तक नहीं मिला," झुककर उसने लिफाफा उठाया। "हम जब आ रहे हैं तो इन नौकरों को छुट्टी दे दो, अपने देश ही आयेंगे—क्या अक्लमन्दी थी—कलकत्ता में नौकरों की क्या कमी, बहुत मिल जायेंगे—मिल गये!"

अक्लमन्दी किसकी थी, फ़ौरन ही समझ गया। बुद्धिमानी का अच्छा नमूना देखने को मिला। गम्भीर आवाज़ में बोला, "चिराग ले कर खोजने पर भी यहाँ नौकर नहीं मिलता। मकान या फ्लैट मिलने की तरह ही नौकर मिलना बहुत मुश्किल है। वे अभी तक नहीं आये?"

"रात को बारह-साढ़े बारह के पहले वे कभी लौटते ही नहीं।" हिरणी जैसी अपनी बड़ी-बड़ी आँखें खुशी से नचाते हुए युवती हँसी। "उनकी कुछ न पूछिए।"

"रोज़ इतनी देर से आते हैं?" मुझे कुछ कौतूहल हुआ। "रात को बहुत देर से लौटते हैं?"

"जी, हर रोज़।" मानो इस आदत की वह अभ्यस्त हो चुकी है। अब उसे बुरा नहीं लगता, नहीं तो यूँ हँसते हुए क्यों कहती। "वहाँ जो हाल है, यहाँ भी वही। उनके दोस्तों मुलाकातियों का तो कोई अन्त ही नहीं है। आधी रात को आयेंगे, अपने फलां दोस्त के यहाँ मैं खा आया हूँ या फलां के साथ होटल में, अब मैं नहीं खाऊँगा।"

लेकिन यह क्या अच्छा है? मेरे मुँह से प्रायः निकल पड़ा था। गम्भीर भाव से कहा, "इतनी अति भी ठीक नहीं।"

चौखट पर आँखें गड़ाये उसने जाने क्या सोचा। या सोच-विचार दूर करने के लिए अपने ओठों पर वह मुस्कराहट ले आयी। अब मेरे बारे में—

"आप बहुत मेहनत करते हैं।"

"जी हाँ," कुछ दृढ़ स्वर में कहा, "मर्द के आलसी होने पर घर-गृहस्थी में बरक्कत नहीं होती। सन्यासी या किसी कुँवारे की गृहस्थी थोड़े ही है।" जान बूझ कर ही मैंने अच्छी ओर इशारा किया।

चाकू के फल जैसी चमकती आँखों से उसने मुझे भेद दिया। मेरी फटी कमीज? दो-तीन जगह पैबंद लगा पाजामा—टूटी हुई चप्पल पहनने वाला दफ़्तर का ग़रीब बाबू? नहीं, इस तरह देखने का अर्थ कुछ और ही होता है। यह स्वतन्त्र है।

"अभी-अभी दफ्तर से लौटे और फिर फ़ौरन ही बाजार दौड़ गये, ज़रा भी आलस्य नहीं।"

"आलस्य मन का होता है," ज़रा हँसते हुए मैंने कहा, "या आपका मतलब है कि इस उम्र में इतनी दौड़-धूप अच्छी नहीं लगती?"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। सिर्फ नीचे के ओंठ को दाँतों से दबाये मुस्कराती रही।

बोला, "अच्छा, मैं चलूँ, आपको भी तो काम करना है।"

"हाँ, काम तो करना ही है।" दीर्घ निश्वास ले कर युवती मुड़ी। लम्बा कद, सुडौल शरीर। गोरे रंग पर काले छापे की साड़ी बहुत खिल रही है। ऐसा लगा जैसे मंगल ग्रह के लाल अरण्य की शेरनी हो। अंडों के लिफ़ाफ़े को पकड़े हुए चौखट के उस पार पार्टीशन के पीछे अदृश्य हो गयी। सुन्दर, निर्भीक। मैं देखता ही रह गया।

अपने अँधेरे कमरे में पैर रखते ही रोने के जैसी आवाज कानों में आयी। पारा चढ़ ही जायगा, ज़रा सोचिए। दरवाज़े के पास, अन्दाज़ लगाया, वह वीणा है।

"क्यों, क्या हुआ जो रो रही है?"

"राजेन्द्र है।" लीला की आवाज़। "तुमने सुबह पढ़ाया नहीं, इसलिए स्कूल में सबक नहीं सुना सका, मास्टर ने मारा।"

"ठीक हुआ।" कुछ खीझते हुए मैंने कहा, "थोड़ी-बहुत मार खाना अच्छा है।"

लीला ने आध इंच लम्बा मोमबत्ती का टुकड़ा जलाया। कपड़े बदले और हाथ-मुँह धो कर मैं खाने बैठा। बोला, "इस उम्र में सब बच्चों को ही स्कूल में मार पड़ती है। बिना मार खाये भला कोई आदमी बना है? वकील इंजीनियर, डाक्टर, क्लार्क, प्रोफेसर—एक न एक दिन सब ही स्कूल में पिटे हैं।" राजेन्द्र ने मेरी बातें बहुत ध्यान से सुनीं। लीला, वीणा, महेन्द्र और उनकी माँ ने भी। जैसे मेरे मुँह से ऐसी मीठी बातें उन लोगों ने पहले कभी नहीं सुनीं। जलते-जलते मोमबत्ती एकाएक बुझ गयी। मैं भी खा चुका था। अतः अँधेरे कमरे में बैठे रहने का कोई मतलब नहीं होता। फिर, इतनी मीठी बातों के बाद अगर कोई कड़वी बात मुँह से निकल पड़ी तो हेमा की गृहस्थी चौंक उठेगी—इस डर से धीरे-धीरे बाहर बरामदे से चला आया। जुगलकिशोर के कमरे की टिमटिमाती बत्ती भी तब तक बुझ चुकी थी। सारा घर ही जैसे आठ बजे सो जाता है। इसी कारण उस कमरे की लाल रोशनी वाली खिड़की और भी अधिक मानो निकट मालूम हो रही है। हाथ बढ़ाने पर कुछ मिलेगा?

पैरों की आवाज़ सुनायी पड़ी? बर्तन-भांडे की ठन-ठन आवाज़?

कान खड़े रखे। ऐसा लगता है जैसे उस कमरे में अभी संध्या हुई है। नहा-धोकर और साज-शृङ्गार कर वह युवती रसोई बनाने बैठी है। उसकी सुन्दर मूर्त्ति मेरी आँखों के सामने नाच रही है। ध्यान-मग्न हो खिड़की को देखता रहा। नहीं, इस ओर वह एक बार भी नहीं आयी, तश्तरी या प्याली लेने। केवल उस तरफ की दीवार पर एक बार एक छाया नजर आयी। समझ गया, दीवार के उस ओर जो जगह है वहीं बैठ कर वह रसोई बना रही है और उल्टी तरफ छाया पड़ रही है। बीच-बीच में छाया हिलती-डुलती है और फिर स्थिर हो जाती है।

बीड़ी बुझ गयी थी। उसे फिर जलाने ही वाला था कि नीचे सीढ़ियों पर किसी के पैरों की आवाज़ सुन कर चौंक उठा। इंजीनियर?

साँस रोके मैं खड़ा रहा। लेकिन फिर कोई आवाज़ नहीं। समझ गया, चूहा था। पुराने मकान में चूहों का उपद्रव ज़रा ज़्यादा होता है। नाली से वे बेखटके जहाँ-तहाँ पहुँच जाते हैं। मोटे और धुँधले रंग के हृष्ट-पुष्ट चूहे।

युवती के कमरे में भी चूहे घुसते हैं। न जाने क्यों यह ख़याल हुआ। खिड़की की ओर देख कर मैंने अपने ओठों पर जीभ फेरी। कल्पना की—वास्तव में एक गंदा और ग़लीज़ चूहा उस कमरे में घुसा है। युवती डर से काँप उठेगी। चीख़ उठेगी। या ग़ुस्से में भर कर दाँत किटकिटाते हुए चूहे के सिर पर गर्म चिमटा फेंक कर मारेगी। या एक बार स्वाभाविक रूप में उसकी ओर देखते ही भले आदमी की तरह वह चूहा भी उसके सुन्दर पैरों के सामने से नाली के रास्ते ही चल जायगा।

कुछ ऐसा ही होगा। यह तो हमारे कमरे में चूहे का प्रवेश नहीं है जो उसे देखते ही मालिश करती हुई हेमा दर्द से चीख़ उठेगी, लीला और वीणा झाड़ू से उसे मारने की कोशिश करेंगी और राजेन्द्र व महेन्द्र सारे कमरे में दौड़ लगायेंगे। पास वाले मकान की घड़ी में दस बजे।

पैर बदल कर रेलिंग पर फिर खड़ा होने ही वाला था कि उसी वक्त पैसेज के उस ओर वाले पार्टीशन का दरवाज़ा खुला। पहले, रोशनी की एक रेखा। फिर प्रकाश की रेखा जैसा ही उज्ज्वल व दीर्घ वही शरीर। मेरे दिल की धड़कन तेज़ी से चलने लगी। पैसेज के बीच में आयी तो मुँह साफ़-साफ़ नज़र नहीं आ रहा था। आश्चर्य, वह इधर ही आ रही है। हमारे कमरे की तरफ़।

रेलिंग छोड़ कर जल्दी से आगे बढ़ा।

"बाल-बच्चे सब सो गये?"

"लीला-वीणा? राजेन्द्र-महेन्द्र?" मैंने कहा, "कुछ ज़रूरत है?"

"उनके लिए अंडे की करी लायी थी।"

अंधकार में ही मुझे मालूम हो गया कि उसके हाथ में एक कटोरी है।

"इतनी रात को और वह भी आप खुद ही लायी हैं। अंडे ही ऐसे कौन ज़्यादा थे, मैं ही तो लाया था।"

"तो क्या हुआ, सब अकेले थोड़े ही खाया जाता है!" युवती हँसी। अंधकार में बारिश की बूँदों जैसी उस हँसी की आवाज़।

बोला, "सोते से उठा कर खिलाया जायगा तो स्वाद नहीं आयेगा। सम्भव है कि कल सुबह आपको इसकी बुराई सुननी पड़े।"

"कोई बात नहीं, आप तो जग ही उठे हैं। ज़रा चख लीजिए, गवाह रहेंगे।"

"यानी मेरे लिए भी आप लायी हैं," हँसते हुए हाथ बढ़ा कर मैंने कटोरी ले ली। "पहले तो मैं खूब अंडा और मांस खाता था—अब भी, अब भी..."

"हाँ, खाना ही चाहिए," अंधकार में एक बार वह फिर हँसी।

"आपने तो शायद अभी तक खाना नहीं खाया।"

"अब खाऊँगी। आधी रात तक खाना लिए बैठी थोड़े ही रहूँगी! अच्छा—"

वह हँसी, जैसे संगीत का स्वर बज उठा।

मेरा सिर चकरा रहा था। नहीं, मेरे लिए ही है। मुझे ही देने आयी थी। मेरे यहाँ रात के आठ बजे से अँधेरा है। सब सो रहे हैं। सात-आठ हाथ की दूरी पर अपने कमरे में बैठे-बैठे भी उसे यह आसानी से मालूम हो सकता है।

मन ही मन हँसा। उस समय तक एक चित्र मेरे मन में छा गया था। जूते चरमर करता हुआ सड़कों पर घूम रहा है—सूट-बूट धारी वह व्यक्ति। एक दोस्त के यहाँ से दूसरे के यहाँ। सिगरेट के धुएँ की तरह तुम हमेशा उड़ते रहो, डूब जाओ, मन ही मन कहा।

सीधा नीचे नल के पास चला गया। इस समय वहाँ कोई भी नहीं है। निरापद।

हाँ, लीला-वीणा यानी हेमा की गृहस्थी को यह सोच कर नहीं जगाया

कि उनका मन साफ़ नहीं है। विशेषतः दोनों लड़कियों का। उस युवती से मेरा बातें करना जैसे उन्हें पसंद नहीं है। कुछ ऐसा ही भाव। नहीं तो सुबह वीणा को मेरे दफ़्तर जाने की इतनी फ़िक्र क्यों थी? शाम को जब तक मैं कमरे में नहीं आ गया तब तक लीला अँधेरे ही में चौखट पर क्यों खड़ी रही थी? अब वे इस करी को भी निर्दोष नज़रों से नहीं देखेंगी। जिनका मन कुटिल होता है वे नहीं देख सकतीं।

हौज़ के किनारे खड़े-खड़े गर्म उपादेय करी को खा गया और हाथ मुँह धो कर ऊपर आया। ऊपर आ कर मैं फिर पहले वाली जगह पर ही रेलिंग का सहारा ले कर चुपचाप खड़ा हो गया।

अब साफ़ नज़र आ रहा था। खिड़की के उस ओर मेज़ पर प्लेट रखे युवती खाने बैठी है। बहुत देर तक देखता रहा उसका स्वाद ले कर धीरे धीरे खाना, फिर हाथ-मुँह धोना, मुँह पोंछना, पान खाना और आईने के सामने खड़े हो कर अपने लाल ओठ देखना। शरीर अलसा रहा है, जंभाई ले रही है। एक बार वह खिड़की के पास आयी। पता नहीं, रेलिंग के सहारे खड़े हुए मुझ पर उसकी नज़र पड़ी थी या नहीं।

लेकिन कुछ देर बाद ही बिजली बुझ गयी। मेरे कानों के पास उस समय गर्म हवा चल रही थी। मानो मैंने सुनी, मंगलग्रह की अँधेरी गुफा में यौवन-तप्त शरीर के करवटें बदलने की आवाज़।

धीरे-धीरे अपने कमरे में आया और सो गया। जाग कर यह देखने की मुझे ज़रूरत नहीं थी कि वह कोट-पैंट धारी साहब रात को किस समय आया था। हमारे बीच वह नहीं था।

सुबह एक बड़ी-सी नीम की दातुअन कर रहा था। बिना किसी बहाने के आख़िर कब तक बरामदे में खड़ा रहता। इस बीच ही वीणा दो बार आ कर देख गयी थी। देखने दो। मैं अपने बरामदे में खड़ा हूँ, इसमें किसी का क्या जाता है। गिद्ध दृष्टि से मैं उस ओर के दरवाज़े पर पड़ने वाली धूप नापने लगा। जैसे आज तो गत कल से भी ज़्यादा देर हो गयी है। नींद खुल ही नहीं रही है।

कुछ देर बाद दरवाज़ा हिला। सोच रहा था कि दातुन मुँह से निकालूँ या नहीं कि उसके पहले ही दरवाज़ा खुल गया।

निकली। वह नहीं। कोट-पैंट और टाई वाला साहब।

चिढ़ कर मैंने मुँह फेर लिया। फिर भी वह साहब मेरी ओर ही बढ़ा। हँसमुख चेहरा। बोला, "प्लीज़, एक टैक्सी बुला दीजिए।"

नीम का कड़वा थूक मैंने निगला। चुप रहा।

"आप कामता बाबू हैं?"

"कामता प्रसाद श्रीवास्तव," अब मुँह खोलना ही पड़ा। पार्कर एण्ड वाकर कम्पनी का सीनियर ग्रेड क्लार्क। आज सत्रह वर्ष से इस मकान में रह रहा हूँ। सोचा, टाटानगर में तुम भले ही इंजीनियर हो या लाट साहब, लेकिन यहाँ क्या!

"उसने भी यही कहा था।" सिर हिलाते हुए उसने दूसरी सिगरेट जलायी। "आपने हम लोगों के लिए बहुत तकलीफ़ की, इसके लिए आभारी हूँ।"

मैं कुछ नरम पड़ गया।

"नहीं, तकलीफ़ क्या," पास-पड़ौसी ही काम नहीं आयेंगे तो क्या दूसरे—"

"दैट्स राइट, वह भी यही कह रही थी, आपकी वजह से हम लोगों को कोई तकलीफ़ नहीं हुई।"

"अभी कहीं बाहर जा रहे हैं?"

"हाँ, ज़रा एक दोस्त से मुलाकात करनी है। इफ़ यू डोंट माइंड, एक टैक्सी बुला दीजिए न।"

"अजी इसमें माइंड-वाइंड की क्या बात है," मेरा सारा गुस्सा तब तक खत्म हो चुका था, मैं अभी बुलाये देता हूँ।"

"जब यहाँ आया हूँ तो सबसे मिल लेना चाहिए न?"

"हाँ-हाँ, बार-बार थोड़े ही आना-जाना होता है। जरूर मिल लेना चाहिए।" शांत मन से नीचे उतर कर टैक्सी बुला लाया। "नाते-रिश्तेदार और मेल-मुलाकाती ही तो अपने होते हैं।" उपदेश भी दे दिया।

फिर टैक्सी का हॉर्न नहीं बजा, मेरे हृदय में हॉर्न बजने लगा।

सीटी बजाता हुआ मैं तेज़ी से ऊपर चढ़ रहा था, जैसे दिल का बहुत बड़ा भार हल्का हो गया है। लेकिन मन की यह प्रसन्नता कमबख्त लड़की ने नष्ट कर दी। सीढ़ी पर लीला खड़ी है। जैसे गाय चराने आयी है।

"तुम्हें देर हो रही है, पिता जी।"

"तुझे मेरे दफ्तर की इतनी फिक्र क्यों है ?" गुस्से में भर कर मैंने कहा और भी कुछ बकने वाला था कि देखता हूँ, गहरे गुलाबी रंग का ब्रुश-ब्रश हाथ में लिये सीढ़ी की ओर वह युवती आ रही है। अधखुली आँखें हैं, जैसे अभी-अभी सो कर उठी हो।

आशंका हुई रात की करी के बारे में कहीं कुछ न पूछ बैठे।

लेकिन युवती चालाक है। समझदार।

मानो कल शाम के बाद मेरी और उसकी अब मुलाकात हो रही हो।

"आज फिर आपको जरा तकलीफ देना चाहती हूँ।" जैसे बहुत सकुचाते हुए उसने कहा और ठीक लीला के पीछे खड़ी हो गयी।

"अजी, तकलीफ की क्या बात है," कहा, "पास-पड़ोसी ही काम नहीं आयेंगे तो—"

"इस वक्त तो आपको टाइम नहीं होगा। शाम को दफ्तर से लौटते वक्त—"

"हाँ-हाँ, कहिए, क्या चाहिए,"—जैसे मैं भी कुछ संकुचित और संत्रस्त हूँ। तिरछी नजरों से मैंने दीवार का सहारा लिये खड़ी लीला को एक बार देख लिया। "कुछ मँगाना है ?"

"जी, मांस !" युवती ने मेरी ओर देखा। फिर अपनी नजर हटा ली।

"इसमें क्या तकलीफ है।" हंसते हुए मैंने युवती के मुँह की ओर देखा। मेरी हथेली पर पाँच का एक नोट रखते हुए वह धीरे-धीरे पैसेज की ओर चली गयी।

क्रुद्ध और जलती हुई आँखों से लीला को देख कर मैं भी अपने कमरे में चला आया।

जैसे स्वतन्त्र, संपूर्णतः अलग हूँ इस परिवार से। राजेन्द्र और महेन्द्र एक साथ खाने बैठे हैं। लेकिन एक बार भी मैंने उनकी ओर नहीं देखा। अगर एकाध बार नजर पड़ भी गयी तो ऐसा लगा है जैसे दुख, दारिद्र्य और अभाव का एक-एक शिला-खंड मेरा रास्ता रोके खड़ा है। इस समय वीणा ने थाली परोसी। रसोई लीला ने ही बनायी होगी। ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों ऊल-जलूल बातें उसके दिमाग में घुसती जाती हैं। खाना ! रात को ऐसी स्वादिष्ट और सुस्वादु अंडे की करी खाने के बाद मूँग की खिचड़ी कैसी लगेगी, कल्पना कीजिए। और फिर सारे कमरे में हेमा के मालिश के तेल की तेज गंध। ऐसा लगा जैसे पिछले अठारह वर्ष इस से

तेज गंध को फैला कर हेमा मेरी परमायु को जीर्णतर करने के लिए ही बची हुई है। किसी तरह खा-पी कर कपड़े पहने और दफ़्तर चल दिया।

दफ़्तर में पहुँच कर, मेरा जो पहला काम है, डिस्पेचर राममूर्ति के पास पहुँचा।

"क्यों दोस्त, शंखिनी नारी के क्या लक्षण होते हैं?"

"गोपन स्वभाव, लेकिन तेजस्विनी।"

चुपचाप अपनी जगह पर आ कर बैठ गया। इन सब बातों में हम यानी वयस्क लोग राममूर्त्ति का कहना मानते हैं। नारी चरित्र का वह पारखी है। जैसे सब लोगों की शादी होती है, वैसे ही उसकी भी पहली शादी हुई थी। और, दूसरी शादी उसने अभी कुछ दिनों पहले ही की है, इस उम्र में। जैसा साहसी है, वैसे ही जानता और समझता भी बहुत कुछ है। अतः हम लोग यानी दफ़्तर के तथाकथित अधेड़ व्यक्ति उठते-बैठते इन सब बातों में राममूर्त्ति की राय से लक्षण इत्यादि मिला कर देखते हैं। उसके उपदेशानुसार चलने की चेष्टा करते हैं। नहीं तो आज कल के युवकों की तरह किसी मायाविनी हरिणी के खुर की धूल चाटते हुए दर-दर घूमना पड़ता।

लेजर सामने रखे हुए मैं सारा दिन सोचता रहा। विचार करता रहा। पाँच बजते ही दफ़्तर से निकल कर सीधा हॉग-मार्केट पहुँचा।

एक-एक कर मैंने सत्रह दुकान देखीं। अन्त में एक सेर मांस खरीद कर घर की ओर चला। जान बूझ कर ही मैंने ज़रा देर की।

गली के नुक्कड़ पर पहुँच कर मांस की पोटली बांयें हाथ से दाहिने में ले ली, क्योंकि हमारे कमरे बरामदे के बायीं ओर हैं। यानी यदि तुम पैसेज से पार्टीशन की ओर जाओ तो कोई भी हाथ में मांस की पोटली देख सकता है। लेकिन फिर भी सीढ़ी के पास राजेन्द्र ने देख ही लिया। अँधेरे में भी वह समझ गया कि मांस है। कुछ बोला नहीं। आँखें फाड़ कर देखता रहा, जैसे उसे यह विश्वास ही नहीं हुआ कि बाबूजी इतना मांस घर ला सकते हैं।

वीणा ने भी देखा, वह हौज की ओर जा रही थी।

लीला। ठीक कल की तरह चौखट पर खड़ी थी। लेकिन इन सबकी उपेक्षा करता हुआ, जैसे मैंने किसी को देखा ही नहीं, सीधा आगे बढ़ गया पैसेज के उस ओर।

कुंडी खटखटाते ही कमरे में रोशनी जल उठी। युवती बाहर निकली। उसके रंग-ढंग से ऐसा लगा जैसे इस वक्त भी वह सो रही थी।

"खड़े क्यों हैं, आइए !"

जरा ठिठका, एक बार पीछे घूम कर देखा।

"आइए न, खड़े क्यों हैं ?" युवती ने हँसते हुए कहा। फूल की पंखुड़ियाँ जैसे चारों ओर बिखर गयीं।

चुपचाप चौखट पार कर मैं भीतर घुसा।

एक हाथ से अपना आँचल ठीक करते हुए दूसरे हाथ से उसने दरवाजा भेड़ दिया। जरा हँसी। निश्चिन्त, निर्भय। अब हम बाहर की दुनिया से अलग हैं। मेरे दिल की धड़कन तेज़ी से चल रही थी।

"यह देखिए, ले आया," धीरे-धीरे मैंने कहा। जैसे मैं उसके हाथ की कठपुतली हूँ, उसके इशारे पर नाचता हूँ। "यह मांस कहाँ रखूँ ?"

"उधर रख दीजिए।" उँगली से मोरी के पास इशारा करते हुए युवती फिर हँसी। "मैं आप पर हुक्म चला रही हूँ, ऐसा तो आप नहीं सोचते न ?" कह कर उसने अपनी आँखें नचायीं।

"हुक्म चलाना जानती हैं, इसीलिए तो चलाती हैं।" मांस की पोटली रख कर मैंने उसके मुँह की ओर देखा। सोचा, तुम्हारा हुक्म तो सात जन्म मानने को तैयार हूँ।

"अच्छा ! जरा ठहरिए, मैं अभी आयी।"

दीर्घ, गौर वर्ण, सुन्दर सुगठित शरीर। महारानी जैसी चाल। अपना जूड़ा ठीक करते-करते वह कमरे में चली गयी।

एक लम्बा चाकू और पट्टा लेकर वह आयी।

"ओ, मेरे सामने ही इसे काट कर देखेंगी।"

"देखूँगी नहीं, अच्छा है या बुरा, ताजा है या सड़ा हुआ।" शरारत से वह हँसी। जैसे अब तक वह सहज नहीं हो पा रही है, ऐसा भाव। शंखिनी।

"देखिए।" हँसते हुए कहा, "बहुत देख सुन कर लाया हूँ।"

"ओ, इसीलिए इतनी देर हुई ?" वैसे ही शरारत से वह फिर हँसी। बहुत चालाक और होशियार है। आँचल को कमर में लपेट कर वह बैठ गयी। मेरे कान गर्म हो गये। सिर चकराने लगा। शायद आशा, आकांक्षा और भय तीनों एक साथ मेरी आँखों में झलक रहे थे। मैं मर्द हूँ। लेकिन स्त्रियाँ अपने मन का भाव बहुत देर तक गुप्त रख सकती हैं। घुमा-फिरा कर बातें करती हैं। युवती ने इस बीच फ़ौरन ही दूसरे विषय पर बातें शुरू कीं।

"आपकी पत्नी चल-फिर नहीं सकतीं ?"

"एकदम नहीं, अचल।" दीर्घ निश्वास लेते हुए मैंने कहा, अवश्य अन्य किसी कारण से। मांस को खूब अच्छी तरह धो कर उसने पट्टे पर रखा और चाकू से उसके छोटे-छोटे टुकड़े करने लगी। ताज़ा लाल मांस। खुश हुआ।

"देखा आपने, कैसा ताज़ा मांस लाया हूँ।" कहने ही वाला था कि अचानक चुप हो गया। टुकड़े करते समय माँस का एक बहुत छोटा-सा टुकड़ा छिटक कर उसके गाल पर पड़ा, नाक के पास। कुहनी से वह उसे बार-बार पोंछने की चेष्टा कर रही थी।

"और ज़रा नीचे।" मैंने कुछ काँपती-सी आवाज़ में कहा।

लेकिन इस बार भी ठीक जगह पर हाथ नहीं पहुँचा।

"नहीं-नहीं" मैंने कहा, "ज़रा और ऊपर।"

"आप ही ज़रा पोंछ दीजिए न।" कातर दृष्टि से उसने मेरी ओर देखा। दोनों हाथ सने हुए हैं, खुद नहीं पोंछ पा रही है। ऐसा लगता था जैसे उसके गाल पर लाल रंग का एक तिल है। मेरा हाथ काँप रहा था, ज़ोर-ज़ोर से साँस चल रही थी। झुक कर पास ही पड़े हुए एक कपड़े से पोंछ दिया।

लेकिन आश्चर्य। युवती अचल बैठी रही। जैसे कुछ भी नहीं हुआ, यह स्वाभाविक ही है। बोली, "अरे, आप खड़े क्यों हैं, बैठिए न, इतने में मैं इसे ठीक करती हूँ।"

"सुनो जी, इतने में उससे चूल्हे के लिए लकड़ियाँ ही क्यों नहीं कटवा लेतीं?" कमरे के भीतर से आवाज़ आयी, इंजीनियर की आवाज़, जैसे लेटा हुआ है।

मेरी ओर देखते हुए युवती हँसी।

"इस समय वे कहीं बाहर नहीं जा सके, मैंने उनका पर्स ही छिपा दिया था। अब देखिए, कैसी बातें कर रहे हैं जैसे इन्हें घर-गृहस्थी की बहुत चिंता हो।" फिर मुँह घुमा कर कमरे की ओर देखते हुए जोर से बोली, "वे काट देंगे, तुम चुपचाप पड़े रहो, कामता बाबू से तुम्हारे लिए सिगरेट का टीन भी मँगवा लूँ न।"

मंगलग्रह की लाल रोशनी में फर्श पर आँखें गड़ाये मैं ये सारी बातें सुन रहा हूँ।

शेखर जोशी

दाज्यू

चौक से निकल कर दायीं ओर जो बड़े साइन-बोर्ड वाला छोटा काफे है, वहीं जगदीश बाबू ने उसे पहली बार देखा था। गोरा-चिट्टा रंग, नीली साफ़-साफ़ आँखें, सुनहरे बाल और चाल में एक अनोखी मस्ती, पर शिथिलता नहीं। कमल के चिकने पत्ते पर फिसलती हुई पानी की बूँद-की-सी फुर्ती। आँखों की चंचलता देख कर उसकी उम्र का अनुमान केवल नौ-दस वर्ष ही लगाया जा सकता था और शायद यही उम्र उसकी रही होगी।

अधजली सिगरेट का एक लम्बा कश खींचते हुए जब जगदीश बाबू ने काफे में प्रवेश किया तो वह एक मेज़ पर से प्लेटें उठा रहा था और जब वे पास ही कोने की टेबल पर बैठे तो वह सामने था। मानो, घंटों से उनकी, उस स्थान पर आने वाले व्यक्ति की, प्रतीक्षा कर रहा हो। वह कुछ बोला नहीं। हाँ, नम्रता प्रदर्शन के लिए थोड़ा झुका और मुस्कराया भर था, पर उसके इसी मौन में जैसे सारा 'मीनू' समाहित था।

'सिंगल चाय' का आर्डर पाने पर वह एक बार पुनः मुस्करा कर चल दिया और पलक मारते ही चाय हाज़िर थी।

मनुष्य की भावनाएँ बड़ी विचित्र होती हैं। निर्जन, एकान्त स्थान में निस्संग होने पर भी कभी-कभी मनुष्य एकाकी अनुभव नहीं करता। लगता है, इस एकाकीपन में भी सब कुछ कितना निकट है, कितना अपना है। परन्तु इसके विपरीत, कभी-कभी सैकड़ों नर-नारियों के बीच जन-रव-मय वातावरण में रह कर भी सूनेपन की अनुभूति होती है। लगता है, जो कुछ है वह पराया है, कितना अपनत्वहीन। पर यह अकारण नहीं होता। इस एकाकीपन की अनुभूति, इस अलगाव की भावना की जड़ें होती हैं---बिछोह या विरक्ति की किसी कथा के मूल में।

जगदीश बाबू दूर देश से आये हैं। अकेले हैं। चौक की चहल-पहल, काफे के शोरगुल में उन्हें लगता है, सब कुछ अपनत्वहीन है। शायद कुछ दिनों रह कर, अभ्यस्त हो जाने पर, उन्हें इसी वातावरण में अपनेपन की

अनुभूति होने लगे, पर आज तो लगता है यह अपना नहीं, अपनेपन की सीमा से दूर, कितना दूर है। और तब उन्हें अनायास ही याद आने लगते हैं अपने गाँव-पड़ोस के आदमी, स्कूल-कालेज के छोकरे, अपने निकट शहर के काफ़ी-होटल......

"चाय शाब !"

जगदीश बाबू ने राखदानी में सिगरेट झाड़ी। उन्हें लगा, इन शब्दों की ध्वनि में वही कुछ है जिसकी रिक्तता उन्हें अनुभव हो रही है। और उन्होंने अपनी शंका का समाधान कर लिया—

"क्या नाम है तुम्हारा ?"

"मदन !"

"अच्छा मदन, तुम कहाँ के रहने वाले हो ?"

"पहाड़ का हूँ बाबू जी।"

"पहाड़ तो सैंकड़ों हैं—आबू, दार्जिलिंग, मसूरी, शिमला, अल्मोड़ा... तुम्हारा गाँव किस पहाड़ में है ?"

इस बार शायद उसे पहाड़ और जिले का भेद मालूम हो गया था। मुस्कराता हुआ बोला, "अल्मोड़ा शाब, अल्मोड़ा !"

"अल्मोड़ा में कौन सा गाँव है ?" विशेष जानने की गरज़ से जगदीश बाबू ने पूछा।

इस प्रश्न ने उसे संकोच में डाल दिया। शायद अपने गाँव की [illegible] संज्ञा के कारण उसे संकोच हुआ था। इस कारण हकलाता हुआ-सा बोला, "वह तो दूर है शाब, अल्मोड़ा से १५-२० मील होगा।"

"फिर भी नाम तो कुछ होगा ही उस गाँव का ?" जगदीश बाबू ने ज़ोर दे कर पूछा।

"ज्यौड़्यालगाँ !" वह सकुचाता हुआ-सा बोला।

जगदीश बाबू के चेहरे पर पुती हुई एकाकीपन की स्याही दूर हो गयी, और जब उन्होंने [illegible] को बताया कि वे भी उसके निकटवर्ती ...गाँव के रहने वाले हैं तो ऐसा लगा ज्यों प्रसन्नता के कारण अभी मदन के हाथ से ट्रे गिर पड़ेगी। उसके मुँह से शब्द निकलने चाह कर भी न निकल सके। खोया-खोया-सा मानो वह अपने अतीत को फिर लौट-लौट कर देखने का प्रयत्न कर रहा हो। अतीत...गाँव...ऊँची पहाड़ियाँ... नदी...

ईजा (माँ)...बाबा...दादी...नानि (छोटी बहन)...दाज्यू (बड़ा भाई)...!

मदन को जगदीश बाबू के रूप में किसकी छाया निकट जान पड़ी ? ईजा ?—नहीं, बाबा ?—नहीं, दीदी, नानि ?—नहीं, दाज्यू ? हाँ दाज्यू !

दो-चार ही दिनों में मदन और जगदीश बाबू के बीच की अजनबीपन की खाई दूर हो गयी। टेबल पर बैठते ही मदन का स्वर सुनायी देता—

"दाज्यू, जैहिन्द।"

"दाज्यू, आज तो ठंड बहुत है।"

"दाज्यू, क्या यहाँ भी ह्यूँ (हिम) पड़ेगा ?"

"दाज्यू, आपने तो कल बहुत थोड़ा खाना खाया।"

तभी किसी ओर से 'बॉय' की आवाज़ पड़ती और मदन उस आवाज़ की प्रतिध्वनि के पहुँचने से पहले ही वहाँ पहुँच जाता। आर्डर ले कर जाते-जाते फिर जगदीश बाबू से पूछता, "दाज्यू कोई चीज़ ?"

"पानी लाओ !"

"लाया दाज्यू !"—दूसरी टेबल से मदन की आवाज सुनायी देती।

मदन 'दाज्यू' शब्द को उतनी ही आतुरता और लगन से दुहराता, जितनी आतुरता से बहुत दिन के बाद मिलने पर माँ अपने बेटे को चूमती है।

कुछ दिनों बाद जगदीश बाबू का एकाकीपन दूर हो गया। उन्हें अब चौक, काफे ही नहीं, सारा शहर ही अपनेपन के रंग में रँगा हुआ-सा लगने लगा। परन्तु अब उन्हें यह बार-बार 'दाज्यू' कहलाना अच्छा नहीं लगता और यह मदन था कि दूसरी टेबल से भी 'दाज्यू'...!

"मदन! इधर आओ।"

"आया दाज्यू।"

'दाज्यू' शब्द की आवृत्ति पर जगदीश बाबू के मध्यवर्गीय संस्कार जाग उठे, अपनत्व की पतली डोरी अहं की तेज़ धार के आगे न टिक सकी।

"दाज्यू चाय लाऊँ ?"

"चाय नहीं, लेकिन यह 'दाज्यू-दाज्यू' क्या चिल्लाते रहते हो दिन रात। किसी की 'प्रेस्टिज' का खयाल भी नहीं है तुम्हें ?" जगदीश बाबू का मुँह क्रोध के कारण तमतमा गया। शब्दों पर भी अधिकार न रह सका। मदन 'प्रेस्टिज' का अर्थ समझ सकेगा या नहीं, इसका भी उन्हें ध्यान नहीं रहा।

क्राश। कोई मदन को प्रेस्टिज का अर्थ समझा देता!

प्रेस्टिज माने नपुंसक दम्भ, प्रेस्टिज माने सफ़ेद कालर और मेहनतकश हाथों की दूरी, प्रेस्टिज माने कायरता...। पर मदन बिना समझाये ही सब कुछ समझ गया था। जिसने इस कच्ची उम्र में ही दुनिया को समझने की कोशिश कर ली, वह क्या एक क्षुद्र शब्द का अर्थ भी नहीं समझ सकेगा!

मदन को जगदीश बाबू के व्यवहार से गहरी चोट लगी। मैनेजर से सिर दर्द का बहाना कर घुटनों में सिर दे, कोठरी में सिसकियाँ भर-भर रोता रहा। घर-गाँव से दूर ऐसी परिस्थिति में मदन का जगदीश बाबू के प्रति आत्मीयता प्रदर्शन स्वाभाविक ही था। इसी कारण आज प्रवासी जीवन में उसे लगा जैसे किसी ने उसे ईजा की गोदी से, बाबा की बाँहों से और दादी के आँचल की छाया से बलपूर्वक खींच लिया हो।

परन्तु भावुकता स्थायी नहीं होती। रो लेने पर, मन की भावुक उलझनों को सुलझा लेने पर, मनुष्य जो भी निश्चय करता है, वह अधिक विवेकपूर्ण होता है।

मदन भी पूर्ववत काम करने लगा।

दूसरे दिन काफ़े जाते हुए अचानक ही जगदीश बाबू की भेंट बचपन के सहपाठी हेमन्त से हो गयी। काफ़े में पहुँच कर, जगदीश बाबू ने इशारे से मदन को बुलाया, पर उन्हें लगा जैसे वह उन से दूर-दूर रहने का प्रयत्न कर रहा हो। दूसरी बार बुलाने पर ही मदन आया। आज उस के मुँह पर वह मुस्कान न थी और न ही उसने 'क्या लाऊँ दाज्यू' कहा। स्वयं जगदीश बाबू को ही पहले कहना पड़ा—"दो चाय, दो आमलेट" परन्तु तब भी 'लाया दाज्यू' कहने की अपेक्षा 'लाया शाब' कह कर वह चल दिया, मानो दोनों अपरिचित हैं।

"शायद पहाड़िया है।" हेमन्त ने अनुमान लगा कर पूछा।

"हाँ!" रूखा सा उत्तर दे कर जगदीश बाबू ने वार्तालाप का विषय ही बदल दिया।

मदन चाय ले आया था।

"क्या नाम है तुम्हारा लड़के?" हेमन्त ने अहसान चढ़ाने की गरज़ से पूछा।

कुछ क्षणों के लिए टेबल पर गम्भीर मौन छा गया। जगदीश बाबू की आँखें चाय की प्याली पर ही झुकी रह गयीं। मदन की आँखों के सामने

विगत स्मृतियाँ घूमने लगीं...जगदीश बाबू का एक दिन ऐसे ही नाम पूछना...फिर...'दाज्यू आपने तो कल थोड़ा ही खाया...' और एक दिन 'किसी की प्रेस्टिज का खयाल नहीं रहता तुम्हें...'

जगदीश बाबू ने आँखें उठा कर मदन की ओर देखा, उन्हें लगा जैसे अभी वह ज्वालामुखी-सा फूट पड़ेगा।

हेमन्त ने आग्रह के स्वर में दुहराया, "क्या नाम है तुम्हारा?"

"बॉय कहते हैं शाब मुझे।" संक्षिप्त सा उत्तर दे कर वह मुड़ गया। आवेश में उसका चेहरा लाल हो कर अधिक सुन्दर हो गया था।

"बड़ा बेवकूफ है, अपना नाम भी भूल गया।" हेमन्त ने चाय की चुस्की लेते हुए कहा।

पर जगदीश बाबू, जिन्हें अभी मदन ने शाब कहा था, इस व्यंग्य को समझते हैं। उन्हें लगा कि इन शब्दों की तय में जैसे मदन कह रहा है—'मैं बॉय हूँ, बॉय हूँ। तुम्हारी प्रेस्टिज के, तुम्हारे नपुंसक दम्भ के घेरे के बाहर, एक दम बाहर!'

हरिशंकर परसाई

●

राग-विराग

मई की दोपहरी है। 'बस स्टैंड' पर बस खड़ी है। मुसाफिर आ रहे हैं और बैठते जा रहे हैं। उच्च श्रेणी में दो-दो मुसाफिरों के बैठने के लिए एक के पीछे एक कई सीटें हैं। हर मुसाफिर की टिकट पर सीट का नम्बर होता है। पर यह एक अजब लोभ है कि बस में घुसते ही कई मुसाफिरों के मन में यह आता है कि किसी दूसरी सीट पर बैठ जायँ। उस दिन चौराहे पर तीन-चार पुलिस के सिपाही पान वाले से दस सेर गाँजा पकड़ने की ऐतिहासिक घटना का सगर्व वर्णन कर रहे थे। एक सिपाही बड़े सहज-भाव से बोला—"भैया उस मामले में कम से कम ५०० रुपये मिलते, और किसी को कानों-कान खबर नहीं होती। पर इस बलभद्दर ने कोतवाली ले जा कर राम मटियामेट कर दिया।" दूसरे की जगह बैठने का इरादा और गाँजा पकड़ कर ५०० रुपये घूस लेने का इरादा—दोनों एक ही प्रकार के लोभ हैं—हमारे सामूहिक मन का प्रतिनिधि लोभ!

बस कंडक्टर ने मुसाफ़िरों को उठा-उठा कर उनकी ठीक जगह पर बैठाना आरम्भ कर दिया है। लोग शहीदाना गर्व के साथ अपनी जगह पर बैठ रहे हैं—दूसरों की जगह पर जम जाने का उनका अधिकार जो छिन गया।

एक व्यापारी थलथलाते हुए आ रहे हैं—दुर्भाग्य से मेरे परिचित। कभी किसी का मिलना सौभाग्य बन जाता है, पर कभी, उन्हीं का मिलना दुर्भाग्य। निमोनिया में मुरब्बा प्राण घातक है। वैसे मुरब्बा बहुत अच्छी चीज़ है। सफ़र में 'बोर' व्यापारी निमोनिया में मुरब्बे की तरह ही है। वे तो दुकान पर ही भले लगते हैं।

पर मुझे देख कर वे खिल उठे। "अच्छा आप भी चल रहे हैं!" कह कर मेरे बगल की खाली जगह पर आ बैठे। बस ड्राइवर को देख कर गद्‌गद् हो बोले—"अच्छा, वज़ीर मियाँ, आप चल रहे हैं आज!" वज़ीर मियाँ शायद उन्हें पहचानते नहीं हैं, पर वे इस विश्वास और आत्मीयता से वज़ीर मियाँ को गले लगा लेना चाहते हैं कि अगर बस कहीं किसी झाड़ से टकरा गयी तो वज़ीर मियाँ सब को मर जाने देंगे, सिर्फ़ उन्हें बचा लेंगे।

वे मेरी ओर मुड़े और अपने भतीजे के लिए किसी स्कूल से झूठा सर्टिफिकेट प्राप्त करने की योजना पर विचार करने लगे। एक आँख बंद करके अँगूठे पर पहली अँगुली से चोट करके बोले, "कुछ खर्च करना पड़े तो पीछे नहीं हटेंगे।" उनके उद्देश्य की 'शुचिता' के साथ साधन रूप में अपना मेल होते देख मैं तनिक अकुलाया। पर इसी समय कंडक्टर मेरा 'मसीहा' बन गया। उसने उन्हें उठा कर मुझ से काफ़ी दूर, उनकी ठीक जगह पर, बैठा दिया।

अब मेरे पास एक युवक आ कर बैठ गया है। हाथ में एक फ़िल्मी पत्रिका है। अब मैं बिलकुल सुरक्षित हूँ। जिस के हाथ में फ़िल्मी पत्रिका है, वह बगल में बैठे भगवान से भी बात नहीं करेगा।

सीटें लगभग भर चुकी हैं। सिर्फ़ मेरे पीछे की सीट पर एक जगह खाली है। अभी केवल एक सन्यासी बैठे हैं, ४०-५० साल के होंगे—वैसे वे अपने को ८०-९० साल का बताते हैं। पुराना चावल और पुराना सन्यासी—दोनों क़ीमती होते हैं। तभी 'वेश्या बरस घटावहिं, जोगी बरस बढ़ाहिं।' अच्छे सुडौल हैं। ताज़े कटे लॉन की तरह उनकी खोपड़ी और दाढ़ी हैं। माथे पर तिलक, गले में कंठी। गेरुआ रंग अब सफ़ेद होने लगा है।

सन्यासी को देख कर लोगों के मन में एक कुतूहलमय सम्मान जागता है। अगर सन्यासी ऊँचे क्लास में सफ़र कर रहा हो तब तो और सम्मान पाता है। और अगर अँग्रेजी भी बोल लेता हो, तब तो लोग न्यौछावर होते हैं। पर बेचारे सन्यासी के मुख पर मैंने अकसर परेशानी, निराशा, ग्लानि और असंतोष देखा है। लोगों की नज़रों में वह चाहे पूज्य हो, पर अपनी नज़रों में वह केवल दयनीय ही होता है। संसारियों पर घृणा की दृष्टि डाल कर वह इस दयनीयता को अपनी ही नज़रों से छिपाने की कोशिश करता है, पर उसकी आँखों में तो वह खिड़की खोल कर बैठी रहती है।

सन्यासी गीता पढ़ रहे हैं—

"यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत......"

और मेरे बगल में बैठा युवक अभिनेत्री सुरैया का नवीनतम चित्र देख रहा है। दोनों एक ही अप्राप्य काल्पनिक आनन्द में लीन हैं। दोनों एक ही मृगतृष्णा के शिकार! जैसी इसकी सुरैया, वैसे उसके भगवान! दोनों दूर, बहुत दूर, स्वप्नवत, अलभ्य, बे-जाने-पहिचाने!

सन्यासी ने आगे झुक कर नवयुवक की फ़िल्मी पत्रिका को देखा और घृणा से मुँह फेर लिया।

नवयुवक सन्यासी के श्लोकों से परेशान हो कर खीझ से बुदबुदाया—"What a nuisance :—कैसी परेशानी है!"

बस अब चलने ही वाली है। मेरे परिचित व्यापारी ने पीछे की सीट से एक पान के एक अष्टमांश हिस्से का बीड़ा बना कर मेरी ओर बढ़ाया, मानो चेतावनी दे रहा है कि किसी भी क्षण आक्रमण कर दूँगा।

एक रिक्शा आकर रुका और उसमें से एक महिला फ़ुर्ती से निकली। शरीर कीमती साड़ी में लिपटा, हाथ में बैग। यौवन का ज्वार अब भाटा हो रहा है—यही ३५ वर्ष के आस-पास होगी। सुडौल मुख, पानीदार आँखें, मुद्रा में संकोच-हीनता, चाल में स्वाभाविक सत्ता की दृढ़ता। वह बस में घुसी और कंडक्टर से पूछा—"मेरी सीट? नम्बर ८ की टिकट है।" कंडक्टर ने सन्यासी के बगल की खाली सीट की ओर संकेत कर दिया। सारी बस में वही सीट खाली थी।

स्त्री बढ़ी और सन्यासी के बगल में बैठने का उपक्रम करने लगी।

इधर सन्यासी पर जैसे बिजली गिर पड़ी। वे एकदम घबड़ा कर उठ खड़े हुए, मानो सीट पर साँप पड़ा हो। हाथ जोड़ कर बोले—"नहीं-नहीं देवी! यहाँ मत बैठो, कहीं और बैठ जाओ!" स्त्री ठिठक गयी। उसने कंडक्टर की ओर देखा। कंडक्टर ने कहा—"महाराज जी, और सीट तो खाली नहीं है। वे कहाँ बैठेंगी? वह सीट तो उन्हीं की है।"

सन्यासी ने अत्यन्त दीन नयनों से उसकी ओर देखा। कहा—"नहीं-नहीं भैया, मैं स्त्री के पास नहीं बैठ सकता। स्त्री का संग मुझे वर्जित है। मैं सन्यासी ठहरा।"

मुसाफ़िरों का ध्यान सन्यासी की ओर खिंच गया। सब के नयनों में उत्सुकता है। गर्मी और बस की नीरसता में मन-बहलाव का एक ज़रिया तो मिला। स्त्री कहीं और भी बैठ सकती है, किसी अन्य मुसाफ़िर को वहाँ बैठा दिया जा सकता है। और कितने लोग उम्मीद लगाये बैठे होंगे कि ऐसे सीट-विनिमय में हमें ही स्त्री का सामीप्य-लाभ हो जाय। पुरुषों से भरी बस में स्त्री! जैसे विस्तृत रेगिस्तान में एक झरना। पर सन्यासी की कातरता और दीनता का मज़ा सभी ले रहे थे। वह स्त्री भी वहीं अड़ी रही। कंडक्टर भी हठ करने लगा। और हम लोग आँखें फाड़े ही थे। विश्वामित्र-मेनका! शुक-रम्भा!

पर स्त्री बड़ी प्रगल्भा निकली। संकोच जैसे वह जानती ही नहीं है। वह कहने लगी—"महाराज, आप तो पिता-तुल्य हैं। मैं एक किनारे बैठ जाऊँगी। सन्यासी के ही पास तो हम निर्भय और निःसंकोच बैठ सकती हैं।" हम सब चकित हैं। कैसी वाचाल है!

सन्यासी बोले, "नहीं-नहीं देवी, मुझे संकट में न डालो। मेरे गुरु की आज्ञा है। माता और पुत्री का संग भी हमारे लिए निषिद्ध है। धर्म का आदेश है।"

स्त्री अब तमतमा गयी है। उसने बड़े रोष और घृणा से कहा, "महाराज जी, जो धर्म माता और पुत्री से डरने के लिए कहता है, वह धर्म नहीं हो सकता। वह पाखण्ड है।"

सन्यासी अब हत-तेज हो गये हैं। उन्हें उत्तर नहीं सूझ रहा। इसी समय मैंने कह दिया, "सन्यासी जी बैठ जाने दीजिए न! आप तो वीतराग हैं।"

इसी समय पुलिस के सिपाही ने ड्राइवर से कहा, "वज़ीर मियाँ, चलो स्टार्ट करो। पाँच मिनिट लेट हो गयी।"

भीतर से मुसाफ़िर चिल्लाये, "अरे भई गर्मी में यहीं मार डालोगे क्या, स्टार्ट करो गाड़ी।"

ड्राइवर ने बटन दबाया। इंजन 'घर्र' बोला और इस गड़बड़ में वह स्त्री सन्यासी के बगल की उसी सीट पर बैठ गयी। सन्यासी एकदम बस दीवार से सट कर, दुबक कर बैठ गये। उन्होंने बड़े कातर नेत्रों से हम लोगों की ओर देखा। वह नारी बड़ी बेफिक्री से बैठी थी।

बस अब चलने लगी है। सन्यासी वैसे ही दुबके, भयभीत एक कोने में बैठे हैं, जैसे बगल में सिंहनी सो रही है, जो यदि जाग गयी तो प्राण ले लेगी। उन्होंने ज़ोर-ज़ोर से गीता पढ़ना आरम्भ कर दिया—

"कर्मेन्द्रियानि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

बचपन की याद मुझे आ गयी। शाम को खेल कर घर लौटता तो 'भुतही इमली' के नीचे से निकलना पड़ता था। भूत से बचने के लिए मैं खूब ज़ोर से गाना गाता था। मेरे गाने से भूत भागता था या नहीं, यह तो नहीं जानता, पर मेरे मन का भय ज़रूर भाग जाता था। सन्यासी ज़ोर-ज़ोर से गीता-पाठ कर रहे हैं, मुझे अपने उसी 'भूत भगाऊ' गाने की याद आ गयी।

वे गीता पढ़ रहे हैं। सोचता हूँ जो किसी पुस्तक को बार-बार पढ़ता है वह समझ कर तो ऐसा नहीं कर सकता। अच्छे से अच्छे ग्रंथ को कोई समझ कर पढ़े तो दो-चार बार पढ़ सकता है। पर जो बार-बार उसे पढ़ता है, रोज़ एक बार पाठ कर जाता है, वह जरूर बिना समझे ही पढ़ता है। ज़िंदगी भर से सन्यासी जी गीता पढ़ रहे हैं, जैसे हलवाई ज़िंदगी भर मिठाई बनाता और बेचता है। पर मिठाई देख कर कभी हलवाई की जीभ में तो पानी नहीं आता। सन्यासी भी गीता से बिलकुल निर्लिप्त रह कर गीता पढ़ लेते हैं, जैसे ग्रामोफ़ोन का रिकार्ड आरती गाता है। उन का स्वर काफी तेज़ हो गया है। ज्यों-ज्यों 'भुतही इमली' नज़दीक आती जाती, मैं भी अपने गाने का स्वर बढ़ाता जाता था।

सन्यासी ने मेरी पुस्तक की ओर देखा। पूछा, "धार्मिक पुस्तक है?" मैंने कहा, "नहीं, कहानी की है।" सन्यासी ने घृणा से मुँह फेर लिया।

अब मुसाफ़िरों का ध्यान सन्यासी की ओर नहीं है। कुछ पढ़ रहे हैं,

कुछ ऊँघ रहे हैं, कुछ जाली के उस पार बैठी तरुणियों पर आँखें लगाये हैं, और जिन्हें कुछ नहीं मिलता वे बेचारे गर्दिश के मारे इस निर्मम प्रौढ़ा की ओर देख लेते हैं।

रास्ते में एक कुआँ दिखा तो सन्यासी ने बस रुकवायी। कमंडल ले कर कुएँ पर पहुँचे; पानी पिया और भरते लाये। उस उस स्त्री से पूछा, "देवी, पानी पियेंगी?" स्त्री ने अनिच्छा से एक गिलास पानी पी लिया। हम लोगों को सन्यासी पर अब बड़ी दया आने लगी है।

पच्चीसों मील निकल गये। सन्यासी माला फेर रहे हैं। एकदम चौंक कर दीन वाणी में बोले, "देवी क्षमा!" शायद माला फेरते-फेरते हाथ लग गया होगा सन्यासी का।

मील पर मील निकलते जा रहे हैं। सन्यासी का पाठ जारी है। स्त्री भी एक किताब पढ़ रही है। बीच-बीच में एकदम किताब बंद कर देती है। बड़ी परेशानी से आस-पास देखती है। वह खीझ कर बोली, "महाराज, ज़रा ठीक से बैठो।" सन्यासी ने हाथ जोड़ कर कातर वाणी में कहा, "देवी क्षमा करना, ध्यान में डूब गया था।"

फिर पच्चीसों मील निकल गये। सन्यासी ने अब स्थिति के साथ समझौता कर लिया है। पर स्त्री परेशान हो गयी है। ज्यों-ज्यों सन्यासी परिस्थिति के साथ समझौता करते जाते हैं, त्यों-त्यों स्त्री की परेशानी बढ़ती जाती है।

सन्यासी अब एक ही श्लोक को बार-बार कह रहे हैं। एक बार, दो बार, तीन बार, आठ बार। उन का स्वर टूटा है, उच्चारण में अटपटापन है, गले में खरखराहट! मैंने पीछे देखा कि कहीं सन्यासी ऊँघ तो नहीं रहे हैं। नहीं, वे तो खूब आँखें फाड़े बैठे हैं। मुझ से आँखें मिलीं तो एकदम चौंक कर श्लोक बदला। बड़ी फुर्ती से दो-तीन आगे से श्लोक पढ़ गये।

अब फिर एक श्लोक बार-बार कह रहे हैं। स्वर टूटता हुआ, उच्चारण अटपटा, गले में खरखराहट। निःश्वास की गति बहुत तीव्र है। गीता अँगुलियों से फिसल कर लगभग उलटी हो गयी है।

बस चली जा रही है। भोगी और योगी को एक गति से ले जा रही है। धुँधलका होने लगा है। बस में मंद प्रकाश में पढ़ना सम्भव नहीं है। मैंने किताब बंद कर दी है। सफ़र में अँधेरा होते ही नींद आने लगती है। लोग

ऊँघने लगे हैं। मेरा पड़ोसी युवक अब भी किसी अभिनेत्री का चित्र देखने में मशगूल है। सन्यासी जी का अटपटा पाठ चल रहा है। कभी चौथे अध्याय का श्लोक बोल देते हैं, कभी दूसरे का। उन का सिलसिला टूट गया है। उस ओर मेरे परिचित सेठ हथेली पर सिर रखे ऊँघ रहे हैं। वजीर मियाँ वैसी ही मुस्तैदी से बैठे हैं। उस सीट पर के वृद्ध सज्जन ने ड्राइवर की सीट तक टाँगें फैला ली हैं। सब शांत हैं। सब ऊबे हैं। बाहर प्रकृति भी बड़ी ऊबी-ऊबी-सी लगती है। इंजन की 'घर्र-घर्र' और सन्यासी का गीता-पाठ इन दोनों में ही होड़ है।

स्त्री बहुत परेशान है।

वह एकदम अपनी सीट से उठी। चिल्लायी—"गाड़ी रोको।" वजीर मियाँ ने गाड़ी रोक दी। "क्यों क्या बात है बाई?" उसने पूछा।

सन्यासी ने कहा, "क्यों, क्यों? देवी बैठ जाओ?"

स्त्री ने सन्यासी को एक चांटा मारा और बोली, "लुच्चा, बदमाश कहीं का!" फिर कंडक्टर से बोली, "मुझे और कहीं बिठा दो भैया।"

रिपोर्ताज

एकलव्य के नोट्स

फणीश्वर नाथ रेणु

ग्राम—परानपुर
पोस्ट आफिस—एज़न
थाना—फ़ारबिस गंज
ज़िला—पूर्णियाँ, बिहार
काल—सितम्बर '५४

[ज़िले का एक बड़ा गाँव। विभिन्न जातियों के तेरह टोले हैं। मुसलमान टोली छोटी है, पचास घर रह गये हैं अब। आबादी सात-आठ हज़ार-करीब।]

पढ़े लिखे लोग—आठ ग्रेजुएट, एक एम० ए० (पागल होने के पहले ही पास किया था।) पचास मैट्रिक्युलेट, एक सौ मिडिल पास...। डेढ़ दर्जन कवि, क़रीब दो दर्जन कथाकार, दो साहित्यालंकार और एक नाटककार। पिछले साल एक हरिजन ने बी० ए० पास किया है, सब से पहले। लड़कियाँ भी पढ़ी-लिखी हैं। ज़िले की एक मात्र साप्ताहिक पत्रिका में एक कुमारी कवियत्री की रचनाएँ हमेशा छपती हैं (...यह और बात है कि लोग तरह-तरह की बातें कहते हैं उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में।) ...रघ्घू रामायनी—जिसे एक अक्षर का भी बोध नहीं, किन्तु बालकांड से उत्तरकांड तक कंठ में है, उसके मन सरोवर में तैरता हुआ हंस आज भी मोती चुगता है...गोस्वामी तुलसीदास उसे स्वप्न में दर्शन देते हैं। (तीनों लड़के अलग हो गये हैं। बुढ़ापे में फिर से 'खुरपी' पकड़नी पड़ी है रघ्घू को, आध घंटे में ही हाँफने लगता है।)

विद्यालय—एक उच्चांगल है (H. E. School Estd. 1929) वह था तो मिडिल स्कूल, उच्चांगल तो हाल में ही हुआ है (उन्नीस सौ चौंतीस में) व्यंग्य करते समय कहते हैं ·· उच्चांगल। यों एच० ई० स्कूल ही कहलाता है। स्कूल के लिए पैसे जिस वृद्ध दाता ने दिये थे, उसके लड़कों ने अपने पिता के नाम पर स्कूल के नामकरण का विरोध किया था, इसलिए वृद्ध दाता की जाति के नाम पर स्कूल की नामकरण क्रिया हुई थी—ब्राह्मण एच० ई० स्कूल !...गत तीन वर्षों से कोई हेड मास्टर दो महीने से ज्यादा नहीं टिक पाते !...जाति और पंचायत, गाँव की दलबंदी के ऊपर चढ़े करेले की भुजिया स्कूल कमेटी की कड़ाही में भूँजी जाती है न... इसीलिए...! स्कूल की अवस्था शोचनीय कही जाती है।

एक कन्या विद्यालय है—मिडिल वर्नाकूलर।...तीन ही अध्यापिकाएँ हैं। जब से विद्यादीदी पति की आज्ञा ले कर अध्यापिका हुई हैं, स्कूल की अवस्था अच्छी है।...बालिका विद्यालय की बालिकाएँ कोरस में 'जन-गन-मन' बहुत सुन्दर गाती हैं।

पुस्तकालय—स्थापना १६३० । १६४४ से सरकारी सहायता मिलती है। पाँच साल पहले रेडियो भी दिया गया—राज्य सरकार की ओर से। आजकल बन्द है। पुस्तकालय के सदस्यों का कथन है, 'छित्तन बाबू के बड़े भाई साहब ने ही पुस्तकालय के लिए अपने बँगले की एक कोठरी दी थी। चार महीना पहले की बात है, छित्तन बाबू ने एक दिन साफ़ लफ्ज़ों में कह दिया—'यहाँ लायब्रेरी कहाँ है ? ख़बरदार ! यदि सीढ़ी पर किसी ने पैर रखा तो फ़ौजदारी हो जायगी।.. ट्रैसपासिंग का मुकदमा कैसा होता है, किसी वकील से जाकर पूछो।'..."छित्तन बाबू अन्यायी हैं, सार्वजनिक पुस्तकालय को इस तरह हथिया लेना छोटी बात नहीं।...निन्दा का प्रस्ताव पास होना चाहिए।"

छित्तन बाबू का कथन है—"पिछले दस साल से पुस्तकालय वाले सरकार से घर-भाड़ा के नाम पर चालीस रुपये माहवार वसूलते हैं। कभी एक पैसा भी दिया है मुझे ?...चार-पाँच हजार रुपये की बात है, खेल नहीं।...कहाँ गये रुपये, कुछ हिसाब तो होना चाहिए...सरकारी रेडियो, बिकू बाबू की सुहागरात में बजने के लिए गया, उसी रात से ख़राब हो कर उनके यहाँ पड़ा है।...बैटरी का पैसा सरकार से बराबर वसूला गया है।"

बिकू बाबू और छित्तन बाबू के झगड़े में, जातिवाद के पचड़े। फिर सेक्रेटरी-प्रेसिडेण्ट कलह-कांड।...इसलिए, छित्तन बाबू का पंचवर्षीय पुत्र 'दीपशिखा' के पृष्ठों को काट-काट कर दीवार पर चिपकाता है, उसे कौन मना कर सकता है ?

नाट्यशाला—स्थापना १६२६। १६३० में राजबनैली चम्पानगर के दरबार कलकत्ता की 'लइडन कम्पनी' को 'पानी-पानी' कर दिया था परानपुर नाटक मंडली ने।....चार साल पहले तक नाटक खेले गये हैं—हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककारों की किताबों को स्टेज किया है (डॉयलाग पारसी अन्दाज़ में ही बोलते हों, मगर स्टेज ज़रूर करते थे।) पिछले साल एक बार ब्राह्मण टोली के मिश्र जी के बैठक में नया एकांकी खेला गया तो भूमिहार टोली में दूसरा एकांकी स्टेज हुआ।...भूमिहार पुत्रों ने ब्राह्मण समाज के एकांकी करने वाले नौजवानों पर उसी समय से व्यंग्य करना शुरू किया है। ब्राह्मण टोली के एकांकी के एक पात्र की नक़ल उतार कर लगीना सिंह आज भी बता देते हैं—पारसी कम्पनी वालों की तरह —"दे-ए ए-ए-बी-बी-द-नू-ऊ-ज-द-ली-ई नी-का-क्या-आ-दे-स-है-ए..."

फिर अवाज़ पतली बना कर तुरन्त ही 'उत्तर' जड़ देते हैं—'स-ब-ऽऽ से-स- है (लम्बी आहें ले कर!) सब सेस है भगवान, सब सेस है।"

दनुजदलनी देवी का पार्ट, ब्राह्मण टोली में, करने वाला मिला नहीं। तंत्रिमा टोली के धनपत को रटाया गया था। धनपत ततमा टोली की 'बलवाही मंडली' (बाउल सुर में नाचने गाने वाली मंडली) का 'नटुआ' है। दाढ़ी-मूँछ नहीं है, 'बलगोबना' है। अपढ़ है, किन्तु पार्ट रटा दिया गया था ऐसा कि...।

ब्राह्मण टोली के अभिनेतागण जरा मुस्करा कर कहते—"कहाँ से लाये भाई...साक्षात् फ़िल्म स्टार लीला देवी!!"

भूमिहार टोली वालों ने क्रांति की थी।...मनमोहन बाबू वामपंथी हैं। उन्होंने अपनी छोटी बहन को पढ़ाया-लिखाया है। पटने में पढ़ती है, मनमोहन बाबू के साला कांग्रेसी एम० एल० ए० हैं।...लीला फिल्मी गीत नकल करती है। एकांकी में उसने अभिनय किया था। भूमिहार टोली के किसी नौजवान ने अपने विरोधी कैम्प वालों पर रोब गालिब करते हुए सुनाया था—"एकदम फिल्मस्टार उतर आयी थी समझो!"...इसलिए

'साक्षात-फ़िल्मस्टार' कह कर ब्राह्मण टोली वाले लड़के मंद-मंद मुस्कराते हैं। इसी बात को लेकर एक दिन मारपीट हो जाती। बात यह हुई कि...

[यह, विद्यार्थी एकलव्य के नोट्स का एक अंश है। एकलव्य जी अपने को 'समाज विज्ञानी' कहते हैं। किसी विश्वविद्यालय से सम्बन्ध नहीं। पिछले साल तक पटने के एक सचित्र हिन्दी साप्ताहिक के सम्पादन में सहायता करते थे—अपने एक परम पूज्य साहित्यिक सम्पादक जी की। अचानक एक दिन ग़ायब हो गये—जुलाई १९५४ में! यार लोग बहुत-सी बातें उड़ाने लगे। पत्र के सम्पादक एकलव्य जी के शुभचिंतक साहित्यिक जी पर अप्रत्यक्ष रूप से इल्ज़ाम लगाये गये, किन्तु एकलव्य जी ने उपर्युक्त साप्ताहिक पत्रिका के कालमों के द्वारा अपने सभी हित-अहित, शुभ-अशुभचिंतक मित्रों को लिखा : 'एकलव्य ने अस्थाई रूप से पत्रकारिता छोड़ कर, पूर्णियाँ के एक गाँव में 'पॉलट्री' खोली है। प्रयोग को वे पाप नहीं समझते। व्यापार उतना लाभदायक नहीं जितना कि 'टेक्स्ट बुक-चाबी निर्माण।'...किन्तु, बुरा नहीं। जलवायु अच्छा है।...पत्रकार तथा साहित्यिक बंधुओं को सादर निमंत्रण।...हिरन, साँभर, बनैले सूअर तथा नीलगाय के शिकार का शौक रखने वाले अपने बंदूकवाले मित्रों को साथ ला सकते हैं।'

पटने के विभिन्न होटलों, रेस्तराँ तथा कैंटीनों में बैठे हुए एकलव्य जी के मित्रों ने 'टेबलतोड़ ठहाके' लगाये थे—"साला! सचमुच पागल हो गया।"

—पत्रकारिता खेल नहीं बच्चू!

—रंग उतर रहा था...साला भारी चालाक है!

—एक आर्टिकल के बल पर 'सम्पादकी' करने आया था! किन्तु, एकलव्य के 'सम्पादक' को (जिस पर एक वर्ग के पत्रकार कुछ दिनों से 'गुरुडम' का इल्ज़ाम लगाने लगे हैं!) भरोसा था। एकलव्य को वे आर्ट और 'लिटरेचर' का अधिकारी नहीं तो उत्तराधिकारी जरूर मानते थे।... हिमाकत! और क्या कहेंगे?...एकलव्य जी की 'कुक्कुट पालन साधना' में भी उन्हें साहित्य और समाज की समृद्धि की सम्भावना दिखलायी पड़ती थी!

जून १९५५ में एकलव्य जी पटने लौट आये हैं, काला आज़ार तथा डिसेंट्री ले कर। तब से पटने के जेनरल हास्पिटल के एक जेनरल वार्ड में भर्ती हैं। अपने सम्पादक को उन्होंने हस्तलिखित कागजात का बड़ा पोथा सुपुर्द किया है। सम्पादक जी उस पोथे के बारे में जब-जब अपने बन्धु-बान्धवों से कुछ कहना चाहते हैं, लोग बात काट कर एकलव्य के ब्लड प्रेशर की रिपोर्ट तथा उसके दिमाग़ की कुशल पूछते हैं।...'पाटलीपुत्र पराग-दल' (एक स्थानीय सांस्कृतिक संस्था) के चीफ़ ने भविष्यवाणी की है—"काँके न भेजा जाय तो कहना!"

सम्पादक जी ने हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की सेवा में 'एकलव्य के नोट्स' के अंश प्रकाशनार्थ प्रेषित किये। अधिकांश पत्रों ने धन्यवाद पूर्वक नोट्स को वापस कर दिया है।...बहुतों ने तीखी-मीठी टिप्पणियों के 'खरोंच' भी लगाये हैं।]

बात यह हुई कि......। एक बात पहले की कह देना अच्छा है।...इधर कुछ दिनों से लगता है कि दुनिया तेज़ रफ़्तार से भागी जा रही है। दिशा ज्ञान की बातें पीछे करूँगा—चाल की तेज़ी का अनुभव सभी कर रहे हैं।...... उदाहरणार्थ—लैण्ड सर्वे सेट्लमेंट! ज़मीन की फिर से पैमाइश हो रही है। साठ सत्तर साल बाद। भूमि पर अधिकार! बंटैयादार का ज़मीन पर सर्वाधिकार हो सकता है, यदि वह साबित कर दे कि ज़मीन उसी ने जोती-बोयी है।....चार आदमी (खेत के चारों ओर के गवाह जिसे 'अरिया-गवाह' अथवा चौहद्दी के गवाह कहते हैं) कह दें, बस हो गया। बिहार टेनेन्सी एक्ट की दफ़ा ४० के मुताबिक़ लगातार तीन साल तक ज़मीन आबाद करने वालों को 'आकोपेन्सी राईट' (मौरूसी हक़) हासिल हो जाता था। ज़मींदारी प्रथा ख़त्म करने के बाद राज्य सरकार ने अनुभव किया—पूर्णियाँ ज़िले में एक क्रांतिकारी क़दम उठाने की आवश्यकता है।...हिन्दुस्तान में, सम्भवतः सबसे पहले पूर्णियाँ ज़िले पर ही 'लैण्ड सर्वे आपरेशन' का प्रयोग किया गया है। ज़िले में ज़मींदार राजाओं की ज़मींदारियों का विनाश अवश्य हुआ। किन्तु, हिन्दुस्तान के सबसे बड़े किसान यहीं निवास करते हैं।...गुरुवंशी बाबू ज़मींदार नहीं, किसान हैं। दस हज़ार बीघे ज़मीन है। दो हवाई जहाज रखते हैं। दूसरे हैं भोला बाबू। करीब पन्द्रह-बीस हज़ार बीघे ज़मीन है, एक दर्जन ट्रैक्टर हैं। पर यह बात सच्ची है कि वे ज़मींदार नहीं।...पाँच सौ बीघे वाले किसान मध्यवर्गीय किसान कहलाने

हैं। गाँव-गाँव पर इन किसनों का राज! भूमिहीनों की विशाल जमात। जगती हुई चेतना।....ज़मींदारी प्रथा समाप्त होने के बाद भी हर साल फसल कटने के समय एक-डेढ़ सौ लड़ाई-दंगे और चालीस-पचास 'मरडर' होते रहे तो फिर से ज़मीन की बन्दोबस्ती की व्यवस्था की गयी है। एक विशाल आँधी की प्रतीक्षा में 'क्षयिष्णु' समाज, समाज के गाँव, गाँव के लोग खड़े हैं......

शहर से (पटना से) शशांक ने लिखा है—"हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध 'परसनेलिटी' ने कहा है—'एकलव्य एक दिन अपनी गलती पर पछतायेगा।... गाँव, अंचल, आँचलिक वग़ैरह-वग़ैरह के गोरख धन्धे से निकाल कर उसे शुद्ध साहित्य की रचना करने को कहो!"

पक्की बात है। मुझे अपनी पॉलिसी पर ध्यान देना चाहिए। बिज़नेस इज़ बिज़नेस।...मगर यह गाँव! १८८० साल में मि० बुकानन ने अपनी 'पूर्णियाँ रिपोर्ट' में इस गाँव के बारे में जो लिखा है, उसकी कुछ पंक्तियों का अनुवाद है 'इस इलाके के लोग परानपुर को सारे अंचल का 'प्राण' कहते हैं।' अक्षरशः सत्य है उनका कथन।...गाँव से पच्छिम बहती हुई दुलारी-दाई की धारा। तीन ओर विशाल प्रान्तर। ज़िले के नक्शे के बीचों-बीच—उत्तर से दक्खिन की ओर पड़ी हुई लाखों एकड़ बादामी रंग की धरती...परती! दुलाई-दाई जिसकी पच्छिमी रेखा है, जहाँ से हरियाली शुरू होती है। अपने दोनों हाथों से दोनों कछार की धरती पर सुख-समृद्धि बाँटती हुई दुलारी-दाई...वन्ध्या धरती की समवेदना में बहती हुई अश्रुधारा जैसी।...गाँव के दक्खिन हज़ारों सेमल के पेड़ों का बाग़ है। सेमल वनी!...फूलों के मौसम में 'लाल आसमान' को मैंने देखा है—अपलक नेत्रों से अचरज भरी निगाहों से।...लाल आसमान!

सेमल का बाग़ आज भी है। हर पाँच-सात साल के बाद नयी पौध! कहते हैं, सात साल पहले एक दियासलाई कम्पनी का ठेकेदार आया और सेमल—जिसको (जिसके फल को) गिलहरी भी न खाय, जिसकी लकड़ी से कोई मुर्दा भी न जलाये, शीशम के दर बिकने लगा। लेकिन इसी को कहते हैं तक़दीर का खेल! बन के मालिक के अधपगले एम० ए० पास पुत्र ने साफ़ जवाब दे दिया—'एक पेड़ भी नहीं बेचूँगा।' साठ हज़ार रुपये की 'आख़िरी डाक' दे कर कम्पनी का ठेकेदार चला गया।...अब हाय-हाय करने से क्या होता है! ज़मींदारी चली गयी, सेमलबनी पर सरकार का कब्ज़ा हो गया है। सरकार जो चाहे करे।...अब हाईकोर्ट में अर्जी दी है—'सेमल के बाग़ का सर्वनाश न किया जाय।'...पागल आदमी को कौन समझाये!

इस तथाकथित अर्ध-पागल नौजवान से मैं मिला हूँ। सनकियों के कुछ लक्षण उसमें अवश्य हैं। सेमल बाग़ को न बेचने का कारण पूछने पर चिढ़ कर उसने कहा था—"आप नहीं समझिएगा साहब।...आप समझ ही नहीं सकते मेरी बात...."

फूलों के मौसम में सेमल की नंगी लम्बी बाहें जब लाल-लाल फूलों से भर गयीं, एक सुप्रभात के आसमान की फ़िज़ा देख कर मैंने मन-ही मन उस अर्धपागल नौजवान को श्रद्धापूर्ण नमस्कार किया। उसने अति शिष्ट एवं सभ्य भाषा में मुझे कड़वी गालियाँ दी थीं।...वह मेरा प्राप्य था।

मेरे प्यारे गैबी....हाँ, यह मेरे मुर्गे का नाम है। गेड्स जाति का है। बड़ा अक्खड़, बड़ा लड़ाका। मेरे प्यारे गैबी पर भी सिंदूरी जादू चल गया है मानो! अस्वाभाविक ढंग से चकित हो कर बार-बार इधर-उधर देखता है, अरूणचूड़ा चमका कर नाचता है, बाँग देता है...जन्मजात 'लेफ्टिस्ट' है मेरा गैबी! बाँग जब देने लगता है तो लगता है, कम्बख्त नारे लगा रहा है।....नारे से बेहद चिढ़ते हैं कुछ लोग।...चुप रहो प्यारे। वर्ना कभी ज़िबह कर दिये जाओगे! ....और ये छोटी-छोटी देशी मुर्गियाँ भी विलायती बोल बोलती हैं जब गैबी नारा लगाता है।...गैबी का क्या दोष?...सेमल को फूलते देख कर हवा भी बावरी हो गयी है।...चक्की पीसती हुई लड़कियाँ गाती हैं...

'सेमली के बगिया अगिया लागी...रहे!'

गैबी ने आसमान सिर पर उठा लिया है। उसका क्या कसूर? मेरी भी कविता करने की इच्छा हो रही है—

'लाल लाल फूलों से भरे
हज़ारों हाथ आस्मां में उठाये
हम खड़े हैं
काले पर्दे के पार बेबस
ओ! नये युग की पहली सुबह,
रात के किले में कैद नये आफ़ताब-सुनो!
हम तुम्हें आज़ाद करने आये हैं!'

[यह सम्मान पूर्वक अस्वीकृत अंश है 'एकलव्य के नोट्स' का। पत्र के सम्पादक ने एकलव्य जी के परम शुभचिंतक सम्पादक से मौखिक रूप में कहा—"[illegible] बहुत 'लाल लाल' चिल्लाने को

चेष्टा है।...एक पिछड़े हुए ज़िले के खास अंचल का 'डिट्टम' पीटा है।. 'कथा-साहित्य' को इस 'नोट' से कोई तालुक नहीं।.... सम्पादक जी ने एकलव्य के नोट्स से और दो टुकड़े ले कर इसमें जोड़ दिये हैं।]

बौंडोरी ! बौंडोरी !!....

सर्वे का काम शुरू हो गया है। अमीनो की विशाल फौज उतरी है।.... बौंडोरी, बौंडोरी !

बौंडोरी अर्थात् बाउँड्री ! सर्वे की पहली मंज़िल ! अमीनों के आगमन के साथ ही गाँव में नये शब्द आये हैं—सर्वे से सम्बन्धित ! बच्चा-बच्चा बोलता है।

सर्वे की पहली मंज़िल—बाउँड्री ! फिर किश्तवार, तब मुरब्बा, ख़ानापुरी, तनाज़ा, तसदीक और दफ़ा तीन.... ।

जरीब की कड़ी, तख़्ती, राइटेंगल, गुनियाँ, कम्पास आदि ले कर अमीन लोग अपने टंडैलों के साथ धरती के चप्पे-चप्पे पर घूम रहे हैं। जरीब की कड़ी खनखनाती हुई सरक रही है—खन-खन-खन !!

सर्वे के अमीन साहब का कहना है—"यदि किसी 'प्लाट' पर एक कौआ आ कर कह दे कि ज़मीन मैंने जोती-बोयी है, तो उसका नाम लिखने को हम मजबूर हैं।....यही क़ानून है।. यह मत समझो कि 'बौंडोरी' बाँध रहा हूँ..."

मैंने शशांक को पत्र का जवाब दिया है—"शशांक ! यह मत समझो कि 'बौंडोरी' बाँध रहा हूँ।....चार महीने हो रहे हैं, बहुत बड़ी-बड़ी बातें होते देख रहा हूँ।....अब इस अंचल को क्या करूँ कि 'जादू-टोना' मारे जा रहा है।....मैं बहुत करीब से देख रहा हूँ इस उथल-पुथल को।...धरती पर आकाश की परी उतरती है, हौले-हौले ! हरसिंगार की डालियों से ज़रा-सी चुनरी उलझी, मृदु झटके से जो फूल झरे, शरद की चाँदनी में भीगी धरती पर पड़ते-झरते हरसिंगार के 'परस' की ख़बर मुझे हो ही जाती है। युगों से पद-दलित, शोषित, भुक्खड़ भूमिहीनों की टोली—यहाँ हर टोले में, दिन-रात आशा-आशंका तथा संदेह-विश्वास की जिन 'सम-विषम' तालों पर नाचती है, उन्हें न सुनूँ ?...क्या कहता है—हमारा प्रतिष्ठित मित्र ? कान बंद कर लूँ ?...

धरती में कान लगा कर दिन-रात सुनता हूँ !

क्या सुनता हूँ, नहीं सुनना चाहते तुम, न सुनो। बहरा कैसे हो जाऊँ

मित्र...। जिले भर में किसानों और बेज़मीनों में महाभारत छिड़ा हुआ है। दुखरन साह मेरे पड़ोस में रहते हैं, छोटी दुकान है। पचास बीघे ज़मीन है। भोगने वाला कोई नहीं।...उसने सोचा था—'भू-दान' में दो बीघे ज़मीन 'दान' देने से अड़तालीस बीघे तो बच जायँगे। हज़ार बीघे वाला भी एक इंच ज़मीन छोड़ने को राज़ी नहीं...'बोर' मत होना दोस्त। अजीब ज़िला है यह!"

मगर, अमीन साहब कहते हैं, 'असल चीज़ है बाउँड्री। अभी जिसका नाम दर्ज हो गया समझो, पत्थर पर रेखा पड़ गयी।' इसीलिए ज़मीन वाले और बे-ज़मीन—सभी उन्हें हमेशा घेरे रहते हैं। न जाने कब कोई कौआ उड़ कर आये और तनाज़ा दे दे ज़मीन में।

'तनाज़ा सर्वे की एक मंज़िल है!

तनाज़े का फ़ैसला क़ानूनगो साहब करेंगे। इनको बहुत 'पावर' है। सभी अमीन और सुपरवाइज़र इनके 'अंडर' में रहते हैं।...पाँच महीने तक 'तनाज़ा' फैसला होगा...! सबों ने पाट बेंच कर पैसे जमा कर रखे हैं, क्या जाने कब रुपये की ज़रूरत पड़ जाय...! दिन-रात कचहरी लगी रहती है कानूनगो साहब की। कानूनगो के 'चपरासी जी' को इलाके के बड़े-से-बड़े ज़मीन वाले हाथ उठा कर—'जयहिंद' करते हैं—'जयहिंद चपरासी जी!...कहिए, कानूनगो साहब को 'चावल' पसंद आया? असली वासमती चावल है, अपने खर्च के लिए घर में था।...जी-जी-हाँ।...घी आज आ जायेगा।"

कचहरी लगी रहती है—देशसेवकों की। कांग्रेसी, समाजवादी, कम्यूनिस्ट सभी पार्टी वालों ने अपने बाहरी 'वरकर' मँगाये हैं। गाँव के 'वरकरों' की बात उनके अपने परिवार के ही अन्य सदस्य नहीं मानते।...अपना-अपना भाग्य! अपना-अपना हिस्सा!

बहुत से 'वरकरों' का ट्रायल होने वाला है! सेवकों की सेवाओं की परख हो रही है।

सभी पार्टी के कार्यकर्ता सतर्क हैं, सचेष्ट हैं। बँटाईदारी करने वालों के नाम पर्चा दिलवाने का व्यापार बड़ा टेढ़ा है!

चौहद्दी के गवाहों की गवाही बड़ी पुख्ता समझी जाती है—कानूनगो के सामने।...प्लाट नम्बर ४७२! इसके उत्तर कौन है ४७१ में? जीतू हजरा,? क्यों जी जीतू हजरा, क्या तुम्हें मालूम है कि तुम्हारी ज़मीन के दक्खिन किसकी ज़मीन है? रेखा गणित के सहारे बात आसानी से समझी-समझायी जा सकती है।...क्योंकि, 'प्लाट नम्बर ४७२

का 'तनाज़ा' जाँच कर रहे हैं हाकिम। ४७२ पर दो-दो दावे हैं। ज़मीन मालिक मोती मिसर और बँटाईदार सुलानू राउत के अलावा और भी दो बँटैयादारों के दावे हैं। सबों के दावे हैं कि वे ही असल बँटैयादार हैं।....४७२ के उत्तर ४७१ में जीतू हजरा के बाप का नाम पुराने कागज़ात में दर्ज है--कायमी बँटाईदार की सूरत से।... एक पार्टी ने उसको गवाह बनाया है। दूसरी पार्टी वाला कागज़ पेश करता है—'हुजूर माय-बाप। देखा जाय। जीतू हजारा के बाप ने अँगूठे का निशान लगा कर पचीस साल पहले 'सुपुर्दी' लिख कर दी है, इस जमीन पर हमारा या हमारे वारिसान का कोई हक नहीं रहेगा।'....रेखागणित के द्वारा ही यह साबित होता है कि प्रत्येक प्लाट पर पाँच-पाँच आधीदारों के झगड़े हैं।...व्यक्ति-व्यक्ति की लड़ाई है।...कानूनगो साहब मुस्करा कर पार्टी वरकरों की ओर देखते हैं—'आप लोग तो जनता के नेता हैं।...देखिए, कितना झंझट का काम है। मैं किसे सच मानूँ।"

जमीनवाले फर्ज़ी बँटैयादार खड़ा कर रहे हैं।...ज़मीन बचाने के लिए वे हर तरह के कुकर्म कर सकते हैं।

"मगर फर्ज़ी बँटैयादारों की संख्या जोड़ कर देखिए....बहुमत ही फर्ज़ी...।" कानूनगो साहब बिच्छू की तरह डंक मार कर हँसते हैं, दुष्ट हँसी! सभी पार्टी वालों पर उनके विरोधी दल का इल्ज़ाम है...अपनी किसान सभा के मेम्बरों को ग़ैरवाजिब ढंग से ज़मीन दिलाना चाहते हैं। गाँव में 'सपोट' शब्द खूब प्रचलित हो गया है।

"क्यों रामदेल! तुमको तो दो-दो पार्टी वाले 'सपोट' करते हैं।...पर्चा तुम्हीं को मिलेगा।"..."अरे, नहीं भाई। बड़ा 'इन्दरजाल' हो रहा है।... कानूनगो साहब की 'इसतिरी' का 'नमहर' रामलगन बाबू की ससुराल के बगल वाले गाँव में है। लगता है आखिर 'तरियाचलित्तर' का 'खेला' करवायेंगे रामलगन बाबू।"

किन्तु लुत्तो बाबू की बात निराली है। शासक पार्टी के कार्यकर्ता हैं। सर्वे के समय उनकी कीमत और बढ़ रही है। बड़े लोगों की सेवा कभी निष्फल नहीं जाती। पाँच साल तक थाना कमेटी के नेता जी का बिस्तर योंही नहीं ढोया है...लुत्तो बाबू ने।

"अरे, सोशलिस्ट, कौमनिस्ट को कौन पूछता है। ज़मीन लेनी है तो 'जय' बोलो लुत्तो बाबू की!"

सभी धीरे-धीरे जान गये हैं, सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट पार्टी वाले जिनकी

मदद करेंगे, उन्हें जमीन हर्गिज़ नहीं मिल सकती, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, भी उठ कर आवें तब भी नहीं ।...इसमें कुछ भेद है...जिसे सिर्फ लुत्तो बाबू ही जानते हैं । लुत्तो बाबू के चरण गहो...।

खेत-खलिहान, घाट-बाट, बाग-बगीचे, पोखर-महार...पर खनखनाती हुई जरीब की कड़ी घसीटी जा रही है...खन-खन-खन-खन !

—नया नकशा बन रहा है !

—नया खाता, नया पर्चा...ज़मीन के नये मालिक !

तनाज़ा के बाद तसदीक ! तसदीक करने के लिए कानूनगो से ज़्यादा 'पावर' वाले नये हाकिम साहब आये हैं । ए० एस० ओ० साहब । असिस्टेण्ट सर्वे आफ़िसर ।...हर नया हाकिम नया एलान करता है ।

"बाऊँड्री—तनाज़ा हम कुछ नहीं जानता है । हम फिर शुरू से जाँच करेगा ।...यही सरकुलर आया है । नया सरकुलर ।"

—छै महीने में ही गाँव का बच्चा-बच्चा पक्की गवाही देना सीख गया है ।

—छै महीने में ही गाँव एकदम बदल गया है । बाप-बेटे में, भाई-भाई में, अपने हक को लेकर ऐसी लड़ाई कभी नहीं हुई ।...अजीब-अजीब घटनाएँ घटती हैं । सरबन बाबू की ही बात लीजिए...। सरबन बाबू इलाके के नामी गरामी आदमी हैं । गाँव में अब भी काफ़ी प्रतिष्ठा है । जवार भर की पंचायतों में जाते हैं । ....हाल में ही काशी जी से 'शिवलिंग' मँगवा कर स्थापना करवायी । पुण्य का झंडा लहरा रहा है आसमान में, शिवाले के ऊपर । ....उनके छोटे भाई लालचन बाबू को किसी ने बताया कि सभी पर्चों पर सरबन बाबू अपने लड़कों के नाम या स्त्री का नाम चढ़वा रहे हैं । लालचन बाबू का नाम कहीं भी नहीं—एक 'प्लाट' पर भी नहीं । जिन पर्चों पर सरबन बाबू का नाम चढ़ा है, सरबन बाबू के साथ... 'वगैरा' भी नहीं है जो कभी लालचन बाबू दावा कर सकें...। लालचन बाबू पढ़े-लिखे नहीं हैं तो क्या हुआ ! इतनी सी बात भी उनकी समझ में नहीं आयेगी ? उनके वकील साहब ने फीस ले कर सलाह दी है—"आप को आगे बढ़ने की कोई ज़रूरत नहीं (आगे बढ़ने का मतलब यहाँ कोर्ट-कचहरी करने से है)...बड़े भाई को आगे बढ़ने दीजिए ।"

लालचन बाबू ने दूसरे ही दिन 'भारे लाठी के' सिर फोड़ कर, सरबन बाबू को यानी अपने बड़े भाई साहब को आगे बढ़ा दिया है ।....

बड़े बड़े इज़्ज़तदारों की हवेली में बंद-घूँघटों में छिपी जेवा औरतें पर्दे को

चीर कर आगे बढ़ आयी हैं। अपने नाबालिग वंशधरों की उँगलियाँ पकड़े खड़ी हैं—"हुजूर ! माय बाप... देखा जाय, 'निसाफ' किया जाय हुजूर। खाते में कहीं भी इस लड़के का नाम नहीं। इसका बाप कमाते-कमाते मर गया। कोल्हू के बैल की तरह सारी जिन्दगी खटते-खटते बीती।... भगवान आपको 'जश' देंगे। नाम लिखा जाय हुजूर।"

सुना है, सरवन बाबू ने भरी कचहरी में कह दिया है।...ईमान-धरम खा कर उन्होंने कह दिया है—"लालचन मेरा कोई नहीं !"

कालेजों में पढ़ने वाले विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी छोड़ कर गाँव दौड़े आये हैं।... बाप का भी भरोसा नहीं। छोटे को प्राणों से बढ़ कर प्यार करते हैं। छोटे के नाम से भी सभी उपजाऊ जमीनें लिखवा दे सकते हैं। कोई भरोसा नहीं किसी का।

...खट-खट, खट-खट !

गाँव की 'अलीगली,' अगवार-पिछवाड़ की ओर निकलने वाली पग-डंडियाँ बंद की जा रही हैं।...डर है, नक्शा बन जाने का। खेत के बीचों-बीच 'पगडंडी' यदि 'नक्शे' में दर्ज हो गयी तो हो चुकी खेती !

आँधी चल रही है। दो साल तक लगातार चलेगी यह आँधी। बाउँड्री से तसदीक तक—एक साल, दफा १०३ से १०६ तक दूसरे साल !

दीवानी-कचहरियों में बेदखली, फसलजब्ती, टायटिल-सूट का बजार गर्म है। ठलुवे वकीलों को भी दस रुपये रोज की आमदनी होने लगी है।...

मेरी 'पालट्री' !...एक खेवे के चूजों को पंख लग गये हैं। गैबी कल घायल हो गया है। लेगहार्न जाति के नौजवान मुर्ग जुम्मन ने घायल कर दिया है उसे बुरी तरह...। भगवान न करे मेरे गैबी को कुछ हो जाय। गैबी रह-रह कर पांखें फड़फड़ाता है। असह्य वेदना से उसकी आँखों की आरक्त पुतलियाँ काँपती हैं। जुम्मन की आवाज सुन कर उठने की चेष्टा करता है। खोल दूँ तो मर-मिटे अभी।

बहुत बुरा स्वप्न देख कर उठा—जनवरी ५५ की पहली तारीख को। भोर का सपना, कहते हैं—सत्य होता है !

हजारों सेमल के पेड़ों को कटते हुए देखा है—सपने में ! फूलों से भरी पेड़ की डालियाँ छिन्न-भिन्न हो कर इधर-उधर बिखरी हुईं...।

जी 'उचाट' हो गया है।....तबीयत भारी रहती है।

भगवान भला करे 'बैकवार्ड और शिड्यूल्ड कॉस्ट' टोले के नौजवानों का! नाटक स्टेज करेंगे। [अँग्रेज़ी नामकरण स्वयं 'बैकवार्ड और शिड्यूल्ड कास्ट' के नौजवानों ने किया है।....तीन साल पहले तक 'गंगोला' जाति के 'लीडर' लोग अपने क्षत्रित्व के प्रमाण में बहुत लम्बे-लम्बे भाषण देते थे। नाम के अंत में 'सिंह' जोड़ते थे।....सरकार 'बैकवार्ड' और 'शिड्यूल्ड कॉस्ट' के लड़कों को स्कालरशिप देने लगी है, सरकारी नौकरियों में 'सीटें' रिज़र्व रखती है।...मुरली सिंह जी सवर्ण हिन्दू हैं। सुनते हैं—उनके लड़के ने अपने को 'अनसूचित जाति' की संतान बता कर, स्कालरशिप 'फ्रीट' लिया है। साठ रुपये प्रति-मास।]

इस 'महाभारत' के बीच इन नौजवानों के उत्साह को देख कर मन प्रसन्न हो गया। नाटक खेल रहे हैं।

दलितवर्ग को हर तरह से मर्दित कर के रखा गया था अब तक। नाटक मंडली के लिए प्रत्येक वर्ष खलिहान पर चंदा काट लेते हैं—मालिक लोग। लेकिन, कभी भी द्वारपाल, सैनिक, अथवा दूत का पार्ट छोड़कर अच्छा पार्ट... माने 'हीरो' का पार्ट नहीं दिया सवर्ण टोली के लोगों ने।...

इस बार उन लोगों ने नाटक खेलने की तैयारी की है। पिछले साल गाँव के नाटककार श्री प्रेमकुमार 'दीवाना' जी ने एक नाटक लिखा। नाटक मंडली के एक-एक सदस्य को उन्होंने सुनाया-समझाया, मगर लोगों ने पसन्द नहीं किया।

दलित वर्ग के नौजवों ने 'दीवाना' जी के नाटक को काफ़ी पसन्द किया है। नाटक का नाम है 'प्यार का बाज़ार'।

दीवाना जी ने नाटक की रचना ख़ास कर गाँव की नाटक मंडलियों के लिए की है। दीवाना जी की बात विचार करके देखने की है। नाटक मंडली के लिए सभी चन्दा देते हैं। और नाटक में राजा, राजा का बेटा, पुरोहित, मन्त्री आदि जितने भी अच्छे पार्ट होते हैं, ऊँची जाति वालों को दिये जाते हैं। बाकी बचे हुए लोगों को 'जो आज्ञा' वाला पार्ट दे कर टरका दिया जाता है।...कहेंगे—नाटक में जितना पार्ट लिखा है, उससे ज़्यादा लोगों को कैसे दिया जाय। भला, शहर के नाटक लिखने वालों को क्या मालूम कि गाँव में कितने लोग-योंही बिना पार्ट के रह जाते हैं। 'प्यार का बाज़ार' में तीस हीरो हैं! औरत का पार्ट कोई लेना नहीं चाहता इसलिए एक घूँघट वाली हिरोइन की व्यवस्था की गयी है—किताब में।...गाँव में गाँव के नाटककार का नाटक नहीं स्टेज करेंगे......देश का कल्यान करने चले हैं!

—इसके बाद 'प्यार के बाज़ार' ने एक 'विराट व्यापार' का रूप धारण कर लिया।

—दलित नाटक समाज वाले जब सवर्ण टोली से 'पर्दा-पोशाक' लेकर चले गये तो मालूम हुआ कि अब वे 'पर्दा पोशाक' लौटा कर नहीं देंगे।...पचीस साल से चन्दा लिया जा रहा है। मगर कभी 'हीरो' का पार्ट नहीं मिला।... छित्तन बाबू ने पुस्तकालय को 'हथिया' लिया। बिकू बाबू सरकारी रेडियो बजाते हैं—अपनी कोठरी में!...पर्दा-पोशाक पर दलित नाटक समाज का कब्जा होना जायज़ है।

—देखना है कौन माँगने आता है पर्दा पोशाक!

—एक मूँछ भी नहीं मिलेगी!!

किन्तु, सवर्ण टोली पर ज़ाहिरा इसकी कोई भी प्रतिक्रिया नहीं हुई। नाटक शुरू होने के दो घंटा पहले सवर्ण टोली के लोग भी पहुँचे। सबों ने मिल कर स्टेज की तारीफ़ की, सजावट को सराहा।

टोले में एक अभूतपूर्व आनन्द की लहरें आयी हुई थीं। पहली बार इस टोले में स्टेज बना था।...

सवर्ण टोली वालों ने अपनी ग़लती मान ली। मन्त्री जी बोले—

—"नाटक ही करना था तो मिल-जुल कर करते।"

—"दूर-दूर से लोग देखने आये हैं। क्या कहेंगे लोग?"

—"अरे भाई जमीन की लड़ाई ज़मीन पर, गाँव की लड़ाई गाँव में। नाटक मंडली में फूट होने से तो दुनिया हँसेगी।"

—"परानपुर की प्रतिष्ठा का प्रश्न है प्यारे भाइयो।"

'दीवना' जी को समझा दिया गया कि नाटक मंडली ने उनकी किताब को अस्वीकृत करके भारी भूल की है। किन्तु यह बात भी ठीक है कि 'दूसरे सीन' में संशोधन की आवश्यकता है। संशोधन करते ही नाटक चमक उठेगा। दीवाना जी ने उत्साह से हाथ फेंकते हुए कहा—"यह तो मेरे लिए बायें हाथ का खेल है। पाँच मिनट में कर सकता हूँ—संशोधन!" सर्व-सम्मति से यह संशोधन भी स्वीकृत हो गया कि सवर्ण और दलित दोनों टोले के लोग मिल-जुल कर नाटक खेलेंगे। सवर्ण टोली वाले सिर्फ़ संशोधित 'सीन' में उतरेंगे, दलित टोले के एक भी हीरो को 'ड्राप' नहीं किया जायगा।

हारमोनियम मास्टर ने जब 'मार कटारी मरि जाना'—बजाना शुरू किया

तो किसी को भी होश नहीं रहा। दर्शकों ने तालियाँ बजा कर पर्दा उठाने की उत्कंठा प्रकट की।

पर्दा उठा। प्रथम दृश्य में नाटककार---'दीवाना' जी ने पन्द्रह मिनट भाषण दे कर प्रमाणित कर दिया कि सिर्फ़ नाटकों से ही ग्राम-सुधार सम्भव है। शर्त यह है कि गाँव में—गाँव के योग्य ही नाटक खेले जायँ। गाँव में बढ़ती हुई कटुता नाटक से ही दूर हो सकती है, कुछ क्षण पूर्व की घटना द्वारा, प्रत्यक्ष प्रमाणित करने के बाद इंगलैंड, अमेरिका, चीन, रूस आदि देशों के नाटकों पर भी प्रकाश डालने में काफ़ी समय लग गया।

दूसरे ही सीन में (संशोधित सीन में) सवर्ण टोली के बीसों कलाकारों को एक ही साथ उतरना था।

सब से पहले एक व्यक्ति हाथ में तलवार ले कर स्टेज पर आया।... 'दीवाना' जी पर्दे की आड़ में ज़ोर-ज़ोर से 'प्राम्पटिंग' कर रहे थे। किन्तु उस 'हीरो' ने अपने 'डॉयलग' में पुकारा—"साथियो ! तैयार हो ?"

—अन्दर से सम्मिलित आवाज़ आयी—"हम तैयार हैं।"

—हुक्म हुआ—"एक-एक कर प्रवेश करो !"

बीसों कलाकार, किस्म-किस्म की पोशाकें और हथियार से लैस हो कर आये। आठ-दस 'नायकों' के सिर पर बक्से भी लदे थे।...दीवाना जी दौड़ कर स्टेज पर आये। उन्होंने कुछ कहने की चेष्टा की।

प्रथम 'हीरो' ने हुक्म दिया—"इस व्यक्ति को क़ैद कर लो।" 'दीवाना' जी को सबों ने घेर लिया। उन्होंने बहुत हाथ-पैर मारने की चेष्टा की। इस घेर-भाग और धर-पकड़ से समवेत दर्शक मंडली बेहद खुश हुई और तालियों से इस संशोधित सीन का स्वागत किया गया।....हारमोनियम मास्टर साहब ने लड़ाई वाली धुन छेड़ दी। 'हीरो' आखिरी डॉयलग बोला—"निकल पड़ो !" बीसों 'हीरो' सारे साज़ो-सामान तथा पोशाक के साथ दर्शकों के बीच उतर पड़े। ...दो नायकों ने 'नाटककार' जी को कंधे पर बेबस करके लटका लिया था। प्रथम हीरो ने दलित टोले के 'पंचायती पेट्रोमैक्स' को आगे बढ़ा कर गुल कर दिया।...भीषण कलरव और कोलाहल में किसी की समझ में कोई बात नहीं आयी कि क्या हुआ ?

—कहते हैं, टँगे हुए पर्दे की डोरी तक वे काट कर ले गये !

—बारह-तेरह व्यक्ति बाँस के खँरोन्च से घायल हुए !

—थाने में खबर दी गयी है। डकैती का अभियोग लगाकर नालिश की गयी है।

सब हँसते हैं।...मैं हँसने के 'मूड' में नहीं हूँ। पंचायती-पेट्रोमेक्स गुल हो जाय—यह हँसने की बात नहीं।

रैवी कल मर गया।

जुम्मन उसकी लाश के पास घंटों चुपचाप खड़ा रहा।

—पशु-पक्षी को भी शोक होता है क्या?

बेकार की बातों में अपना दिमाग़ खराब करूँ, पागल हो जाऊँ शौक से—यह मेरी व्यक्ति गत स्वाधीनता है! हमारी ह्यूमन-डिगनिटी है!!

["एकलव्य के नोट्स" के उपर्युक्त तीन असंलग्न खंडों को एक साथ किसी मासिक पत्रिका में प्रकाशित किया गया। 'कथा-साहित्य को ऐसी स्थूल चीज़ों की आवश्यतता नहीं' सम्पादकीय 'नोट' के साथ!

...किन्तु, सामाजविज्ञान के एक प्रोफ़ेसर साहब इसके लेखक एकलव्य से अस्पताल में मिलने आये।...सम्पादक जी से बातें करते समय प्रोफ़ेसर साहब ने 'विलेज सर्वे' पर थोड़ा प्रकाश डाला।...फोक्ड स्टडी, इकलोजिकल स्टडी, स्टेटिक तथा पेराडॉक्स आदि शब्दों से प्रयुक्त वक्तव्य के द्वारा 'एकलव्य के नोट्स' की आवश्यकता बतलायी।...'पोथा' उन्हें सुपुर्द कर दिया गया है!]

पेरिस के नोट्स

●●

रामकुमार

सेन के ऊपर पेड़ों की छाया में टेक्सी बास्ती (Bastillie) की ओर दौड़ी जा रही है, परन्तु मेरे मन की, मेरे विचारों की, मेरी भावनाओं की गति का कोई मीटर नहीं है, उसका अन्दाज़ लगाना मेरे वश की बात नहीं है....ये भागते हुए क्षण हैं, जिन्हें फिर कभी पकड़ नहीं पाऊँगा। अगस्त की शाम...सूर्य दिखायी नहीं देता, लेकिन टेक्सी की खिड़की में से मैं गहरे हरे या शायद नीले आकाश को देख रहा हूँ और उन रंगों के साथ चार साल पुरानी कितनी ही स्मृतियां एक साथ मेरे हृदय में जगना चाहती हैं। मैं किसी को भी स्पष्ट रूप से देख नहीं पाता, मानों वे बिजली की लकीरें हों...स्पष्ट, परन्तु एक क्षण के लिए! अगणित मोटरें भागी जा रही हैं....और कोई स्वर नहीं...केवल पहियों की घड़घड़ाहट का स्वर !...वही पुरानी किताबों की दुकानें फ़ुटपाथ की दीवार के सहारे खुली हुई हैं, सामने सारा बर्हनाड का थियेटर फिर 'नात्र दाम' की ऊँची मीनारें...सब कुछ वही है। कुछ भी नहीं बदला। इन्हीं सड़कों पर, इसी गिरजे के सामने कैफ़ों में कितने क्षण बिताये थे...एक दिन जब पेरिस में पहला हिमपात हुआ था तब सफ़ेद फ़ुटपाथ पर चलते समय मुझे अपना बचपन याद आता था...फिर एक रात क्रिसमस ईव के मौके पर जैक और टोनी के घर से आधी रात को कड़कड़ाती सर्दी में 'सिते' की ओर लौटा था और फिर एक दिन खाने के बाद मकान की सीढ़ियों पर बैठ कर देवरा ने अपनी जिन्दगी की ट्रेजेडी सुनायी थी। वह सब आज नहीं है, लेकिन मेरा मन बार-बार पीछे उन्हीं दिशाओं की ओर दौड़ रहा है, जहाँ पहुँचने के सारे रास्ते आज बन्द हो चुके हैं। इस लम्बे अरसे के बाद पेरिस में पहली शाम....लोग फ़ुटपाथ पर बने कैफ़ों

में बाहर कुर्सियों पर बैठे हैं, एक प्रकार का छुट्टियों कासा वातावरन है...किसी को कहीं भी पहुँचने की जल्दी नहीं है। अपने को न रोक सकने के कारण मैं टेक्सी वाले से ही बातें करने लगता हूँ। उसे अपनी मनःस्थिति का एक आभास देना चाहता हूँ, जिससे वह यह न समझे कि वह किसी साधारण व्यक्ति को अपनी गाड़ी में बिठाये हुए है। परन्तु मेरी बातों से वह प्रभावित नहीं जान पड़ता। वह चुपचाप बैठा कभी गाड़ी की रफ़्तार तेज़ करता है और कभी ब्रेक लगाता है। मैं उसका चेहरा सामने लगे शीशे में देख रहा हूँ...बुझा-बुझा सा अधेड़ उम्र का एक चेहरा ......

दिन की हल्की-हल्की धूप में मैं सेन के ऊपर फुटपाथ पर चला जा रहा हूँ। कहीं पहुँचने की जल्दी नहीं है, किसी से मिलना नहीं है। जब कभी पुरानी किताबों के किसी स्टाल पर कोई दिलचस्प किताब दिखायी देती है तो क्षणभर के लिए ठिठक जाता हूँ। बुलीवार 'सां मिशाल' की नुक्कड़ पर मुड़ जाता हूँ। सोचता हूँ कि थोड़ी दूर आगे जाकर 'काफ़े द्यूपों' में बैठूँगा और काफ़ी या बीयर पिऊँगा। यूनिवर्सिटी खुलने में अभी कुछ दिन बाकी हैं अतः सड़क पर अधिक छात्र नहीं दिखायी देते, टूरिस्टों की टोलियां कन्धों पर कैमरे लटकाये, नयी-नयी भाषाओं में बातें करती दिखायी देती हैं। मैं 'द्यूपों' में बैठकर एक बीयर लानेके लिए कहता हूँ। क्योंकि बीयर जल्दी खत्म नहीं होगी। कैफ़े के सामने पेड़ की छाया के नीचे बैठी भारी भरकम शरीर वाली स्त्री अखबार बेच रही है, कुछ लोग क्षण भर के लिए ठिठक कर पेड़ के तने पर बँधे अखबारों की हेडलाइन्स पढ़ लेते हैं। और वह स्त्री क्रोध और खीझ से ऐसे लोगों को घूरने लगती है।

'द्यूपों' में फ्रांसीसियों के अलावा अफ्रीकन, अलजीरियन, वियतनामी आदि भी काफ़ी संख्या में बैठे हुए हैं, उन सब के साथ फ्रांसीसी लड़कियां हैं, जो कभी मुस्कुराती हैं, कभी खिलखिला कर हँसती हैं और कभी अपने बैग से छोटा सा शीशा निकाल कर अपने ओंठों को रंगने लगती हैं। कैफ़े के भीतर किसी ने रेकार्ड लगवा दिया और जाज़ का स्वर धीमा-धीमा बाहर तक पहुँच रहा है और फिर सड़क के कोलाहल में गुम होता जा रहा है। कभी-कभी किसी का बड़े ज़ोर का हँसने का स्वर गूँजने लगता है और क्षण भर के लिए सब की नज़र उस दिशा कि ओर घूम जाती है। इस सड़क पर पेरिस के 'बोहिमियन' तरह-तरह के लिबास पहने दिखायी देते हैं।

हल्की-हल्की, शरीर को गर्मी पहुँचाने वाली, इस धूप में बैठ कर मुझे दिल्ली

का काफ़ी हाउस याद आता है, जब कभी-कभी जनवरी की किसी सुबह मैं काफ़ी पीने जाता था। वह सब कुछ कितना पीछे छूट गया है और यह क्षण भी उसी तरह अतीत की एक मीठी स्मृति बन जायेगा। जब कभी इस तरह के विचार मेरे मन में आते हैं तो मैं स्केच बनाने लगता हूँ, एब्स्ट्रेक्ट स्केच—जिसमें मैं अपनी भावनाओं को प्रकट कर सकता हूँ और जिसे शायद केवल मैं ही समझ पाता हूँ।

रज़ा मेरे पास आकर बैठ जाता है। हम दोनों बातें करने लगते हैं। उसे हिन्दुस्तान छोड़े लगभग छः वर्ष हो चुके हैं। मैं उसे उसके दोस्तों के हाल-चाल बताता हूँ। वह मुझे समझाता है किस प्रकार अपनी जीविका कमाने के लिए उसे पेरिस में संघर्ष करना पड़ा।

अख़बार बेचने वाली मोटी सी स्त्री की कर्कश चिल्लाहट कभी-कभी मेरे कानों में गूँज जाती है मैं अपने सामने बैठी एक युवती की ओर देखता हूँ जिससे सटा एक अफ्रीकन व्यक्ति अपनी बाँह उसके गले में डाले है। वह युवती कभी-कभी मुस्करा कर अपने साथी के चेहरे की ओर देखने लगती है।

मैं दुबुआ और पोल के साथ 'द ब्लांश' पर रात का खाना खाने के बाद चला जा रहा हूँ। 'पिगाल' के पास पहुँच कर हमें सड़क के दोनों ओर कितनी ही नाइट क्लबें दिखायी देती हैं। यह स्थान टूरिस्टों का सब से बड़ा आकर्षण है। अमरीका इंगलैंड, लेटिन अमरीका, इटली आदि कितने ही देशों के अख़बारों में इन नाइट क्लबों के विज्ञापन छपते हैं, जिससे लोग पेरिस आने के लिए आकर्षित हों। दुनिया भर में शायद कहीं भी ऐसी नाइट क्लबें नहीं हैं, जहां नग्न स्त्रियों का नाच होता हो।

हम बाहर खड़े होकर अन्दर की दुनिया के फ़ोटो देखने लगते हैं। मस्ती, वासनाओं को उभारने वाले कलाहीन फोटो। लोगों का जमघट इन क्लबों के बाहर खड़ा है। अधिकतर विदेशी टूरिस्ट हैं, जिन्होंने बड़ी सावधानी से अपनी कमाई में से पेरिस यात्रा के लिए कुछ धन इकट्ठा किया होगा, जिसमें एक नाइट क्लब का भी प्रोग्राम है और वे निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि कहाँ उन्हें सब से अधिक आनन्द आयेगा। इन क्लबों के एजेण्ट बाहर खड़े होकर लोगों को तरह-तरह के लालच दिखा रहे हैं, अपने प्रोग्राम की विशेषता बता रहे हैं और दावा करते हैं कि उनका प्रोग्राम सब से अधिक अश्लील और सेक्सी होगा। एक

शो के लिए १५ रुपये खर्चना हमारे लिए असम्भव था, अतः हम आगे 'पिगाल' की ओर बढ़ जाते हैं।

रास्ते में दुबुआ बतलाता है कि किस प्रकार इन क्लबों के मालिक पेरिस के युवकों को फ्रांस के दूसरे शहरों और गाँवों में भेजते हैं, जिसमें वहाँ की भोली-भाली लड़कियां उनके प्रेम जाल में फँस जायें और फिर उन्हें विवाह का लालच दे कर ये युवक उन्हें पेरिस ले आते हैं और क्लबों के मालिकों के हवाले कर देते हैं।

कैफ़े भरे हुए हैं। जो नाइट क्लब का आनन्द नहीं उठा सकते, वे कैफ़ों में बैठे हुए हैं। ऊपर 'साकरीकर का गिरजा' बिजली की रोशनी में चमक रहा है। सामने 'मूलैं रूज़' का ऊपर का लाल हिस्सा तुलूस लात्रेक के जीवन और कला का प्रतीक बना पुराने दिनों को याद कर रहा जान पड़ता है। हम 'मूलैं रूज़' के सामने बने एक कैफ़े में बाहर टेरेस में बैठ जाते हैं। पोल मार्तिनी पीती है, ज़ाक बीयर और मैं शान्त्रेज़ लाने के लिए कहता हूँ। अगस्त के महीने की यह रात्रि अतीत के पन्नों में खोती जा रही है।

'आईफ़ल टावर' की चोटी—पेरिस का विस्तृत नगर रात्रि के धूमिल अंधकार में हमारे पैरों तले बिखरा हुआ है, छोटी-छोटी जगमगाती रोशनियाँ अपना अस्तित्व भले ही प्रमाणित करती हों, परन्तु अंधकार को चीरना उनके वश की बात नहीं है। मैं सब कुछ देखता हूँ, परन्तु फिर भी अपनी विजय पर मुझे कोई प्रसन्नता नहीं हो रही है। किसी वस्तु को देखना एक बात है और उसे पा लेना दूसरी। मैं यहाँ रात के ग्यारह बजे आया ही क्यों? शायद अपना अकेलापन दूर करने के लिए, परन्तु यहाँ तो और भी अकेला महसूस कर रहा हूँ। बल खाती सेन नदी एक टेढ़ी-मेढ़ी काली रेखा की भाँति नगर के बीचोंबीच उभरी जान पड़ती है, परन्तु उसके ऊपर बने अनगिनत पुलों की रोशनियाँ सेन को अंधकार में विलीन हो जाने नहीं देतीं। हवा बहुत तेज़ी से चल रही है। मेरे पास खड़ा एक ब्रिटिश जोड़ा बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहा है, मैं उनकी बातें सुनने का प्रयास करता हूँ, परन्तु मुझे कुछ भी सुनायी नहीं देता।

फिर 'आईफ़ल टावर' की दूसरी मंज़िल पर उतर कर मैं रेस्तराँ में बैठ जाता हूँ। संगीत की ध्वनि मेरे कानों तक पहुँच रही है। लोग कॉफ़ी, बीयर आदि पी रहे हैं। इस रेस्तराँ में बैठ कर कुछ न कुछ पीना भी टूरिस्टों के लिए आवश्यक सा है, क्योंकि यह पेरिस का सब से ऊँचा रेस्तराँ है।

मैं अपने बटुए में बड़े फ्रैंक्स गिन कर हिसाब लगाता हूँ कि पाँच हज़ार फ्रैंक्स का जो मेरा साप्ताहिक बजट है, वह दो दिन पहले ख़त्म हो जायेगा। अगले दो दिनों में मुझे काफ़ी किफ़ायत करनी पड़ेगी। बीयर का गिलास सब से सस्ता है, अतः मैं वेटर से बीयर लाने के लिए कहता हूँ।

चार साल पुरानी स्मृतियाँ क्यों परछाइयों की भाँति मेरे साथ-साथ चला करती हैं? बहुत कोशिश करने पर भी मैं अपने से उन्हें दूर नहीं कर पाता। वे सब सूरतें मेरी आँखों के सामने घूमा करती हैं, जिनके साथ मैं ने पेरिस में कितने ही सुन्दर क्षण बिताये थे। उनमें से अधिकांश अब पेरिस में नहीं हैं, उनके पते भी मुझे नहीं मालूम, नहीं तो अन्य टूरिस्टों की भाँति मैं भी 'नात्रे दाम' का एक 'पिक्चर पोस्टकार्ड' उन्हें अपना नाम लिख कर भेज देता। एक कार्ड मैंने 'डी' को लन्दन के एक पुराने पते पर भेजा था, परन्तु कुछ दिनों बाद वह पोस्ट आफ़िस की एक मोहर 'एड्रेसी नाट ट्रेसेबल' के साथ वापस लौट आया। फिर दूसरा कार्ड किसी को भेजने की हिम्मत नहीं पड़ी।

'ले लेत्र फ्रांसेज़' के दफ़्तर की सातवीं मंज़िल में एक परिचित से मिलने आया हूँ, जिससे दो महीने पहले हेल्सिंकी में मुलाकात हुई थी। उसके कमरे में कुछ बातें करने के बाद हम दफ़्तर के रेस्तराँ में काफ़ी पीते हैं। इस दफ़्तर में मैंने कितने ही अमूल्य क्षण बिताये थे। तब मेरे कितने ही मित्र यहाँ काम करते थे और घंटों हम कविता, साहित्य, चित्रकला और राजनीति के विषय में बातें किया करते थे। फ्रांस के कितने ही प्रसिद्ध और युवक लेखकों से यहाँ मैंने परिचय प्राप्त किया था या उन्हें देखा था। समय ने क्या-क्या बदल दिया है। जहां पहले १९५०-५१ में एक विश्व युद्ध के ख़तरे से फ्रांसीसी भयभीत हो रहे थे और खुले आम सड़कों पर लोग इस तरह बातें किया करते थे मानों कल ही इस युद्ध का बिगुल बजने लगेगा, परन्तु आज एक खुला वातावरण है, जहाँ लोग खुल कर साँस लेते हैं, युद्ध की कोई चर्चा नहीं होती। ६०० फ्रांसीसी सोवियत संघ का दौरा कर रहे हैं और इन दो देशों की दोस्ती की ख़बरें अख़बारों में छप रही हैं और पेरिस में आने वाले सोवियत बैले के लिए महीना भर तक सारी सीटें बुक हो चुकी हैं। घुटन नहीं है, तनाव नहीं है, पेरिस के चौड़े बुलीवारों की भाँति मन के मार्ग भी फैल गये हैं।

पेरिस में कितनी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक घटनाएँ होती हैं—'पिकासो' की दो विशाल प्रदर्शनियाँ—जिनमें न्यूयार्क से संग्रहालयों तक से चित्र मँगाये गये हैं,

एक प्रदर्शनी में तीन महीनों में एक लाख लोग आ चुके हैं; बोनार के ५० चित्रों की प्रदर्शनी; फ्रांस-धारा के अनुयायिओं की कृतियाँ; इतालवी शिल्पकार मारीनो मारीनी की प्रदर्शनी; 'सिनिमा के सौ वर्ष' जिसमें सारा इतिहास दिखलाया गया है और छः घंटों तक दुनिया भर की पुरानी और नयी फिल्में दिखायी जाती हैं; दस नये नाटक रोज़ थियेटरों में खेले जाते हैं, आपेरा, बैले और संगीत-समारोह भी लगभग प्रतिदिन होते हैं; एक महीना पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय नाटक समारोह हुआ था, जिसमें २२ देशों ने अपने नाटक दिखलाये थे आदि...। पेरिस यूरोप का सांस्कृतिक केन्द्र बना हुआ है, जहाँ हजारों मील की दूरी पर स्थित देशों की कला देखी जा सकती है।

पतझड़ के दिन—सेन के किनारे-किनारे लगे ऊँचे पेड़ों की पत्तियाँ और पीली होती जा रही हैं। जब कभी तेज़ हवा चलती है तो काँप कर सेन में डूब जाती हैं या फुटपाथ पर लोगों के पैरों तले कुचली जाती हैं। हवा में सर्दी की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। गर्मियों का नीला स्वच्छ आकाश कभी-कभी बादलों से ढँक जाता है। लोगों ने ऊनी कपड़े पहनने शुरू कर दिये हैं। अक्तूबर का आरम्भ—पतझड़ का यौवन दिन पर दिन उभरता जा रहा है।

हम साकरीकर के क़रीब फैले एक रेस्तराँ में खाना खाते हैं। लोगों की चहल-पहल से सारा वातावरण बहुत जीवित सा जान पड़ता है। एक अधेड़ उम्र का पुरुष एकार्डियन बजा रहा है और बारी-बारी से हर मेज़ के पास जाता है। लोग कुछ फ्रेंक उसकी जेब में डाल देते हैं। चारों ओर खुला है। यहाँ सब रेस्तराँ बाहर मैदान में पेड़ों की छाया में बने हुए हैं। दूर पेरिस की रोशनियाँ दिखायी दे रही हैं।

खाना खाने के बाद हम उस इलाके का चक्कर लगाते हैं। एक ज़माना था जब यह स्थान पेरिस के चित्रकारों का केन्द्र था। अब नहीं है, लेकिन अब भी चित्रों से भरी कितनी ही गेलरियाँ यहाँ स्थित हैं। हम कुछ गेलरियों में जा कर चित्र देखते हैं, कुछ अमरीकन टूरिस्ट चित्रों का मोल-भाव कर रहे हैं। चित्रों की यहाँ उतनी ही उपयोगिता है जितनी की दुकान में सजी एक वस्तु की। चित्रों का व्यापार फ्रांस में पाँचवाँ सबसे बड़ा व्यापार है।

पुराने दो मंज़िले मकान और छोटी-छोटी 'सुवेनीर' की दुकानें। ये दुकानें दिन में प्रायः बन्द सी रहती हैं और फिर आधी रात तक खुली रहती हैं, क्योंकि अधिकतर लोग यहाँ रात को ही आते हैं—पेरिस की 'नाइट लाइफ़!' थामस कुक, अमेरिकन एक्सप्रेस आदि की लारियों में टूरिस्टों को यहाँ की सैर करायी

जा रही है और गाइड तोते की भाँति इस इलाके का इतिहास बतला रहा है—अमुक मकान में अमुक चित्रकार रहता था, इस रेस्तराँ में 'फ़लाँ' आर्टिस्ट आ कर बैठा करता था और चित्र बनाया करता था।

मैं अकेला घूम रहा हूँ। पैरों में एक अजीब सी शक्ति आ गयी है, जो मुझे घर नहीं लौटने देती। रात्रि के घंटे चुपके-चुपके गहरे अंधकार में खोते जा रहे हैं। सेन के ऊपर बने 'पौन नेफ़' पर। खड़े हो कर मुझे अपनी परछाईं नहीं दिखायी देती। 'प्लास द ला कौंकोर' की जगमगाती तेज़ रोशनियों में भी मैं अपना चेहरा नहीं देख पाता।

पेरिस में मेरी अंतिम रात्रि! कल दिन में हवाई जहाज़ पकड़ना है। सामान सब तैयार है, इसी से आज रात सोने को तबीयत नहीं होती। वापस लौटने में डर सा लगता है। क्षण बीत रहे हैं, मैं उन्हें बाँध नहीं सकता, उसी से उनके बीतने की क्रिया को महसूस करते रहना चाहता हूँ।

सेन के किनारे एक बेंच पर थक कर बैठ जाता हूँ। उस पार सड़क पर बिना किसी रुकावट के मोटरें और लारियाँ भागी जा रही हैं। मुझ से थोड़ी दूर के अंतर पर एक युवक और युवती एक दूसरे से लिपटे बैठे हैं। कभी-कभी जब तेज हवा चलती है तो ऊपर लगे पेड़ों की सूखी पत्तियाँ खड़खड़ाने लगती हैं।

मैं धीरे-धीरे ऊपर सड़क पर आ जाता हूँ, सीढ़ियों के रेलिंग का सहारा लिये एक स्त्री खड़ी है। एक बारगी मैं उसे देखता हूँ, वह मेरी ओर घूर रही है। उसे उम्मीद है कि मैं रात्रि के इन अकेले क्षणों में उसका साथ खरीदना चाहूँगा। मुझे कुछ न कहते देख कर वह निराश हो जाती है। बीतती हुई रात्रि के इस पहर में यदि अब वह किसी का साथ नहीं दे सकी तो शायद अगले दिन के खाने के लिए उसके पास पैसे नहीं होंगे। वह झिझकते हुए दबे, निराशामय स्वर में मुझसे पूछती है, "मुसयो, वू देज़ीरे—ज़क्वी लिब्र—"* मैं एक बार मुड़ कर उसके चेहरे की ओर देखता हूँ। पास ही लगे बिजली के खम्बे का प्रकाश उसके चेहरे पर पड़ रहा है। तनिक भारी शरीर, चेहरे पर पाउडर और क्रीम की पोताई चमक रही है, लाल रँगे ओंठ, हाथ में काला प्लास्टिक का बैग है। आशा में उसकी आँखें चमक रही हैं। मैं तेज़ी से आगे बढ़ जाता हूँ। मुझे उसके हँसने की आवाज़ सुनायी देती है। पेरिस में मेरी अन्तिम रात्रि—रह-रह कर मेरे कानों में उसका स्वर गूंज रहा है "मुसयो, वू देज़ीरे ?"

*क्या आप की इच्छा है ? मैं खाली हूँ।

'काफ़े द फ़्लोर' में जगह मिलनी मुश्किल है । दो वर्ष पूर्व यह फ्रेंच बुद्धि-जीवियों के मिलने का केन्द्र था । सार्त्र के अस्तित्ववादी अनुयायी भी यहीं आ कर बैठा करते थे, परन्तु आज भी टूरिस्ट समझते हैं कि यहाँ बैठ कर उन्हें फ्रेंच इण्टलेक्चुअल दिखायी देंगे और वे एक दूसरे की ओर देख कर यह अनुमान लगाने की कोशिश करते हैं कि उनमें कौन से इण्टलेक्चुअल हैं ।

मैं भी थक कर काफ़े में बैठ जाता हूँ । यह काफ़े सारी रात खुला रहेगा । पतझड़ की रात ! थोड़े दिन बाद इस तरह खुले में नहीं बैठा जायगा ।

मैं सेंटीमेंटल होता जा रहा हूँ, क्योंकि यह पेरिस की आख़िरी रात है । सामने बैठी एक स्त्री को देख कर पिकासो का चित्र 'एब्सथीन पीने वाली' याद आता है ।

दो...तीन....चार....पाँच...मैं उठ खड़ा होता हूँ, रात्रि का अंधकार धुंधला हो गया है । एक हल्की-हल्की धुंध चारों ओर फैली हुई है । कूड़ा उठाने वाली लारियाँ तेज़ी से दौड़ रही हैं । मैं सेन के किनारे पहुँच जाता हूँ । मेरी आँखों में नींद नहीं है । सूर्य पहली साँसें ले रहा है । उसकी धुँधली किरणें नात्रदाम की ऊँची मीनारों को चमका रही हैं, आकाश का रंग धीरे-धीरे बदल रहा है । फिर मकानों की चिमनियाँ और स्लेटी रंग की छतें चमकने लगती हैं, फिर सेन पर बने पुल और सेन का जल उजला बनने लगता है । दिन शुरू होता है, एक नया दिन । मज़दूर जल्दी-जल्दी मेट्रो के दरवाज़ों से अन्दर घुस रहे हैं । पिछले दिन और रात की खबरें अखबारों की सुर्खियाँ बन कर सड़कों पर आ गयी हैं । मैं सेन के तट पर आ खड़ा हुआ हूँ—कुछ भिखारी पेड़ तले अब भी सो रहे हैं ।

अनायास ही मेरे मुख से एपोलीनेर की कुछ लाइनें निकल जाती हैं ।

'और सितम्बर की रात धीरे धीरे मर गयी
सेन नदी के पुलों पर लाल शोले बुझ गये
और जैसे ही तारे मुरझाये, दिन अनजाने खिल आया'

अज्ञेय

●

सत्य तो बहुत मिले

खोज में जब
  निकल ही आया
सत्य तो बहुत मिले ।

  कुछ नये कुछ पुराने मिले
  कुछ अपने कुछ बिराने मिले
  कुछ दिखावे कुछ बहाने मिले
  कुछ अकड़ू कुछ मुँह-चुराने मिले
कुछ घुटे-मँजे सफ़ेदपोश मिले
कुछ ईमारे ख़ानाबदोश मिले
  कुछ ने भुलाया
  कुछ ने डराया
  कुछ ने परचाया
  कुछ ने भरमाया
सत्य तो बहुत मिले
खोज में जब
  निकल ही आया ।

कुछ पड़े मिले
कुछ खड़े मिले
कुछ झड़े मिले
कुछ सड़े मिले

कुछ निखरे कुछ बिखरे
कुछ धुँधले कुछ सुथरे
सब सत्य रहे।
कहे, अनकहे।

खोज में जब
निकल ही आया
सत्य तो बहुत मिले।

पर तुम
नभ के तुम कि गुहा-गह्वर के तुम
मोम के तुम, पत्थर के तुम

तुम किसी देवता से नहीं निकले :
तुम मेरे साथ मेरे ही आँसू में गले
मेरे ही रक्त पर पले
अनुभव के दाह पर क्षण-क्षण उकसती
मेरी अशमित चिता पर
तुम मेरे ही साथ जले।
तुम
तुम्हें तो
भस्म हो
मैंने फिर अपनी भभूत में पाया
अंग लगाया।
तभी तो पाया।

खोज में जब
निकल ही आया
सत्य तो बहुत मिले—
एक ही पाया।

प्रयागनारायण त्रिपाठी
●●

बन्धन : मुक्ति

हैं वही ये हाथ,
जो कि पहले रात
मेरे गर्म ओंठों को बहुत प्यारे लगे थे।

हैं वही ये उँगलियाँ,
खींच दी थी जिन्होंने तट-रेख
आज तक जो सिन्धु-मन घेरे हुए हैं।

बीतती ही नहीं काली रात!
छोड़ता ही नहीं शशि को राहु!
सूर्य को भी क्या ग्रसेगा?

क्या न खोलेगी किरन कोई नयी
अवरुद्ध मेरे द्वार?

व्यर्थ हैं ये यत्न?
ये क्षण?
व्यर्थ जकड़ी मुट्ठियाँ?
अर्थ क्या कुछ भी नहीं इस दर्द का?

हृदय से मेरे लिपट कर ओ धरित्री!
ओ प्रसविनी! स्तब्ध क्यों है?
बोल!
वातायन समय का खोल!
झाँक कर देखूँ कि
आगत में कहीं तो
मुक्ति (बनने को सुहागिन)
पंथ मेरा हेरती है।

रमा सिंह
●●

काई

अजब बदरंग-सा फैला, अरे यह जम गयी काई।
कठिन है सँभल कर चलना बड़ी फिसलन यहाँ आयी।
ढकी इसने नरम मिट्टी, पकी ईंटें, कड़े पत्थर---
तरल जल की सतह पर भी विकृति की पर्त यह छायी।

समुद्र-फेन

बात सच है, सिन्धु की अब तक न कोई थाह पाया।
है न गोताखोर जिसने ढूँढ़ रत्नों को चुकाया।
है बहुत गहरा, बड़ा सम्पन्न, विस्तृत भी बहुत है
यह समुद्री-फेन लेकिन व्यंग्य बन कर उभर आया।
थी कभी वह कौन, जिसने मथ दिया, लहरें उठायीं...?
एक छोटा प्रश्न यह गहराइयों को नाप जाया।

शकुंत माथुर
●●

शब्द-चित्र

दौड़ते रहे जब तक
कहलाये घोड़े हैं,
रुके तो राह के रोड़े हैं,
पहुँच सके अपनी मंज़िल पर जो—
ऐसे बहुत थोड़े हैं।

दिन हैं दो ही ख़ास !
एक—
जिस दिन धरा आकार ।
दूसरा—
काल कवलित हुए ।
बाकी तो दौड़ रही लम्बी,
कहीं पड़े चित्त
कहीं उठ खड़े हुए ।

यह जो एक कील
जीवन में लग गयी,
इसका कारण—
किसी का क्षोभ
या किसी का अहसान था
(ज़िन्दगी एकदम बदल गयी !)

ओमप्रकाश
●●

कला

स्वर्णप्रोत कान्तिमान रूप यह निहार कर
न चौंकिए !
रक्ताभ चरणों में
बिछ रहे नूपुरों की
मनहर गूँज सुन
न उलझिए !
छंद-अलंकार भरे अंग-प्रति-अंग की
डोलिए न सुषमा पर !
मैं—आपके समाज के

कुमार कल्पना भरे
कवि की ही कला हूँ।
ओज-हीन स्वर, क्योंकि
कवि स्वयं स्त्रैण है,
समाज स्वयं अबल है।

सेज पर कल्पना के
टिके पदपद्म मेरे,
न महीस्पर्श कभी किया!
कहाँ कठोर कंटकी धरा?
नपुंस अभिसार को उठे
कहाँ सलील चरण युग?

मुझे तो
नेपथ्य में सिसक रही सितार के
मृदु लयखंडों को ही बीनने का शौक है!
कहाँ सुन सकती हूँ
यथार्थ संघर्ष की
भयावनी पुकार को।

मेरी रूपनिधि अपार है,
मैं केवल
सुन्दर ही सुन्दर हूँ।
सहानुभूति, त्रस्त स्नेह, चेतना
नहीं यहाँ।
रूपरेखा मात्र हूँ मैं, मोहक
रंगराग से खिंची
देख जिसे, ठगा-सा ठिठक जाय मानव!

योग मेरा ले रहे रसिक
जीवन-विवर्त में फँसे

सर्वहारा वर्ग को
श्रान्त रखने के लिए !
यौवन तरंगकों से
स्निग्ध उत्तरीय निज
ठेठ इस वर्ग की
गर्म नसें,
फूल रहा साँस और टूट रही चेतना ,
बेहोश करने के लिए
बेहोश रखने के लिए
रहती हूँ डुलाती, मैं
कला हूँ इस समाज की !

सुरेन्द्र कुमार दीक्षित

●●

शरद

उतर चुकी है साँझ क्वाँर की
खेतों-खलिहानों पर भी अब
अँधियारे की लम्बी छाँहों में डूबा सारा गाँव पड़ा है ।

रक्त-स्वर्ण पार्श्वभूमि पर
मन्दिर का सिलहुत—
जिसका ऊँचा शिखर बिंधा है महाशून्य के अन्तस्तल में ।

चबूतरे पर छाया-कृतियाँ
और पास के बड़े ताल के पके हुए निर्मल पानी में
घोल दिये रंग आसमान ने ।
मुग्ध कुंई देखती सपने ।
तटवर्ती पीपल का मर्मर
विहगों का रव
सुना लोरियाँ सूनेपन को गुंजा रहा है ।

इधर, दूसरी ओर, दूर तक
खेत ऊख के (सजे-सजाये कटे बराबर)
मेड़ों पर लहराती घासें
जिन्हें ओस से सींचेगी यह रात शरद् की ।

पेड़ों के पीछे, ईशान कोण से
अभी उठेगा,
सोने-पानी चढ़ा हुआ चाँदी का गोला
फिर चमकेंगे—
इस मन्दिर के कलश-पताका,
बड़े ताल का धुँधला दर्पण,
हरियाली-धोये पीपल के चिकने पत्ते ।
खिल जायेंगे दृश्य—खेत, झोंपड़े, बाग, बन ।
निकलेगी फिर प्रकृति नहा कर,
सघन तिमिर के नीले जल से
और करेगी अंग प्रसाधन
कुंद, काँस औ' हरसिंगार से
खिली जुन्हाई के रेशम-पर्दों के पीछे ।

समाधि

भींचे ओंठ भींच लीं आँखें
मन के भीतर-भीतर ही जब टूट गये वे
एक-एक कर,
बिखर-बिखर कर
मोती, आँसू, फूल, सितारे,
साथी क़दम-क़दम, क्षण-क्षण के,

तन के, मन के, सूनेपन के,
सभी खिलौने फूट गये ते,
तुम ने खोदा गढ़ा अतल तक, दफ़न कर दिया।
जाओ, खारे जल ही के हों फूल,
मगर तुम फूल चढ़ाओ —
लिये गन्ध साँसों की, दीपशिखा प्राणों की।
घुसे, जले, मसले, कुचले, या
ज़ख्मी-कोढ़ी जो भी हों ये,
आखिर, ये अरमान तुम्हारे हैं,
यह उनकी ही समाधि है।

गोपाल कृष्ण कौल
●●

चुनौती

मेरे जन्म पर—
सोहर नहीं, शोक-गीत गाये तुमने,
जैसे सूखे में आँसू के अवतार से
बहने से डरता हो रेगिस्तान—
अपनी ही गोद में प्रगटी रस-धार से
जो केवल बहाती नहीं, प्यास भी बुझाती है
कुछ देर को ही सही
जलन तो मिटाती है।

जब मैं बढ़ने लगा
तुमने नफ़रत की—
जैसे कँटीली रियासत में
गुलाब को पनपते देख

बोली थी रोमांचित नागफनी—
'इस विजातीय पौधे के काँटे तो अपने हैं,
किन्तु जो कुछ रंगीन और खुशबूदार
वह सब बेकार :
काँटों के नुकीले जीवन का तिरस्कार !

जब मैं फला और फैला,
तुमने तब प्रहार किया ।
कभी ज़हर दिया, सूली चढ़ाया कभी,
कभी गोलियों से वार किया ।
इस तरह तुमने मुझे मारा बार-बार
लेकिन मुझे हर बार
मौत ने ज़िन्दगी का दिया नया उपहार ।
इस लिए मैं आज भी ज़िन्दा हूँ—
मैं बुद्ध हूँ, ईसा हूँ, गांधी हूँ,
क्योंकि मैं इंसान हूँ ।
तुम्हारे हाथ में आज भी
ज़हर है, क्रॉस है,
भरी पिस्तौल है ।
क्यों, मिलता नहीं अब क्या कोई नया शिकार ?
यह तो है व्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार,
छोड़ो न इसको, प्रयोग करो, करो प्रहार !

ओंकारनाथ श्रीवास्तव

●●

सीटी

किसने यह सीटी दी ?
बोल उठा अंधकार —
कैसा यह सीत्कार ?

कमरे के पीछे से
जाने किसने सीटी-सी दी है
बाहर की पर्तों को चीर कर
झाड़ों-झंखाड़ों को, खिड़की-दरवाज़ों को
सारे अवरोधों को
तीर के समान भेद
सीधी, बिलकुल सीधी
सीटी की तीखी आवाज़ यहाँ आयी है।

बाहर की धरती पर साँप लोटते हैं,
हवा सुस्त चलती है
उसमें केंचुल है, जो मुझ को छू लेगी
उफ़—
खिड़की के बाहर यह अंधकार
बैठा है कालानाग फन पसार
मुझको खा जायेगा,
ऐसे में बाहर निकलूँ
देखूँ—
किसने यह सीटी दी?
नहीं, नहीं, कितना डर लगता है
सीटी उफ़, वह सीटी......

जलती जा
तिल-तिल कर, गल-गल कर
जलती जा
देख रही है तू—वह बैठा है फन पसार
वह खिड़की—वह खिड़की के बाहर
अंधकार, अंधकार, अंधकार!

जलती जा
झिल-मिल कर, हिल-हिल कर
जलती जा
निरी मोमबत्ती, तो क्या,

यह सब मैं तेरा
तुझको कुछ भी मेरा अगर ध्यान है तो तू
जलती जा।
तेरी भयकम्प शिखा
के रक्तिम शीर्ष विन्दु पर बसा सबेरा
वह मेरा है
मेरे इस काँपते सबेरे का भार लिये
जलती जा।

आने दे,
उसको आ जाने दे
उसको—जो सबका है
वह—जो बहुतेरा है
थोड़े इस मेरे से
तेरे इस सिर-चढ़े सबेरे से
बहुत बड़ा घेरा है
मेरी—हाँ मेरी इस दुनिया का
वह जो सबसे विशाल घेरा है
वह जो सबके नाते मेरा है
बाहर का हो कर भी,
उसको आ जाने दे।
वह जो पूरब में उगने वाला
विश्व का सबेरा है
उसको आ जाने दे!

इस डरे सबेरे से
उस बड़े सबेरे तक
जलती जा।
...सीटी, उफ़् वह सीटी...
जलती जा।
बाहर जाने क्या है
जलती जा।

इस डर से मरूँ नहीं
ये पल भी जी डालूँ,
जलती जा।

जी डालूँ,
उस बड़े सवेरे तक
बाहर की राहें जब
सर्पिल गतिमय होंगी
धीरे अनुभव की जब कँचुल सरकाती-सी
मंद, हवा मुझको छू कर बह जायेगी।
नीले, ज़हरीले जल के अन्दर छिपे नाग
के फन पर
लीलाधर
जब अगणित रूपों में नृत्यलीन,
लहरों के ऊपर की शोभा सरसायेंगे
बाँसुरी बजायेंगे।

राजेन्द्र माथुर
●●

पिछले पहर

पिछली रात मैं जग गया।
एक मनहूस कुत्ता
चारपाई के चारों ओर
भूँक-भूँक दौड़ रहा था;
एक मनहूस हवा
खड़ी थी;
चार मनहूस मच्छर
अंडे सींचने के लिए

खून माँग रहे थे ;
चाँद की चाँदनी
मेरी मसहरी के गुलाबी गालों पर
अनवरत थप्पड़ लगा रही थी ;
मेरी नींद
रूठ गयी
मेरे अन्दर की गहराई
का नम कुहासा
हट गया छलिया :
मैं बिलकुल जग गया।
दूर ऊपर एक वायुयान
ऊँट की तरह बिलबिलाता
अपने रास्ते पर जा रहा था :
हवा की मरु-भूमि का
जल-पोत :
यानी मशीन-युग का ऊँट !
ए मशीन-युग,
मेरी नींद ला !

परमानन्द गौड़

●●

सड़क

सड़क बपौती नहीं किसी की
चलते जाव
मोटर पर रिक्शे पर या कि साइकिल पर या पैदल ही
जूते पहने हो या नंगे पाँव,
चलते जाव
अपने आप हैसियत पर अपनी हो जायेगा एतबार
थूँको, बस सूरज तपता है और पिघलता कोलतार।

सिद्धनाथ कुमार
●●

फ़ोटो की ज़रूरत

नहीं-नहीं,
मुझे अपने फ़ोटो की
कोई ज़रूरत नहीं ?
चेहरा अपना मैं
देख कहीं लूँगा
किसी शीशे में
किसी नदी, निर्झर, तालाब के
साफ़ झलमल पानी में,
किसी की चमकती हुई आँखों में !
दुनिया में इन सबकी कमी नहीं !
कैमरा है पास में तुम्हारे अगर,
चाहते हो
फ़ोटो अगर खींचना ही,
एक तसवीर मेरी आत्मा की
खींच कर दे दो मुझे !

हृषीकेश
●●

न जाने कितनी !

न जाने कितनी प्रतिमाएँ
टूक-टूक हो

फाँक-फाँक हो
यहीं कहीं बिला गयीं
कहीं ऐसा न हो, वे अब भी अप्रतिम हों !
न जाने कितनी आत्माएँ
घुट-घुट कर
दब-दब कर
तिलमिला गयीं
कहीं ऐसा न हो, वे अब भी जीवित हों !
न जाने कितनी प्रतिभाएँ
चुप-चुप हो
गुम-सुम हो
झिलमिला गयीं
कहीं ऐसा न हो, वे अब भी समर्थ हों !

अनिल कुमार
●●

एक चिंतन

हम सब की आत्मा के
पंकज पर बैठा है
कीड़ा जो ...
दिखता है,
छिपता है पल-पल में ।
पंखुरियाँ सीमा की
खोले सब बैठे हैं ।
खुशबू के
जादू के
डाले हैं नागपाश !

लघु-उपन्यास

वरुण के बेटे

●●●

नागार्जुन

१

केले के मोटे-मोटे थंभ, कटे हुए। सात-आठ रहे होंगे। छै-छै हाथ लम्बे। वे एक दूसरे से सटा कर बाँधे गये थे। अच्छी-खासी नाव का काम दे रहे थे।

घुप्प अँधेरा। कड़ाके की ठंड। नीचे अथाह पानी। ऊपर नक्षत्र-खचित नील आकाश।

परछाईं में तारे जँच नहीं पा रहे थे, क्योंकि छोटी-बड़ी हिलकोरें पानी को चंचल किये हुए थीं। कदली-थंभों की यह नाव पोखर की छाती पर हिचकोले पर हिचकोले खा रही थी। बदन की समूची ताक़त बाँहों में बटोर कर जाल फेंकते वक्त तो इसका आधा हिस्सा पानी के अन्दर धँस जाता था और तब उस के अतिरिक्त दबाव से जलराशि की मोटी-मोटी तरंगमालाएँ एक के बाद एक मिनटों तक उमड़ती रहती थीं।

कोई मामूली तलइया या बागान के अन्दर का साधारण चभच्चा तो था नहीं, वह तो अपने इलाके का प्रख्यात जलाशय 'गढ़पोखर' था। अवाम की तीखी-खुरदरी ज़ुबान पर घिसते-घिसते 'गढ़पोखर' अब गरोखर हो गया था। चारों तरफ के भिंड, किनारों के बड़े-बड़े कछार, बीच का पानीवाला बड़ा हिस्सा—कुल मिला कर पचास एकड़ जमीन छेंके हुए था गरोखर।

जरा दूर से देखने पर गरोखर की छाती पर सरकती-सी दो छायाएँ, अँधेरे में काले पत्थर की लाट-सी लगती थीं। एक मानव-छाया खड़ी थी, दूसरी उकड़ूँ बैठी थी। थंभों का पूला नाव बना हुआ मज़े में इधर-उधर डोल रहा था।

बीच-बीच में फुसफुसाहट.....

"खुरखुन!"

"हाँ!"

"कितनी हुईं कुल ?"

"पंद्रह और सात।"

फिर थूक फेंकने की आवाज, पिच्च ! फिर जाल फेंकने की तैयारी। नाव हिलने लगी। मोटी आवाज़—घच्च ! पानी में मानो लौंदा गिरा। यह मछलियों के लिए चारा डाला गया था। दो जोड़ी सतर्क आँखें गहन तिमिर की मोटी पर्त छेद कर पानी पर जमी थीं।

बुल...बुल...बुल...बुल...बुलुब.. बुच...बुब...बुलबुले, उनकी बुड़बुड़ाहट ! महीन और मीठी !

बदन की समूची ताकत कलेजे में बटोर कर भोला ने बिजली की फुर्ती से बाँह घुमायी, मूँठ खोल कर जाल पानी में फेंक दिया—झा । । । । प !

जाल का एक छोर हाथ में बँधा था। ठंड थी। ठिठुरन महसूस हुई तो अंजलि में मुँह की भाप भर कर अँगुलियों को आपस में मसल दिया। छोटी लड़की सिलेबिया सीने से चिपक कर सोया करती है, अचानक उसका चेहरा-मोहरा आँखों में नाच उठा। समेटते समय लगा कि जाल बेहद भारी हो उठा है। साथी को सकते में पड़ा जान कर खुरखुन बोला, "सेंवार में तो नहीं उलझा है ?"

"सेंवार इधर कहाँ, और मछलियाँ तो हो ही नहीं सकतीं।"

"अच्छा, देखने दे !"

"तो उतरो, घँसो अन्दर।"

अधेड़ और नाटा खुरखुन चार अंगुल चौड़ी कौपीन कमर में डाले हुए था। पानी में उतर कर उसने गोता लगाया।

गरोखर तीन सौ साल पुराना जलाशय था। चारों ओर भिंडों और कछारों का बुरा हाल था।

भोला और खुरखुन की यह नाव गरोखर के बीचों-बीच नहीं थी। पच्छिम की तरफ जहाँ पानी दस फुट गहरा था, वहीं वे अपनी किस्मत आजमा रहे थे।

नाव से चार गज़ की दूरी पर खुरखुन पानी के अन्दर गया और चक्कर मारने लगा। जाड़े के मौसम में रात के वक्त तालाब या झील का पानी अन्दर-अन्दर गुनगुना-सा लगता है। अन्दर जा कर पहले तो जाल के सहारे मछलियाँ टटोलने की कोशिश की। तीन-चार झकोले अन्धकार की मालूम

हुईं। दम फूलने लगा तो ऊपर आ गया। क्षण भर साँस ले कर फिर डुबकी लगायी। अबकी खुरखुन ज़रा देर तक अन्दर रहा।

जाल की किनारी टटोलता हुआ अन्दर वह चक्कर मारने लगा—शी...ई...ई...ईं...ई...बुआरी ने दाहिने पैर का अँगूठा काट खाया। यह सुसरी होती ही ऐसी है। पूस के पाले ने यों भी बोटी-बोटी को सुन्न कर दिया था। फू...ऊ...ऊ...ऊ यह लो! अरे, जाल की किनारी तो यहाँ लकड़ी के ढोंके से उलझी पड़ी है......

दम फूलने लगा तो खुरखुन फिर ऊपर आ गया।

"क्या है?" भोला उसी तरह जाल की डोरी को ताने हुए था। ढील नहीं दे रहा था कि छोटी मछलियाँ कहीं खिसक न जायँ।

"ठहर!"

खुरखुन फिर पानी के भीतर गया। जाल की किनारी के सहारे सर्र से लकड़ी के ढोंके तक पहुँचा। टोह ले कर मालूम किया तो किनारी की लोहेवाली भारी-भारी गोटियों में से दो को ढोंके की दंतुर-खोडर में फँसा पाया। अब क्या हो? तोड़े तो ये टूटने को नहीं। खुरखुन को भोला का चाकू याद आया। वह फिर ऊपर आया।

नाव पर अलग दूसरी खँचिया में भोला की आधी बाँहों की सिकुड़ी-सिमटी कमीज पड़ी थी। उसी की पाकिट में चाकू था। भोला ने निकाल कर दिया। चाकू ले कर वह तीसरी बार पानी के अन्दर गया और उलझे जाल को छुड़ा लिया।

इस धींगा-मुश्ती में मछलियाँ भी भाग गयीं। चार-पाँच सेर वज़न का एक रेहू, उससे दुगना एक भाकुर और डेढ़गुनी मोदनी। बस, तीन ही शिकार इस खेबे में हाथ आये। हाँ, एक कछुआ महाराज भी साथ थे।

डुबकियाँ लगाने में पानी के अन्दर खुरखुन के पन्द्रह-एक मिनट तो ज़रूर गुज़रे होंगे कि इतने में कहीं से टिटहरी बोली—'टिट् टिट् टिहुट्, टिट्......!'

मछलियों से भरा खाँचा हिला कर खुरखुन बोला—"उहुँ, अब बस कर आज। रहने दे भोला, टिटहरी रोती है कलमुँही।"

"देर भी तो काफ़ी हो गयी!" जाल झाड़ते-झाड़ते भोला ने कहा।

बीस फुट का लग्गा (बाँस) साथ था। खुरखुन ने उसे उठा लिया। अब उन्हें जल्दी घर पहुँचना था। वह फुर्ती से नाव खेने लगा। मन ही मन

निश्चय किया कि अब की गर्मियों में इस ठोंके को बाहर निकाल देंगे। जाने कब का पड़ा है सुसरा......

जाल सँभाल-सँभूल कर भोला उकड़ूँ बैठ गया था। उसका मुँह ऊपर को उठा था, निगाहें आसमान पर टिकी थीं।

काले पाख की दशमी तिथि का अधूरा पिला-पिला चाँद निकल आया था। तारे अब भी ढोठ बने हुए थे, अपनी-अपनी शान में चमक रहे थे। गरोखर की हल्की-हल्की पतली-पतली भाप ऊपर उठ कर पूस के उन कुहासों को घना बना रही थी।

केले के थंभोंवाली वह नाव किनारे आ लगी। मछलियों से भरे हुए दोनों भारी खाँचे उतारे गये। नाव परे धकेल दी गयी और वे घर की ओर चल दिये।

मछुओं की बस्ती गरोखर से दूर नहीं थी, डेढ़-दो फर्लाङ्ग का फ़ासला रहा होगा। मलाही-गोंढ़ियारी यों कि अलग-अलग दो आबादियाँ थीं मगर दोनों नाम साथ चलते थे। बाँसों का पतला-सा एक जंगल और पुराने ज़माने की एक ऊजड़-सी अमराई, मलाही और गोंढ़ियारी के बीच बस इतना ही व्यवधान था।

इधर से पहले मलाही पड़ती थी, बाद को गोंढ़ियारी।

भोला और खुरखुन बस्ती मलाही के अन्दर घुसे तो दो-तीन कुत्ते भाँउ...भाँउ...भाँउ...भाँउ...करते सड़क पर निकल आये। कुछ दूर तक उन्होंने मछुओं का पीछा किया। वहीं जरा हट कर किसानों का साझा खलिहान फैला पड़ा था। नीमड़ के खंभे, बाँस की कैलियों के हातावार घिराव, दरम्यान उन के छोटी-मझोली-बड़ी परिधि वाले अनेकों खलिहान।

कई खलिहानों में धान की आहनी फ़सलों के बोझ करीने से सजा कर रखे हुए थे। रात अभी ढाई पहर बीत चुकी थी तो भी दो-तीन खलिहानों से दँवरी पर जुते बैल हाँकने की ललकार बढ़-बढ़ के कानों में टकरा रही थी।

अब चार ही क़दम तो आगे आना था।

गोंढ़ियारी --अपना गाँव!

आहट पाते ही भोला कुकुर अगवानी में निकल आया।

हल्की-मीठी गुर्राहट। स्वागत की सनातन अभिव्यक्ति!

धनुष की तरह झुकी बुढ़िया बाहर निकल आयी। मछलियों वाले खाँचे अन्दर बैठके में रखता हुआ खुरखुन बोला, "मंइञा नींद नहीं आती तुमको ?"

बुढ़िया को सूझता था कम। पूछा, "भोलवा नहीं आया रे खुरखुन ?"

भोला ने नज़दीक आ कर दादी के कंधे पर हाथ रखा, "मंइञा !"

दादी ने पोते का हाथ-कपार छू कर देखा, "हेमाल हो रहा है तेरा बदन ! चल बोरसी लाती हूँ। सेंक ले हाथ-पैर !"

खुरखुन ने खीसें निपोरते हुए कहा, "मंइञा अगर तुम चाय पिला दो..."

"धत् तेरी !" भोला बोला, "खुरखुन पागल तो नहीं हो गये हो ! इसका तो जीभ का सवाद ही चौपट हो गया है ! नमक डाल कर लाल चाय पीती है, संतरे के सूखे छिलके सिलेबिया से पिसवा कर उस में नमक-मिर्च-तेल डाल कर चटनी बनाती है और उस चटनी के सहारे भर-थाली भात खा जाती है......"

बुढ़िया खुद भी हँसने लगी। ओसारे पर अँधेरा था फिर भी मंइञा के साबित-सफ़ेद दाँत जगमगा कर दिखायी दे गये। मङला की माँ आ कर बोरसी रख गयी। भोला ने माचिस से रगड़ कर तीली को आले पर रखी ढिबरी से छुआ दिया। मटमैला आलोक बैठके में फैल गया। मइञा, खुरखुन, भोला—बीड़ा ले-ले कर तीनों बोरसी के इर्द-गिर्द बैठ गये। बातें भी होती रहीं और हाथ-पैर भी सिकते रहे ! खुरखुन को ज़ोर की भूख लग आयी थी। साँझ की दिया-बाती के बाद खाना खाया था ज़रूर, लेकिन अब आठ-नौ घंटे हो रहे थे। और यह समय करारी मशक्कत में बीता था। फिर यह भी तो था कि सुबह छै बजे चमुड़िया स्टेशन पहुँच कर माल बुक कराना था, दरभंगा जाने वाली ट्रेन पकड़नी थी। पेट में कुछ डाल लेना आवश्यक प्रतीत हुआ खुरखुन को। थोड़ी देर बाद खुरखुन बोला, "ज़रा घर हो आऊँ। क्या पता, शाम तक हम लौटें या नहीं।"

खुरखुन का घर वहाँ से सौ क़दम आगे था।

वह सीधा अन्दर आया। बाँस की चचरियों से बनी 'फड़क' को भीतर ढकेलने लगा तो स्त्री की निद्रालु आवाज़ आयी—"कौन ?"

"उठ, ढिबरी जला। मैं हूँ......"

उधर ओरियानी में बँधी बकरी मिमियाई तो उसके तीनों पठरू (बच्चे) भी में-में कर उठे। ढिबरी जल गयी।

परिवार का मुखिया अन्दर आया।

पुआल बिछे थे कोने में, उन पर फटी-पुरानी बोरी बिछी थी। एक जवान लड़की और नंग-धड़ंग बच्चे बेतरतीब सोये पड़े थे। ओढ़ना के नाम पर कँथरी गुदड़ी के दो-तीन छोटे-बड़े टुकड़े उन शरीरों को जहाँ तहाँ से ढक रहे थे। दूसरे कोने में चूल्हा-चौका। तीसरे में अनाज रखने के कूँड़ और कुठले। चौथा कोना खाली। छप्पर के बाँसों से रस्सियों छिक्के लटक रहे थे। मछलियाँ पकड़ने और फँसाने के औज़ार भीतर की खूँटियों से टँगे थे। जालों की कढ़ाई-बिनाई में काम आने वाले छोटे-बड़े सूए, शलाखें। जालों के अधूरे टुकड़े।

खुरखुन अन्दर आया तो जँभाइयाँ लेती हुई पत्नी के पास बैठ गया। मछलियों के बारे में बताया और कहा, "भूख लगी है।"

वह उठी और खुरखुन पीठ के बल सूखे पुआलों के उसी दरवेशी गलीचे पर लेट गया। थकान थी। जाड़ा था। चिन्ता थी। बोझ था। नींद के तो मानो पर ही तोड़ दिये हों। पलकों को मानो तंद्रा की याद तक नहीं थी।

......मधुरी अब की होली के दिन अठारहवें में प्रवेश करेगी। दूल्हा इकलौता है घर का। उस के माँ-बाप अपनी बहू को अब मायके नहीं रहने देना चाहते। माघ या फागुन तक लड़की को चाहे जैसे विदा करना होगा। कहाँ से जुटायेगा? कौन देगा उधार?

पाव डेढ़-एक भुँजिया चावल चंगेरी में ला कर मधुरी की अम्मा ने सामने रख दिया, "लो, उठो भी!"

नयी फ़सल के कच्चे चावल थे।

खुरखुन ने उन्हें अँगौछे में बाँध कर पोटली-सी बना ली। अँगौछा गरोखर के पानी का भीगा अब भी सूखा नहीं था, तो भी चावलों की पोटली को उसने पानी भरे डोल के अन्दर डुबो लिया। कच्चे चावलों से दाँतों-मसूड़ों की वर्जिश नाहक कौन करवाये। अपनी दोहर, लाठी और पाथेय की पोटली लिये गृहपति बाहर निकल आये तो पीछे से घर की मालकिन दालान तक आयीं।

चुपचाप खुरखुन भोला के बैठके में दाखिल हुआ तो मंइआ अपना प्राइवेट हुक्का लिये दूसरी टिकिया सुलगा रही थी। भोला तैयार बैठा था। स्टेशन तक साथ चलने के लिए नीरस को ले लिया गया। मछलियाँ

ले कर तीनों चमुड़िया पहुँचे तो पाँच बज रहे थे।

स्टेशन मास्टर तो कंठीधारी वैष्णव कायस्थ था, लेकिन टिकट-बाबू था मछुगिद्धा बंगाली। ताज़ा-ताज़ा ललमुँहा रेहू देखते ही उसकी जीभ से लार टपकने लगी। बुक करने में जान-बूझ कर टाल-मटोल करने लगा तो भोला को टिकट बाबू की नीयत पर शक हुआ। आखिर रेहू का ढाई-तीन सेर वज़न का बच्चा देना ही पड़ा, तब जा कर दोनों खाँचे बुक हो पाये और चालान की रसीद हासिल हुई। गाड़ी आयी तो 'ब्रेक वान' में खाँचे डाल दिये गये।

साढ़े नौ बजे गाल दरभंगा जंकशन पहुँचा।

स्टेशन से बाहर आ कर रिक्शा किया। आगे बढ़ते ही चुँगी टैक्स अदा करना पड़ा। दस बजते-बजते 'बड़ी बाज़ार'।

गरोखर की मछलियाँ धड़ाधड़ बिकने लगीं, शाम तक बिकती रहीं। लगभग दो बजे भोला नज़दीक के होटल से खा आया। पीछे खुरखुन भी खाने गया। तीन बजे के करीब उन्होंने बिक्री का रेट घटा दिया। पाँच बजते-बजते खाँचे खाली हो गये। नक़द रक़म कुल दो सौ दस रुपये की आयी थी। खुरखुन को भोला ने बीस रुपये दिये। यह आमदनी का दसवाँ और एक हिस्सेदार का हिस्सा था।

वहीं 'बड़ी बाज़ार' में खुरखुन ने भोलीराम मारवाड़ी की दुकान से सात रुपये की दो साड़ियाँ और तीन रुपये की छींट ले ली। जंगल के लिए अंग्रेजी-हिंदी की गुटका डिक्शनरी और बजरंग मंडली के लिए भाखा-टीकावाली रामायण खरीदीं 'मिथिला बुक डिपो' से। हस्ब-मामूल कुछ-एक सौदा-सुलुफ। और भी एक-आध काम ज़िला-कचहरी से था मगर उसके लिए कोई जल्दी नहीं थी।

पूरब की तरफ़ जानेवाली ट्रेन सात बजे छूटती थी।

खाली खाँचे और खरीदी हुई चीज-बस्त ले कर वे टावर के पास आये।

एक घंटा वक्त था अभी।

भोला की जेब में आज काफ़ी रक़म पड़ी थी। वह दरियादिल आदमी था। सामने दुकान में थालों में मिठाइयाँ सजी हुई थीं।

जा कर वे दूकान में पड़े स्टूलों पर बैठ गये। बीच में हलका-छोटा टेबुल था। दोनों जने चार रुपये की मिठाई खा गये। दुकान से बाहर आ कर दो-दो बीड़े मीठे पान। देहाती दुनिया के लिए चिरपरिचित 'मोटर'

सिगरेट फूँकते हुए दोनों जने रिक्शे पर सवार हुए, खाँचे खुरखुन थामे रहा।

पूस का सूरज पाँच-सवा पाँच बजे ही नज़रों से ओझल हो जाता है। सात के घंटे तो तब भीगी रात में बजते हैं। चमुड़िया की दो टिकट ले कर वे गाड़ी में जा बैठे। भीड़ नहीं थी, लोग छिट-फुट बैठे थे। खुरखुन खैनी मसलता रहा। भोला अपना मस्त था सिगरेट में।

निर्मली के निकट ही मकर-संक्रांति के पवित्र क्षणों में कोसी के पच्छिमी तट-बाँध का शुभारम्भ होने जा रहा था। बाँध के लिए मिट्टी काटने का श्रीगणेश बिहार के मुख्यमंत्री ही करने वाले थे। ज़िला दरभंगा और ज़िला सहर्सा की ही जनता में नहीं, बल्कि समूचे बिहार में 'कोसी-प्रोजेक्ट' की चर्चा चल पड़ी थी। केंद्र और प्रदेश (बिहार) की सरकारों ने कोसी को नियंत्रित करने की नीयत से एक बृहत्तम प्रतिष्ठान सघटित कर लिया था—'कोसी-एडमिनिस्ट्रेशन बोर्ड'। दर्जनों प्रख्यात इंजीनियर और दूसरे तजुर्बेकार उच्चाधिकारी इन कामों में लग चुके थे। लोहा-लक्कड़, सीमेन्ट, औज़ार, मशीनरी के पुर्ज़े वग़ैरह ट्रकों में लद-लद कर फारबिसगंज रेलवे स्टेशन से बीरपुर पहुँच रहे थे।

पूरब की तरफ जाने वाली ट्रेन में बैठे बहुत से पसिंजर कोसी-बाँध के बारे में बातें कर रहे थे। भोला से अभी उस रोज मझारघाट के घटवार ने ख़ुद कहा था—"सहनी, श्रमदान में नहीं चलोगे? कहो तो जत्थे में नाम दे दूँ तुम्हारा भी।" निषाद महासभा के ज़िला-सभापति फुलेनापरसाद माँझी ने श्रमदानियों में अपना नाम लिखवाया है; यह भी घटवार से ही मालूम हुआ था। जो हो, ध्यान लगा कर भोला मुसाफिरों की बातें सुन रहा था। साढ़े दस में दोनों चमुड़िया उतरे और दक्खिन की सीध में चल पड़े। सिर पर खाँचे, हाथ में लाठी, कंधों पर तह की हुई दोहर। खुरखुन का बाकी तो ठीक था, लेकिन फटी बिवाइयों वाले नंगे पैर ही उसे मौसम की याद दिला रहे थे।

चार मील का रास्ता। सड़क कच्ची थी। बीच में दो गाँव पड़ते थे, आगे बड़ा-सा एक पांतर था फिर गरोखर।

२

निचले मैदानों का पानी सूख चला था।

सूखते पानी को जगह-जगह मछुओं ने चिलमन-नुमा सरकियों से घेर

रखा था। गरीब मछुओं के लिए निचले मैदानों वाला उथला-छिछला और घटता-बढ़ता यह पानी विधाता का वरदान ही था। भादों से ले कर ठेठ जेठ तक इस पानी से सैकड़ों मन मछलियाँ वे निकालते थे। बड़ी-बड़ी नहीं, छोटी-छोटी मौसमी मछलियाँ!

मलाही-गोंढ़ियारी से मील भर पूरब, यह एक भारी चौर था। यह अंचल 'धनहा चौर' कहलाता था। मंगलगढ़ के सीसोदिया राजाओं की जमींदारी थी पहले, अब जनाब अंचलाधिकारी साहब की खास निगरानी में आ गया था।

कोसी का ज़हरीला असर इन देहातों को वीरान बना चुका था। बाढ़, अकाल-मलेरिया के मारे लोग तबाह थे। कोसी जब पूरब तरफ बीस-तीस कोस परे थी, उन दिनों धनहा चौर की चंदन-चिकनी माटी सोना उगलती थी। अब तो गाँव के गाँव उजाड़ पड़े थे। जिनमें सामर्थ्य थी वे पच्छिम हट कर दूर के अंचलों में जा बसे थे। पहले इधर की मुख्य फसल थी अगहनी धान, अब कोई फसल 'मुख्य-उपज' नहीं रह गयी।

मलाही-गोंढ़ियारी में मछुओं के तीस-पैंतीस परिवार थे। खाने वाले मुँहों की तादाद तेज़ी से बढ़ रही थी। भोला की श्रेणी के सम्पन्न-सुखी गृहपति इन में दो ही तीन थे। अधिकतर मछुए खुरखुन की हैसियत के थे। और उनमें बड़ा एका था। वे पास-पड़ोस के इलाकों में पाँच-सात कोस तक और कभी-कभी दस-पन्द्रह कोस तक मछलियाँ पकड़ने निकल जाते थे। मछलियाँ ही नहीं, सिंघाड़ा, तालमखाना, कमल और कुँई के फूल, कमलगट्टे, कमलनाल, कड़हड, केसौर, सारुख जैसी चीज़ें भी पानी से वे हासिल करते थे। तालमखाना उपजाने के लिए हज़ारों का एडवांस दे कर ये लोग पोखर लेते थे ठेके पर। ठेके अक्सर सामूहिक हुआ करते।

चिलमनों से घिरा हुआ 'धनहा चौर' का पानी छोटी मछलियों का अखूट खज़ाना था। पानी वाली सैकड़ों एकड़ ज़मीन सिरकियों से घिरी थी। दो-दो तीन-तीन परिवारों ने मिल-जुल कर थोड़ी-थोड़ी दूर तक का हिस्सा अपने अधिकार में ले रखा था। फूस की दसियों अस्थायी झोपड़ियाँ चिलमनों से सट कर सूखी ज़मीन पर खड़ी थीं। रात को तो कम-सम मगर दिन की मीठी धूप में झोपड़ियों का यह संसार मुखर हो उठता। जाल बुनते हुए या धागा बँटते हुए अधनंगे बूढ़े। हुक्का गुड़गुड़ाती या टिकिया सुलगाती हुई बूढ़ियाँ। कछारों में केकड़े या कछुए खोजते हुए नंग-धड़ंग लड़के। जलते चूल्हों पर काली हाँड़ियाँ, करीब बैठ कर हल्दी-लाल मिर्चा पीसती हुई

सयानी लड़कियाँ, फटी-मैली धोतियों वाली।

यह साधारण झाँकी थी उस दुनिया की।

नीरस ने कल दो कछुए पकड़े थे। पाँच सेर गोश्त निकला। सेर भर खुरखुन की घरवाली को मिला था। रात का खाना उसी गोश्त की तीमन के साथ हुआ। मधुरी ने जरा-सी तीमन बचा रखी थी और उसे वह यहाँ ले आयी थी। परसों रंगलाल के बड़े लड़के ने तीन बड़ी-बड़ी अन्हई मछलियाँ कछार में पाँक के भीतर से निकाली थीं, एक उन में से वह स्वयं मधुरी को दे गया था। मधुरी ने उसे भी सँभाल कर रख छोड़ा था, अभी पकानेवाली थी।

कटे धानों की खूँटियाँ उखाड़-बटोर कर लड़कों ने उस ढेर में आग लगा दी थी। वहीं वे मछलियाँ भून रहे थे।

मधुरी ने अब तक चूल्हा नहीं सुलगाया था।

जाने क्यों, मंगल का मुखड़ा उसकी चेतना को आज बार-बार उकसा रहा था। बहुत-बहुत याद आ रही थी मंगल की। जी यही करता था कि बैठ जाय और बैठी-बैठी मंगल के बारे में सोचती रहे, बस सोचती ही रहे...

पन्द्रह दिन बाद मंगल की बहू आ जायेगी......मधुरी का चिंतन-चक्र घूमने लगा। चाहने लगी कि ध्यान में सिर्फ मंगल ही आये, मंगल की बहू न आये। किन्तु अपरिचित-अकल्पित वह बहू लाख अवांछित हो, मधुरी की चेतना पर मानो बलपूर्वक हावी हो जाती थी। थोड़ी ही देर तक अंतर्जगत के ये मीठे-कड़वे खेल चले कि मधुरी का माथा फटने लगा। लगा कि मौन और निष्क्रियता उसे काट खायेंगे। वह अन्दर झोपड़ी में टँगी हाँड़ी उतार लायी। बाहर खड़ी-खड़ी उसे नाक के पास ला कर सूँघा। बासीपन की दुहरी-तिहरी बास आ रही थी हाँड़ी से।

कल तो हाँड़ी चढ़ी नहीं थी यहाँ, परसों चढ़ी थी। अड़तालीस घण्टे हो रहे थे। मधुरी कल यहाँ नहीं आ सकी थी, दिन भर धान उबालती रही। भुँजा-फरही साथ ले कर यहीं भाई-बहन आ गये थे।

हाँड़ी धो-धा कर मधुरी नीरस की झोपड़ी में हल्दी-लाल मिर्च पीसने गयी। सिल और कहीं थी ही नहीं, जिसे भी जरूरत होती पीस लाती।

मधुरी सिल पर लोढ़ा चलाने लगी। फिर उसे अपनी चुप्पी अखरी तो मंगल को ध्यान में रख कर गुनगुनाने लगी—

जिनगी भेल पहा । । । ड़, उमिर भेल का । । । ल !
नइ फेकऽ नइ फेकऽआहे मोर दिलचन,
नेहिया पिरीतिया के जा । । । । ल !!
आवाऽआवऽ,देखि जा हा । । । ल !!
उमिर भेल का । । । । । । । । । । ल !!!

इस पद को मधुरी तीसरी बार गुनगुनाने जा रही थी, लेकिन बाप आता दीखा तो चुप मार गयी।

बुधवार था न आज ! खुरखुन आया था कि मछलियाँ ले कर हाट जायेगा। उसे देखते ही बच्चे लपक के पास आ गये।

छै साल की नंगी चिटिया अब और करीब आ गयी थी, आहिस्ते-आहिस्ते बिलकुल करीब आ कर बाप के बदन से सट गयी। भुनी हुई मंगुरी का अद्धा खा आयी थी। हाथ-मुँह काले हो रहे थे।

खुरखुन को जल्दी थी। मछलियाँ टाँग कर हाट की तरफ चल दिया। चलते समय मधुरी से कहता गया कि मंगल के गौने को सत्रह-अठारह रोज़ रह गये हैं, मंइया तुझे कई बार याद कर चुकी है, आज ज़रूर मिल आना।

माथा झुकाये मधुरी ने बाप की यह बात सुनी थी। उसने तय कर लिया, आज वह मंइया से मिल आयेगी।

मंगल का ख़याल भुला कर मधुरी इधर-उधर के कामों में और बात-चीत में उलझी रही, बीच-बीच में मेड़ पर से जा-जा कर मछलियों का अपना मोर्चा भी सँभालती रही।

धनहा चौर में आजकल कहीं भी अथाह पानी नहीं था।

हँसुली की-सी शकल वाली यह मनोरम झील ही धनहा चौर के यश में चार चाँद लगाये हुए थी; शरद में खिलने वाले नीले कमलों की बहार देखते ही बनती थी। झील वाला अंश चौर का दसवाँ हिस्सा था। बाकी हिस्सों में खेती भी होती थी, मछलियों का शिकार भी चलता रहता था। सर्वे के पुराने कागजात पानीवाले इन क्षेत्रों को दहनाल (बाढ़-ग्रस्त) बताते आ रहे थे। पुराने भू-स्वामियों ने मछुओं से दो-एक दफे 'जल-कर' वसूलने की तिकड़म भिड़ायी थी, लेकिन इस में उन्हें कामयाबी नहीं मिली तो झील की निकटवर्ती कछारें बिस्तमन्दी ठेकों पर सस्ते-सस्ते उठा दी थीं।

भोला के पिता फउदार सहनी ने बीस-पचीस वर्ष पहले पचास रुपये सालाना शरह पर दस बीघा (तीन एकड़ से कुछ ज्यादा) कछार

बंदोबस्त ली थी । भागलपुर के अंग्रेज हाकिम को उसने डूबने से बचा लिया था, पुरस्कार के रूप में साहब ने राजा से यह ज़मीन दिलवायी थी । १६३४ ई० में भूचाल क्या आया, फउदार का भाग जाग गया । धरती डोली तो झील का पाट उथला हो गया । उस उथलेपन ने पहले की कछारों को ज़रा ऊपर कर दिया और अब वे उपजाऊ खेत बन गयीं ।

घुटना-भर, जाँघ-भर और कमर-भर पानी धनहा चौर में यत्र-तत्र जगमगा रहा था । दूर-दूर सिरकियाँ खड़ी थीं । इधर की मछलियाँ उधर न चली जायँ, उधर की इधर न आ जायँ, इसी से निश्चित फासलों पर पानी की हदबन्दी की गयी थी । बिसुनी, खुरखुन, रंगलाल, नीरस आदि ने मिल कर घेरा डाल रखा था । हँकाई हो रही थी, मछलियों के झुंड एक ओर बटुर आते, फिर उन्हें गाँज से छाँक लिया जाता या टापी से पकड़ लिया जाता ।

साझे के शिकार में डेढ़-दो सेर गरचुन्नी मछलियाँ आ गयीं तो मधुरी घर की ओर चल दी ।

भोला के खलिहान से जरा हट कर यह रास्ता था, पुराना बगीचा और नयी अमराई में से हो कर ।

कोई कुछ गा रहा था । स्वर और आलाप मधुरी को परिचित से लगे । उसका दिल धड़कने लगा... ..

अरे, यह तो चुल्हाई की तान है !

चुल्हाई ! रंगलाल का बड़ा लड़का । मधुरी को वही तो कल खुद आ कर अन्हई मछली दे गया था ।

मंगल और चुल्हाई—दोनों मधुरी के लिए जान देते थे । उसकी तरफदारी यद्यपि चुल्हवा के नसीब में कभी नहीं पड़ी, फिर भी पट्ठा मधुरी पर फ़िदा था । वह इधर-उधर देखने लगी, चुल्हाई नजर नहीं आ रहा था ।

मधुरी ने चाल धीमी कर ली । बाँसों के झुरमुट से चुल्हाई का स्वर अब साफ़-साफ़ कानों में पड़ रहा था—

कबहूँ पकड़ में न आवे मछुरिया !
जुलमी मछरिया चलबल मछरिया...

अपने अकेलेपन का ध्यान आते ही मधुरी के पैरों में फुर्ती आ गयी । घर पहुँची । माँ को मछलियाँ सौंप कर भोला की दादी से मिलने निकली ।

नाक नुकीली । आँखें बड़ी-बड़ी । सूरत साँवली । ओंठ पतले । दाँत

छोटे-छोटे हमवार और मोतियों-से चमकीले। क़द मझोला। मधुरी अठारह साल की हो चुकी थी। मलाही-गोंढ़ियारी के युवक अपने गाँव की चार-पाँच सुन्दरियों में उसकी गणना करने लगे थे। मंगल और चुल्हाई के साथ मधुरी के स्नेह-सम्पर्क की अफवाहें दो-एक बार उड़ी थीं फिर आहिस्ते-आहिस्ते दब गयीं।

मंगल की बहू गौना करा कर लिवायी जा रही थी और मधुरी का भी गौना तय हो चुका था।

दिनांत की धूप सहन के पूर्वी छोर को छूने ही वाली थी। भोला के बैठक के बरामदे पर खँभेली से पीठ टिका कर खिसुनी बैठा जाल बुन रहा था। बाहरवाली अँगनई पार कर के, बैठकखाना के पास से होती हुई मधुरी भोला के परिवार में पहुँच गयी।

कपड़े पर सूखे बड़े चिपके हुए थे, ओसारे पर बैठ कर मंझआ उन्हें छुड़ा रही थी। सोलह-साला जिलेबिया चूल्हा सुलगाने की फ़िक्र में थी। मधुरी मंझआ के पास जा बैठी और बड़े छुड़ाने में हाथ बटाने लगी। मंझआ ने ग़ौर से मधुरी का चेहरा देखा। बोली, "ताड़ होती जा रही दिन से दिन? क्यों री?" सुन कर मधुरी संकोच के मारे झुक गयी। मंगल की माँ ने उधर से चावल तोलते-तोलते कहा, "इसका भी गौना बैसाख तक हो जायगा।"

अपने गौने के बारे में मधुरी कुछ नहीं सुनना चाहती थी। चाहती थी मंगल की बहू के बारे में सुनना, बल्कि इसीलिए आयी थी।

"ससुराल में तेरे कौन-कौन हैं?" बुढ़िया ने मधुरी से पूछा और लगा कि अभी वह इस प्रकार की अपनी अनेक जिज्ञासाएँ मधुरी के शब्दों में ही पूरी कराना चाहती है।

मंझआ का प्रश्न बेकार गया, मधुरी मौन थी। जिलेबिया ने एक साधारण सी बात कह कर प्रसंग ही बदल दिया। चूल्हा सुलग उठा तो वह बोली, "पहले हमारी भाभी आ लेगी, मधुरी का गौना बाद को होगा।"

मधुरी ने चट से पूछा, "तेरी भाभी के कितने भाई हैं जिलेबी?"

"तीन।"

"और बहनें?"

"भाभी को छोड़ कर दो और हैं।"

इस तरह के सवाल-जवाब दस-पाँच और चले। फिर कुछ देर बाद, सुलगायी हुई टिकिया चढ़ा कर जिलेबिया मंझआ को हुक्का थमा गयी तो

ध्वनि और स्फोट का श्रुतिमधुर सिलसिला चला—गुड़...गुड़...गुड़...
गुड़...गुड़क् गुड...गुड़...गुड...गुड़...!

कपड़े से चिपके हुए सूखे बड़े अलग हो चुके थे। बड़ों से भरी चंगेरी जिलेबिया अन्दर रख आयी तो मधुरी से सट कर बैठी। मधुरी खिसक कर मंइआ के पीठ-पीछे उकड़ूँ बैठ गयी।

बुढ़िया के बाल अब भी सारे के सारे सफ़ेद नहीं हुए थे, रूखे-सूखे अवश्य थे। मधुरी ने बालों के जंगल में जूँ का शिकार शुरू कर दिया।

मंगल की माँ तौलने का काम खत्म कर चुकी थी। खड़ी हुई, नज़दीक आयी और मधुरी से हाथ चमका कर बोली, "तू तो अब आती ही नहीं!" स्वरों में उपालम्भ की फाँस थी। मधुरी ने उसे अनुभव किया। जूँ देखना रोक कर बोली, "माँ की तबियत ठीक नहीं थी पिछले दिनों...बड़ा काम रहता था मंइआ।"

मंगल की माँ ने तभी बेटी से कहा, "देख क्या रही है मुलुर मुलुर? चावल उठा कर अन्दर रखेगी कि नहीं?"

फिर मधुरी की ओर देख कर बोली, "देखती है मधुरी? सोलह साल की हो गयी तो भी जिलेबिया के मगज में अपने आप कोई बात नहीं आती है। पग-पग पर भूकना पड़ता है, तभी समझती है। हाय राम, ससुराल में कैसे इस भकोल का निबाह होगा......"

मधुरी ने जिलेबिया का पक्ष लिया, बोली, "नहीं मंइआ, जिलेबिया मछली अच्छी पकाती है। मेरे सामने तुम इसको बेशऊर न कहना!"

खेल-खेल में सिलेबिया को किसी ने कुढ़ा दिया था। रोती हुई आ कर माँ के सामने खड़ी हो गयी तो सबका ध्यान अपनी तरफ खींच लिया उसने।

२

गरोखर और उस से पच्छिम कोस-भर का इलाका देपुरा के मैथिल जमींदारों के अधिकार में था। कभी वे सचमुच 'बाबू साहेब' और 'सरकार' थे! तिरहुत के खानदानी शासक!

अब लेकिन 'जमींदारी-उन्मूलन कानून' के मुताबिक रैयतों से जमीन का लगान या मालगुजारी वसूल-तहसील करने के हकों से मौकूफ़ हो चुके थे। व्यक्तिगत जोत की जमीन तथा अन्यान्य सम्पत्तियों के मामले में जमींदारी

उन्मूलन कानून ने भू-स्वामियों को खुली छूट दे दी। नतीजा यह हुआ कि पोखरों और चरागाहों तक को वे चुपके-चुपके बेचने लगे —'आग लगते झोपड़ी, जो निकले सो लाभ !'

गरोखर के भिंडों पर बाग़ थे। पिछले दो-तीन वर्षों के अन्दर दो तिहाई वृक्षों का सफ़ाया हो चुका था। कछार की ज़मीनें धड़ाधड़ आबाद हो गयी थीं। गढ़पोखर की हद के अन्दर पानी के चारों ओर लहलहाती फसलें देख कर लोग कहा करते—"दस -पाँच साल में अब गरोखर गरोखर नहीं रहेगा, उथली-छिछली तलइया रह जायेगी यहाँ।"

मलाही गाँव का मोहन माँझी लेकिन और ही सपने देख रहा था। उस के स्वप्न थे कि गढ़पोखर का जीर्णोद्धार होगा आगे चल कर और तब मलाही-गोढ़ियारी के येग्रामांचल मछली-पालन-व्यवसाय का आधुनिकतम केन्द्र हो जायेंगे। तब एक-एक सीज़न में पचास-पचास हज़ार रुपयों की आमदनी होगी और यह बस्ती गरोखर की बदौलत सुखी सम्पन्न हो जायगी। विशाल जलाशय की इन कछारों में हम क़िस्म-क़िस्म के कमलों और कुमुदिनियों की खेती करेंगे। पक्की-ऊँची भिंडों पर इकतल्ला सैनिटोरियम बनेगा, फिर दूर-पास के विश्रामार्थी आ-आ कर यहाँ छुट्टियाँ मनाया करेंगे......

मोहन माँझी पागल नहीं था, सपने ही नहीं देखा करता था। राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम का एक अदना-सा सिपाही था वह। १५ अगस्त ४७ के पहले ही तीन बार जेल की सज़ा भुगत आया था। खरी-खरी सुनाने की और सर्व-साधारण जनता का पक्ष ले कर चाहे जो कुछ कर गुज़रने की लत पड़ गयी थी। अब वह हँसिया-हथौड़ा-मार्का लाल झंडेवाली किसान सभा का थाना-सभापति था।

आधा चैत बीत चला था।

रविवार होने से स्कूल में छुट्टी थी।

प्राइमरी स्कूल का यह भितहा मकान गाँव के पूरबी छोर पर था। तीन तरफ़ से घिरा, सामने खुला। अँगनाई का अगला हिस्सा तगर, कनेर, बेला, हरसिंगार के झाड़ों से सरसब्ज़ था।

बिरादरी के सभी बालिग मेम्बरान यहीं जुटे थे—भोला, हरखुन, शिवजी रंगलाल, नीरस, नरायन, सीतन, बंसी, मक्खन, बलभर मोकर, मधुजी, नकछेदी, बौलाट, जलधर, गोपा, नन्दे.....पन्द्रह-बीस जने होंगे।

औरत एक भी नहीं थी। दस-पन्द्रह लड़के तमाशबीन बने किनारे-किनारे खड़े थे।

कभी-कभी शोर-गुल बढ़ जाता और कभी एक ही आदमी कुछ कहता सुनायी देता। कुछ-एक की जीभ नहीं हाथ ही सक्रिय थे। जाल बिनने लायक मज़बूत धागा बँट रहा था कोई, कोई जाल बिन रहा था। कोई टापी या गाँज बनाने के लिए बाँस की फट्ठी से खपच्चियाँ छील रहा था तो किसी के सामने मूँज पड़ी थी। खुरखुन की गोद में उसकी बड़ी छै-साला बेटी बैठी थी।

गोनड़ सब से बूढ़ा था, तिरासी साल का। भोला ने नाम पुकार कर पूछा, "गोनड़ बाबा, तुम्हारी क्या राय होती है ?"

निकले हुए छोटे कान और पतली सफ़ेद मूँछें, गोनड़ के चेहरे की यही विशेषता थी। सब की निगाहें बुड्ढे पर जमी थीं। उसने आँखें मिच-मिचा कर कहा, "मैं क्या तीन-त्रिभुवन से बाहर हूँ ? अरे, जो सबकी राय होगी वही राय मेरी होगी।" इतना कह कर गोनड़ ने माथा झुकाया और मैली धोती की खूँट से नाक पोंछ ली।

"तो भी कुछ कहो न !" पाँच-सात आदमियों का समवेत स्वर।

बूढ़े ने जमात की तरफ़ देखा। उसकी अपनी पतली-सफ़ेद भौंहोंवाली काली आँखें चमक रही थीं। दृढ़ता का भाव मुखमण्डल को दीप्त कर चुका था। उसने गम्भीर लहजे में कहा, "यह पानी सदा से हमारा रहा है, किसी भी हालत में हम इसे छोड़ नहीं सकते। पानी और माटी न कभी बिके हैं न कभी बिकेंगे। गरोखर का पानी मामूली पानी नहीं, वह तो हमारे शरीर का लहू है। जिनगी का निचोड़ है।" गोनड़ इतना ही कह कर बैठ गया।

जमात में आज बड़ी सरगर्मी थी। सभी एकमत थे कि गढ़पोखर छोड़ा न जाय। इस पर हमेशा अपना अधिकार रहा है; जमींदार जल-कर लेता था, हम देते थे। नया खरीददार दूसरे-तीसरे गाँव के मछुओं को मछलियाँ निकालने का ठेका देता चलेगा और हम अपने पुश्तैनी अधिकारों से वंचित होकर कलते फिरेंगे, भला यह भी क्या मानने की बात है ?

नये खरीददार सतघरा के जमींदार थे। वे लोग गढ़पोखर की नये सिरे से बन्दोबस्ती दे कर ज्यादा से ज्यादा रकम बटोरना चाहते थे। उनमें से एक

कॉंग्रेस टिकट पर लोक सभा का सदस्य (एम० पी०) भी था। पटना, दिल्ली और जिला-केन्द्र लहरियासराय के बड़े अधिकारियों से उनकी मिली-भगत थी। दफा १४४ के मुताबिक खट् से एक समन आ धमका था। तभी गोंढ़ियारी के मछुओं में यह सरगर्मी आयी थी।

ऐसा एक भी दिन नहीं गुज़रता जब कि गढ़पोखर से मछलियाँ न निकाली जाती हों। इस तिपहर में भी दो नौजवान उत्तरवाली भिंड की ओर पानी में काँटे डाले बैठे थे।

भोला, नकछेदी और गंगा सहनी ने पिछले वर्ष तीन-हजार रुपये नक़द गिनकर दो साल के लिए गरोखर का पट्टा लिखवाया था। निकाली हुई मछलियों में आपसी हिस्सा-बाँट हो जाता।

अब सलघरा के भूमिहार ज़मींदार गढ़पोखर के मामले में क्या रुख लेंगे, कहना असम्भव था। कई तरह की अफ़वाहें उड़ रही थीं और गोंढ़ियारी के मछुओं का मन अशांत था।

बैठक अनियमित ढंग से ही थोड़ी देर तक चलती रही। बाद को लोग उठ-उठ कर जाने लगे और स्कूली लड़के कबड्डी खेलने आ धमके। भोला, खुरखुन, रंगलाल, नीरस आदि आठ-दस जने रह गये थे। मोथी की उस चटाई पर कोई पूरा लेट गया था, कोई आधा। सिलेबिया हुक्का भर लायी थी, भोला उसे गुड़गुड़ा रहा था। रंगलाल और नकछेदी लेटे-लेटे बातें कर रहे थे। उस बातचीत में सभी के दिल मानो पिरोये हुए थे।

गढ़पोखर की इधरवाली भिंड काफ़ी ऊँची थी। गोंढ़ियारी का उत्तर-पूर्वी कोनैला (कोने का) छोर उसे छूता था। चमुड़िया रेलवे-स्टेशन से आने वाली सड़क पूरबी भिंड के पासा-पासी जा कर ज़रा आगे बढ़ते ही 'धनहा चौर' के सम्मान में बा-अदब धनुषाकार हो गयी थी। खूब चालू रास्ता था यह। पिछले पाँच सात वर्षों में मिनिस्टरों, आफ़िसरों, नेताओं, ठेकेदारों का टूर दसगुना बढ़ गया था, अब ज़िला-बोर्ड इस कच्ची सड़क को पक्की सड़क ही नहीं, बल्कि 'पीच-रोड' बनाने पर तुला था। फुलपरास-बाज़ार से निगेला होती हुई बहेड़ी और लहरियासराय तक पहुँचने वाली इस 'पक्की सड़क' को सन् ५६ के अंत तक तैयार होना ही था।

स्कूल के बाँयें बाय; छोटी मछलियाँ फाँसने वाले छोटे हल्के जाल—दोनही, पोढ़िया, मरइली, सतोल आदि—ऊँची भिंड पर तिपहर की पैनी धूप में सूख रहे थे।

सब की नजर बचा कर मोहन माँझी आया और स्कूल के आँगन में खड़ा हो गया।

लड़के कबड्डी खेल रहे थे—चैत् कबड्डी! चैत् कबड्डी! चैत् कबड्डी!...और मोहन माँझी के अन्दर बैठा हुआ नौजवान छलाँग मार कर बाहर निकल भागा। जाकर वह खेलने वालों में शामिल हो गया—

चैत् कबड्डी। चैत् कबड्डी! चैत् कबड्डी!...

मगन हो कर मोहन माँझी कबड्डी का खेल देखने लगा। थोड़ी देर के लिए भूल गया कि किस मतलब से यहाँ आया था।

ग्रीष्म के आरम्भ की झुलसी दूबों से ढका-ढका-सा स्कूल का आँगन निगाहों को अखर रहा था।

मोहन माँझी देर तक खड़ा रह जाता, अगर सुर्ती थूकने न उठा होता भोला। थूक कर लार की तार धोती की खूँट के सहारे पोंछने लगा तो निगाहें सामने खड़े मोहन माँझी पर पड़ीं। माँझी को इस-उस लोग 'नेता जी' कहते थे। देखते ही बोला, "अरे, नेता जी! कब से खड़े हो भाई?"

सुपरिचित स्वर कानों से टकराया और मोहन माँझी के अन्दर का नौजवान गायब हो गया।

भोला आगे बढ़ आया। खुरखुन, रंगलाल, नीरस सभी उठ आये। माँझी को स्कूल के अन्दर ले गये। आधी बाँहों की कोकटी कमीज। मामूली सूतों की मटमैली धोती। खाकी थैला बाँह से लटक रहा था। पैरों के नाखून बड़े-बड़े और बेकाबू। चेहरा गोल, पेशानी चौड़ी। लाल-लाल छोटी आँखों में काली पुतलियाँ खूब खुल नहीं पा रही थीं।

नेता जी कभी उनके बीच आ धमकता तो जीवन की सोयी हुई ताजगी को जगा जाता। खुद भी व्यक्ति-व्यक्ति की बातें ध्यान से सुनता। कभी-कभी शाम को आता और खाना भोला के साथ खा कर अपनी जाति के महान पूर्वज जयसिंह और रन्नू सरदार की गाथाएँ रात-भर सुनता रह जाता।

बैठने पर थोड़ी देर तक जिला-जवार देस-परदेस और समय-साल की चर्चाएँ चलीं। सतघरा के बबुआन श्रीमंत जमींदार गरोखर के पानी से बे-दखल करना चाहते हैं मलाही-गोढ़ियारी के मछुओं को, अब अदालती भूल-

भुलैइया में भटका कर उन्हें बे-दम कर देना चाहते हैं...मोहन माँझी से यह सब छिपा नहीं था।

लड़कों की कबड्डी हो चुकी थी। दिन थोड़ा था। सूखते हुए जाल समेटे जा रहे थे।

भोला, खुरखुन आदि भी मोहन माँझी को आगे करके बैठकखाना में आ पहुँचे और धान के नारों की चटाइयों पर बैठ गये। नेता जी ने थैले से रसीदें निकाल लीं और किसान सभा का मेम्बर बन जाने की अपील करते हुए उसके उद्देश्यों पर प्रवचन आरम्भ कर दिया।

बीच में ही खुरखुन ने कहा, "मगर हम तो किसान नहीं, मछुए हैं। किसान सभा-किसान सभा का मेम्बर होने से हमें क्या! नेता जी, मछुआ-कछुआ सभा कोई कहीं हो तो मुझे बताना। उसका मेम्बर जरूर बन जाऊँगा।"

"मछुआ लोगों की सभा तो है ही," भोला ने कहा, "अरे वह निषाद-महासभा है न खुरखुन भाई?"

"फुलेना परसाद वाली?"

"तो और कौन-सी?"

"फिर नेता जी की किसान सभा के मेम्बर हम क्यों बनें?"

भोला जवाब देने ही जा रहा था कि मोहन माँझी ने हाथ के इशारे से उसे रोक दिया, कहा, "मैं बताऊँ!"

इस बीच जिलेबिया भर-चँगरी भुने चिवड़े और मछली के तले खंड सामने रख गयी। लेकिन अभ्यागत ने उधर ध्यान नहीं दिया। भोला ने ध्यान दिला कर कहा, "नेता जी, यह भी चले और वह भी चले!"

मोहन माँझी ने नाश्ते की चँगेरी बायीं तरफ़ सरका दी और बताना शुरू किया :

भाइयो, किसान सभा देहातों में रहने वाले कुल मेहनतकश लोगों का एकमात्र मिला-जुला सुदृढ़ संगठन है। हम लोग मछुआ हैं, निषाद भाई हैं! सहनी, मुखिया, खुनौट, सोरहिया, बाँतर, तीयर, जलुआ, माँझी, खानदानी उपाधि किसी की कुछ है तो किसी की कुछ। मगर हैं फिर भी सभी निषाद। किसी युग में हमारी संख्या थोड़ी थी। उन दिनों केवल नाव चलाना और मछलियाँ पकड़ना हमारे पेशे थे। अब हमारी बिरादरी खेती भी करती है, मजदूरी भी। पढ़-लिख कर कुछ-एक भाई-बहन ऊँचे ओहदों पर भी पहुँच

रहे हैं। आज जात-पाँत की पुरानी दीवारें ढह रही हैं। नये प्रकार की विशाल बिरादरी उनका स्थान लेने आ रही है। एकता का यह आलोक देहातों में भी प्रवेश कर चुका है। जब ऐसी बात है तो नाहक हमारी बिरादरी के चन्द अगुआ निषादों के अलग संगठन का शङ्ख फूँक रहे हैं दो-चार स्वार्थी निषादों का इससे फायदा होगा, यह मैं मानता हूँ। मैथिल महासभा, राजपूत महासभा, यादव महासभा, दुसाध महासभा आदि जो भी साम्प्रदायिक संगठन हैं, सभी का बायकाट होना चाहिए। इन महासभाओं के नेता आप लोगों की एकता मे दरार डालने का ही एकमात्र काम करते हैं। देहातों में रहने वाली सारी जनता का खेती-किसानी से थोड़ा-बहुत लगाव रहता ही तो है, तो कैसे कोई किसान-सभा की मेम्बरी से इन्कार करेगा? गढ़पोखर आपके हाथों से न निकले, इसके लिए हमें एक-जुट हो कर कोशिश करनी होगी। इस संघर्ष में निषाद महासभा नहीं, किसान सभा जैसी जुझारू जमात ही आपकी सहायता कर सकती है......"

लगभग पन्द्रह मिनट तक मोहन माँझी बोले। श्रोताओं ने बड़े गौर से प्रवचन सुना। बातें समझाने की नियत से कही गयी थीं, व्याख्यानबाज़ी का तूफानमेल नहीं छोड़ा गया था। कुल मिलाकर असर अच्छा ही पड़ा था।

"अच्छा, नाश्ता तो कर लो अब!"

"हँ, नेताजी!" भोला के स्वर में कई-कई कंठों के स्वर आ मिले।

चिवड़े भुने थे, उनमें अचार का मसालेदार तेल मिलाया हुआ था। नमक और हरी मिर्च अलग भी थी। बुआरी मछली के तले हुए आठ-दस खंड दूसरी छिपिया में थे। बातें होती रहीं और नाश्ता भी चलता रहा।

मंगल ने आ कर मोहन को पाँयलगी की, चिवड़ा-मछली से भरे मुँह की दबी-सिकुड़ी आवाज़ में उसने कहा, "मस्त रह बेटा!"

नाश्ता-पानी के बाद सुपारी का अद्धा थमा दिया भोला ने तो मोहन माँझी ने उसे मुँह में रख लिया और उठ खड़े हुए।

चलते समय ५० रसीदों वाली मेम्बरी की एक छोटी बही मोहन माँझी से ले कर भोला ने मंगल को थमायी और कहा, "घर-घर से इकन्नी वसूल कर के रसीद काट देना!" फिर मोहन की तरफ़ देख कर वह बोला, "परसों शाम तक तीन रुपइया दुइ आना पहुँचा देंगे।"

सिर हिला कर माँझी ने अपनी मंजूरी जतलायी। और बैठकखाना से

से नीचे उतर गये। भोला, खुरखुन और नीरस उन्हें गोंढ़ियारी की सीमा तक छोड़ आये।

४

'हिन्द हितकारी समाज' की कोसी-शाखा के पदाधिकारी और दर्जनों प्रमुख काँग्रेसी जीपों में सवार हफ्तों घूमते फिरे थे, इन क्षेत्रों के गाँव-गाँव में श्रमदान का आह्वान गूँजा था। सभी वर्गों के लोग कोसी-बाँध की योजना के नाम पर उन्मुख-उत्सुक हुए थे।

मलाही-गोंढ़ियारी के बीस गरीब मछुए और दूसरी जातियों के मजदूर भुतहा महादेव मठ पहुँचे और चार-छै रोज बाद ही वापस भाग आये।

खाते-पीते परिवारों के शौकिया श्रमदानी सज्जनों की बात ही और थी। उनकी सुविधा के सभी साधन कोसी-किनारे जुट गये थे। कैमरावालों की भरमार थी ही, पास-पड़ोस के परिचित काँग्रेसी नेताओं की सिफ़ारिश से वे पटना या दिल्ली से आये हुए किसी ऊँचे पदाधिकारी के साथ भीड़ में खड़े हो जाते और फ़ोटो खिंच जाती। इन लोगों का श्रमदान क्या था, बैठे ठाले का अच्छा-खासा मनोरंजन था। 'नेशनल कैडेट कोर' की निगरानी में बीसियों हजार स्कूली-कालेजी लड़के कोसी के पूर्वीय और पश्चिमी—दोनों—तटबंधों का निर्माण करने आये थे, उन्होंने अलबत्ता काफ़ी काम किया था। ठेकेदारों ने मजदूरों से करवाया था। पश्चिमीय तट बंध का अब तक का अधिकांश काम इन्हीं के हाथों हुआ था। 'हिन्द हितकारी समाज' वालों ने शौकिया श्रमदान के अलावा किनारे की ग्राम-पंचायतों के जिम्मे भी यह भार सौंपा था कि वे मजदूरों से काम लें और उन्हें मेहनताना दें। संगठन की ढीला-पोली से या स्वार्थियों के कुचक्र से हुआ ऐसा कि पंचायतों के अधीन काम करने वाले मजदूरों को कोसी-किनारे से भाग आना पड़ा।

वापस आने वालों में से टुन्नी, कल्लर, मौकर, नथुनी आदि थे।

खुरखुन ने अगले ही दिन पूछा, "बड़ी जल्दी भाग आये क्या बात थी?"

"बात क्या रहेगी," कल्लर ने कहा, "कुछ नहीं! दूर के ढोल सुहावन। बस, यही समझ लो खुरखुन काका!"

नथुनी नकिया कर बोलता था, बोला, "हाँ, हाँ! कँ मँ" लाँ मँइयाँ कीं

दैयां से जैसे तैसे घर आ गये...''

गोनड़ जाल की किनारी में लोहे की गोटियां कस रहा था। बीच गाँव के चौराहे पर प्रौढ़ पाकड़ की छांह और बैसाख का महीना, लोग काम भी कर रहे थे, आराम भी। वक्त काटने में जीभों के सरौते भी खूब मदद पहुँचा रहे थे।

गोनड़ भभा कर हँस पड़ा, खीसें निकल आयीं। दुन्नी से उसने कहा, 'अरे वो बात तो बतायी ही नहीं तुमने...''

'जाने भी दो, जो बीत गयी सो बात गयी।' दुन्नी ने कहा।

लेटे ही लेटे खुरखुन ने ज़ोर दे कर कहा, अँ हूँ, ''अब तो बतलाना ही पड़ेगा दुन्नी! क्या करके आये हो?'

खुरदुरा चेहरा। खुचरा मूँछें। छोटा कपार। छोटी आँखें। कद नाटा और सूरत भूरी। काम छोड़ कर दुन्नी थोड़ी देर के लिए अपनी प्रतिमा आप बन गया, फिर कहने लगा—''भूँजा फरही की पोटली बाँध कर कर कोसी-किनारे गया मैं इसलिए कि दस रोज़ बाँध की मंजूरी करूँगा, खाना-खेवा निकाल कर कम से कम अठारह बीस आना रोज़ तो बचा ही लूँगा। चार-छै जून साथ के दाने चबा-चबू कर भूख को ठगता रहा, फिर उधार की खिचड़ी चलने लगी। पहली बार जिस बाबू ने नाम लिखा, वह दूसरी बार नहीं मिला। दूसरे दिन जो काँग्रेसी भाई काम लेने आये, दो रोज़ बाद उनका भी पता नहीं। मिट्टी काटते-ढोते बारह दिन बीत गये, छदाम का भी दरसन नहीं हुआ। उधार-खाते चावल, दाल, नमक, हल्दी, मिर्ची, ईंधन देने वाला दुकानदार भला क्यों छोड़ने लगा। कुदाल रख ली, टोकरा रख लिया, धोती तक उतरवा ली। कमर से गमछा लपेटे दो दिन-दो रात का भूखा मैं घर लौट आया हूँ......'' इतना कह कर दुन्नी ने लम्बी साँस ली और धरती छू कर दोनों कान छू लिये।

खुरखुन से लेटा नहीं रह गया अब, वह उठ बैठा। आवेशमय स्वर में अपने आप वह बड़बड़ाने लगा, दोनों हाथ उलाहना की मुद्रा में आसमान की तरफ़ उठे थे—''हे भगवान, कैसा ज़माना आया है। पचीस-पचास करोड़ रुपइया लगा कर दस-पन्द्रह साल में कोसी बाँध तैयार होगा, हज़ारों का माहवारी चारा पाने वाले पचासों आफीसर बहाल हुए हैं। लाखों के ठेके मिले हैं इन ठेकेदारों को। करोड़ों का सामान बीरपुर में ला कर अटा दिया गया है। रात-दिन हवाई जहाज़ कोसी-इलाके में मँडराते रहते हैं। पानी की

तरह रकम बढ़ायी जा रही है। फिर गरीब मजदूरों के साथ ही सुराजी बाबू लोग इस तरह का खिलवाड़ क्यों कर रहे हैं? ऐसा अनर्थ तो न कभी सुना न देखा! हे भगवान, सृष्टि के इन्हीं तौर-तरीकों में तुम्हें अपने विधातापन का स्वाद मिलता है? 'हिन्द हितकारी समाज' नहीं, पेट-हितकारी समाज। छी-छी छी-छी......"

गोनड़ ने भोली हँसी हँस कर फिर कहा, "अरे, कुछ और सुन लो खुरखुन। इतने में ही उबिया गये?"

खुरखुन उठ कर खड़ा हो गया। गमछा झाड़-झूड़ कर कन्धे पर ले लिया।

घर की तरफ़ चला तो तो भोला के कुत्ते ने कहीं से आ कर अपने मालिक के गाढ़े दोस्त की टाँग सूँघ ली। प्यार के प्रतिदान की प्रतीक्षा में दस-बारह क़दम तक वह पूँछ हिलाता आया, मगर खुरखुन के दिल-दिमाग़ अब भी खौल रहे थे। उसने कुत्ते की ओर देखा तक नहीं। उसके पैर फुर्ती से उठते चले आये।

मधुरी के गौने की तैयारियाँ क़रीब-क़रीब हो चुकी थीं।

पाँच रोज़ बाद, अगले बुधवार को पूर्णिमा के भोर में महफ़ा (डोली) उठनेवाला था। दस्तूर के मुताबिक प्रति दिन सुर भर कर एक-आध बार रोना भी मधुरी शुरू कर चुकी थी। घर के काम-काज से फ़ारिग़ हो कर जितिया बुआ, मोदनी मामी, संकुती बहन आ जुटतीं। मंगल की माँ भी किसी किसी दिन। मंइगा आ कर पहले से ही डटी रहती। रोने का यह सिलसिला एक-एक के गले से लग-लग कर घंटा-डेढ़ घंटा तक चला करता। इस आरोह-अवरोह-मय सुरीले क्रंदन के माध्यम से मधुरी बताया करती "ओ जितिया बुआ, अब पुदीना और इमली की चटनी मुझे कौन खिलायेगी ई ई ई ई ..." जवाब में, रोने का ठीक वही सुरीला तरीक़ा अपना कर मुसम्मात जितिया कहती—"मुझे अपनी खैनी के लिए सीपियों का चूना बना-बना कर अब कौन दिया करेगी गे नू नू ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ..."

मोदनी मामी गले मिल कर रोती तो रोज़ यही दुहराती कि अब उसे डोंका का गोश्त कौन खिलायेगी। संकुती के लिए परिताप का विषय यह था कि मेला-ठेला देखने कौन साथ जाया करेगी। भोला की दादी रो-रोकर कहती कि इतने प्रेम से कौन अब उसके आँख-भौंह चाँपा करेगी...

रंगीन रुलाइयों के ये तरन्नुम भोला की बैठक में जमने वाले बजरंग

मंडली के छोकरों के लिए मखौल का मसाला थे। लेकिन खुरखुन का तो कलेजा ही टूक-टूक होता था यह सब सुन-सुन कर।

मंगल की माँ के गले लगाकर मधुरी रो रही थी—मै चा आ आ ची ई...ई, कै...ऐ...से...ए...ए...र...अ...अ...अ...अ...हूँ...ऊँ... ऊँ...ऊँ...ऊँ...गी...ई...ई...ई...ई...मैं...ऐं...ऐं...ऐं...ऐं...,"

कह रही थी—चाची, तुम सब से अलहदा होकर मैं कैसे रह सकूँगी! सूखी रेत पर कबई मछली जिस तरह तड़पा करती है, मैं भी क्या उसी तरह नहीं तड़पूँगी चाची?

रुलाई में डूबे हुए बेटी के ये शब्द सुनते ही बाप ने आँखें मींच लीं। दाँतों पर दाँत, मसूढ़े पर मसूढ़ा। चेहरा सिकुड़-सिमट गया। सहज श्याम कांति अधिक से अधिक श्यामल हो उठी। पैर मनों भारी हो उठे। खुरखुन वापस लौट गया।

भीतों का एक घर, एक मड़इया, दो ओर से फूस का घेरा। यही तो हुआ घर-आँगन। अभी काज-परोजन के दिन थे। बाहर से द्वार वाली भीत की पुतायी हुई थी, चिकनी-पीली मिट्टी से। द्वार के दोनों तरफ़ आमने-सामने काले रंग की कच्ची स्याही में किसी ने हाथी आँक दिये थे। शरीर का मुटापा उन चित्रों में उतना नहीं अखरता था जितनी कि बेडौल सूँड़। महावत की जगह मूली-गाजर की सी शकल अंकित थी। प्राइमरी स्कूल में पढ़ने वाला पड़ोस का एक लड़का मसालेवाली मोटी-मोटी पिसी हल्दी में उँगली डुबाकर अन्दर के द्वार की चौखट के माथे पर 'जय हिन्द' लिख गया था, इन अक्षरों के बगल में दोनों तरफ मय-अशोक चक्र के तिरंगा खाका अंकित था—रंग भरने की जगहें खाली छोड़ दी गयी थीं।

आँखों में काजल, रंगे हुए तलवे, नीली धारियों वाली चम्पई साड़ी, लाल छींट की पीली चुनरी...मधुरी खूब खिल रही थी।

मंगल की माँ ने अपने आँचल की खूँट से उसकी आँखों के कोर पहले पोंछ दिये, अपने आँसुओं को बाद में पोंछा।

मधुरी की माँ ने अन्दर से मंगल की माँ को आवाज़ दी, "बहिना, भाग मत जाना।" अगले ही क्षण वह हाथ झाड़ती हुई बाहर आयी। निगाहों के सामने दो-तीन लटें पसीने की बूँदियों में चिपक रही थीं, उन्हें उसने हटा दिया। आँचल से चेहरा पोंछा और बोली, "अब के बैसाख खूब तप रहा है बहिना।"

"जेठ असाढ़ तो बाकी है अभी बहिनियाँ।" मंगल की माँ ने कहा।

डेढ़-दो साल का नंग-धड़ंग बच्चा जाने कब से पीछा कर रहा था। एक बार उसकी समूची देह पर हाथ फेर लिया तो माँ के दिल को तसल्ली हुई। अब उसने पूछा, "बोलो बहिना बहू के सोल-सुभाव खुले कि नहीं?"

माँ और चाची को इतमीनान से बतियाने देना था, मधुरी खिसक चुकी थी। छै-साला लड़की बकरी की सूखी मींगनियों से छक्का-पजा खेलने का रियाज कर रही थी, कच्चे आम की पतली-लम्बी फाँक मुट्ठी में दबाये हुए थी, बीच-बीच में जीभ से छुआकर खटास का चटखारा लेती थी। बाकी बच्चे घर-आँगन से बाहर थे।

बहू के बारे में मधुरी की माँ का सवाल मंगल की माँ को अच्छा ही लगा। अपना हुक्का वह साथ लायी थी। सोने वक्त भीत से टिका कर अलग रख दिया था। अब उठा कर गुड़गुड़ाया तो पीनेवाली तंबाखू की कच्ची गंध और छोआ की भभक साथ आयी।

"टिकिया फिर से गर्मा लो बहिनिया।"

"हूँ, बहिनिया।"

और तब फुलिया की पुकार हुई, उसी छै-साला लड़की की। मंगल की माँ ने हुक्के पर से उतार कर चिलम उसे थमा दी। थोड़ी देर में सुलगती टिकिया के साथ चिलम वापस आकर हुक्के पर सवार हुई और तब चला गुड़...गुड़...गुड़...गुड़...गुड़...गुड़...... ! जल्दी-जल्दी चार-छै बार दम मार कर मंगल की मां ने कहा, "बहू तो हमारे घर ऐसी आयी है बहिना कि तुमसे क्या बताऊँ। बड़ी लछमिनियां है बहिना, बोलती है तो टहनी से हर सिङ्गार झरते हैं। मुसकाती है तो चानन का लेवा लगाती है। मंगल का ही नहीं, समूचे पलिवार का नसीब जागा है बहिना।"

मधुरी की माँ की आंखें भर आयीं, फड़कते ओंठ फैल गये। बड़ी मुश्किल से ये शब्द निकले, "और हमारी सोन-छड़ी को जो सराहती, वही इस धरती पर नहीं रही, चली गयी है सरगउली हाट (स्वर्गपुरी)। ससुर है तो वह बुढ़वा ताड़ी पी कर धुत्त बना रहता है। बहिना फिकिर के मारे पलकों से नींद उड़ गयी है हमारी......" रो पड़ी मधुरी की मां।

मंगल की माँ ने हुक्के को फिर पलानी की खँमेली से टिका कर रख दिया। वह अपने आँचल से बहिनिया के आँसू पोंछने लगी। ढारस के

स्वर में कहने लगी, "नाहक मन छोटा करती हो, तुम्हारी बिटिया कोई मामूली लड़की है ? दिल जीतने का जादू जानती है वह तो ।"

गोद का बच्चा सो गया था। मधुरी की माँ फिर उसके बदन पर हाथ फेरने लगी।

मंगल की मां उठ खड़ी हुई तो सिलेबिया आ कर तब तक हुक्का संभाल चुकी थी। वह अपनी मां को बुलाने आयी थी।

५

मौसम तो था मगर फ़सल नहीं थी अब के आमों की। भोला का पुराना बगीचा इस दफे एक टिकोरा तक नहीं दिखला सका है। हाँ, नयी अमराई में तीन-चार पेड़ फरे थे। कुछ महीने पहले अधिक मास पड़ा था। उस हिसाब से बैसाख का क्या, यह तो जेठ का अंत आ गया। आम टपकने लगे थे।

नयी अमराई में मंगल ने मचान खड़ा कर रखा था। चारों भाई-बहन आम अगोरते थे बारी-बारी से आ कर। भोला को अवसर कम ही मिलता।

यह अमराई गाँव से बिलकुल क़रीब थी, दच्छिन-पच्छिम की तरफ़। दरम्यान में थोड़े से खेत थे। आजकल उनमें मडुआ के घने साँवले पौधे लहलहा रहे थे।

मंगल कई दिनों से मिलना चाहता था, लेकिन मधुरी मौका नहीं दे रही थी। आखिर मंगल ने चुल्हाई की मार्फ़त संदेश भेजा—"मैं मानूँगा नहीं, तेरी ससुराल तक धावा मारूँगा। ऐसी भी क्या बात है कि मिलेगी ही नहीं..."

फिर जाने क्या सोच कर अमराई में ही मधुरी मंगल से मिलने आयी।

शुक्लपच्छ की त्रयोदशी। आधा पहर रात बीती थी। आमों के झुरमुट में चितकबरी चांदनी। चितकबरी चांदनी में वह छोटा सा दुपलिया मचान नहा रहा था।

अचार के लिए दिन में कच्चे आम तोड़े गये थे। साथ टूट कर गिरे हुए पत्तों के चिकने स्पर्श तलवों को गुदगुदा रहे थे। दिल में लेकिन गुदगुदी नहीं, धड़कन थी।

परसों ही तो पूर्णिमा है ! मधुरी की आंखों के कोए फैल फर कुछ ही

गये। वह अच्छी तरह जानती थी कि नहीं मिल लेगी तो मंगल ससुराल तक पीछा करेगा।

अमराई के बीचों-बीच किसुनभोग का एक छतनार कलमी पेड़ था। घनी टहनियों और चौड़े-बड़े पत्तों से वह चाँदनी को ऊपर ही ऊपर उलझाये हुए था।

संकेत के अनुसार मंगल किसुनभोग के तले खड़ा मिला।

मुलाक़ात पाँच महीनों पर हो रही थी।

पास आयी तो मंगल लपका।

बेताबी से अपनी बलिष्ठ बाहों में कस कर मधुरी को उसने चूम लिया। फिर चूमा, फिर चूमा और फिर चूमा।

धौली तैरस की गाढ़ी-दूधिया चाँदनी किसुनभोग की घनी-छतनार डालों के तले आ नहीं पा रही थी, किन्तु अपनी दमकती परछाईं से अंधकार की गहन कालिमा पर हल्की-हल्की-सी पोची वह अवश्य फेर रही थी।

मंगल का पहला आवेग कुछ शान्त हुआ तो मधुरी ने बाहुपाश को आहिस्ते से ढीला कर लिया। बित्ता-भर अलग हुई और उसके कंधों पर अपने दोनों हाथ टिका दिये।

चेहरा साफ़-साफ़ दीख नहीं रहा था, मुखमंडल की स्थूल आकृति तरल-स्वच्छ झुटपुटे अंधकार में सामने थी।

मंगल साँस पी कर मुग्ध-विभोर खड़ा था।

हल्की-चिकनी फुसफुसाहट ..

"नाराज़ हो?"

"उहूँ"

"एक बात बताऊँ?"

"कहो।"

"मानोगे?"

"ज़रूर!"

"नहीं, तुमसे नहीं पार लगेगा।"

"कहो भी तो आखिर!"

"सच?

"हाँ मधुरी, तुम्हारे लिए मंगल क्या नहीं कर सकता!"

कि कहीं एक आम टपका।

इक्के-दुक्के पके आम अब टपकने लगे थे ।

मंगल के कंधों से अपने हाथ हटा कर मधुरी बोली, "यह कौन आम टपका है ?"

"और कौन, सोहिनियाँ होगा," उसने निश्चयात्मक समाधान दिया । क्षण भर रुक कर पूछा, "ला दूँ !"

"अँधेरे में आगे कहाँ-कहाँ टोह लेते फिरोगे ?"

"जहाँ-जहाँ उम्मीद होगी ।"

पतले अन्धकार की हल्की तहें चीर कर दोनों तरफ़ दंत पंक्तियाँ जगमगा गयीं । अवश्य, दोनों ही मुस्करा पड़े थे ।

उड़नेवाले दो-एक छोटे कीड़े नाक-कान से छू गये । मंगल को अंग-अंग में सिहरन महसूस हुई । पाँच महीना पहले की वह रूमानी रात सामने आ गयी जब कि इसी तरह निभृत-निर्जन एकांत-मिलन का अवसर हासिल हुआ था । स्थान यह नहीं, धनहा चौर का अंचल था ।

मंगल ने फिर गलबहियाँ दी ।

मधुरी की तरफ से प्रतिरोध तो नहीं, अनासक्ति ।

"तो बताया नहीं तुमने ? क्या कह रही थीं ?"

"अच्छा, पीछे बताऊँगी । घरवाली तो खूब पसन्द आयी ? चलो अच्छा हुआ ।"

"लेकिन तुम मुँह फेर लोगी तो मंगल बेलल्ला होकर सूख जायगा..." मंगल के स्वर में तरलता थी, बेबसी का अनुनय था ।

मधुरी और अधिक शांत हो गयी, और अधिक गम्भीर । उसने हाथ पकड़ कर मंगल को बैठा लिया, खुद भी बैठी । किसुन-भोग के तले साफ़-सूखी जमीन इस झीने अंधकार में चकचक कर रही थी ।

अकम्पित और मधुर आवाज़ में मधुरी ने कहा, देखो मंगल, मैं तुमसे तीन-चार साल छोटी हूँ । हमने एक-दूसरे पर अपने-अपने प्राण निछावर कर रखे थे, लेकिन अब तुम घर की लक्ष्मी का मुखड़ा ध्यान में रमा लो और मुझे भूल जाओ ।......"

मंगल चुप था । उसका सिर मधुरी के कंधे से आ लगा । इच्छा तो हुई कि उसे वह अपने कंधे से टिका न रहने दे, पर अगले ही क्षण मधुरी सँभल गयी । कान में ओंठ सटा कर कहा, मंगल ।

वह अब भी चुप था ।

मधुरी की फुसफुसाहट और भी अधिक धीमी हो आयी, "मंगल, कभी यह भी सोचा है कि मोरंकी जो सुन्दरी-सुशीला तरुणी तुम्हारी गृहलक्ष्मी हो कर आयी है, इसी तरह उसने भी अपने प्रेमी को समझा-बुझा दिया होगा......मुझे भूल जाओ मंगल.... ."

उसने मधुरी के कंधे से अपना माथा हटा लिया।

मंगल ने यहाँ तक नहीं सोचा था। अब वह मधुरी से क्या कहे, क्या नहीं कहे।

दिमाग में सत्रह साला तरुणी का वही प्रफुल्ल मुख बार-बार उभरने लगा, पिछले दो महीने का साधारण सहवास भी जिसकी असाधारणता पर उपेक्षा की राख नहीं बिखेर पाया......भरा-पूरा परिवार, लज्जा-संकोच का कड़े से कड़ा पहरा। मिलना जुलना रात को ही होता। फिर भी वह द्वितीया धीरे-धीरे आकर अब इस प्रथमा के निकट खड़ी थी।

मंगल की बहू अपनी मिठास से मधुरी का मन मोह चुकी थी। रत्ती भर भी ईर्ष्या अब उसके प्रति मधुरी के अन्दर नहीं थी।

मंगल जैसा का तैसा गम्भीर बना रहा। लगता था कि बाइस दिनों के मियादी बुखार ने रग-रग को उबाल कर छोड़ दिया है।

मधुरी मंगल का मौन तोड़ना चाहती थी। वह उसका विकट अंर्द्वन्द्व समझ रही थी। परन्तु स्वयं क्या कोई कम दुख-दर्द हो रहा था उसे ?

झींगुरों की अविराम झंकार पृष्ठभूमि में शहनाई का काम कर रही थी। रात बढ़ रही थी। चाँद चढ़ रहा था। माँ से बिछुड़ा हुआ कौए का बच्चा कच्ची आवाज़ में काँव-काँव कर उठा तो मधुरी सचेत हुई। पहले मिलन के अवसरों पर अकसर मंगल बीड़ी सुलगाता था, मगर आज अभी तक बीड़ी नहीं निकली थी। मधुरी को खयाल आया तो चट से कहा, "अच्छा, बीड़ी तो निकालो।"

बिना कुछ कहे ही मंगल ने बीड़ी निकाल कर सुलगाली। दो कश खींच कर मधुरी की तरफ़ बढ़ाता हुआ बोला, "ओफ़्फ़ोह, कैसी निठुर हो तुम !"

जवाब में उसने गहरी साँस ली और कश खींचा तो इतना लम्बा कि समूची बीड़ी स्वाहा।

दोनों इस बीच कुछ दूर-दूर हो गये थे। बीच में फ़ासला था। नब्ज

की रफ़्तार सहज ढर्रे पर आ लगी थी, मंगल ने कहा, "अब हम कभी नहीं मिलेंगे।"

मधुरी ने बिजली की फुर्ती से अपना हाथ मंगल के मुँह पर रख दिया, फटकार की मीठी भंगिमा से कहा, "राम-राम। ऐसी भी अशुभ बातें निकाली जाती हैं। छि: !"

मंगल ने संजीदगी से हाथ हटा दिया, बुदबुदाया, "क्या अशुभ, क्या शुभ, सभी बराबर हैं अब......"

मधुरी ने हल्की आवाज़ में कड़ी डाँट बतायी, "कैसी नासमझी की बातें किये जा रहे हो। देखो मंगल, अगर अब भी तुम होश में नहीं आये तो किसुनभोग के इसी कलमी पेड़ से अपना कपार में टकरा लूँगी और लहू-लुहान हो कर तुम्हारी घरवाली के सामने जा पड़ूँगी। कहूँगी कि भाभी........."

आगे नहीं बोलने दिया गया।

अपने मुँह पर से मंगल की हथेली परे करके मधुरी ने कहा, "देखो मंगल, धूल-मिट्टी के बचकाने खेल हम काफ़ी खेल चुके। सयाने समझ कर माँ-बाप और सास-ससुर ने तुम पर जो ज़िम्मेदारी सौंपी है, उससे जी चुराना कायरता होगी। तुम्हें अपनी घरवाली के प्रति वफ़ादार होना है, मुझे अपने घरवाले के प्रति। गाँव-गँवई के हम सीधे-सादे लोग ठहरे। हमारा प्रेम-नगर समाज से अलग या संसार के बाहर नहीं आबाद हुआ। सुनती हूँ, बड़े आदमी जब और कामों के ऊब उठते हैं तो दिल के टुकड़े इधर-उधर फेंका करते हैं और दसियों घर बर्बाद कर छोड़ते हैं। मैं तुम्हारा घर बर्बाद नहीं करना चाहती मंगल, मैं नहीं चाहती कि एक औरत की सिंदूरी माँग पर अपने अंध-स्वार्थ की कालिख पोतती रहूँ......"

कुछ देर मौन छाया रहा, फिर दोनों उठ खड़े हुए।

मचान के नज़दीक आये। हमेशा रोहिणी-नक्षत्र में पकने वाला आम "रोहिणियाँ, अपने पेड़ की किसी नाज़ुक टहनी से फिर एक फल टपका बैठा तो मंगल ने कहा, 'रोहिणियाँ' की तरफ़ से यह तुम्हारे लिए दुआ आशीर्वादी टपकी है, लेती जाओ !"

मंगल ने आम ला कर थमा दिया तो मधुरी ताज़े-पके उस बीजू आम को नाक के पास हिला-हिला कर सूँघती रही, "वाह ! क्या खुशबू है।"

चलने लगी तो आखिर उसने मंगल की ठुड्डी छू ली और चुमकार कर कहा, "मंगल, मुझे माफ़ कर देना।"

अमराई के चारों ओर शीशम-महुआ की कतारें थीं। मंगल चुप-चाप साथ आया, उत्तरी छोर तक पहुँचा कर लौट गया।

६

डोली निगाहों से ओझल हो गयी, रुलाई की मर्मवेधक आवाज़ें हवा में तैरते-तैरते आकाश के शून्य में समा गयीं। औरतें गाँव के छोर तक गयी हुई थीं छोड़ने, वे लौट आयीं।

रोते-रोते खुरखुन के पपोटे सूज आये थे। मधुरी की माँ और भोला की दादी का भी यही हाल था। वे भी मधुरी के लिए हद से ज्यादा रोयी थीं।

कुछ नहीं, कुछ नहीं तो भी दो सौ का खर्चा पड़ा। अपनी औकात से ज्यादा ही दिया था लड़की को। दूल्हे के लिए धोती-कमीज और चद्दर दी थी।

माँ की लालसा थी कि बेटी हँसली पहनकर ससुराल जाये। भोला को अपनी स्त्री से इसकी भनक मिली थी। पचास रुपये की लागत से उसने हँसली बनवायी और मंगल की माँ को ला कर सौंप दी। कहा था, "मधुरी हमारी भी बेटी है न ?"

बिदागरी (मुकलावा) का महूरत सूरज उगते ही था।

ट्रेन पर सवार हो कर जाना था। डोली चमुड़िया स्टेशन तक ही गयी थी। साथ दूल्हा के अलावा छोटा भाई और रंगलाल गये थे। दूल्हा का चाचा आया तो था, लेकिन उसे पड़ोस के गाँव पहुँच कर फिर लौटना था।

मधुरी की ससुराल समस्तीपुर से आगे रोसड़ा लाइन में अंगारघाट के करीब पड़ती थी।

दुलहिन को शाम तक पति-गृह में प्रवेश करना था।

खुरखुन की खोपड़ी ऐसी बोरसी हो रही थी, जिसमें राख ही राख भर गयी हो। विषाद का मद्धिम धुआँ दिमाग को बोझिल बना रहा था। कलेजे में हूक नहीं उठती थी, बल्कि खुश्की का दौरा था।

मधुरी की माँ नन्हे को लेकर लेट गयी। मँझली लड़की को उसने हिदायत कर दी कि बहनों को खाना खिला कर खुद भी खा ले, नाहक तंग न करे अपनी माँ को।

दूस ही रोज चार गरोखर में महाजाल डाला जाने वाला था। आजकल

उसकी मरम्मत चल रही थी। मलाही में गंगा सहनी का चौपाल इन दिनों बातचीत और काम-काज का अड्डा बन रहा था।

लड़की के गौने की झंझटों से छुटकारा पा कर खुरखुन को भी अब उसी तरफ ध्यान देना था, लेकिन इस वक्त बेचारे की चेतना मानों फ्यूज हो गयी थी। जी कर रहा था कि लबनी-भर ताड़ी पीकर लेट जाय कहीं, दिन-भर लेटा रहे।

गोल-कट निमक्लीन की पाकिट छू कर खुरखुन ने टोह कर ली...गोल और खुरदुरे किनारों वाली अठन्नी।

थोड़ी देर वह गढ़पोखर के पूर्वी भिंडे पर गमछा बिछाकर लेटा रहा। साँवली सूरत, सलोना मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें...बार बार बिटिया सामने आकर खड़ी हो जाती। मीठी-महीन लहरदार आवाज़ बार-बार कानों में गूँज उठती "बच्चू, ओ बच्चू !.. तुम्हारे लिए अलग से मैंने झिंगे तले हैं, उठो बच्चू !..." लगा कि मछलियों के करारे शिकार के बाद थका-माँदा वह लौटा है, निढाल होकर लेट गया है बिना खाये पिये ही। मलसी में सरसों का तेल गर्म कर लायी है मधुरी। अंग-अंग की मालिश कर रही है बिटिया, दुहरा-तिहरा कर चाँप रही है। थकती नहीं है चाँपते-चाँपते। ढिबरी के मटियाले आलोक में मधुरी के कपार पर पसीने की बूँदियाँ चमकने लगी हैं...'बस कर, बेटा, बस कर ! उतर गयी थकान तो। जा अब तू भी आराम कर बिट्टन !"...एक बार सतघरा के बनिये की कुछ रकम उधार आयी थी, सूद नहीं गया वक्त पर। तकाजे के लिए आदमी आया तो अनाप-शनाप बकने लगा, फिर बिटिया ने बच्चू को वो डाँट पिलायी कि मज़ा आ गया...

खुरखुन लेटा रहा, मगर मधुरी खड़ी रही। स्मृतियों की अपार भीड़ ने हृदय पर हमला कर रखा था। ऊब कर आखिर वह उठ खड़ा हुआ।

खुरखुन के पैर सतघरा की ओर बढ़ते गये। गढ़पोखर से मील-एक उत्तर, सतघरा के इधर वाली छोर पर ताड़ी की दूकान थी।

ताड़ के पत्तों से छाये हुए दो छप्पर। सामने खूब चालू सड़क। सीधी कतार में रखे हुए पाँच-सात घड़े। अलग-अलग नाप की कई भड़ियाँ। ज़रा हटाकर चँगेरियों में झिल्ली-कचरी, भूजा-फरही, जैसी खाने की चीजें।

दिन पहर-डेढ़ पहर चढ़ आया था। खोयी-खोयी-सी मुद्रा में खुरखुन सड़क से नीचे उतर आया।

दस कदम पच्छिम, हड्डी तोड़ मशक्कत के शैदाइयों की वह मधुशाला

इस समय भी सूनी नहीं थी। ताल-पत्र की आसननुमा चटाइयाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। उन पर छः-सात बंदे डटे हुए थे। दो थे आमने-सामने एक जगह। सम्मुख त्रिकोण-बैठक में तीन विराजमान थे दूसरी जगह। बाकी एक-एक जुदा-जुदा।

छोटी-छोटी घड़ियाँ और सकोरे। ताड़ का टुकड़ा-टुकड़ा पत्ता, इन्हीं खंडित तालपत्रों पर खाने की वस्तुएँ...झिल्ली, कचरी, भूजा, फरही, मछली, मिर्च।

नये ग्राहक की अगवानी में एक अधेड़ मुच्छड़ चेहरा खड़ी चटाइयों की आड़ से गर्दन-सहित निकल आया, शरीर के शेष अंग ओझल थे। और मुँह के अन्दर भात का डबल कौर अभी अभी ठूँस रखा था। हिलती गर्दन, चकराती पुतलियों के इशारे से आगंतुक को रुकने को कहा उसने और फिर अदृश्य हो गया।

पीने वाले अपनी-अपनी मस्ती में थे। दो तो आपस की ही गाली-गलौज में विभोर हो रहे थे। त्रिमूर्ति वाली गुट अभी चढ़ान पर थी। छठवाँ पियक्कड़, अब तक वहीं उतान लेट चुका था, आखिरी बूँद का मज़ा लेने के अभिनय में खाली सकोरा ऊपरी ओंठ और नाक पर औंधा रखकर जीभ निकाले हुए था। सातवाँ? सातवाँ तो नीरस था—हाँ, वही अपना नीरस।

घनी-खिचड़ी मूँछों पर ताड़ी की गाढ़ी झाग श्यामल मुखमंडल को दर्शनीय बना रही थी। सामने रिक्त मधुपात्र पर अब मक्खियों का कब्ज़ा था।

पास ही बड़ी गठरी और लाठी पड़ी थी। गठरी के फाँक से जाल बिनने के मोटे मज़बूत खाकी धागे झाँक रहे थे। बाँयें कान पर बाँया हाथ, दाहिना हाथ आसमान की तरफ़। नाटे क़द का तीस-साला नीरस रुआंसी धुन में कमला-मैया का गीत गा रहा था।

खुरखुन निकट आया। गौर से उसने नीरस को देखा। आँखें आधी-आधी मुन्दी थीं, पुतलियाँ मानो दृष्टिशून्य...

नीरस की चेतना में इस वक्त सिवाय कमलानदी के और कुछ था ही नहीं। खुरखुन ने उसकी इस मस्ती में खलल डालना उचित नहीं समझा। नीरस झूम-झूम कर गाता रहा और खुरखुन भी एक आसनी खींच कर वहीं बैठ गया।

ज़रा देर बाद दुकानदार बाहर निकला तो खुरखुन ने आवाज़ दी,

"दुअन्नी का नाश्ता, छै आने की चउठी (चतुर्थांश) लबनी ताड़ी...जल्दी भइया !"

फ़रमायश पूरी की गयी ।

खुरखुन सकोरे में ढाल-ढाल कर पीने लगा । नीरस के सुर में मिला कर हल्के-हल्के गाने भी लगा, बीच-बीच में चबेना भी चबाता रहा और सकोर भी सुड़कता रहा । थोड़ी-सी फ़िल्ली-कचरी और सकोरा भर के ताड़ी उसने नीरस के भी आगे रख दी । भरे हुए मुँह से गीत के पद निकल नहीं पा रहे थे । तो भी वह गाने में साथ दे रहा था......

एकाएक फिर उसे बिटिया याद आ गयी...... !

मधुरी को ताड़ी पीने वालों पर बड़ी घिन आती थी । छठे-छमाहे भोला या नकछेदी या गंगा के दोस्ताना दबाव में आ कर खुरखुन पी-पा आता तो वह बेहद दुखी होती । डेढ़-सवा साल पहले की बात है । माँ गयी थी उधरा, कमलामैया के मंडप में मिन्नत-कबूलवाली पूजा चढ़ाने । घर में दो-तीन छोटे बच्चे और यही बाप-बेटी रह गये थे । शाम को बाप ताड़ी पी कर लौटा, नशे में धुत्त । बुरे लच्छनों का आभास पा कर बेटी घबरायी । उसे अकेले छोड़ कर रात बिताने अड़ोस-पड़ोस के किसी घर में चली जाती, यह भी तो ठीक नहीं जँचा । गालियों की बौछारें, मार-पीट, हैवानियत के हमलों में नाकामी के बाद सर के बाल पकड़ कर ज़मीन पर घसीटना......प्रमत्त पिता के सारे उपद्रव पुत्री ने चुपचाप झेल लिये । बड़ी मुश्किलों में मधुरी की वह रात कटी । नशा उतरने पर खुरखुन जब अपनी सहज-स्वस्थ भूमिका में फिर वापस आया तो रात की बदतमीज़ियों के लिए बेटी से उसने माफ़ी माँगी थी । भीगी आँखों और फड़कते ओंठों से बिटिया बोली थी, "बब्बू, मैं ज़हर-माहुर खा लूँगी, अगर फिर कभी तुमने शाम के वक्त दारू-ताड़ी को हाथ लगाया......" तो बाप अपने कान पकड़ कर प्रायश्चित के लिए उठने-बैठने लगा था । बेटी ने लपक के हाथ पकड़ लिये थे, "यह तुम अब और क्या कर रहे हो बब्बू ?" बाप ने कहा था, "नहीं बेटी, तेरे सामने कान पकड़ कर इस तरह दस बार बैठूँ-उठूँगा तभी जी हल्का होगा ।" और फिर कभी खुरखुन ने शाम समय दारू-ताड़ी को हाथ नहीं लगाया......आज भी वह खुश था कि दिन-दोपहर से पहले ही पी रहा है ।

नीरस अब भी गाये जा रहा था, वही कमला-मैया का गीत !

दिमाग़ पर ताड़ी अपना असर डालने जा रही थी कि चेतना ने सुझाया,

नाभि से नीचे धोती की अंटी में दो रुपये का लाल-मैला नोट अब भी पड़ा है। बस, फिर क्या था। नोट निकाल कर खुरखुन ने दाहिने हाथ की दो बिचली उँगलियों में उसे लपेट लिया और खूब ज़ोर से ठहाका लगाया। अगले ही क्षण नोटवाला हाथ ऊपर को घुमाता हुआ वह चिल्लाने लगा—

"पी ले पिला दे, मरों को जिला दे !

दिलों को मिला दे, अँगुरिया हिला दे, नजरिया मिला ले......"

अनुभवी कलाल दुकान से यह सब देख-सुन रहा था। वह उठा और आहिस्ते-आहिस्ते खुरखुन के पास आया। उसकी उँगलियों में मैला-पुराना लाल नोट अब भी लिपटा पड़ा था। ताड़ी वाले ने नोट ले लिया। इतना भी नहीं पूछा कि कितनी ताड़ी चाहिए। थोड़ी देर बाद खुरखुन के नजदीक वह लबनी भर ताड़ी रख गया, ढाई तीन सेर से कम तो क्या होगी।

खुरखुर बैठने की आसननुमा अपनी चटाई और ताड़ी भरी लबनी उठा कर ले आया, नीरस से सट कर बैठ गया। उसका भी सकोरा भरा, अपना भी। अब यह उनके मधु-पान का दूसरा और मुकम्मिल दौर था।

दोनों ने साथ पीना और गाना फिर से शुरू कर दिया—वही अपना प्रिय गीत, कमला-मैया का वंदना-गीत......

"ओ कोयला-देवता,
कमला-नदी के बीचों-बीच
तैयार हो गया है बाँध।
तुमने उस बाँध पर फुलवाड़ी लगा दी है :
अजी, किस फूल की ओढ़ती है ओढ़नी ?
किस फूल का बनाती है परिधान कमला मैया ?
और बिछावन होता है किस रंग के फूल का ?
अजी, वह बेला ओढ़ती है, पहनती है चमेली
बिछाती है अड़हुल के फूल !"

७

रात का खाना खा कर सत्तर-अस्सी जने गरोखर के दक्खिनी ओहार पर इकट्ठे हुए।

महाजाल बैलगाड़ी पर लद कर गंगा सहनी के यहाँ से आ चुका था।

उसका वजन दस-मन भारी था। चौड़ाई में पन्द्रह गज़ और लम्बाई में पाँच सौ फ़ीट। बिनावट मज़बूत और धागे बटे हुए। गाँठ दो-दो इंच के फ़ासले पर।

तीस साल पुराना था। बीच-बीच में मरम्मत होती रहती थी। रफ़ू करते वक्त नयी किस्म की सूती सुतरियाँ लगायी जाती थीं। बाज़ार में जब जो किस्म मिल गयी उठा लाये। अब के भी मरम्मत हुई थी, नीरस को दरभंगा भेज कर रफ़ू के लिए धागे मँगवाये गये थे।

जेठ तीन-चार दिन बीता था। बैसाख के आरम्भ में आंधी आयी थी, साथ हस्ब-मामूल बूँदाबाँदी भी। इधर तो गर्मी खूब ही पड़ रही थी। गढ़पोखर में फिर भी पन्द्रह सोलह फुट पानी था।

महाजाल दक्खिन की तरफ़ से किनारे-किनारे फैला दिया गया। बीच में दो डोंगियाँ, पाँच घटनई (घटनौका) केलों के आठ-दस थंभ ठेला दिये गये थे। महाजाल का एक छोर पूरब की ओर था, दूसरा छोर पच्छिम की ओर। छोरवाले रस्से बाँहों में और कमर से उलझा कर मछुए महाजाल को उत्तर की दिशा में खींचने लगे।

नीचे लोहे की गोटियाँ उसे पानी के अन्दर तले से लगाये हुए थीं और तूँबियों का दबाव ऊपर ताने हुए था। घटनइयों, नावों और थंभों पर सवार दस-बारह जने महाजाल के साथ बीचों-बीच चल रहे थे।

तमाशा देखने के लिए लड़के और स्त्रियाँ किनारे-किनारे आ डटी थीं। महाजाल रोज़ तो पानी में आता नहीं, साल में एक-आध बार। बस!

रात का वक्त था। स्कूल के अहाते में आग जला दी गयी थी। कंडों, मींगनियों और सूखी सेंवारों की आग। छोटी उम्र के लड़के और लड़कियाँ तमाशा देखने आ कर अब स्कूली चटाइयों पर लेट गये थे। गोनड़ उन्हें कहानी सुना रहा था। सुनते-सुनते बच्चों की पलकें भिपती आ रही थीं।

बच्चे सो गये तो गोनड़ आहिस्ते से उठा और सुर्ती थूक कर नीचे कछारों में उतर आया।

मछुए महाजाल को खींच कर काफ़ी दूर ले जा चुके थे। रह-रह कर खाली गलों की सीटियां और पानी-भरे मुँहों की भारी गलगलाहटें निशा की नीरवता को झकझोर देती थीं। बीच-बीच में बड़ी मछलियों के कूदने-फाँदने की भी आवाज़ें उठती थीं।

गोनड़ क़रीब पहुँचा धोती की खूँट में बँधी सुर्ती को खोलता हुआ

बोला, "अरे, कौन कौन सुर्ती खायेगा ?"

"चाचा, मैं !' बाबा, मैं ! दादा, मैं ! नाना, मैं ! भाई, मैं भी !" सुर्ती के दसियों खवैया !

गोनइ हँसने लगा। उस ने अन्दर पानी में धँस कर सात-आठ हाथों में सुर्ती थमायी और स्वयं महाजाल की मोटी किनारी में बाँह उलझा कर उसे खींचने लगा तो खुरखुन ने कहा, "काका, तुम तो नाहक ही बुढ़ापे में परेशान होने आये।"

महाजाल अब बीचों-बीच आ चुका था।

बड़ी मछलियों का उछलना-कूदना बढ़ गया था।

घेरा डाल कर जंगल में जब शिकार के वक्त हाँका पड़ता है, तब घिरे हुए जानवरों का जो हाल होता है, गढ़पोखर की मछलियों का भी इस समय वही हाल था। परेशान मछलियाँ पानी से छलाँग लगा कर फिर वहीं पानी पर आ गिरतीं। आवाज़ से लगता कि धोबी का जवान छोकरा चौड़े पाट पर दसगजी धोती पछीट रहा है। कूदती मछलियों की चिकनी-रुपहली छबि चाँदनी की कीमत कूत रही थी या उसे चिढ़ा रही थी, बताना कठिन है।

गंगा सहनी बायें हाथ का पूरा पंजा कान पर रखे, दाहिने हाथ को सामने फैलाये मस्त होकर अपनी जाति के महान पूर्वज सेनापति जयसिंह का चरित गा रहा था।

"बउआ, खइयउ ने !
आब ने खइयउ बउआ, जैसिंग मोतीचूर मिठाई हओ !...
बबुआ, पियो ! पियो न !
अब तो पियो प्यारे जयसिंह, गंगा का निर्मल नीर, ओ !
माँ, नहीं खाता मैं मोतीचूर के तुम्हारे ये लड्डू।
पिऊँगा नहीं गंगा का निर्मल नीर।
नहीं रहूँगा तेरे तट पर, मैनी-मंडप में।
भाग जाऊँगा लालपूर।
लालपूर में रोती है जसमती, मेरी बहन।
भाग जाऊँगा मैं दूर, बहुत दूर!
स्नेह की डोरी, कच्चे धागोंवाली।
बाधूँगा इसी से अपनी बहन को।

नहीं रहना है मुझे तेरे मंडप में..."

उधर महाजाल के पूर्वी और पश्चिमी छोरों को जितने भी मछुए खींचे ले चल रहे थे, बीच की इन कड़ियों पर सभी ने जोर मारा कि—

"भाग जाऊँगा मैं दूर, बहुत दूर...
स्नेह की डोरी, कच्चे धोगोंवाली
बाँधूगा इसी से अपनी बहन को..."

जयसिंह और रन्नू सरदार के ये गीत देर तक चलते रहे, शुरू जेठ की रात का वह स्वच्छ आकाश गंगा सहनी के सुरीले आलापों से गूँजता रहा।

महाजाल अब उत्तरी कछारों के करीब आ लगा था।

डोंगियाँ पहले ही किनारे कर ली गयीं। घटनइयों को बाहर निकाल लिया गया। झुटपुटी चाँदनी में महाजाल की तूंबियाँ ही तूंबियाँ अब पानी पर नजर आ रही थीं। मछलियों की उछल-कूद अलबत्ता बढ़ गयी थी।

उत्तर तरफ कछारों में घासें और सूखी-सड़ी सेवारें काफ़ी थीं, उन्हें हटा कर कुदालों से उधर की सरज़मीन शाम को ही ठीक करके रख ली गयी थी।

मछलियों को लिये-दिये महाजाल पानी के किनारे पहुँच रहा था। उसके दोनों छोर सिमट कर करीब आ रहे थे। मछुए अब आख़िरी दफ़े मानो दसगुना ज़ोर लगा रहे थे। काम ख़ात्मे पर था, इसी से समूह की वह विराट श्रम शक्ति आशा और उमंग की उद्दीप्त स्वर-लहरी में बजती शब्दों के विजयसूचक गोले दागने लगी। महाजाल कछारों की तरफ़ बढ़ता जाता और आवाज़ में जोश बढ़ता जाता—

ऊपर तान, हुइ यो !
पीछे हट के, हुइ यो !
जाल सँभाल हुइ यो !
हो ो ो शिया ा ा ा र...!
हो ो ो शि या ा ा ा र...!

महाजाल का बिचला हिस्सा कमर भर पानी में आ पहुँचा, दोनों छोर उत्तरी किनारे पर यों आ लगे कि बीच का जल-स्थल वाला अंश उस बड़े जाल के अन्दर पंचमी के बंकिम चंद्र का मध्यवर्ती भाग-सा दीख रहा था। उतने थोड़े पानी में बड़ी-मझोली मछलियाँ सैकड़ों की तादाद में जगमगा

उठीं। उस जगमगाहट की तरफ नज़र गयी तो मछुओं के स्वर में और जोश भर आया—

रेहू ब्वारी, हुइ यो !
उजला सोना, हुइ यो !
कोसी मइया, हुइ यो !
भारथ माता, हुइ यो !
आह गरोखर, हुइ यो !

रात थोड़ी ही रह गयी थी। भुरुगवा निकल आया था। चुहचुहिया की महीन-मीठी आवाज़ निशा-शेष की स्पष्ट सूचना थी।

गढ़पोखर की उत्तरी कछारों में उल्लास मुखरित हो रहा था। मछलियाँ रखने के बड़े-बड़े खोंगे (खाँचे) कछारों में रखे थे।

भोला, खुरखुन, गंगा, नकछेदी, भोकर आदि ने सारी मछलियाँ ऊपर निकाल लीं। पाँच सेर से कम वज़नवाली बच्चा-मछलियों को उन्होंने वहीं पानी में डलवा दिया। बड़ी मछलियाँ लगभग दो सौ मन वज़न की रही होंगी। सौ-सवा सौ कछुए भी फँसे थे।

एक ओखली, हाँडियाँ, घड़े, लोहे की कड़ाहियाँ, आदमियों और मवेशियों के कंकाल, लोहे की दो कुर्सियाँ। बाल्टी, लोटे, खिलौने की एक मोटर, काजल और सिन्दूर की डिबियाँ, सड़े कपड़ों की लुग्दियाँ, चाँदी की एक हँसली, और दूसरी भी कई चीज़ें महाजाल खींच लाया था। बाढ़ के रेले इन्हें गढ़पोखर के पेट तक पहुँचा गये थे। मलाही-गोंढ़ियारी के छोकरे और छोकरियाँ अगले दिन का सारा वक्त गरोखर के अन्दर से निकाला हुआ कूड़ा-कचरा और कीचड़-पाँक ढोहियाती रही थीं।

मछलियों और ताल-मखानों का बड़ा व्यापारी रोसड़ा निवासी रामफल मुखिया खुद तो नहीं पहुँच सका था, लेकिन उसका भाई वक्त पर आ गया था। मुखिया अपना माल मुजफ्फरपुर-पटना नहीं, सीधे हवड़ा भेजता था।

दरभंगा-समस्तीपुर से ले कर हवड़ा तक माल को ताबड़-तोड़ पहुँचने में सोलह घंटे हो जाते थे। बीच में तीन जगहों पर उतारना-चढ़ाना पड़ता था। कहीं ज़रा भी गफ़लत हुई कि माल मिट्टी हुआ। सड़ी-गली मछलियों का भला क्या मोल ?

दरभंगा के मारवाड़ी मित्र से ट्रक ले कर मुखिया का भाई आया था।

उसे बस इसी बात की फ़िक्र थी कि नौ बजे तक माल दरभंगा स्टेशन ज़रूर पहुँच जाय।

"भोला, नकछेदी और गंगा माल का सौदा कर चुके थे। बारह हज़ार की रक़म —१०० मन बड़ी मछलियों का दाम—हाथ आ चुकी थी। मछलियों से भरे खाँचे ट्रक पर लादे जा रहे थे कि जीप की कर्कश की आवाज़ सुनायी पड़ी।

मछुओं का जी अंदेशे से व्याकुल हो उठा। शंका तो थी ही कि सतघरा वाले बाबू साहब इस अवसर पर कुछ न कुछ उत्पात अवश्य मचायेंगे। निषाद महासभा के लीडर फुलेना परसाद माँझी को भी उन्होंने भीतर ही भीतर मिला रखा था। उसका भांजा इसी मलाही-गाँव का रहने वाला था। मामा के इशारे मिलते रहते थे। वह अपनी जमात के सारे भेद देपुरा और सतघरा पहुँचा आता था।

जीप स्कूल के सामने आकर रुक गयी।

अंचलाधिकारी, दरोगा, पुलिस के दो जवान, अंचलाधिकारी का अर्दली और ड्राइवर, छःों उतरे।

सुबह की किरणें फूट चुकी थीं। ग्रीष्म का मीठा-सुनहला प्रभात गढ़-पोखर को नहला रहा था। सिंचाई से उगाये मडुआ के पौधे कछारों में लहलहा रहे थे। महाजाल की किनारियों में कसे लोहे के गोटे और उनकी जगमगाहट उत्तरी कछारों में धूप को और अधिक आकर्षक बना रही थी। बजरंग मंडली का अखाड़ा अभी तक सोया पड़ा था, क्योंकि पूरी की पूरी मंडली आज महाजाल खींचने में जुटी हुई थी।

अधिकारियों के आ पहुँचने की भनक पाते ही बस्ती का चौकीदार सोंढ़ाइ खुनौत मछली-मेला का मैदान छोड़ कर घर की तरफ़ खिसका और फ़ौरन लौट भी आया, नीली कमीज़ और नीला साफा और गंड़ासा . अब वह सरकारी युनीफ़ार्म में था।

भोला, गंगा और मोहन माँझी ने जीप रुकते देखी तभी स्कूल की ओर आने लगे। दो हैटवालों को और लट्ठधारी लाल पगड़ वालों को देखते ही उन्हें निश्चय हो गया कि सतघरा वाले जमींदारों की यह करतूत है।

मोहन माँझी ने कहा, "भोला, घबड़ाने की कोई बात नहीं। देपुरा के जमींदारों ने बंदोबस्ती का जो पट्टा तुम्हें लिख कर दिया था, वह कागज़ घर से लेते आओ! हम आगे चल कर अफ़सरों से बातें करते हैं। जाओ..."

भोला को घर भेज कर मोहन और गंगा स्कूल के अहाते में आये।

आमने-सामने हुए तो सलाम-बन्दगी हुई। दरोगा ने पहले ही अंचलाधिकारी को बता दिया था, मोहन माँझी के बारे में।

भोला के बैठकखाने से एक घराऊ कुर्सी और एक स्टूल आ गये। कुर्सी पर अंचलाधिकारी, स्टूल पर दरोगा। चुपके से आ कर सतघरा के दो बाबू अफ़सरों के पीछे खड़े हो गये।

दारोगा ने गंगा सहनी को अलग ले जा कर जाने क्या बातें कीं।

अंचलाधिकारी नया-नया आया था और यादव-बिरादरी का था। 'छोटी जात' वालों के प्रति उसमें हमदर्दी की भावनाएँ थीं। पुलिस-इन्सपेक्टर पुराने ज़माने का मुछंदर राजपूत था।

युवक अंचलाधिकारी अपने को अधिक देर तक ज़ब्त नहीं रख पाया। वह मोहन माँझी से देश की मौजूदा रीति-नीति पर बातें करने लगा। हाल ही आंध्र में चुनाव के नतीजे निकले थे, कांग्रेस ने शानदार जीतें हासिल की थीं और अब नेहरू को रूस के विधाताओं ने आग्रहपूर्वक अपना देश देख जाने का आमंत्रण भेजा था...

अंचलाधिकारी नेहरू की परराष्ट्र नीति का पूरा समर्थक जान पड़ा तो मोहन माँझी को अन्दर ही अन्दर बड़ी खुशी हुई। उसे लगा कि हो न हो, यह अफसर अन्याय का पक्ष नहीं लेगा।

थोड़ी देर बाद गंगा सहनी इशारे से मोहन को एक तरफ़ हटा ले गया और बोला, "दारोगा डरा-धमका रहा था। कह रहा था, दफ़ा १४४ लगा कर तमाम मछलियाँ वह अपनी हिरासत में ले लेगा।"

भौंहों में तनाव आ गया, पलकों में स्पंदन भर आये और निगाहों के कोये फैल-फैल उठे। मोहन माँझी के मुँह से तीर की तरह छूटा, "रक़म ऐंठना चाहता है सुअर।"

पैरों की तरफ़ ज़मीन में नज़रें गड़ाये जस का तस खड़ा रहा गंगा सहनी। सामने इस वक़्त दूसरी कोई वस्तु नहीं थी, था तो बस मछलियों का ढेर। दो सौ पाँच मन, पाव-ऊपर तीन पंसेरी...दारोगा ने भाँजी मार दी है और सारा माल सड़-गल कर कूड़ा-कचरा हो गया है...सतघरावाले बाबू लोग मछुओं की फूटी किस्मत पर फूले नहीं समा रहे हैं...गढ़पोखर की नये सिरे से बंदोबस्ती सिंगिया निवासी माँझियों के हाथों हो चुकी है...समूचा गरोखर अब तालमखाना की कँटीली फ़सलों से आबाद है...मलाही-गोढ़ियारी

के लोग इस तालाब से चुल्लू भर पानी भी नहीं ले सकते...फिक्र के सीसियों बुलबुले गंगा के मन में छूटने और फूटने लगे। ओठों में मानो किसी ने ताला जड़ दिया, बोला ही नहीं गया फिर कुछ।

गंगा को घुटते-घुरते जानकर मोहन माँझी ने उसकी पीठ पर अपना हाथ रखा, गर्दन लम्बी करके आँखों में आँखें डाल दीं और कहा, "मजाल है ? कोई रोके तो भला हमारा माल !"

भोला बंदोबस्ती का कागज़ ले आया था।

मोहन माँझी ने भोला से लेकर वह कागज अंचलाधिकारी साहब को थमा दिया। देपुरा के मैथिल जमींदार ने अपनी बहुआसिन (बहू) डमरूप्रिया बहुरिया की तरफ़ से कैथी लिपि में गढ़-पोखर की बंदोबस्ती का यह पट्टा लिखवा के दिया था—नकद पाँच हज़ार रुपये लिये थे, मियाद दर्ज करवायी थी दो वर्षों की फसली सन् १३६० और १३६१ बरसों की—असामियों की जगह उसमें तीन नाम थे। भोला सहनी, गंगा सहनी और नकछेदी जलुआ। नीचे बहुआसिन साहबा का हस्ताक्षर था।

अंचलाधिकारी ने दो-तीन बार उस दस्तावेज़ को देखा और पुलिस-इन्सपेक्टर से केस की फ़ाइल ले ली।

सतघरा के जो बाबू अब तक योंही खड़े थे, उनमें से एक फ़ाइल पर झुक आया।

कपार से साँसें टकरायीं तो अंचलाधिकारी ने गर्दन उठा कर अरुचिपूर्वक उसके चेहरे पर नज़र मार ली। दरोगा ने कान से ओंठ सटा कर कहा, "सतघरा के जमींदार के भगिना (भांजा) बाबू हैं आप, आपको फोटोग्राफी का भारी शौक है सर। बेडमिंटन के चैम्पियन हैं और वकालत तक पढ़े हैं..."

"और शिकार की हाबी ?" व्यंग्य की हल्की-चरपरी चासनी और चन्द नपे-तुले शब्द, साहब ने दरोगा के ओंठों को अपने हाथ की दीवार से परे कर दिया।

जमींदार के भगिना बाबू का चेहरा फ़क हो गया।

कागजात साफ़ बतला रहे थे कि पुश्त-दर-पुश्त गढ़-पोखर से मछलियाँ निकालने का हक मलाही-गोंढ़ियारी के मछुओं का चला आया है। मालिक बदलता रहा है, लेकिन असामी कभी नहीं बदले हैं।

अंचलाधिकारी ने अपनी आफिशियल डायरी में अँग्रेज़ी माध्यम से जल्दी जल्दी कुछ बातें नोट कीं। डायरी पाकिट के हवाले करके कुछ क्षणों तक

वह गढ़पोखर के श्यामसलिल-सपाट वक्ष की ओर विमुग्ध नेत्रों से देखता रहा।

फिर चुपचाप चलकर स्कूल के अहाते से उतर आया।

अंचलाधिकारी ड्राइवर की पासवाली स्वतंत्र सीट पर बैठ गया तो भोला से शांत शिष्ट स्वर में बोला, "माफ कीजिए सहनी जी, हमें असलियत का पता नहीं था।"

"हुजूर!" भोला ने तीन ही अक्षर कहे।

जीप स्टार्ट हुई और चल पड़ी। फिर दौड़ने लगी तो मिनटों में ओझल।

पेट्रोल की तीखी-तीखी अजीब-सी बू खोपड़ी की रग-रग को भफाने लगी तो खुरखुन रंगलाल, नीरस आदि प्रायः सभी ने अपनी-अपनी हथेली नाकों से लगा ली, मछलियों की ताजी-गहरी गन्ध से उन्होंने अपने को प्रकृतिस्थ महसूस किया था।

८

भोला के खेतों से आखिरी खेवे की मूँग की फलियाँ टूट कर घर पहुँचीं कि बाढ़ का पानी धनहा-चौर को डुबोने लगा। इस बार नदियों में रेले जरा देर से आये, नहीं तो बाढ़ का पहला दौर जेठ की पूर्णिमा तक आ जाता था।

असाढ़ का अन्त था। मडुआ (राँगी) की तैयार फ़सलें गरीब खेतिहरों का तन-मन जुड़ा रही थीं। उपरले खेतों में धान के हरे-हरे पौधे लहलहा रहे थे।

गढ़पोखर में उत्तर-पूर्वी कोने पर बाहर से पानी आने का रास्ता था। अब दिन-रात उधर से बाढ़ का पानी आ रहा था।

अन्दर की छोटी मछलियाँ काफ़ी तादाद में सैर को निकला करतीं और आगे सरहला और टमकों के व्यूहों में आ पड़तीं।

मधुरी पिछली शाम को ही ससुराल से भाग आयी थी। नशाखोर ससुर की खुराफ़ातों ने उसे पति के पास टिकने नहीं दिया।

गरोखर की पूर्वी भिंड के नीचे सड़क थी। सड़क से पूरब एक डबरा (तलइया) था। डबरा बाढ़ के पानी से भर चुका था और अब सड़कवाली पुलिया के नीचे से गुजरनेवाला नाला उसके अतिरिक्त जल को गरोखर को

तरफ़ बह कर आने वाले नाले में डाल रहा था। ये नाले जहाँ मिलते थे, उसके चार कदम पूरब कई छोकरे-छोकरियों ने एक ही कतार में अपनी-अपनी टभकी खड़ी कर रखी थी। छोटी-छोटी मछलियों का शिकार हो रहा था।

तीरा की टभकी वहीं लगी हुई थी।

सिलेबिया मछलियाँ घर पहुँचा कर दूसरी दफ़े जब लौटी तो उसे याद आया कि पिछली शाम को मधुरी ससुराल से भाग आयी है।

वह तीरा के नज़दीक आयी, उसके कन्धे पर हाथ रख दिया।

"क्या है रे?"

तो सिलेबिया ने कहा, "अभी-अभी मैं मधुरी बहन को मंइजा के पास बैठा देख आयी हूँ। बताऊँ, क्या कह रही थी?"

"क्या कह रही थी?" तीरा ने नाले में धँस कर बहते पानी में से टभकी ऊपर उठते हुए पूछा।

सिलेबिया ने झुक कर दूब की एक पत्ती खोंट ली, उसे चबाते-चबाते, बोली, "कह रही थी—यहाँ तो चार जगह घूम-फिर लेती थी और दिन निकल जाता था, लेकिन वहाँ घर-आँगन के अन्दर ही क़ैद रहती थी और वक्त का कटना पहाड़ था मंइजा!"

"झूठ!" तीरा के मुँह से निकला।

"तेरी कसम तीरा।"

सिलेबिया दूबों पर बैठ कर चमचमाती पोठी मछलियाँ उलट-पलट कर छू-छा कर देखती रही। कुछ क्षण बाद बोली, "अपनी बहन को तू ने अच्छी तरह नहीं देखा है अब तक। सिर के पीछे वाले बहुत सारे बाल उसके नुचे हुए हैं। पीठ पर कैलियों की मार के निशान हैं। ससुर क्या है, लगता है राच्छस ही होगा..."

"राच्छस की नानी!" चुपचाप आ कर पीछे से बड़ी बहन जिलेबिया ने उसका एक कान कस कर खींचा। गाल पर चपत लगा कर कहा, "बुढ़िया रानी, घर-आँगन की बातें यहाँ उड़ायी जाती हैं? खबरदार, जीभ निकाल लूँगी। जा घर..."

सिलेबिया ठुनक कर उठी और बहन को गालियाँ देती घर की तरफ़ भाग गयी।

डेढ़-दो सेर के करीब मछलियाँ तीरा ने भी निकाल ली थीं। बिसुनी,

रंगलाल, नीरस, दुन्नी सभी के लड़के-लड़कियाँ अपनी-अपनी टमकी लगाये हुए थे। सेर-सेर, डेढ़-डेढ़ सेर छोटी मछलियाँ किसके घर नहीं आयी थीं? और यह रोज़ का सिलसिला था।

कई परिवार ऐसे थे कि भुनी हुई मछलियाँ ही उनका मुख्य आहार बन गया था। खुरखुन, बिसुनी, नीरस, रंगलाल, दुन्नी और भोकर जैसे मछुए इन्हीं परिवारों के मुखिया थे।

जिलेबिया-सिलेबिया खाते-पीते मछुआ-परिवार की लड़कियाँ थीं। टमकी या गांज ले कर घर से निकलना उनके लिए शौक की बात था, लेकिन मधुरी और तीशा के लिए वह जीवन की अनिवार्य शर्तों में शामिल था।

दिन-दिन भर और रात-रात भर वे मछलियों के मोर्चे पर डटी रहतीं। छोटी मछलियाँ पकड़ने-फँसाने का काम प्रायः ही लड़के-लड़कियों और स्त्रियों के जिम्मे था। बड़ी मछलियाँ पकड़ना, नाव चलाना, तालमखाना की फसल उपजाना, माल की खपत का प्रबन्ध करना...ये सारे काम मर्द मछुओं के थे।

सात आठ खाने वाले, खुरखुन अकेला कमानेवाला। औरत हमेशा की पिलपिला। कौन सी बीमारी उसे नहीं हुई थी? मलेरिया की शिकार वह। कालाज़ार की पचासों सुइयाँ उसको लगीं। पेचिश और संग्रहणी की मिताई उससे। और अब दमा ने दर्शन दिये थे......

देपुरा में जिला-बोर्ड की तरफ से एक अस्पताल था। एम० बी० बी० एस० डाक्टर, कम्पाउँडर, चपरासी—तीन का स्टाफ़ था। सफ़ेदपोशों की धींगामुश्ती के कारण सौ में से पंचानवे रोगी उस दातव्य चिकित्सालय से पूरा फ़ायदा नहीं उठा पाते। ईमानदार और जन-सामान्य का पक्षधर हो कर जो डाक्टर वहाँ रहना चाहता, वह चार महीने भी टिक नहीं पाता। दूसरे डाक्टर थे सतघरा के होमियोपैथ बाबू बिशम्भर दास। इधर एलोपैथी की भी टप्पा-टोइया चिकित्सा उन्होंने आरम्भ कर दी थी और पास-पड़ोस के दस-पन्द्रह गाँवों की घनी आबादी में चमक उठे थे। मधेपुर में छोटा-सा लेकिन अच्छा अस्पताल था, मलाही-गोंढ़ियारी वाले कभी-कभी उधर भी दवा के लिए निकल जाते।

मधुरी की माँ को इन दिनों कालाज़ार ने धर दबाया था। तीशा को साथ ले कर पन्द्रह-पन्द्रह दिन पर वह देपुरा जाती और सुई लगवा आती। आज सनीचर था, सुई लेनी थी आज।

भाई और बहन को टमकों की निगरानी के लिए छोड़ कर तीरा मछलियाँ लिये हुए वापस आयी।

मधुरी चूल्हे के पास बैठी मडुआ का आटा गूँथ रही थी। चूल्हे के मुँह में पीपल की एक सूखी टहनी और आम के अधसूखे पत्ते सुलग रहे थे। आँच नहीं थी, धुआँ ही धुआँ था। तीरा को देखते ही मधुरी ने ऊँची आवाज़ में कहा, "गे, आधी मुट्ठी फूस लेती आ कहीं से।"

मछलियाँ एक तरफ़ रख कर तीरा गुमसुम खड़ी रही। कहाँ से मूँठ भर फूस ला कर वह बहन को दे!

खुरखुन का पिछवाड़ा और मुसम्मात जितिया का पिछवाड़ा मिलता था। जितिया के घर के बगल में पतहर का ढेर था, जिसके चारों तरफ़ अमली के काँटों का घेरा था। तीरा चुपके से अपने घर के पिछवाड़े चली गयी। भोकर की औरत दिखायी पड़ी। अभी दस रोज पहले ही भोकर की औरत से माँ का झगड़ा हुआ था। कहीं जितिया के पिछवाड़े पतहर चुराती देख लिया तो जरूर वह चुगलखोरी करेगी। सो लड़की छापेमार सिपाही के पैंतरे सोचने लगी। हुआ आखिर कुछ नहीं। भोकर की औरत अपनी बुढ़िया बकरी को ले कर सरोवर की ओर चली गयी और क्षण भर बाद दो मूठ पतहर मधुरी के सामने आ गयी।

बस एक सूखा पत्ता कि चूल्हे की धुआँती आग खिलखिला उठी।

मधुरी ने जल्दी-जल्दी आठ-दास टिक्कड़ ठोंक-सेंक लिये। बूँद भर भी तेल नहीं था। टाड़ी में तो यों ही सूखे-सूखे भून लीं मछलियाँ। पीछे नमक और लाल मिर्च पीस-पास कर उनका भुर्ता बना लिया। छै-साला छोटी बहन एक भुनी पोठी ले भागी थी, तीरा इसी बात पर ज़ोर-ज़ोर से चीख रही थी।

छोटी बहन पलानी वाले इकहरे छप्पर की पतली खंभेली से सट कर खड़ी थी। बहनों की ओर मुलुर-मुलुर ताक रही थी। पोश्ता के दानों-से बारीक और पीले पोठी के अंडे ओंठों से अब भी चिपके हुए थे। तीरा की डाँट-फटकार चेहरे की रौनक पी गयी थी। भय भूख को दबा रहा था।

तीरा का झगड़ना सुन कर माँ बाहर आयी। साँवली खाल से मढ़ा हुआ कंकाली ढाँचा। धँसी-बुझी आँखें। पोपले गाल। सिर के बाल उड़ रहे थे। मैली-फटी साड़ी चिन्दियों से जगमगा रही थी।

गोद का उँकुसता बच्चा मिन-मिन करता पीछा कर रहा था।

माँ ने कहा, "नन्ही को लगी थी भूख और उस पर तीरा ने बेचारी को फटकारा है। जा, अन्दर बैठ कर इसे खिला दे।"

मधुरी अन्दर आ कर बीच घर में खिलाने-खाने बैठी।

टिक्कड़ से उचल टुकड़ा तोड़ कर भुर्ता ज़रा सा उसमें लगा कर निवाला उसने नन्ही के मुँह में डाला और सोचने लगी—क्या वही चिथड़ा झुलाती अम्मा अस्पताल जायेगी? तार-तार हो गया है समूचा नूआ (लुग्गा)! अब और एक दिन भी पहनने लायक नहीं रह गया है फिर भी उसे पहने जा रही है। ठीक है, गरीब की घर-गिरस्ती में यह सब चलता ही है। मगर यह भी क्या कोई अच्छी लत है कि सँभाल कर रखे हुए कपड़े पड़े-पड़े ही पुराने पड़ जायें? काठवाली पुश्तैनी संदूकची में तीन-चार साड़ियाँ तो हैं ही......

फारिग होकर संदूकची से एक अध-पुरानी साड़ी निकाल कर मधुरी ने माँ से पहनने को कहा तो वह बड़बड़ाने लगी, "छिनाल कहीं की। तेरा क्या बिगड़ता है? मैं ऐसी ही जाऊँगी। रानी जी की बातें तो सुने कोई आके... लायी है अपने खसम की कमाई में से एक सूत भी?..."

गुस्सा तो मधुरी को भी ज़ोरों का आया, लेकिन सारा उबाल वह पी गयी। ससुराल से भाग कर ही तो आयी थी, बस आ-भर गयी थी। पहनावे में हरे-फूलों के किनारे वाली साड़ी मात्र देह के साथ लायी थी। गले में हँसली, बाँहों में बाजूबंद, कलाइयों में मरोड़दार कंगन, पैरों में साटन, अपने ये गहने उसे प्रिय थे, इन्हें हमेशा पहने रहती। सो ये भी साथ आ गये थे। कड़े नहीं ला सकी थी।...अब इस वक्त रोगही और चिड़चिड़े मिज़ाजवाली माँ से भला वह क्या बतकुट्टन करे। चुपचाप बेचारी शीशी धोती रही।

फिर जाने क्या सोच कर माँ ने वह साड़ी पहन ली और बड़ी बेटी की तरफ देखा।

मधुरी शीशी धो-पोंछ चुकी थी। जाल के रद्दी टुकड़े से पतली-सूती डोरियाँ निकालकर उन्हें वह दुहरा-तिहरा बाँट दे रही थी कि शीशी के कंठ में फँसा दे और लटका कर दवा लाने में तीरा को आसानी हो।

तब तक तीरा लपक कर गयी और मंगल की घरवाली से चार ठोप (बूँद) तेल ले आयी, गरी का तेल। बाल माँज-सँजकर जल्दी-जल्दी में जूड़ा बाँध लिया और पानी छू कर मुखड़े को चिकना बनाती हुई हाजिर हो गयी बहन के सामने।

अनुमोदन में मुस्कान के साथ-साथ मधुरी ने आँखें मटका दीं।

ठीक उसी समय मछलियों-समेत टमकी लिये हुए लड़के ने आँगन की सीमा में पैर रखे तो माँ बुदबुदायी, "कहाँ मर गया था? भूख तो लगती ही नहीं तुझे।"

"आ छोटे, आ।" मधुरी हुलस कर बोली।

बहन ने भाई को गोद में उठा लिया। अठारह साल की मधुरी। नौ साल का छोटे।

"बाप रे!"

"क्या हुआ?"

"भारी लगता है रे!"

मधुरी की असुविधा पर तीरा खिलखिला कर हँसी..

अब माँ से भी नहीं रहा गया। दबी-दबायी मुस्कान चुचके गालों पर जमुनिया रौनक छिड़क गयी।

"उतर, हुआ तो अब। चल खा ले।

टिक्कड़ से तोड़-तोड़ कर और भुर्ते से मखा-मखा कर कई एक निवाले जब चबा चुका तो छोटे ने कहा, "दीदी, तेरे आने की खबर बब्बू को मैं ने भेज दी है मझारघाट। ठीक है न दीदी!"

"ठीक है!"

"चलेगी? बब्बू से मिल आयेंगे।"

माँ की डाँट पड़ी तो लड़का चुप।

तीरा माँ को लेकर बाहर निकली मधुरी ने ऊँची आवाज़ में पूछ लिया, शीशी तो नहीं छोड़ दी? और अस्पताली पुर्जी ले ली न?"

"हाँ, सब ले लिया है।" वैसी ही आवाज़ में तीरा ने जवाब दिया।

कुछ दुतरफा आवाज़ें फिर-फिर गूँजीं।

"और, धनिया-हल्दी पाव-भर लेती आना।"

"अच्छा!"

६

बीच में दो-तीन जगह लाइन डूब जाने से ट्रेनों का आना-जाना बन्द था। दरभंगा से आने वाली गाड़ियाँ, झंझारपुर तक आती थीं। आगे तीन स्टेशनों तक जाने वाले मुसाफिर नाव की शरण लेते थे।

बाढ़ का पानी देहातों में दूर-दूर तक घुस आया था। भाग-भाग कर लोग

रेलवे के बाँध पर आ जुटे थे। लाइन पर पन्द्रह-बीस मील तक भीड़ ही भीड़ नजर आती। स्टेशनों पर खड़े मालगाड़ी के डिब्बे शरणार्थियों के दखल में थे। प्लेटफार्म सैकड़ों परिवारों का सम्मिलित आँगन हो रहे थे। इधर-उधर बिखरे पड़े, घरेलू सामान, शिशुओं की रुलाई, बड़े बच्चों की चीख-पुकार, सयानों की बात-चीत, हुक्कों की गुड़गुड़ाहट, गीली लकड़ियों और अधसूखे उपलों का कड़वा धुआँ, भीगे-मैले कपड़ों की दुर्गन्ध, ऊमसी पसीने की चिप-चिप...कुल मिला कर वातावरण घुटा-घुटा-सा ही था।

बाहर स्टेशन के निकट ही ऊँची ज़मीन पर बाढ़-पीड़ितों के लिए सहायता-कैम्प खुला था। यह 'हिन्द हितकारी समाज' की तरफ़ से था। पाँच स्वयं-सेवक, दो माँझी और दो डोंगियाँ, दवाओं के दो बक्स तथा सहायता का अन्य और सामान। आफ़िसर इनचार्ज छटी हुई महीन मूँछों और छुटी डाढ़ी वाला एक अधेड़ खद्दर-पोश व्यक्ति था।

खुरखुन और नीरस दो महीने के लिए डोंगियाँ खेने की ड्यूटी पर बहाल किये गये थे। उन का खाना अकसर अपने गाँव-घर से आता था। बीच की सड़क कई-कई दिनों तक डूबी रही थी तो भी गोंढ़ियारी से स्टेशन तक आने-जाने वाला रोज़ कोई न कोई निकल ही आता। और कोई न हुआ तो मोहन माँझी।

मोहन माँझी नेता हो जाने पर भी इन मामलों में ठेठ देहाती था। दूसरों का सामान ढोते समय झूठ-मूठ की लाज-शरम का शिकार वह कभी नहीं हुआ। बाबू वर्गीय हिचकिचाहट या संकोच उस से कोसों दूर थे। जिस रोज़ स्टेशन की तरफ़ उसे जाना होता, खुद आ कर खुरखुन और नीरस के घर से उसका खेक (खाना) ले लेता। मडुआ (रागी) की रोटियों और मछलियों के भुर्ते का पोटला लटकाये जब मोहन माँझी दिखायी देता तो खुशी के मारे खुरखुन की खीसें निकल आतीं।

खुशी इस बात की होती कि नेता से चार बातें करने का अवसर हासिल हुआ। खुरखुन बस इसी के लिए तो तरसता रहता था। हफ़्ते में एक-आध बार चोंचें सट जातीं तो ठीक, वरना खुरखुन का दिल मोहन माँझी के लिए तड़प-तड़प कर रह जाता।

मरोखर की ऊँची भिंड पर, प्राइमरी स्कूल के पास ही मोहन माँझी ने भी अपने इलाके के बाढ़-पीड़ितों की मदद के लिए एक सेवा-शिविर चालू कर रखा था। प्रबन्ध के लिए जो कमेटी बनी थी उसमें पाँच व्यक्ति थे—

प्रजासमाजवादी पार्टी का एक और एक लोहिया समर्थक, यानी दो सोशलिस्ट; ईमानदार किन्तु उपेक्षित एक कॉंग्रेसी; कई हाई-स्कूलों में हेडमास्टरी करने के बाद पेन्शनयाफ़्ता एक बुजुर्ग और हँसिया-हथौड़ावाली लाल पताका का फ़र्माँबर्दार एक किसान सभाई यानी कामरेड मोहन माँझी।

कैम्प के लिए बाँस काफ़ी मिले, मगर फूस नहीं मिली तो ताड़ के पत्तों की चटाइयाँ मोहन माँझी लहरिया सराय से ले आया था। दो-दो छप्परोंवाले तीन अस्थायी कुटीर तैयार करा लिये थे। बीस बोरे अनाज के, दस थान कपड़ों के, नौ सौ रुपये नक़द, तीन पेटियाँ दवाइयों की, दो डोंगियाँ, एक पुरानी साइकिल, मवेशियों के लिए चालीस बोझ पुआल...कमेटी ने पन्द्रह दिनों के अन्दर ही इतनी सामग्री जुटा ली, यह इस बात का सबूत था कि उन्हें इलाके की अपनी जनता का विश्वास हासिल है। हाँ, देपुरा और सतघरा के खानदानी जमींदारों ने कमेटी को न एक पाई दी न एक दाना ही दिया। लेकिन सतघरा की बड़ी डेउढ़ी के छोटे बाबू साहब 'मानिक जी' के मझले बबुआ 'हीरा जी' को जाने क्या सूझा कि माँझी को अपनी साइकिल थमा गया और बार-बार कहने-कहलाने पर भी ले नहीं गया।

हीरा जी मेडिकल कालेज (पटना) का छात्र था और अफ़वाह फैल रही थी कि उसका दिमाग़ फिर गया है। मौज-मौज में हजार-पाँच सौ रुपये फूँक-फाँक दे तो ठीक है। सौ-पचास लगा कर गांधी जी और नेहरू जी की रजत-प्रतिमाएँ बनवा ले तो ठीक है, महीने में बीस दफ़े हालीवुड की फ़िल्में देख आये तो भी ठीक है, मगर कम्युनिस्टों की संगत में वक्त गँवाये, छुटे-छमाहे दस-पाँच रुपये उनकी पार्टी को चंदा दे, स्टूडेंट फेडरेशन द्वारा चलायी गयी तहरीकों में दिलचस्पी ले तो अवश्य ही उसका मस्तिष्क विकृत हो गया है...अभिजातवर्गीय आलोचना का कुछ ऐसा ही रुख था हीरा जी के बारे में। लेकिन मोहन माँझी तो बिलकुल दंग रह गया था, उसकी भावुकता देख कर। साइकिल नयी नहीं थी, दो तीन साल पुरानी थी। मगर इससे क्या? एक श्रद्धालु की तरफ़ से अर्पित नैवेद्य तो थी वह। माँझी जन-सामान्य की आस्था का अद्भुत पारखी था। उसे लगा कि 'ना' कर देने पर हीरा जी को हफ़्तों नींद नहीं आयेगी, यह कोई अनिवार्य शर्त नहीं है कि दादा-परदादा और बाप-चाचा जालिम जमींदार रहे हैं तो यह भी उन्हीं का अनुगमन करेगा।

मलाही-गोंढ़ियारी की संयुक्त आबादियों में आम किसान और खेत-

मजदूर कम नहीं थे, किन्तु उन में भी ज़्यादा तादाद थी मछुओं-माँझियों की ही। इनकी भी चार-पाँच उपजातियाँ यहाँ थीं—सहनी, माँझी, खुनौत, तीयर और जलुआ। धनहा चौर और गढ़पोखर जैसे विशाल जलाशय ही इनके पूर्वजों को यहाँ खींच लाये थे। आबादी उत्तरोत्तर बढ़ती आयी थी, खाने वाले मुँह पचासगुना अधिक हो गये थे। कोसी का ज़हरीला पानी बीमारियाँ काफ़ी ले आया था, फिर भी मृत्यु पर जिन्दगी हावी थी। खपरैल और छतवाले घर दो-तीन परिवारों के ही थे, बाक़ी छान-फूस की कुटीरें थीं। आग लगती तो इस छोर से उस छोर तक समूचा गाँव स्वाहा! बाढ़ आती तो घरों में पानी घुस जाता, भीतें धँस जातीं और छप्पर बह जाते। हैज़ा और मलेरिया का तांडव आबादी को मसान बना कर छोड़ जाता।

गढ़पोखर की ऊँची लम्बी ढलान इन बस्तियों को धीरे-धीरे अपनी तरफ़ खींच रही थी। यूँ भी ये गाँव धनहा चौर की सतह से काफ़ी ऊँचाई पर बसे थे। बाढ़ का पानी सड़क से दच्छिन की आबादी को तो ज़रूर परेशान करता, मगर सड़क से उत्तर यानी गरोखर के दच्छिनी मोहार की ढलान पर आबाद घरों तक उसकी पहुँच कभी नहीं होती।

मलाही-गोंढ़ियारी का आधा हिस्सा बाढ़ की चपेट में पड़ ही जाता। फिर बाक़ी आधा हिस्सा खुल कर उसकी मदद करता। इस बार भी यही बात हुई थी। रंगलाल, बिसुनी और नौरस आदि के घर आठ-दस रोज़ तक बाढ़ के पानी से भरे रहे। सड़क के दच्छिन की बाढ़ग्रस्त आबादी गढ़पोखर की दच्छिन वाली भिंड पर आबाद हो गयी थी और पास-पड़ोस के डूबे हुए गाँवों की विपन्न जनता पूरबी भिंड़ों पर।

सहायता कैम्प की तरफ़ से एक कुटीर उत्तरी भिंड पर खड़ी की गयी थी, दूसरी कुटीर पूरबी मोहार पर। मोहन माँझी ने खुरखुन से कह कर मधुरी को कैम्प के कामों में लगा लिया था। जिलेबिया भी मधुरी का हाथ बटाती थी। युवकों में मंगल, चुल्हाई, गंगा सहनी का छोटा भाई, बिसुनी का बेटा, मुसम्मात जितिया का बहिनौत (भगिनी पुत्र) आदि तो थे ही, पड़ोसी गाँवों के भी पाँच-सात जवान डटे रहते।

मधुरी के जिम्मे काम था: सहायता-कार्य में लगे हुए स्वयंसेवकों और बाहर से आये मेहमानों, नेताओं के लिए खाना व नाश्ता तैयार करना, खिलाना-पिलाना, वितरित होने वाले अनाज की सफाई, ज़रूरतमन्द रिश्तों तक अन्न-वस्त्र पहुँचाना और अपनी बस्ती के अन्दर डूबे हुए घरों से

सामान निकालने में औरतों की मदद करना......

चुल्हाई वगैरह पड़ोसी गाँवों से मुसीबतजदा लोगों को डोंगियों पर ले आते थे—सूनी आँखें, उदास चेहरे, कई-कई दिनों के भूखे होते थे लोग! दूध-पीते बच्चों का दूध के अभाव में बुरा हाल था। दवाओं में जमे दूध के बीस एक बन्द डिब्बे मिले थे। शहर की हवा जो खा आये थे, ऐसे दो-तीन स्वयं-सेवक चाय-पानी के वक्त उस दूध को व्यक्तिगत उपयोग में लाते थे। साग-सब्जी पकाने के लिए भोला के घर से बड़ी कड़ाही आयी हुई थी। मधुरी ने समूचा डिब्बा दूध, गर्म पानी में घुला लिया और बच्चों को पिला आयी। शुरू हुआ सिलसिला। एक दिन, दो दिन और तीन दिन। चौथा डिब्बा खुला तो किसी ने मधुरी की शिकायत मोहन माँझी तक पहुँचायी, 'मधुरी दवाई वाले दूध के डिब्बे बर्बाद कर रही है।'

मोहन ने स्कूल में बुला कर पूछा, "बिटिया, वह तो दवाई के काम का दूध है न?"

"हाँ चाचा, है तो।" मधुरी ने जवाब दिया।

मोहन माँझी ने और गम्भीर हो कर कहा, "तू घोल-घोल कर वह दूध लोगों को शर्बत की तरह पिलाती है?"

"नहीं तो।"

"वह बीमारों के लिए है बेटी।"

"मुझे सब पता है चाचा। यह भी मालूम है कि वह चाय के साथ पीने के लिए कैम्प को नहीं मिला है..."

अब भी मधुरी के हाथ में कंघी थी। जिस समय माँझी ने बुलवाया, एक मातृहीन लड़की को आगे बैठा कर वह उसके बाल सँवार रही थी। सूखी दूब की पतली कड़ी डंठल से कंघी को साफ करते-करते मोहन माँझी को मधुरी ने सारी बात समझा दी तो उसके कन्धे पर हाथ रख कर नेता जी बोले, "ठीक है बेटा। दूध के सबसे बड़े दावेदार बच्चे ही हैं, जिन्हें तू दूध दे रही है।"

जिसने चुगली खायी थी, उसे दर-असल भ्रम था मधुरी के बारे में। वह अपने सम्पर्क में आने वाले कैम्प के सभी युवकों के प्रति एक सा बर्ताव रखती थी—बातें करती थी, खुल कर हँसती थी, ढेर-ढेर-सा मुस्काती थी, सुबह से ले कर दुपहर-रात तक कामों में उलझी रहती थी। अपनी सामर्थ्य के मुताबिक सब की सेवा करती थी। यहाँ इस कैम्प में न वक्त था और

न तबीयत ही थी कि किसी के साथ बैठ कर अकेले में गप्पें मारती रहे। इसी का यह नतीजा था कि दो-एक ईर्ष्यालु युवक मधुरी के प्रति छिद्रान्वेषी हो उठे।

बाढ़-ग्रस्त इलाकों में चिकित्सा कार्य के लिए पटना-मेडिकल कालेज के छात्रों की एक टीम आयी तो दो रोज़ वह गढ़पोखर कैम्प में रह गयी। उस मंडली में एक पंजाबी लड़की थी, नाम था कुसुम कक्कड़। गेहुँआ रंग, गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें, नुकीली नाक। पहनावे में शलवार, सलूका और मलमल का दुपट्टा। स्वास्थ्य और खूबसूरती का अद्भुत मिलाप थी वह। बातचीत में और बर्ताव में शेर-बच्चा। मधुरी ने मेम देखी थी, मगर इस प्रकार की पंजाबी लड़की को कभी नहीं देखा था। पहले जनम में ज़रूर कोई देवी रही होगी, मधुरी ने उसके बारे में यही सोचा।

मेडिकल टीम का कार्यक्रम संक्षिप्त और व्यस्त था तो भी घंटा-डेढ़ घंटा वक्त मधुरी और कुसुम साथ रहीं। खोद-खोद कर कुसुम ने मधुरी की बहुत-सारी बातें मालूम कर लीं और कहा, "लात मार ऐसे को। जब तेरा अपना घरवाला ही बौड़म निकला तो ससुर की क्या बात करती है।"

आग्रहपूर्वक कुसुम मधुरी के साथ आ कर मधुरी की माँ और भाई-बहनों से मिल गयी, बिछुड़ते वक्त अपना पूरा पता लिख कर दिया कि शायद कभी काम आ जाय। नोटबुक से फाड़ा हुआ कागज़ का वह छोटा-सा टुकड़ा मधुरी ने ताबीज की तरह सँभाल कर रख लिया।

ससुराल से जब से लौट कर आयी थी, पिता की ओर से मधुरी को काफ़ी छूट मिल गयी थी। ऐसा लगता था कि खुरखुन के लिए वह लड़की नहीं, लड़का है। खाँचे में मछलियाँ ले कर अब वह पड़ोस के गाँवों में बेच आती थी। देपुरा जाकर दवा-दारू और सौदावाड़ी ले आती थी। बाढ़-पीड़ितों के लिए रिलीफ़ का काम शुरू हुआ तो वह गढ़पोखर के सहायता-शिविरों में डट गयी और इससे बाप को बेहद खुशी हुई थी।

खुरखुन पिछले डेढ़ महीने से 'हिन्द हितकारी समाज' वालों की सर्विस में था। एक डोंगी उसके सुपुर्द थी, कंडक्टर के तौर पर एक श्रमदानी सज्जन साथ रहते थे। उसे कभी-कभी दूर दक्खिन कुशेश्वर-स्थान तक डोंगी ले जानी पड़ती, उत्तर फ़ुलपरास और पूरब निर्मली से भी आगे तक। यही हाल था नीरस का। मजदूरी थी दो रुपये रोज़ की। दूर निकल जाते तो घर कहलवा भेजते और उस दिन खाना नहीं आता। उनकी ड्यूटी सिर्फ खेने

की ही नहीं थी, बाज़ दफ़े किन्हीं-किन्हीं नेताबाबू की खास सेवा-टहल भी करनी पड़ जाती। तेल-मालिश, खाना बनाना, कपड़ों की सफ़ाई आदि...... दोष जो भी हों, एक बड़ा भारी गुण इस सर्विस में था कि तलब ठीक वक्त पर मिल जाती थी, बल्कि कुछ रकम अगाऊ भी चाहो तो ले लो।

खुरखुन कुछ देर पहले निर्मली से डोंगी ले कर लौटा था। वापस घर जाने का उसका इरादा था कि मोहन माँझी दिखायी दे गया। लाइन के उस पार अपने गाँव की ओर से आनेवाली सड़क पर नहीं, बल्कि शाम की ट्रेन से उतर कर बाहर पान की दुकान के सामने खड़ा था वह। वही साबिक बाना...कोकटी रंग की हाफ़ कमीज़, घुटनों तक की धोती, कंधे से लटकता थैला। सिर और पैर खाली।

वहीं से चीखा "नेता जी ी ी ी ी अ ...। अओ नेता जी ी ी ी ी...!"

हाथ के इशारे से मोहन माँझी ने खुरखुन को पास बुला लिया और बातों-बातों में उसने बताया कि आज की रात और कल का दिन मोहन माँझी यहीं गुजारेगा। बातें करते में दोनों प्लेटफार्म पर आ गये। वहाँ सैकड़ों की तादाद में लोग छितराये हुए थे।

मालगाड़ी के पाँच डिब्बे झंझारपुर स्टेशन पर साइडिंग में थे, तीन डिब्बे यहाँ और चार डीहा स्टेशन पर। दरभंगा और समस्तीपुर से रेलवे-अधिकारियों का फोन पर फोन आ रहा था, इधर वाले तीनों स्टेशन मास्टर भी कॉल पर कॉल दे रहे थे......

"नहीं सर, हमारा कोई भी बस नहीं चल रहा है सर।"

"जी सर, जी !...यस सर।..."

"पब्लिक का मूड बड़ा ही भायालेण्ट है सर।"

"जी सर, हाँ, मुश्किल से। जी हाँ, बड़ी मुश्किल से इन्हें हमने रोक रखा है।...जी।"

"मिलिटरी ?...यस सर !...मिलिटरी ही अब इन डिब्बों को खाली करा सकती है सर।"

स्टेशन मास्टर फाटक और खिड़कियाँ बन्द कर के फोन कर रहा था और बाहर शीशों में नाक-मुँह-कपार सटाये लोग उसकी मुखमुद्राएँ देख-देख कर ही असलियत को भाँप जाना चाहते थे।

मालगाड़ी के डिब्बों से जलते चूल्हों का धुआँ निकल रहा था। ज़रा देर

पहले जम कर बूँदाबाँदी हुई थी। सो, भीगी साड़ियों और धोतियों की फैली हुई बदरंग नुमायश उतरती संध्या को मनहूस बना रही थी। ये कपड़े डिब्बों की कीलियों, खूँटियों और खुले फाटकों के कब्जों, छोरों में उलझा कर सूखने को झुला दिये गये थे।

माँझी आज दिन में काफी देर तक लहेरियासराय रहा था, अदालत के भी दो-तीन चक्कर लगाये थे। किसान सभा के अपने जिला आफिस से भी हो आया था। सहसा उसने कहा, "अच्छा, सुना खुरखुन! आंचलाधिकारी का तबादला होने जा रहा है..."

"अरे!"

"सच तुम्हारी कसम!"

"तुम तो कहते थे कि नहीं होगा!"

"मैं कोई विधाता थोड़े हूँ।"

"ऊँ!"

"ऊँ! सतघरा के जमींदारों का जाल कोई मामूली जाल है?"

"कसूर यही था कि उस गरीब ने हमारा पच्छ लिया..."

बीस-बाईस वर्ष का एक जवान लपकता हुआ आया और माँझी को एक ओर खींच ले गया। वह तैश में था, भीड़ को चीरते हुए लाइनों की सीध में उधर बढ़ा जा रहा था, जिधर मालगाड़ी का तीसरा डिब्बा खड़ा था।

डिब्बे का फाटक खुला था। स्टेशन का छोटा बाबू यानी मालबाबू खुद नीचे खड़ा-खड़ा डिब्बा खाली करवा रहा था। अन्दर पैटमैन (प्वाइंट मैन) और खलासी थे जो कि बाढ़-पीड़ित शरणार्थियों का सामान बाहर फेंक रहे थे। सन-से सफेद बालों वाली एक बीमार बुढ़िया, मियादी बुखार की सूखी शकलवाला एक छोकरा, दूध-पीते शिशु को सँभाले खड़ी आधी-घूँघटवाली एक युवती...साफ था कि इन्हें नीचे उतरने को बाध्य किया गया था। ईंटों का काम-चलाऊ चूल्हा था, उसमें ठोकर मार कर बटलोई लुढ़का दी गयी थी और तैयार खिचड़ी के छितराये हुए रले-मिले धुले-पीले दाने टार्च की रोशनी में रह-रह कर जगमगा उठते थे।

युवक ने आवेशपूर्ण स्वर में माँझी से कहा, "आइए कामरेड, देखिए राक्षसों का यह तांडव। बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ, छोटे मियाँ सुभान अल्लाह! रेलवेवालों के दिमाग तो जाने किस धातु के बने हैं... वह बूढ़ी मेरे गाँव की परदादी हैं, तिरानवे साल की उमर है उनकी। हमने आराम के खयाल

से उन्हें डिब्बे के अन्दर रखा था। और वो जो लड़का लड़खड़ाता-सा खड़ा है, अठारह रोज से बुखार में उबल रहा है। और वह चिलकाउर (सद्यः प्रसूता) बेचारी...कामरेड, मैं आग लगा दूँगा स्टेशन में। ईंट से ईंट बजा दूँगा मैं इनकी तो। इन्होंने आखिर समझ क्या रखा है?...मुसीबतों की मारी जनता के साथ इनका यह सलूक। पिछले पाँच-सात दिनों के भीतर जिलाधीश को हमने चार बार तार किया है, दो बार चीफ मिनिस्टर को। पता नहीं, किस जहन्नुम में जा कर गर्क हो गये वे तार! पा..."

मोहन माँझी ने बिजली की फुर्ती से अपना हाथ रख दिया युवक के मुँह पर, अफसरों और मिनिस्टरों के लिए गालियों के सहस्रनाम तथा पवाड़े पहले अक्षर पर आ कर ही घुट कर रह गये। कामरेड माँझी के हाथ का मजबूत पंजा उस क्षुब्ध-क्रुद्ध युवक के फड़कते ओंठों को अच्छी तरह अपने काबू में ला चुका था।

मुँह को हाथ की कैद से छुड़ाने की कोशिश में युवक की पेशानी पर बल पड़े कि नहीं, श्रावणशुक्ल की वह धुँधली रात भला कैसे बताती?

दूसरी बाँह को घेरे में ले कर युवक को उसने सीने से लगा लिया और मीठी बोली में बोला—"पगलई से काम नहीं चलेगा बेटा! गर्म लोहे को ठंडा हथौड़ा पीट-पाट कर रख देता है। ठंडे दिमाग से सोचना-समझना और तब आगे कदम बढ़ाना बबुआ...हम तुम्हारा साथ देंगे, घबड़ाने की क्या बात है इस में?...

"हाँ, ठाँढा-माफिक सोचने से शोब (सब) काम शुभिश्ता (सुभीता) से हो जायँगी। बाबू, आप आ गिया, शो (सो) अच्छा हुआ। न्यू ब्लड है न? हूँ..." हिन्दी में बंगला-उच्चारण की बघार मार कर बंगाली छोटा बाबू बोल गया।

"जाइए, आप अपना काम देखिए।" मोहन माँझी ने उससे डपट कर कहा तो वह खिटपिटा गया। चार कदम हट कर खड़ा हुआ और डरे स्वर में आवाज़ लगायी, "धोधोन!"

धोघन मंडल पैटमैन का नाम था।

वह अपना काम लगभग खत्म कर चुका था। अन्दर से ही जवाब दिया, "आया छोटे बाबू!"

बंगाली बाबू तब तक पचीस-तीस कदम अलग हट चुके थे। एक हाथ में ताला, दूसरे में पेन्सिल। डिब्बा खाली करवा कर वे अपने सामने उसमें

ताला लगवाने वाले थे और तब उन्हें समस्तीपुर फोन करना था कि आखिर एक डिब्बा हमने खाली करवा लिया।

कामरेड माँझी ने छोटे बाबू को डाँट पिलायी तो इससे खुरखुन का भोंचकपना फट गया। नहीं तो अब तक वह किंकर्तव्य-विमूढ़ ही रह जाता।

मोहन माँझी की वह फटकार नयी दिशा का संकेत थी।

डिब्बे का फाटक खुला पड़ा था। अब भी अन्दर से इक्की-दुक्की चीज़ें बाहर फेंकी जा रही थीं। बड़ी और वज़नी वस्तुएँ निकाली जा चुकी थीं, अब छोटी वस्तुओं का नम्बर था...कलछी गिरी, कजरौटा गिरा, बार्ली की छोटी डिब्बी गिरी, दूध-पीते बच्चे की मैली चिपचिपी गिरी, धुँधली चाँदनी में काला लगनेवाला तकिया गिरा......

"ठहरो!" अब खुरखुन गरजा, अपार रोष खौल उठा उसका, "तुम लोगों की यह हिम्मत? तुम्हें रोकने-टोकने वाले मर नहीं गये हैं..."

वह छलांग मार कर डिब्बे के अन्दर हो गया।

खलासी और पैटमैन को सक्रिय जवाबी हमले की यह उम्मीद नहीं थी। घरेलू सामान में से बड़ी वस्तुएं फेंक चुकने पर छोटी-छोटी चीज़ें नीचे फेंकना उनके लिए कोई मशक्कत नहीं थी, मनोरंजन था। खंड-ईंटों के छितराये चूल्हे की भस्मावृत चिनगारी से बीड़ी सुलगा कर उसे वे बारी-बारी से पी रहे थे और बारह-मासा के पद गुनगुना रहे थे—

"सावन है सखि अति भयावन
निठुर पिय नहिं पास, यो......"

कि खुरखुन ने दोनों को नीचे लुढ़का दिया और चिल्लाया, "जाओ, अपने-अपने नाना को बुला ले आओ। हरामी। कुत्ते। गधे। पाजी..."

मोहन माँझी और वह युवक अब भी खड़े थे। बाढ़-पीड़ित जनता की भीड़ उनके आस-पास बटुर आयी थी। खुरखुन ने जिन्हें नीचे धकेल दिया था, स्टेशन के वे दोनों निचले कर्मचारी चुपचाप वहाँ से हट गये थे। छोटा बाबू स्टेशन के बरामदे पर खड़ा हो कर चीख रहा था, "घोघोन, छेड़े दाओ (छोड़ दो)। हियाँ आ जाओ...हम डी० टी० एस० को फोन करता है... बिहान मिलिटरी आयगा तब मॉब को लेसन देगा (भीड़ को सबक सिखायेगा) ...हुआँ (वहाँ) जास्ती देर मत ठरा (खड़ा) रहो रे बुडबक (भौंदू)! ...मिलिटरी शैल रीच हीयर अर्ली इन द मौर्निंग..."

खुरखुन फिर नीचे कूद आया और गुर्राया, देखें कैसे हमें तोप से उड़ाती

है मिलिटरी।......"

फिर अपनी उसी सहज मस्ती में वह उधर चार कदम बढ़ा, जिधर बुढ़िया थी। इतनी देर भी वह खड़ी नहीं रह सकी, बैठ गयी थी गीली मिट्टीवाली जमीन पर ही। खुरखुन ने बैठी हुई को ही अपनी बलिष्ठ बाँहों में उठा लिया और खाली डिब्बे के अन्दर उचक कर बैठा दिया। जमे हुए स्वर में बोला, "आबी (दादी) अब हमारी मर्जी के बिना कोई तुम्हें बाहर नहीं निकाल सकता ...मैं अन्दर आ कर तुम्हारा बिस्तरा ठीक कर देता हूँ, बस अभी-अभी आया आबी!"

तब उसने बीमार छोकरे को उठा कर डिब्बे के अन्दर रखा।

मोहन माँझी युवक से जरा हट कर अब भीड़ के बीचों-बीच था। लोग आपस में अलग-अलग बातें कर रहे थे। वैसी हरकत के लिए रेलवेवालों की सख्त नुक्ताचीनी कर रहे थे लोग। स्वर और कहने के ढंग अलग-अलग थे, क्षोभ और क्रोध की मात्रा कमोबेश सब में थी। दो-एक शंकित और आतंकित आवाजें भी मोहन के कानों तक आ चुकी थीं।

बिना किसी भूमिका के, अपनी देहाती भाखा में रेलवे-अधिकारियों की बर्बरता और मौजूदा सरकार की अकर्मण्यता पर मोहन माँझी ने कस कर शब्दों की चार चोटें दीं, अन्त में लोगों से सीधे सवाल किया—"अब इस पर आपकी क्या राय है? मिलिटरी कल सुबह न सही, शाम तक तो जरूर आ जायेगी। वह बंदूकों के बल पर तीनों डिब्बे खाली करा लेगी। आप क्या करेंगे?"

भीड़ चुप थी। इस चुप्पी का मतलब चालीस साला जननायक कामरेड मोहन माँझी अच्छी तरह समझ रहा था।

कुछ क्षणों की चुप्पी।

खुरखुन अब डिब्बे के अन्दर घुस कर दादी के लिए कम्बल बिछा रहा था। दूध-पीते बच्चे को दूसरी की गोद में डाल कर युवती लाइन के साथ दस कदम जाकर नीचे उतर गयी।...

चुप्पी अखरी तो वह युवक बोला, "मैं बताऊँ कामरेड?"

माँझी उस युवक से बिलकुल अपरिचित हो, बात ऐसी नहीं थी।

मैट्रिक के बाद उसकी पढ़ाई छूट गयी थी। क्योंकि फुलपरास थाने के जमुआर गाँव का यह युवक विद्यार्थी आंदोलन के सिलसिले में चालीस दिन की जेल काट चुका था। मुँहहार था जात का। ऊपर छाँह बाप की नहीं,

विधवा माँ की थी...माँझी को लेकिन इस युवक का नाम नहीं मालूम था। बाकी जानकारी इधर-उधर से हासिल हुई थी।

नहीं बोलने दिया कामरेड ने उसे। वह दरअसल आम लोगों की राय मालूम करना चाहता था। खुरखुन ने उधर से कहा, "क्यों नहीं बोलने देते हो उसे नेता जी ? क्या कसूर किया है बेचारे ने ?"

भीड़ में से किसी की आवाज़ आयी, "हाँ रामदहिन, तुम्हीं बतलाओ, अब क्या करना होगा..."

"हम सत्याग्रह कर देंगे..." दूसरी आवाज़ !

"हम आज ही रात डिब्बे खाली कर दें..." तीसरी आवाज़ फुसफुसाहट में डूबी हुई थी, फिर भी मोहन माँझी ने सुन ली।

"एक-आध हम में से मरेगा तो मरेगा, हम भी मिलिटरी को मज़ा चखा देंगे..."

"हाँ, बंदूक छीन लेंगे एक-एक के हाथ से।"

"वे दस-बीस ही होंगे, हमारी तादाद सैकड़ों की होगी..."

मोहन माँझी हँस पड़ा, कहा, "अच्छा, यह तो बताओ कि ज़िन्दगी भर इन डिब्बों को खाली न करोगे ?"

खाँसती आवाज़ में कोई बोला, "पानी तो बाढ़ का पीछे हट की रहा है, पाँच दिन की मुहलत दें हमें रेलवे वाले, छठे रोज अपने डिब्बे ले जायें वो !"

अब गम्भीर स्वर में वह युवक (रामदहिन) कह उठा, "नहीं, पूरा सप्ताह लग जायेगा, हफ़्ते भर की मुहलत चाहिए हमें।"

कई कंठों की मिली-जुली आवाज़, "हाँ, हफ़्ते भर की मुहलत चाहिए।"

"हाँ, हफ़्ते भर की मुहलत चाहिए" खुरखुन भी बोला। वह डिब्बे से नीचे उतर खइनी (सुर्ती) मसल रहा था।

मोहन माँझी चुप था, गम्भीर !

"कामरेड !" रामदहिन ने कहा, "आप यह मत समझिए कि यह इस या उस गाँव के कुछ-एक लोगों का सवाल है। नहीं कामरेड, ऐसा नहीं है। बाढ़ में डूबे हुए कई गाँवों के सैकड़ों परिवार रेलवे कम्पनी के इस लम्बे-ऊँचे बाँध पर बसेरा लिये हुए हैं। शरीर स्वस्थ हो तो फिर भीगते-सूखते जैसे-तैसे आदमी रह लेता है, मगर बीमारी की हालत में वह लाचार हो जाता है। मालगाड़ी के ये तीनों डिब्बे हमने बीमारों के लिए ही दखल कर रखे

है। हम रोगियों को खुले बाँध पर या प्लेटफार्म पर कैसे रहने दें ! आप ही बताइए कामरेड !"

कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद माँझी ने निचली जेब में हाथ डालते हुए कहा, "तो, हमें काम दो करने होंगे...पहला काम होगा शांतिपूर्वक पिकेटिंग करना (धरना देना), रेलवेवालों और मिलिटरी जवानों को समझायेंगे-बुझायेंगे, नहीं मानेंगे तो सामूहिक सत्याग्रह होगा। दूसरा काम है कलक्टर से मिलना और रेलवेवालों के दुर्व्यवहार से उत्पन्न परिस्थितियों से उसे वाकिफ करना। बीमार, बाढ़-पीड़ितों के लिए तम्बू-राबटी आदि की तत्काल व्यवस्था करवा लेना। इन कामों में सभी पार्टियों की सहायता आप को चाहिए और वह मिल भी सकती है।...रामदहिन यहाँ रहें और आप में से दो जने मेरे साथ अभी एक बजे (रात) ट्रेन से दरभंगा चलें। बाबू परमेश्वरी चरण मुख्तार पुराने और मशहूर काँग्रेसी हैं। साथ-साथ जेल में रहे, अपनी पुरानी जान-पहचान है। ईमानदार और निर्लोभी होने के कारण सब के दिल में उनके लिए श्रद्धा है। उनको साथ ले कर सुबह हम जिलाधीश से मिलेंगे...यहाँ रामदहिन रहए हैं..."

"बोलो रामदहिन ?" कई आवाज़ें।

रामदहिन मुँह खोले और कुछ बोले, कि उससे पहले ही खुरखुन बोला, "कोई बात नहीं रामदहिन बबुआ, मैं कल दिन भर तुम्हारे साथ रहूँगा... कल चाहे नेहरू जी ही क्यों न आ कर डोंगी पर बैठ जायँ, मैं नहीं खेने का। कल तो मुझे देखना यह है कि कैसे मलेटरी वाले डिब्बे खाली कराते हैं..."

मोहन माँझी ने खुद आगे बढ़ कर खुरखुन की पीठ थपथपायी और भीड़ को सम्बोधित किया, "भाइयो, इनको आप लोग पहचानते हैं ? नहीं अरे यह मलाही-गोंढ़ियारी के बहादुर मछुआ खुरखुन तीयर हैं !"

बीच में ही एक गहरी फुसफुसाहट उभर आयी भीड़ पर—"खुरखुन ! खुरखुन तीयर ! जो पानी में मगर को पछाड़ते हैं, वही न ? कि दूसरा कोई ?"

"हाँ, हाँ वही बहादुर," मोहन माँझी ने कहा, "तो अपना काम छोड़ कर खुरखुन कल समूचा दिन आप लोगों के साथ गुजारेंगे। रामदहिन तो खैर रहेंगे ही...क्यों रामदहिन बाबू ?"

"हाँ कामरेड !"

अब माँझी चले तो भीड़ भी अपने आप छितरा गयी।

स्टेशन से बाहर जरा हट कर 'हिंद हितकारी समाज' वालों का कैम्प था। कैम्प के करीब ही नीरस ने खाना पकाया था। ज़मीन पर सभी साथ बैठे और बातें होती रहीं। रामदहिन के साथ तीन-चार जने और आ गये थे।

ट्रेन आयी तो माँझी और रामदहिन के दो आदमी दरभंगा चले गये।

अगले दिन खुरखुन ने ज़ोर-जबर्दस्ती छुट्टी ले ली कैम्प वालों से और रामदहिन के साथ मोर्चे पर डटा रहा।

मिलिटरी के आठ जवान सवेरे की ट्रेन से आ धमके, साथ रेलवे का अपना मेजिस्ट्रेट भी आया था। उसने पब्लिक को बारह घंटे का वक्त दिया। बाकी स्टेशनों पर भी जहाँ कहीं मालगाड़ी के डिब्बे बाढ़-पीड़ित जनता के अधिकार में थे, इसी तरह मिलिटरी के जवान उन्हें खाली करवाने आये थे।

ग़नीमत यह हुई कि शाम तक कलक्टर का आदेश बाढ़-ग्रस्त क्षेत्र के इन स्टेशनों में आ पहुँचा कि तीन दिन की पूरी मुहलत और उसके बाद दो दिनों में धीरे-धीरे डिब्बे खाली करा लिये जायँ।

रेलवे की जमा-पूँजी और माल-असबाब की हिफ़ाजत के नाम पर फिर भी मिलिटरी के जवान डटे रह गये। खुरखुन और रामदहिन पर स्टेशन का समूचा स्टाफ नाराज़ था। वे उन दोनों को गिरफ्तार करवाने में कामयाब तो रहे, मगर चौबीस घंटे की हिरासत के बाद ही डिविजनल कोर्ट ने उन्हें छोड़ दिया।

चौथे रोज़ मोहन माँझी और खुरखुन साथ ही घर आये।

१०

देपुरा से आधा कोस उत्तर खैर, महुआ, सीसम, साहड़, पितौंझिया पेड़ों से घना जंगल था एक, पुराना और सुरक्षित।

जंगल के बीचों-बीच पतली-पुरानी ईंटों का एक मन्दिर और उससे ज़रा फ़ासले पर एक बड़ा पुराना छोटा सा पोखर था। पुराना होने पर भी उसका पानी स्वच्छ था। गर्मियों में भी सूखता नहीं था। बल्कि पास पड़ोस के पोखरों का हाल जब बुरे से बुरा हो जाता तो प्यासे प्राणी उसकी शरण में आते।

बस्तियों से अलग और घने जंगल के मध्य होने के कारण मछुए इस जलाशय को ठेके पर नहीं लेते थे। एक बार जोश में आ कर भोला ने दो

सौ नक़द गिन दिये और देपुरा के जमींदार से साल भर के लिए यह पोखर बंदोबस्त ले लिया। अगहन में ताल मखाना के बीज डाल दिये। मगर सावन-भादों तक तैयार फ़सल का मौसम आते-आते बंदरों और चरवाहों ने तालमखाना के सारे कोए उड़ा डाले। भोला के पचीस रुपये भी वापस नहीं आये।

बाढ़ के दिनों में उस जंगली पोखर का मुँह 'भुतही बलान' की धारा से जुड़ जाता था। इस दफे सावन में ही एक भारी मगर घुस आया तो फिर निकल नहीं सका।

धीरे-धीरे उस जल-दानव की चर्चा आस-पास फैलने लगी। पहले एक चरवाहा छोकरा उसका ग्रास बना, फिर एक गाय और तब जंगल में घूम-घूम कर कंडे चुनने वाली एक औरत।

दुर्गापूजा से दो रोज़ पहले खुरखुन को चौथी बार बुलावा आया तो अपने को वह रोक नहीं सका। मगर का शिकार करने में खतरा तो रहता था, लेकिन उसकी तबीयत इससे रत्ती भर भी घबराती नहीं थी।

भोला के बैठकखाने में एक पुराना-भारी भरकम-सा संदूक पड़ा रहता था लकड़ी वाला। खुरखुन ने उसमें से मगर की खाल के बने खोल निकलवा लिये, डेफाइन अपने घर से ले ही ली थी।

नीरस, रंगलाल, मंगल, चुल्हाई आदि दस-बारह जने साथ हो गये। दो बाँस और लम्बा-मोटा रस्सा और घड़िया में पके-पौढ़े बाँस की फट्ठी से तैयार की हुई सुलफी (मोटी-लम्बी सुई), जिसमें मज़बूत डोरी डाले रहते हैं। पीने का पानी...बस, और किस चीज़ की जरूरत थी?

आसिन की पीली सुनहली धूप...डेढ़ पहर दिन उठा था।

इन सभी ने साथ ही जंगल में प्रवेश किया।

मंदिर नज़र आते ही मंगल गरजा "बम् बम् बम्! बोल प्रेम से बाबा रुक्मिस्सीनाथ की ी ी ी ी..."

"ज्जै!..." बाकी लोगों ने कहा।

"शंकर बंभोले की ी ी ी ी..."

"ज्जै!"

"बस भाई, बस करो।" खुरखुन ने कहा, "ज्यादा चीख-पुकार मचाते जाओगे तो मग्गर कीचड़ में दुबक रहेगा, फिर हाथ नहीं लगने का।"

मंगल ने कहा, "पहले बता दिया होता। अच्छा, अब कोई हल्ला-गुल्ला न करे भाई।"

थोड़ा आगे बढ़ने पर पोखर दिखायी पड़ा।

पच्छिम और दच्छिन कोने पर झाड़ी-झुरमुट काफ़ी घनी थी। खैर, बेल, पितोझिया, तून, इमली, सेमल आदि के मोटे-पतले छोटे-बड़े झाड़ सुदिन-दुर्दिन के साथियों की तरह आपस में गुथे खड़े थे। जंगली जानवार उधर से ही पोखर का पानी पीते होंगे, देख कर यह कोई भी बता सकता था।

खुरखुन को विश्वास हो गया कि 'मग्गर' का बसेरा पोखर के दच्छिन-पच्छिम वाले इसी कोने में होगा। इशारे से उसने सब को उधर बुला लिया।

बाँहों में मगर की खाल के खोल डाल लिये, हाथ में मज़बूत डोरीवाला वही सूआ। आहिस्ते-आहिस्ते पानी के अन्दर धँसा।

पहले-पहल तो पैर बित्ता-डेढ़ बित्ता कीचड़ में चँप गये, आगे कीचड़ कुछ कम था। पानी हल्का नहीं, भारी था। स्वाद कसैला-सा। गोताखोर खुरखुन पानी के अन्दर ही अन्दर पचीस गज़ का चक्कर मार आया... कीचड़ ही कीचड़। पोखर के पेट में खुरखुन को और कुछ नहीं दिखायी पड़ा। पानी के भीतर अपने एक हाथ और एक पैर के पंजे हिला-हिला कर उसने अपनी निगाहों को परखा। पंजे दो-ढाई गज़ के फ़ासले तक दीख रहे थे। उँगलियों की रेखाएँ तो नहीं, आकार साफ़-साफ़ नज़र आये। खुरखुन को तसल्ली हुई।

धड़ को गर्दन तक पानी के अन्दर रख कर सिर बाहर निकाला। रुकी हुई साँसें ज़ोरों से छूटीं तो नाक के सामने पानी पर खूब-खूब सा दबाव पड़ा।

थोड़ी देर बाद साँसें अपनी सहज गति में आ गयीं तो फिर गोता लगाया। अब की चक्कर में न जा कर, सीधा गया। फिर वापस मुड़ कर उधर को रुख किया जिधर झुरमुट काफी घना था। किनारे का वह हिस्सा डरावना लगता था। तून, जामुन और गूलड़ के चार-पाँच बौने-कुबड़े पेड़ पानी पर दूर तक झुके पड़े थे। ऐन किनारे से लगी हुई उस झुरमुट के अन्दर गीली ज़मीन में मगर की माँद हो सकती थी।

हाथ के इशारे से खुरखुन ने उधर आने को साथियों से कहा।

हाथों से रस्सा सँभाले वे झुरमुट के करीब आ कर खड़े हो गये। अनजाने

मंगल ने सीटी बजा दी तो चुल्हाई ने उसे डाँटा। आस-पास से आ कर बीसियों चरवाहे इकट्ठे हो गये थे। आपस में वे खुसुर-फुसुर करने लगते तो नीरस हाथ हिला-हिला कर बीच-बीच में उन्हें रोक देता।

खुरखुन का अन्दाज़ ठीक निकला।

उथल-पुथल से आराम में खलल पड़ा तो मगर भी परेशान हुआ और पानी के अन्दर आड़े-तिर्छे और सीध में दौड़ने लगा।

यों, इस पोखर में आये उसे तीन महीने हो रहे थे। यहाँ शिकार की भी कमी नहीं थी और आराम भी था। आस-पास दो-तीन मील कोई ताल-तलइया नहीं थी। भारी पांतर के बीच पड़ता था यह जंगल। आठ-दस गाँवों के मवेशी चरने निकलते तो पानी यहीं आ कर पीते। नेवला-खरगोश से लेकर गाय-बैल आदमी तक...आहार कुछ न कुछ मिल ही जाता था।

एक जगह पानी की सतह पर छोटे-छोटे बुलबुले बेहद फुर्ती से उभर रहे थे। खुरखुन ने सूए वाले हाथ से लक्ष्य ठिकिया कर डुबकी लगायी और उस तरफ बढ़ा।

पूँछ नज़र आयी मगर की तो तिर्छे हो कर वह एक तरफ को दुबक गया। फिर अपनी कोहनी आगे कर दी और उसे हिलाता-डुलाता रहा।

हल्का-हरा शीशा-सा पानी का भीतरी दृश्य मगर की असली सूरत को खिलने नहीं दे रहा था। छायामय आकृति भीतर ही भीतर नज़र आ रही थी।

हिलती डुलती कोहनी की ओर मगर का फैला हुआ मुँह बढ़ा आ रहा था कि खुरखुन ने सूआ सीधा किया...बड़ी सफ़ाई से मगर की आँख में उसने सूआ घोंप दिया और मुँह के अन्दर से निकाल लिया। फुर्ती से डोरी में गाँठ डाल दी और बाहर आ गया।

नीरस ने फौरन रस्से का छोर खुरखुन की तरफ फेंक दिया तो वह सूए वाली डोरी का सिरा रस्से के छोर में बाँध कर किनारे आ गया।

बाँहों में खाल के खोल, कमर में अँगोछा। साँवली सूरत, चौड़ा चेहरा। पाँच हाथ लम्बा, मज़बूत काठी का अधेड़। बायें कन्धे पर घाव का पुराना निशान...बालों का पानी समूचे शरीर की लम्बाई का फासला तय करके पैरों के रास्ते ज़मीन को भिगो रहा था। देर तक डुबकियाँ लगाते रहने से आँखों के कोए लाल-लाल हो रहे थे।

नीरस, रंगलाल, मंगल, चुल्हाई वगैरह दस-बारह आदमियों ने रस्सा खींच कर मगर को ऊपर घसीट लिया।

नौ हाथ लम्बा, लगभग पंद्रह मन भारी। दाँत और जबड़े बड़े विकराल लग रहे थे। शरीर के अनुपात में आँखें बेहद छोटी और गोल थीं। बदन का ऊपरी हिस्सा खुरदरी चकत्तियों वाला मूँग के छिलकों की-सी सूरत का। पेट के तरफ़ का हिस्सा चिकना मटमैला। छोटी-छोटी चार टाँगें।

चुल्हाई और मंगल उसे बाँसों से पीटने लगे। प्रतिरोध में सिर्फ पूँछ हिलती-डुलती-उठती-पड़ती रही।

खुरखुन गीला गमछा फेर कर धोती पहन चुका था। कोहनियों से खाल के खोल उतार कर उन्हें उसने मंगल के हवाले कर दिया।

रस्सों में बाँध-बूँधकर मगर को बाँसों के सहारे वे देपुरा टाँग ले गये। पोखर तो आखिर जमींदारों का था न।

लाश खुरखुन को नहीं मिली, मिले पाँच रुपये। पारितोषिक था यह।

मछुए लौट आये तो मगर ट्रक पर लाद कर राजा बहादुर नकुलेश्वर सिंह के दरबार में भेज दिया गया। राजा बहादुर शिकार के पुराने शौकीन और देपुरावालों की अपनी बिरादारी के थे।

जो हो, पानी के उस राक्षस से पास-पड़ोस की जनता को छुटकारा मिला। खुरखुन तीयर के लिए यही बहुत था।

११

गंगा सहनी का परिवार बड़ा था और आमदनी भी कम नहीं थी। हर साल इलाके के पाँच-सात बड़े-पुराने पोखर वह बंदोबस्त लेता और उनमें तालमखाना की फ़सलें उगाता। कानपुर और कलकत्ता के मेवे के थोक सौदागर तालमखाना का उसका सारा ढेर खरीद लेते।

गढ़पोखर के मामले में देपुरा के जमींदारों ने गंगा सहनी को फोड़ लिया। सहनी को फुसलाया गया कि ग्राम पंचायत का मुखिया बना दिया जायगा। उसका लड़का मिडिल (दर्जा ७) पास करके हाईस्कूल दाखिल हुआ था, उसकी उन्होंने फीस-वीस माफ़ करवा दी। मेम्बर बना कर खुद गंगा को थाना-काँग्रेस की वर्किंग कमेटी में ले लिया।

गंगा के असर में पाँच-सात जो भी परिवार थे, उनका भी रवैया साफ़ हो

गया। वे उसके साथ थे। नौजवानों की गाने-मचलने और हँसने-बकने वाली मौजी जमात 'बजरंग मंडली' में भी फूट पड़ गयी। मृदंग-मजीरा, ओथी-पोथी, चटाई-आसनी...सब के तीन हिस्से हुए। गंगा के दल में मछुओं की आबादी का तृतीय अंश पड़ा था। इसी से उसकी पार्टी के छोकरों को बजरंग मंडली की जमा-पूँजी में से एक तिहाई मिला।

भोला और नकछेदी को साधारण मछुआ-परिवारों का समर्थन प्राप्त था। मोहन माँझी को दुख जरूर हुआ, लेकिन ऐसा नहीं कि अक्ल को लकवा मार जाता। खुरखुन, नीरस वगैरह अपनी रोजी-मजूरी को ले कर व्यस्त रहते थे। मौका पा कर भोला के बैठकखाने में या स्कूल के अहाते में जुटते। दस बातें कानों में पड़तीं तो दो निकलतीं भी। भारी-भारी कदमों से जाते, हल्के-फुल्के वापस लौटते।

मधुरी को लेकिन इस घटना से काफी तकलीफ पहुँची। गंगा के बारे में उसके मन में पहले से ही खटका था। मलाही के जमींदारों से पुरानी रब्त-जब्त था, गंगा सहनी का यह कोई नया रसूख नहीं था। कल पूछिए तो उसी के भरोसे मलाहीवालों ने गढ़पोखर के मामले में अपनी नाव डुबोयी थी।

बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए मोहन माँझी ने गढ़पोखर के भिंड पर जो कैम्प चालू किया था, वह पंद्रह आश्विन तक चलता रहा। एक सौ सत्तावन रुपये साढ़े दस आने नकद रकम बच गयी थी। डेढ़ सौ रुपये रबी की फसलों के लिए बीज खरीद कर किसानों में तकसीम कर दिये थे। सात रुपये साढ़े दस आने किसान-सभा की थाना-कौंसिल के खाते में डाल दिये गये। बाढ़-पीड़ितों की मदद के लिए बनी हुई कमेटी का सर्व-सम्मति से विसर्जन हुआ।

मधुरी के लिए ही नहीं, मलाही गोढ़ियारी के तमाम तरुण-तरुणियों के लिए सार्वजनिक कामों की ट्रेनिंग का यह एक अच्छा सिलसिला अपने आप चालू हो गया था। अब कैम्प की प्रवृत्तियाँ खत्म घोषित हुईं तो अगले ही दिन 'मछुआ-संघ' सामने आ खड़ा। बाढ़-पीड़ितों की सहायता समिति ने अपने कैम्प की दोनों कुटीरें संघ को खुशी-खुशी दे दीं। संघवाले दोनों कुटीरें पूर्वी-उत्तरी भिंडों पर से उठा लाये और सुभीते की जगह देख कर दक्खिनी भिंड पर, आबादी के करीब ही आधा पक्का नाना एक कुटीर खड़ी कर ली। यह 'मछुआ संघ' का दफ्तर भी हुआ और अड्डा भी।

मछुओं का संघ सत्तर मेम्बरों का संगठन था। छोटी कमेटी नौ सदस्यों की थी। सभापति भोला सहनी, मंत्री नकछेदी जलुआ, उपमंत्री जलेसर निषाद, और कोषाध्यक्ष मधुरी। कमेटी के बाकी पाँच मेम्बर थे नीरस, मुसम्मात जितिया, खुरखुन, मंगल और कन्हाई माँझी। कन्हाई मोहन माँझी का चचेरा भाई था। गंगा के बाद मलाही का दूसरा प्रभावशाली व्यक्ति वही था। मधुरी को छोड़ने के लिए वे तैयार नहीं थे, क्योंकि बाढ़ वाले कैम्प में उसने भारी नाम कमाया था। वह अपढ़ थी, फिर भी मोहन माँझी आदि, नक़द रक़म सँभालने की ज़िम्मेदारी अंत तक मधुरी पर ही डाले रहे।

मोहन माँझी संघ का परामर्शदाता अवश्य था, मगर अपनी एक भी राय यों ही किसी पर लादने का शौक़ उसे न पहले था, न अब था। और यहाँ तो भला व्यक्ति की नहीं, बल्कि समूचे संगठन की बात थी।

अब वह इस कोशिश में था कि गढ़पोखर के अपने सनातन अधिकारों की मान्यता का मछुओं का यह संघर्ष देश की आम मेहनतकश जनता की सामान्य जद्दोजहद से अलहदा न रह जाय।

अढ़ाई-तीन साल पहले इन इलाक़ों में सरकार की तरफ़ से तक़ावी बँटी थी। चुनाव काँग्रेस के सिर पर था, देहात की जनता के हर-एक वर्ग ने कई रूपों में 'पत्र-पुष्प' प्राप्त किये थे। अब इस वर्ष सेक्रेटेरिएट के उन्हीं हाथियों पर उलटी सनक सवार थी—तक़ावी की रक़म वापस लौटाओ वरना खड़ी फ़सलें कुर्क कर ली जायँगी...किसानों में सर्वत्र गुस्से की लहर दौड़ रही थी कि तक़ावी की रक़म इतनी जल्दी नहीं लौटायी जा सकती। सम्बन्धित ज़िला-अधिकारियों से इस प्रसंग में किसानों की झड़प हो गयी थी कई जगहों पर।

मोहन माँझी ने थाने-भर के किसान प्रतिनिधियों का वार्षिक सम्मेलन चमुड़िया से दो मील उत्तर बस्ती कुसोथर के बाहरी मैदान में किया था। कान्फ्रेंस में मलाही-गोंढ़ियारी से सौ किसान मेम्बरों के पाँच प्रतिनिधि शामिल हुए थे। पचास गाँवों की किसान और खेत-मजदूर औरतों में किसान सभा के उद्देश्यों तथा कर्तव्यों का प्रचार करने के लिए, साथ ही कान्फ्रेंस के लिए अनाज और नक़द रक़म जगाहने के लिए तीन महिला किसान-सेविकाएँ आयी हुई थीं। चार-पाँच रोज़ मधुरी ने भी उनका साथ दिया था। किसान प्रतिनिधियों ने एक प्रस्ताव द्वारा सरकार से अपील की थी कि कम से कम पाँच वर्षों तक की मुहलत तक़ावी-वसूली के लिए ज़रूर मिलनी चाहिए, इस निश्चित अवधि

के बाद किसान तकावी की यह रकम अपनी सुविधा के अनुसार कई किस्तों में लौटायेंगे। एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा गढ़पोखर के तथाकथित नये मालिकों को यानी सतघरा के जमींदारों को सम्मेलन ने आगाह किया था कि वे युग की आवाज़ को अनसुनी न करें! मलाही-गोंढ़ियारी के मछुओं को गरोखर से मछलियाँ निकालने के पुश्तैनी हकों से वंचित करने की उनकी कोई भी साजिश कामयाब नहीं होगी। रोज़ी-रोटी के अपने साधनों की रक्षा के लिए संघर्ष करने वाले मछुए असहाय नहीं हैं, उन्हें आम किसानों और खेत-मजदूरों का सक्रिय समर्थन न प्राप्त होगा......

किसानों की इस कान्फ्रेंस के सदर हो कर पधारे थे प्रख्यात जन-नायक साथी कालीप्रसन्न सिंह। व्यक्तिगत और देवोत्तर जायदादों के नाम पर जमींदारों को मौजूदा सरकार ने जो अहेतुक (बेबुनियाद) छूट दे रखी है, कामरेड सिंह ने उसकी सख्त आलोचना की और अपने भाषण में मलाही-गोंढ़ियारी के मछुओं को ही गढ़पोखर का असल मालिक बतलाया। क्या स्थानीय, क्या आगंतुक, सभी वक्ताओं का यही रुख था गरोखर के बारे में।

पाँच प्रतिनिधियों के अलावा भी तीस-चालीस आदमी मलाही-गोंढ़ियारी से कुसोथर पहुँचे थे। बड़े ध्यान से उन्होंने नेताओं की तक़रीरें सुनी थीं। प्रतिनिधियों की मीटिंग में दोनों दिन छै-छै घंटे वार्षिक रिपोर्ट पर और प्रस्तावों पर जम कर बहस चली थी, लेकिन खुले अधिवेशन में वक्त की कमी के कारण प्रस्ताव पढ़े-भर गये, कुछ-एक प्रस्तावों का खुलासा आम लोगों के लिए अपेक्षित था। जल्दबाजी में वह हो नहीं सका।

कान्फ्रेंस के बाद मलाही-गोंढ़ियारी की संयुक्त बस्तियों के लिए किसान सभा की एक ग्राम-कमेटी संगठित हो गयी। भोला ने अपने बैठकखाने की बाहरवाली छोटी कोठरी दफ़्तर के लिए दे दी। नकछेदी प्रधान चुने गये और मंगल सेक्रेटरी। इस कमेटी में भी मधुरी को समेट लिया गया।

१२

अगहन की पूर्णिमा को गुजरे दो ही तीन रोज़ हुए थे कि मंगल के घर लड़का पैदा हुआ। छट्ठी धूम-धाम से हुई। भोज-भात, नाच-गान, हँसी-खुशी।...पाटीटोल का मशहूर नटुआ जुगेसर दल-बल के साथ बुलाया

गया, भागलपुरी तसर की जोड़ी चादर और सौ रुपये नगद मिले उसे मंझ्ा बार-बार कहती, 'बस मैं तो इसी का मुखड़ा देखने को अब तक जिन्दा थी।' गोनड़ बाबा बिरादरी में सबसे बूढ़े थे। नवजात शिशु को बाहर बैठकखाने में ले जा कर जिलेबिया ने उसे उनके सामने कर दिया, —"बाबा असिरबाद दो।"

हुलास में भर कर गोनड़ ने उसके लाल-मुलायम तलवों में अपनी सूखी-साँवली नाक भिड़ा दी और बोला, "हम तो बस पोखरों चभच्चों और उथली-छिछली नदियों तक ही रहे, तू लेकिन कप्तान बन कर सात समुन्दर छान डालेगा!"

मधुरी तो इतनी खुश थी कि दस-बारह दिनों तक हर शाम को नवजातक की सम्बर्द्धना में उसने 'सोहर' गाया था। एक दिन मंझ्ा से कहा, "चाची, मुझे क्या इनाम मिलेगा?"

"तू इसी को रख ले!" मंझ्ा के बदले मंगल की माँ ने जवाब दिया।

"चाची, अगर मैं सचमुच ही इसे उठा ले गयी तो?"

"नहीं, नहीं, नहीं..."

छोटी लड़की सिलेबिया ने जोरों से प्रतिवाद किया तो सभी हँस पड़ीं। वह फिर ठुनक कर बोली, "टुन्नू को ले कर तुम जेहल चली जाओगी ऊँ ऊँ ऊँ..."

भतीजे का यह नामकरण छोटी बुआ के तरफ से प्यार की हदबंदी का सबूत था। मधुरी ने इस पर मुस्करा कर कहा, "मछुए का लड़का-पोता हो कर जेहल से भला क्यों डरेगा यह?"

"जेहल-दामुल से डरे इसका दुश्मन!" चूल्हे के निकट से जिलेबिया ने कहा तो मधुरी एकाएक गम्भीर बन गयी।

उसके दिमाग में एक युवक मछुए का डरपोक चेहरा नाच उठा... अपने बौड़म पति का प्रभाहीन मुखड़ा!...कुसुम कक्कड़ का दीप्त मुखमंडल याद आया! 'लात मारो सालों को'—उसने कहा था।...मनुहार में गीली मंगल की आँखें...गिड़गिड़ाता हुआ खुरखाई...नहीं, अब वह कभी उस नशाखोर बुड्ढे की लात-बात बर्दाश्त करने नहीं जायेगी...सम्बंध कर लेगी किसी दिलेर-नेकचलन और मेहनतकश जवान से...और बगैर मर्द के कोई औरत अकेली जिंदगी नहीं गुजार सकती है क्या?...

पचीसों प्रकार की बातें मधुरी के दिमाग में चक्कर काटने लगीं। वह देर

तक सोच-विचार में गुम रह जाती, लेकिन सिलेबिया को क्या सूझा कि एकाएक उसने टूनू को मधुरी की गोद में डाल दिया, "लो भी तो !"

हुक्का गुड़गुड़ा कर मंहगा ने कहा, "लात-चाल बर्दाश्त करके भी लड़कियों को ससुराल में रहना चाहिए बेटा !"

इस पर जिलेबिया ने अपनी दादी का मुँह बनाया और गर्दन दूसरी तरफ़ फेर ली।

जंगल स्कूल से अभी-अभी लौटा था। किताबों का बस्ता ओसारे में पटक कर मधुरी की ओर लपका। नाटकीय ढंग से आँखें नचा नचा कर कहने लगा, "मलेटरी आयी है ऐ ऐ ऐ ! पहले मधुरी बहन ही गिरफ़दार होगी ी ी ी..."

"भक् लबरा कहीं का !" माँ ने फटकारा।

"तेरी क़सम माँ !"

"भक् !"

"नहीं माँ, सच कहता हूँ ! तेरी कसम !"

"सच मधुरी, मलेटरी आनेवाली थी ?"

स्वीकार की मुद्रा में मधुरी का माथा हिला तो मंगल की माँ चुप ही नहीं, बल्कि उदास हो आयी।

"ज़रा देखूँ चल के काकी।" मधुरी ने लाल-गुलाबी शिशु को उसकी दादी के जुड़े-मुड़े हाथों और बाँहों पर डाल दिया और उसके गाल चूम लिये।

पलक मारते वह भोला के आँगन से बाहर निकल आयी और गरोखर की ओर चल पड़ी। आज जाने क्यों, मंगल का वह भौरा कुत्ता मधुरी के साथ हो लिया। इससे पहले वह बैठकखाने के अन्दर कुकुर-कुंडली मुद्रा में बैठा हुआ था।

आवाज़ सुनायी दी —"कब तक लौटोगी बहन, माँ पूछ रही है।"

हाथ के इशारे से मधुरी ने बताया कि थोड़ी देर बाद।

भिंड से नीचे सड़क पर मिलिटरी का ट्रक खड़ा था। ख़ाकी वर्दी का फ़ौजी ड्राइवर नीचे उतर कर बीड़ी फूँक रहा था।

लगता था कि मलाही-गोंढ़ियारी के सभी मर्द जमा हो गये हैं। पाँच-सात औरतें भी अलग खड़ी थीं। छोकरे-छोकरियों की संख्या भी कम नहीं

थी। मंगल, नकछेदी, जलेसर, कन्हाई कमेटी के चार ही जने वहाँ मौजूद थे। मधुरी उन्हीं के साथ आ के खड़ी हो गयी।

नीरस और खुरखुन एक पड़ोसी गाँव के पोखर में मछलियाँ मारने गये हुए थे। भोला गया था लेहरियासराय, इन्हीं मुकदमों के सिलसिले में। बाबू परमेश्वरचरण मुख्तार ने माल-मंत्री के नाम निजी ख़त लिख कर अपने भतीजे को साथ कर दिया तो मोहन माँझी पटना गया था। ये सब गरोखर से सम्बंधित बातें थीं।

अगहन से मछुए बड़ी मछलियाँ निकालना शुरू कर देते हैं। इस वर्ष आधे अगहन के बाद गढ़पोखर में जाल गिरने लगे थे। मछलियाँ निकलती भी खूब थीं। सतघरा के जमींदारों का धीरज बाँध तोड़ चुका था। दस रोज पहले ही वे दफ़ा १४४ लागू करवा चुके थे। किसी भी पक्ष के लिए गढ़पोखर के अन्दर जाल डालना तब तक वर्जित बताया गया था, जब तक कोर्ट अपना फ़ैसला न दे दे। मगर मछुए एक दिन के लिए भी इस प्रतिबंध को मानना नहीं चाहते थे। गढ़पोखर की मछलियाँ उनके लिए जीविका का प्रमुख साधन थीं। नये मालिक डरा-धमका कर, मुँह के कौर छीन कर छाती पर संगीन की नोक का दबाव डाल कर फुसला-बहका कर चाहे, कैसे भी हो, मछुओं से अपना प्रभुत्व मनवा लेने पर आमादा थे। जिस दिन दफ़ा १४४ लागू करने का नोटिस निकला, उसके दूसरे ही दिन दरभंगा से सशस्त्र पुलिस के दो जवान गढ़पोखर पर आ धमके थे। यहाँ का हाल-चाल मालूम करके उनका दिल मछुओं के साथ हो गया था। मंगल, कुल्हाई, मधुरी वगैरह से उन्होंने साफ़-साफ़ बता दिया था कि दिन के उजाले में नहीं, रात के अँधेरे में चाहे जैसे और जितनी मछलियाँ निकालो, उन्हें कोई एतराज नहीं होगा, बंदूक सिरहाने के नीचे दबा कर वे ठाठ से सोते रहेंगे। ...और यही क्रम चल भी रहा था। गंगा सहनी और उसके आदमी सतघरावाले मालिकों तक सारी खबर पहुँचाते रहे तो अब मछुओं पर लूट और गैर-कानूनी कारवाइयाँ करने का अभियोग लगाया गया था। सतघरावाले भूमिहार थे और देपुरा वाले मैथिल। दरभंगा से ले कर पटना तक इन दोनों जातियों के प्रभुतालोभी उच्च तथा मध्यवर्ग कब आपस में लड़ पड़ते थे और कब सुलह कर लेते थे, बताना मुश्किल है। इस वक्त लेकिन दोनों जातियों के मुखियों का शासन के क्षेत्र में अंशतः संयुक्तमोर्चा चल रहा था। गरोखर के झमेले में भी उनकी यह फसली एकता नये-नये

गुल खिला रही थी। तभी तो इतनी शीघ्र वे ज़िला-अधिकारियों से इस प्रकार की पुलिस-कारवाई करवा ले रहे थे। गनीमत यही था कि इन मामलों में हाईकोट का रुख इधर बहुत अच्छा था। रोसड़ा-नरहन इलाके में इसी से मिलता-जुलता एक मुकदमा हाल ही मछुओं ने हाईकोर्ट से जीता था, उसमें भी मछुओं के मौरूसी हकों को नज़र-अन्दाज़ करके जिला-अदालत ने जमींदारों के पक्ष में फैसला दिया था। कामरेड मोहन माँझी और भोला पिछले महीने पटना पहुँच कर जनता के पक्षधर प्रख्यात एडवोकेट धीरेंद्र नारायण सिंह से सलाह-मशवरा ले आये थे।

शाम होने में अब भी विलम्ब था। गढ़पोखर का प्रशांत नील-कृष्ण विशाल वक्ष हौले-हौले लहरा रहा था। हेमंती दिनांत के प्रियदर्शी रवि की पीताभ किरणें उसकी लोल-लहरियों पर बिछ-बिछ कर अपने को नाहक ही पैना बना रही थीं। मछुआ-संघ की अध-भीती कुटीर के आगे भिंड का जो ढालू मैदान था वह सामने नीचे की ओर रबी की फसलों से लहराती हुई कछारों में खो गया था। कुटीर की अगली भीत पर दरवाज़े के दायें-बायें स्कूल के किसी लड़के ने पतली-बेंगनी रोशनाई में टेढ़े-मेढ़े हरफों की दो लाइनें लिख दी थीं 'इनकिलाब ज़िन्दाबाद—गढ़पोखर हमारा है...'

डिप्टी मैजिस्ट्रेट नकछेदी से इधर-उधर की बातें कर रहा था। मछुआ-संघ का सेक्रेट्री होने से वही साहब की निगाहों में यहाँ इस समय सब से अधिक ज़िम्मेदार जँच रहा था। लेकिन नकछेदी 'जी हाँ,' 'जी नहीं' के अलावा मुश्किल से पचीस-तीस शब्द बोला होगा। दरअसल वह लजकोटर (शरमीला) और झेंपू किस्म का आदमी था। भोला और गंगा को छोड़ कर अच्छी हैसियत का तीसरा मछुआ और कोई था भी तो नहीं। जान-बूझ कर कमेटी ने नकछेदी को संघ का मंत्री चुना था, नहीं तो काम-धाम सारा मंगल ही करता था संघ का।

समूची कमेटी की गति-विधि का पूरा पता खुफ़िया-विभाग को था। सदस्यों के नाम और उनकी हैसियत और दूसरी ज़रूरी बातें...सारे तथ्य ज़िला-अधिकारियों तक पहुँच गये थे। सम्बोधन में कई लोगों से कई बार मधुरी-मधुरी सुन कर साहब ने मधुरी से कहा, "मोहन माँझी ने आख़िर तुम्हें भी कम्युनिज़्म का पाठ पढ़ा ही दिया।...अच्छा तो है... राजनीति ही तो एक चीज़ थी, जिसे गाँवों की हमारी बहू-बेटियों ने अब तक

अपने पास फटकने नहीं दिया था, लेकिन तुम तो देखता हूँ...प्लीज़ एकस्क्यूज़ मी ..." और साहब ने गोल्ड फ्लेक का सिगरेट निकाला।

अपनी टूटी-फूटी हिंदी में, लेकिन ओज-भरे ढंग से मधुरी ने जवाब दिया, "तो इसमें क्या हर्ज है हजूर। जिनगी और जहान औरतों के लिए नहीं हैं क्या ?"

इस बीच नकछेदी ने मंगल को अलग ले जा कर बतलाया कि कमेटी के सभी सदस्यों से डिप्टी मेजिस्ट्रेट मुचलका लिखवाने आये हैं, नहीं तो गिरफ़्तार कर के अभी ले जायेंगे।

मछुआ-संघ का रुख साफ़ था। सर्वे की पुरानी सेटलमेंट से गढ़पोखर का राजस्व निर्धारित हुआ था—सौ रुपये प्रतिवर्ष, यह सरकारी खाते में 'जल-कर' के तौर पर दर्ज होता आया था। देपुरा के ज़मींदार गढ़पोखर की तरफ़ से इतनी ही रक़म साल-ब-साल सरकारी खजाने में जमा करते आये थे। यह दूसरी बात थी कि साल-दो साल या दस-पाँच साल का बन्दोबस्ती का पट्टा लिख कर देपुरा वाले मछुओं से काफी रकम ऐंठते आये थे और अब मछुओं में जागरण का आभास पा कर इस झमेले से हमेशा के लिए छुटकारा पा गये थे। नये मालिक, सतघरा वाले, अभी दस-पाँच वर्ष पुरानी अमलदारी से जितना-जो हो, फ़ायदा उठा लेने के सपने देख रहे थे। बस ये तथाकथित 'नये मालिक' थे। गढ़पोखर की वास्तविक नयी मालिक तो हमारी सरकार थी...जमींदारी-उन्मूलन के बाद देपुरा वालों का कोई हक़ नहीं रह गया था गढ़पोखर पर। यह विशाल जल-सम्पत्ति अब जनता की थी। मगर नौकर-शाही भ्रष्टाचारों और कानूनी असंगतियों के चलते जन-जीवन के साथ बेतुका खिलवाड़ अब भी चल रहा था। मछुआ-संघ की तरफ़ से कई मेमोरेंडम पटना और दिल्ली के महाप्रभुओं की सेवा में भेजे जा चुके थे, लिखित एवं मौखिक दोनों प्रकार से ज़िला-अधिकारियों तक यह बात बार-बार पहुँचायी जा चुकी थी।...मछुओं का संगठन तय कर चुका था कि किसी भी स्थिति में घुटने नहीं टेकेंगे। सतघरा वालों का नया प्रभुत्व गैर-कानूनी है, सर्वथा गलत है, हम गढ़पोखर की सीमाओं के अन्दर उन्हें घुसने नहीं देंगे।

मंगल और नकछेदी ने आनन-फ़ानन तय कर लिया कि क्या करना है। इसलिए जब डिप्टी-मेजिस्ट्रेट ने नकछेदी को पास बुलाया, पूछा, "क्या राय हुई आप लोगों में ?" तो नकछेदी के बदले मंगल ने दृढ़ आवाज़ में कहा,

"अभी हमारी कमेटी के बहुतेरे मेम्बर बाहर हैं, समूची कमेटी बैठे तो कोई बात-विचार हो। इस वक्त हम कैसे कुछ कहें ?"

साहब ने मोटी फ्रेमवाला-चश्मा नाक से उतार लिया और रुमाल से आँखें पोंछते हुए आहिस्ते से कहा, "समूची या आधी, किसी भी किस्म की कमेटी से हमें कुछ पूछना नहीं है। आप अलग-अलग मुचलका लिखेंगे न। इस वक्त यहाँ आप दो-चार जितने भी ज़िम्मेदार आदमी मौजूद हैं वो तो ज़ाती तौर पर अपना-अपना एशुयरेन्स कोर्ट को दे ही दें...

"नहीं हजूर, अलग-अलग हम किसी प्रकार का आश्वासन आपको नहीं दे सकेंगे।" मंगल बोला। नकछेदी ने समर्थन में माथा हिलाया।

"फिर तो हमारी मजबूरी है कि...," डिप्टी-मैजिस्ट्रेट जुमला पूरा करने जा रहा था कि बीच में ही मधुरी खिलखिला पड़ी।

"पकड़ के ले जायेंगे हमें ?"

"हाँ, हम क्या करें ? आप लोग खुद ही जाने को तैयार हैं..."

फिर खिलखिलाहट...लोग मधुरी की इस हरकत पर भौंचक थे।

अब तक समूचा गाँव उमड़ आया था। औरत, मर्द, बूढ़े, बच्चे, मेहमान और बीमार...सब तरह के लोग अफ़सरों, पुलिसवालों और इन लोगों को घेर कर खड़े थे।

मधुरी ने आगे बढ़ कर नकछेदी का हाथ पकड़ा और खींचती हुई बोली, "काका, देखते क्या हो ? चलो, हम टरक पर सवार हो जायँ आप ही चल कर।"

फिर उसने मंगल, जलेसर और कन्हाई को भी अलग-अलग सम्बोधित किया। पल भर की देर नहीं हुई कि फुर्ती से जा कर वह पुलिस-वान पर सवार हो गयी। ऊपर खड़ी हो कर हिलते हाथ के इशारों से उन्हें बुलाती रही मधुरी।

मंगल उछल कर चढ़ गया। फिर जलेसर और कन्हाई। नकछेदी सबसे पीछे...

अधिकारियों को जिसकी आशा नहीं थी, यह वैसा वाकया था। मछुओं ने कोई आश्वासन नहीं दिया और हँसी-खुशी गिरफ्तार हो गये तो झख मार कर डिप्टी मैजिस्ट्रेट भी आया और गाड़ी में आगे अपनी सीट पर बैठ गया। बाकी भी जितने अधिकारी या पुलिस जवान थे, चुप-चाप आकर सवार हो गये। ड्राइवर सब से पीछे अपनी सीट पर आया।

सूरज अब लुक-झुक लुक-झुक कर रहा था लेकिन सड़क और डूबते सूरज के दरम्यान गढ़पोखर की ऊँची भिंड खड़ी थी। अस्त-प्राय दिनकर की किरणें इस क़दर निस्तेज और संकुचित हो आयी थीं कि शर्मीली परछाईं छितरा कर पूरबी-दच्छिनी छितिज की ओर भाग गयी थी।

भीड़ पुलिस-वान के पीछे बटुर आयी थी। सब चुप थे, एक-एक निगाह गुस्सा-भरी हैरत उगल रही थी।

सामने भीड़ में तीरा दिखाई पड़ी तो मधुरी ने इशारे से उसे पास बुला लिया। करीब आ कर गाड़ी से सट कर वह खड़ी हुई तो उसकी ठुड्डी में उँगली गोद कर मधुरी ने कहा, "बब्बू और अम्मा से कहना कि रत्ती भर भी न घबड़ायें। हम बहुत जल्दी छूट कर वापस आ रहे हैं।...और अम्मा को दवाई बखत पर पिला दिया करना, अपने हाथ से...और हाँ, नन्हें का खयाल रखना..."

कि गाड़ी स्टार्ट हुई।

बहन के गालों पर प्यार की एक-एक चपत लगा कर मधुरी बेंच पर आ बैठी और मंगल के कान में कहा, नारे लगाओ मंगल भैया।

"उहुँ!" मंगल ने उसी तरह फुसफुसा कर जवाब दिया, "रहने दे, क्या ज़रूरत है!"

जाने, मंगल का दिमाग़ किस फ़िक्र में ग़र्क था!

लेकिन मधुरी से नहीं रहा गया। वह बेंच से उठ कर फिर आगे आ गयी और पुलिसवान के पिछले छोर पर खड़ी हो गयी। बायें हाथ से उसने ऊपर लटकती ज़ंजीर को थाम लिया और दाहिना हाथ घुमा-घुमा कर नारे लगाने लगी। लोग दुगने चौगुने जोश में जवाबी नारे देने लगे—

"इंकिलाब—जिंदाबाद!"

"मछुआ-संघ जिंदाबाद ..हक की लड़ाई—जीतेंगे! जीतेंगे!... गढ़पोखर—हमारा है, हमारा है!!..."

पुलिस वान चल पड़ी मगर नारे लगते रहे!!